श्रीविजयनेमिसूरीश्वरग्रंथमालारत्नम्-६७

स्वपरसिद्धान्तपारावारपारीण – शब्दावतार – परमार्हत-
कुमारपालभूपालप्रतिबोधक–कलिकालसर्वज्ञ–
श्रीमद्हेमचन्द्रसूरीश्वर-
भगवता प्रणीतम्–

छन्दोनुशासनम्

[तस्य प्रथमोधिभागः]

उपरि—
शासनसम्राट्–सूरिचक्रचक्रवर्त्ति–तपोगच्छाधिपति–स्व० प० पू०
श्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वरस्य
पट्टालङ्कारेण व्याकरणवाचस्पति–शास्त्रविशारद–कविरत्नेति–
पदालंकृतेन स्व० प० पू० आ०
श्रीमद्विजयलावण्यसूरीश्वरेण
विरचिता प्रद्योतनामा विवृतिः ।

•

सम्पादकः संशोधकश्च—
शास्त्रविशारद – कविदिवाकर – व्याकरणरत्न–पू० आ०
श्रीमद्विजयदक्षसूरीश्वरस्य
पट्टधर—साहित्यरत्न–शास्त्रविशारद–कविभूषण–आ०
श्रीविजयसुशीलसूरिः ।

•

—प्रकाशिका—
श्रीज्ञानोपासकसमितिः, बोटाद (सौराष्ट्र)

स्वपरसिद्धान्तपारावारपारीण – शब्दावतार – परमार्हत-
कुमारपालभूपालप्रतिबोधक–कलिकालसर्वज्ञ–
श्रीमद्हेमचन्द्रसूरीश्वर-

491.2
2957

भगवता प्रणीतम्–

छन्दोनुशासनम्

[तस्य प्रथमो धिभागः]

तदुपरि—
शासनसम्राट्–सूरिचक्रचक्रवर्त्ति–तपोगच्छाधिपति–स्व० प० पू०
श्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वरस्य
पट्टालङ्कारेण व्याकरणवाचस्पति–शास्त्रविशारद–कविरत्नेति–
पदालंकृतेन स्व० प० पू० आ०
श्रीमद्विजयलावण्यसूरीश्वरेण
विरचिता प्रद्योतनामा विवृतिः।

•

सम्पादकः संशोधकश्च—
शास्त्रविशारद – कविदिवाकर – व्याकरणरत्न–पू० आ०
श्रीमद्विजयदक्षसूरीश्वरस्य
पट्टधर—साहित्यरत्न–शास्त्रविशारद–कविभूषण–आ०
श्रीविजयसुशीलसूरिः।

•

—प्रकाशिका—
श्रीज्ञानोपासकसमितिः, बोटाद (सौराष्ट्र)

प्रकाशक:—
श्रीज्ञानोपासकसमित्याः
प्रमुखः
शा० चीमनलाल
हरिचन्द्र वगड़िया,
बोटाद, सौराष्ट्र (गुजरात)

卐

मुद्रक:—
मखतूरमलजी कुम्भट
कुम्भट प्रिण्टर्स
घोड़ों का चौक,
जोधपुर (राज.)

सहायक—
आ ग्रंथना प्रकाशनमां शासनप्रभावक परमपूज्य आचार्यवर्य
श्रीमद्विजयदक्षसूरीश्वरजी म० श्रीना उपदेशथी
मरुधरस्थ सनवाडानिवासी शा० धरमचंद रूपाजीए
२०००) रूपियानी सहायता आपी छे ते बदल तेमनो
आभार मानवामां आवे छे.

वीर सं० २४९५] नेमि सं० २० [विक्रम सं० २०२५
नकल—१००० 卐 प्रथमावृत्तिः 卐 मूल्यम् : १० रूपिया

प्राप्तिस्थानम्—

आ० श्रीविजयलावण्य-
सूरीश्वरज्ञानमन्दिर
ठे० जैनमन्दिर पासे,
बोटाद, सौराष्ट्र
(गुजरात)

卐

सरस्वती पुस्तक भंडार
रतनपोल, हाथीखाना,
अहमदाबाद
(गुजरात)

❋ समर्पणम् ❋

शासनसम्राट् - सूरिचक्रचक्रवर्त्ति - तपोगच्छाधिपति-
भारतीयभव्यविभूति-अखण्डब्रह्मतेजोमूर्त्ति-अद्वितीय-
प्रतिभाशालि - सच्चारित्रचूडामणि - श्रीवल्लभीपुर -
नरेशाद्यनेकभूपालप्रतिबोधक - श्रीकदम्बगिरिप्रमुख-
प्रभूतप्राचीनतीर्थोद्धारक - पञ्चप्रस्थानमयसूरिमन्त्र-
समाराधक-न्यायव्याकरणाद्यनेकग्रन्थसर्जक - सिंह -
गर्जनासमनिरुपमप्रवचनकारक - चिरंतनयुगप्रधान-
समान-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-वचनसिद्ध-सौराष्ट्रसूर्य-प्रातः-
स्मरणीय-परमपूज्य-परमोपकारि-परमकृपालु - परम-
गुरुदेव-भट्टारकाचार्यमहाराजाधिराज-

श्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वराणां

सच्चरण-करण-शील-शालिसुकोमलकरपङ्कजेभ्यः

सादरं सविनयं सबहुमानं

समर्पयति

इदं छन्दोनुशासनं महाग्रन्थरत्नम्

परमगुरुसौरभमधुलिट्

विजयसुशीलसूरिः

श्रीसनवाडामां शासनप्रभावनापूर्वक उजवायेल

अद्भुत प्रतिष्ठामहोत्सव

राजस्थानान्तर्गत मरुधरप्रदेशमां आवेल विश्वविख्यात श्रीअर्बुदाचल अने श्रीजीरावलाजी महातीर्थ निकटवर्ती श्रीसनवाडा गाममां आवेल पांच सौ वर्ष जेटला प्राचीन जिनमन्दिरनो जीर्णोद्धार वि० सं० २००८ थी श्रीसंघे शरु करेलो ते वि० स० २०१९ मां पूर्ण थतां, तेमां मूलनायक श्रीशान्तिनाथ भगवानादि जिनबिम्बोनी प्रतिष्ठा करावववानो निर्णय कर्यो हतो.

ए समये सनवाडा श्रीसंघनुं प्रतिनिधिमण्डल जावाल बिराजता स्व० पू० शासनसम्राट्ना सुप्रसिद्ध पट्टालंकार परम-शासनप्रभावक पूज्यपाद आचार्यप्रवर श्रीमद् विजयलावण्य-सूरीश्वरजी म० श्री आदि ने प्रतिष्ठा अंगे पधारवा माटे साग्रह विनंति करतां प० पू० आ० म० श्री आदिए तेनो स्वीकार कर्यो, जेथी सनवाडा श्रीसंघने अतीव आनंद थयो हतो.

आ बाजुथी प्रतिष्ठा-महोत्सवना मंगलमय मुहूर्तो स्व० पू० शासनसम्राट्ना पट्टालंकार परमशासनप्रभावक प० पू० आचार्यवर्य श्रीमद् विजयोदयसूरीश्वरजी म० श्रीना पट्टधर परमशासनप्रभावक प० पू० आचार्यप्रवर श्रीमद् विजयनंदन-सूरीश्वरजी म० श्रीनी पासेथी वैशाख शुद १४ ने मंगलवारना

दिवसथी महोत्वसनो प्रारंभ अने जेठ वद ६ [वैशाख वद ६] ने बुधवारना दिवसे शुभ मुहूर्ते प्रतिष्ठा तथा अष्टोत्तरीस्नात्र, तेमज सातम ने गुरुवारना दिवसे उद्घाटन वगेरेनां आवतां श्रीसंघे सोत्साहपूर्ण तैयारी करी लीधी. श्री संघ आमन्त्रण-पत्रिका काढी गामने शणगायुं. चलचित्रनी धार्मिक विविध रचनाओ करवामां आवी. सुमेरपुरथी श्रीवर्द्धमान जैन विद्यालयनी बेन्ड साथे संगीतमंडली बोलावरावी. विधिकारकने बोलाव्या. गजराज-रथ-इन्द्रध्वज आदि पण बहारथी आवी गया. आ बाजु प० पू० आ० श्रीमद् विजयलावण्यसूरीश्वरजी म० श्री पण वराडमां शासनप्रभावक महामहोत्सवपूर्वक वैशाख शुद छठना दिवसे नूतन जिनमन्दिरमां मूलनायक श्री शीतलनाथ भगवान आदि जिनबिम्बो वगेरेनी महामंगलकारी प्रतिष्ठा करी तथा स्व पट्टधर पू० उपाध्याय श्रीदक्षविजयजी म०श्री ने विधिपूर्वक आचार्यपदथी समलंकृत करी, पू० अभिनवाचार्य श्रीविजयदक्षसूरीश्वरजी म०, पू० पं० श्रीसुशीलविजय म०, पू० पं० श्रीचंदनविजय म०, पू० मु० श्रीजितेन्द्रविजय म०, पू० मु० श्रीमनोहरविजय म०, पू० मु० श्रीरत्नशेखरविजय म० तथा पू० बालमुनि श्रीअभयशेखरविजय म० आदि परिवार सहित विहार द्वारा सनवाडा पधारतां श्रीसंघे भावभोनुं भव्य सामैयुं कर्युं.

वैशाख शुद १४ ने मंगलवारथी महोत्वसनो प्रारम्भ थयो. जेठ (वैशाख) वद ६ ने बुधवारना दिवसे बन्ने पू० आ० म० श्री आदिना वरद हस्ते प्रतिष्ठा थई. तेमां—

४००१) रूपियाना आदेशथी मूलनायक *श्रीशान्तिनाथ भगवान* शा० धरमचन्द रुपाचन्दजीए बिराजमान कर्या. तेमज सुन्दर परिकर पण पोताना तरफथी नूतन करावी विधि-पूर्वक स्थापन कर्युं.

१६०१) रूपियाना आदेशथी मूलनायकनी जमणी तरफ *श्रीऋषभ देव भगवान* शाह धूलचन्द हिंदुजीए बिराजमान कर्या.

१२०१) रूपियाना आदेशथी मूलनायकनी डाबी तरफ *श्रीचन्द्रप्रभ भगवान* शाह रुपाजी मोतीजी वेलांगरीवालाए बिराजमान कर्या.

९०१) रूपियाना आदेशथी *गरुडयक्षनी मूर्ति* शाह चुनीलाल दानाजीए बिराजमान करी.

९०१) रूपियाना आदेशथी *निर्वाणीदेवीनी मूर्त* शाह अमी-चन्द खुबाजीए बिराजमान करी.

८०१) रूपियाना आदेशथी *प्रासाददेवीनी मूर्ति* शाह नेमिचन्द गोवाजीए बिराजमान करी.

४००१) रूपियाना आदेशथी दंड शाह धूलचन्द हिंदुजी ए चढाव्यो.

४००१) रूपियाना आदेशथी *ध्वजं* शाह केवलचन्द डुंगरमलजीए चडाव्युं.

३५०१) रूपियाना आदेशथी *ध्वजा* शाह डुंगरमलजी दानाजी तरफथी चढावी.

१००१) रूपियाना आदेशथी रंगमंडप उपर *ध्वजं* शाह लालचन्द वनाजी शीरोडीवालाए चढाव्युं.

१००१) रूपियाना आदेशथी खेडामंडप उपर ईंडुं शाह गेनमल भभूतमलजी जावालवालाए चढाव्युं.

८०१) रूपियाना आदेशथी शणगार छत्री उपर ईंडुं शाह बाबुलाल मुलाजी सीरोहीवालाए चढाव्युं.

१५०१) रूपियाना आदेशथो हाथी पर बेसी तीरशा शाह धरमचन्द रुपाजीए बांध्युं.

५०१) रूपियाना आदेशथी भाणेजस्थम्भ शाह धरमचन्द रुपाजीए रोप्यो.

६०१) रूपियाना आदेशथी सातमने दिवसे द्वारोद्घाटन शाह मगनलाल दलीचन्दजी वेलांगरीवालाए कर्युं.

तदुपरांत शासनसम्राट्-सूरिचक्रचक्रवर्त्ति-तपागच्छाधिपति प० पू० आचार्यमहाराजाधिराज श्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वरजी गुरुमहाराजश्रीजीनी चरणपादुका पण संघ तरफथी स्थापन करवामां आवी.

स्वामिवात्सल्य—वैशाख शुद १४ मंगलवारे शाह अमीचन्द खुबाजी तरफथी थयुं.

नोकारशी—जेठ (वैशाख) वद ४ सोमवारे शाह धूलचन्द हिंदुजी अने शाह नेमिचन्द गोवाजी तरफथी थई.

नोकारशी—जेठ (वैशाख) वद ५ मंगलवारे शाह धूपचन्द खबाजी अने शाह डुंगरमल दानाजी तरफथी थई.

फलेचुंदडी [झांपे चोखा]—जेठ (वैशाख) वद ६ बुधवारे प्रतिष्ठाना दिवसे शाह धरमचन्द रुपाजी तरफथी थई. तेमज अष्टोत्तरो स्नात्र पण एमना ज तरफथी भणावायुं.

नोकारशी—सातमना दिवसे संघ तरफथी करवामां आवी.

आ प्रतिष्ठाना प्रसंगे सर्व मली ६५००० रूपियानी आवक थई हती.

आ प्रमाणे प० पू० आ० म० श्री आदिनी शुभ निश्रामां सनवाडा नगरमां शासनप्रभावनापूर्वक अभूतपूर्व प्रतिष्ठा-महोत्सव अद्भुत उजवायो हतो.

❀ प्रकाशकीय निवेदन ❀

छन्दशास्त्रमां विशिष्ट स्थान धरावतो एवो आ अनुपम ग्रंथ छे. तेनो प्रथम विभाग प्रकाशित करतां अमो अपूर्व आनंद अनुभवीए छीए. मूल आ ग्रंथना रचयिता कलिकालसर्वज्ञ पूज्य आचार्य-प्रवर श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा छे.

तेना ऊपर प्रद्योत नामनी विशद वृत्ति स्वर्गस्थ-शासन-सम्राट्-सूरिचक्रचक्रवर्ति-तपोगच्छाधिपति-भारतीयभव्यविभूति-कदम्ब-गिरिप्रमुख प्राचीन अनेकतीर्थोद्धारक-अनेकभूपप्रतिबोधक-अद्वितीय-प्रतिभासम्पन्न-सर्वतंत्रस्वतंत्र-वचनसिद्ध-बालब्रह्मचारी प०पू० आचार्य महाराजाधिराज श्रीमद् विजयनेमिसूरीश्वरजी म० श्रीना स्वर्गीय - सुप्रसिद्धपट्टालंकार - साहित्यसम्राट् - व्याकरण-वाचस्पति-शास्त्रविशारद - कविरत्न - साधिकसप्तलक्षश्लोकप्रमाणनूतन-संस्कृतसाहित्यसर्जक - परमशासनप्रभावक - निरुपमप्रवचनकारक - बालब्रह्मचारी प० पू० आचार्यवर्य श्रीमद् विजयलावण्य-सूरीश्वरजी म० श्रीए बनावेली आ ग्रंथमां आपवामां आवी छे, जे मूलग्रंथने विशदपणे अद्भुत प्रकाश करनारी छे.

आ ग्रंथना सम्पादक अने संशोधक पण प्रद्योत टीकाकार महर्षिना प्रधान पट्टधर-शासनप्रभावक-शास्त्रविशारद-कविदिवाकर-व्याकरणरत्न - देशनादक्ष - बालब्रह्मचारी प० पू० आ० श्रीमद् विजयदक्षसूरीश्वरजी म० श्रीना पट्टधर - शासन-

प्रभावक-शास्त्रविशारद-साहित्यरत्न-कविभूषण-प्रखरवक्ता-लेखपटु-बालब्रह्मचारी प० पू० आ० श्रीमद् विजयसुशीलसूरीश्वरजी म० श्रीए तेओश्रीना स्वर्गीय पू० प्रगुरुदेवनी आज्ञाथी आ ग्रंथनुं सम्पादन अने संशोधन कार्य सुन्दर करेल छे. तेमज अमारी साग्रह विनंतिथी प्रस्तावना पण लखी आपेल छे. ए बदल अमारी श्री ज्ञानोपासक समिति वन्दन करवापूर्वक तेओश्रीनो आभार माने छे. तेमज आ ग्रंथना द्वितीय विभागनुं पण सम्पादन अने संशोधन कार्य करवा माटे पुनः विनंति करे छे.

आ ग्रंथ प्रकाशनमां प० पू० आ० श्रीमद् विजयदक्षसूरीश्वरजी म० श्रीना सदुपदेशथी, राजस्थानान्तर्गत मरुधरस्थ सनवाडानिवासी देवगुरुभक्तिकारक-श्रमणोपासक शा० धरमचन्द रूपाजीए रूपिया २०००) नी सहायता आपी छे ए बदल एमनो आभार मानीए छीए.

तेम ज आ ग्रंथनुं मुद्रण कार्य करनार जोधपुरवाला कुम्भट प्रिण्टर्सना मालिक शा० मखतूरमलजी कुम्भट नो पण आभार मानीए छीए.

लि०
श्री ज्ञानोपासक समिति ना प्रमुख
बगडीया चिमनलाल हरिचंद
तथा कार्यवाहक प्रमुख
बगडीया हसमुखलाल दीपचंद
बोटाद (सौराष्ट्र)

शासनसम्राट्-सूरिचक्रचक्रवर्ती-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-तपोगच्छाधिपति-भारतीय
भव्यविभूति–तीर्थरक्षैकदक्ष–बालब्रह्मचारी–प्रौढप्रतापी–परमपूज्य–
महाप्रभावक–जगद्गुरु-आचार्यमहाराजाधिराज

श्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वरजी महाराज साहेब–

जन्म–वि० सं० १९२९ कार्तिक शुद १ श्रीगौतमस्वामी केवलज्ञानदिन
महुवाबन्दर (सौराष्ट्र)
दीक्षा-वि० सं० १९४५ जेठ शुद ७ **भावनगर** (सौराष्ट्र)
गणिपद–वि० सं० १९६० कार्तिक वद ७ **वलभीपुर** (सौराष्ट्र)
पंन्यासपद-वि० सं० १९६० मागसर शुद ३ **वलभीपुर** (सौराष्ट्र)
आचार्यपद–वि० सं० १९६४ जेठ शुद ५ **भावनगर** (सौराष्ट्र)
स्वर्गगमन–वि० सं० २००५ आसोज (दीवाली पर्व तथा वर्तमान
शासनाधिपति श्रीमहावीर मोक्षकल्याण दिन स्वजन्मभूमि
महुवा (सौराष्ट्र)

स्वर्गस्थशासनसम्राट्श्रीना पट्टालङ्कारः–

व्याकरणवाचस्पति-कविरत्न-शास्त्रविशारद-साक्षरशिरोमणि-सातलाख-श्लोक प्रमाणनूतनसंस्कृतसाहित्यसर्जक–अनुपमव्याख्यानसुधावर्षी
बालब्रह्मचारी पूज्यपाद जैनाचार्य

श्रीमद्विजयलावण्यसूरीश्वरजी महाराज साहेब–

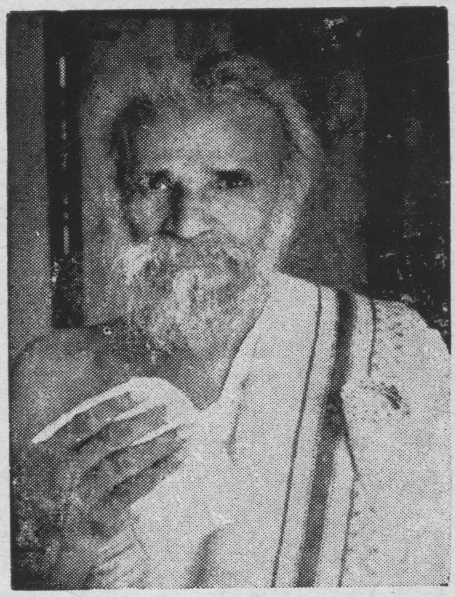

जन्म–वि० सं० १९५३ भाद्रवा वद ६ **बोटाद** (सौराष्ट्र)
दीक्षा–वि० सं० १९७२ आषाढ शुद ५ **सादड़ी** (राजस्थान)
बड़ी दीक्षा–वि० सं० १९७३ मागसर शुद ५ **सादड़ी** (राजस्थान)
प्रवर्तकपद–वि० सं० १९८९ कार्तिक वद २ **अमदाबाद** (गुजरात)
गणिपद–वि० सं० १९९० मागसर शुद ८ **भावनगर** (सौराष्ट्र)
पंन्यासपद–वि० सं० १९९० मागसर शुद १० **भावनगर** (सौराष्ट्र)
उपाध्यायपद–वि० सं० १९९१ जेठ वद ११ **महुवा** (सौराष्ट्र)
आचार्यपद–वि० सं० १९९२ वैशाख शुद ४ **अमदाबाद** (गुजरात)
स्वर्गवास–वि० सं० २०२० फागण वद ९ **खीमाडा** (राजस्थान)

卐 ॐ ह्रीं अर्हं नमः 卐

किञ्चित्प्रास्ताविकम् ।

अये कविकुमुदकलितकविताकौमुदीचुम्बनचातकाः संस्कृत-प्राकृतवाङ्-महोदधिस्नातकाः !

छन्दःशास्त्रस्य प्रयोजनम्

"नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा ।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ॥"

—अग्निपुराणम्

इति सुभाषितानुसारं कविता, तद्रसानुभवः, तद्विरचनाशक्तिश्च प्रमुखतां भजते मानवीयगुण-समुदाये इति सर्वेषां वो विदितमेव । कवित्वलाभाय काव्यरसास्वादाय च छन्दोज्ञानमतितरामावश्यकम् । अज्ञातछन्दोभेदश्च जनः पद्यकाव्यं सम्यक्पठितुमपि न पारयति, कुतस्तस्य पद्यनिर्माणशक्तेः सम्भावना । यद्यपि "छन्दोविचितेर्वृत्तसंशयच्छेदः" इति पूर्वाचार्यवाक्यमुदाहरता ग्रन्थकृता वृत्तसंशयनिराकरणमेव छन्दोविचितेः—छन्दःसंग्रहशास्त्रस्य प्रयोजनत्वेनोक्तं मङ्गलश्लोकवृत्तौ । तथापि "काव्योपयोगः वृत्तसंशयच्छेदादिना" इति कथयता काव्यनिर्माणोपयोगोऽप्यादिशब्देन संगृहीत एव । वैदिकास्तु वेदस्य षडङ्गमध्ये छन्दोऽपि पठन्ति । तथा चोक्तम्—

"शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां गतिः ।
छन्दोविचितिषष्ठश्च षडङ्गो वेद उच्यते ॥" इति ।

किञ्च छन्दसामपरिज्ञानात् प्रत्युत प्रत्यवायः श्रूयते। यथा—

"यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पतति प्रमीयते वा, पापीयान् भवति यातयामान्यस्य छन्दांसि भवन्ति।" इति (शतपथब्राह्मण–ऋषिछन्दोदैवतम्) ब्राह्मणज्ञानपूर्वकमेव मन्त्रो व्यवहारयोग्योऽन्यथा तत्प्रयोगेण स्थावरयोनौ पतनम्, अधःपतनम्, मृत्युर्वा लभ्यते पाप-भाक्त्वं चेति तदाशयः। एवं च यथा वेदमन्त्राणां छन्दोज्ञानपूर्वकमेव व्यवहारे साफल्यं तथा लौकिककाव्यस्यापि छन्दोज्ञानपूर्वक एव व्यवहारः समुचित इति तद्विज्ञानार्थं छन्दःशास्त्रप्रवर्तन सप्रयोजनम्।

छन्दःशब्दनिर्वचनम्

तत्र किमिदं छन्द इति जिज्ञासा समुदेति। छन्दःशब्दस्य बहुष्वर्थेषु प्रयोगो दृश्यते; 'अभिप्रायश्छन्द आशयः' इति कोशानुसारमभिप्राये; वेदे, वर्णमात्रानियताक्षरव्यूहेषु च। तत्र सर्वत्रानुगत किमप्येकं छन्दोलक्षणमन्वेषणीयम् इति केषाञ्चिदाग्रहः। अत्रापरे इत्थमाहुः प्राणमात्रा छन्द इति सर्वं वस्तु केनापि प्राणिति, तत्र यद्येन प्राणिति तद्वस्तुनो मात्रा छन्द इति। मात्रा च पुनरवच्छेदः। स च मानेन वा प्रतिष्ठया वा तुलितकेन वा क्रियमाणो वस्तुस्वरूपमर्यादाबन्धः। यद्यपि वेदेषु प्रयुक्तस्य छन्दःशब्दस्य निर्वचनं बहुधा छादयतेर्धातोराश्रयणेन दृश्यते, तथाहि–"स च्छन्दोभिश्छन्नस्तस्मात् छन्दांसीत्याचक्षते"। ते छन्दोभिरात्मानमाच्छादयन् तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्; ते छन्दोभिरात्मानं छादयित्वोपायन्, तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्" "छादयन्ति ह वा एनं छन्दांसि पापात् कर्मणः" इत्यादि। एवं च आच्छादकत्वमेव छन्दःशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं न त्ववच्छेद इति लभ्यते। आच्छादकानामवच्छेदकत्वसम्भवेऽपि, अवच्छेदकानामाच्छादकत्वासम्भवात्। अत एव तु लोकेऽपि मानस्य प्रतिष्ठायास्तुलितकस्य मा छादकत्वाप्रसिद्धिरिति केचित् तन्न; अप्रसिद्धेर्निरूपयितुमशक्यत्वात्। तथा हि केयमप्रसिद्धिः ? लौकिकानामप्रतिपत्तिर्वा, स्वरूपतोऽसत्त्वं वा। नाद्यः, न हि लौकिकानामप्रतिपत्त्या प्रमाणसिद्धोऽर्थः प्रत्याख्यातुं युक्तः। प्रतिपत्तिं लोके दृष्ट्वा प्रमाणान्तरैरसिद्धोऽप्यर्थः स्वीकर्तुमपि न शक्यः। व्यवहार-

सिद्धिप्रवणो हि लोको वस्तुसत्त्वानपेक्ष एव। 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प इति पातञ्जलसूत्रानुसारं विकल्पवृत्त्यैव व्यवहरतां जनानामसत्यप्यर्थे प्रतिपत्तिदर्शनात्। अत एव शृङ्गारादिरसानामरूपत्वे प्रमाणतः सिद्धेऽपि हास्य-शृङ्गारकीर्त्यादीनां शुक्लत्वं, प्रेमानुरागवीरादीनां रक्तत्वं, क्रोधपापापकीर्त्यादीनां कृष्णत्वमनृतमपि व्यवहारतः कवयः प्रयुञ्जते। वेदादिप्रमाणैः सूर्यस्य स्थिरत्वे सिद्धेऽपि लौकिकाश्चलत्वं व्यवहरन्ति, पृथिव्याश्चलत्वे प्रमाणप्रतीतेऽपि तामचलामाहुः।

एवं घटशब्दप्रयोजकाकारान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्यैकत्वात् तदभिन्नतयैवैकत्वेन प्रतिपन्नस्य, मृत्तिकाणुविलक्षणसंनिवेशात्मकघटरूपावच्छिन्नचैतन्यस्य घटत्वतया तदवच्छिन्नत्वेन घटशब्दसङ्केतसिद्धया तत्तद्व्यवहारोपपत्तौ सत्यामपि, समवायसम्बन्धेनावयवेषूत्पन्नः कश्चिदपूर्वोऽवयवी घटशब्दवाच्य इति मन्यन्ते।

किमधिकेन लोके हि सर्वत्रैवार्थे त्रिविधा प्रतिपत्तिर्दृश्यते—पारमार्थिकी व्यावहारिकी प्रातिभासिकी चेति। पारमार्थिकी, वास्तविकीत्यनर्थान्तरम्। व्यावहारिकी, औपयोगिकी, औपचारिकीत्यनर्थान्तरम्। प्रातिभासिकी, आध्यासिकी वैकल्पिकीत्यनर्थान्तरम्। यथा काचे स्फटिकबुद्धिः प्रातिभासिकी, काचबुद्धिर्व्यावहारिकी, मृद्बुद्धिः पारमार्थिकी। एवं पृथिव्यपेक्षया सूर्यस्य स्थिरता वास्तविकी, पृथ्वीं परितः सूर्यस्य वार्षिकगतिः पूर्वाभिमुखीना व्यावहारिकी, पृथिवीं परितः सूर्यस्य दैनिकी गतिः पश्चिमाभिमुखी प्रातिभासिकी। इत्येवं सर्वत्र प्रतीतेस्त्रैविध्यं परीक्षकाणां प्रत्यक्षम्। तत्र प्रातिभासिक्या मिथ्यात्वमेव, वास्तविक्याः सत्यत्वमेव, व्यावहारिक्याः सत्यानृतत्वम्। अत एवाहुः शारीरकभाष्ये शङ्कराचार्याः 'सत्यानृते मिथुनीकृत्य लोकव्यवहारः' इति। अन्यथासतोऽपि व्यवहारानुरोधेनान्यथाप्रकल्पितरूपस्य लोके व्यवहार दर्शनात्। तस्मान्नैतादृशलौकिकप्रतिपत्त्यभावमनुरुध्य प्रमाणसिद्धः कश्चिदर्थः प्रत्याख्यातुं शक्यते इति।

अथ द्वितीयः पक्षः—स्वरूपतोऽसत्त्वमप्रसिद्धिरिति; तदपि न। छादकत्वस्यैव छन्दःपदशक्यतावच्छेदकतया तत्र तदसत्त्वानवक्लृप्तेः। नन्वेवं शास्त्रव्युत्पत्त्या

पूर्वं प्रदर्शितेन छन्दशब्दनिर्वचनचयेन चाच्छादकत्वं छन्दःपदशक्यतावच्छेदकमस्तु, तावता मानाद्यवच्छेदानां वर्णमात्राद्यवच्छेदानां चाच्छादकत्वं न प्रतीतिपथमवतरतीति चेन्न, छादकत्वस्यैव छन्दःपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वमभ्युपगन्तॄणां छन्दःपदाभिधेयेषु तेष्ववच्छेदेषु छादकत्वस्यास्तित्वबोधन एव तात्पर्यावसायात्। ननु तर्हि कीदृगाच्छादकत्वमेषामिष्टमिति चेत्, इतरेतराच्छादकत्वमिति गृहाण। ननु च भोः येन तद्वस्तुस्वरूपं न प्रतिपद्यते तिरोहितं भवति तस्मिन्नन्तर्धानसाधने संवरणे आच्छादनशब्दो दृष्टः, यथा घटाच्छादितः प्रदीपः, पटाच्छादितो घटः, रजसाच्छादितो भानुः, स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना वल्कलेन इत्यादौ। प्रकृते पुनर्नैतदेवं दृश्यते, न चावच्छेदेन तदवच्छिन्नं वस्तु किञ्चिदन्तर्धत्ते तस्मादनाच्छादका एवावच्छेदका इति प्रतिपद्यन्ते इति चेत्, सत्यम्; न केवलमन्तर्धानमेवाच्छादनशब्दस्य विषयः। किं तर्हि ? बहवो विषयास्तच्छब्दस्योपलभ्यन्ते तथा हि; 'अन्नाच्छादनभागयम्', 'आच्छाद्य चार्हयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्' (कन्यां दद्यादिति शेषः) इत्यादौ उपसंव्यानमाच्छादनम्। 'आभूषणाच्छादिताङ्गी' 'छदयति सुरलोकं यो गुणैर्यं च युद्धे। सुरयुवतिविमुक्ताश्छादयन्ति स्रजश्च। इत्यादिषु पर्याधानं छादनम्। 'चन्दनच्छन्नगात्रः' 'तैलाच्छन्नं कलेवरम्' घृताच्छन्नं व्यञ्जनम्' इत्यादिषु चर्चितकं छादनम्। 'मेघाच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनम्' 'कटकच्छन्नमार्गेषु' इत्यादिष्ववरोध आच्छादनम्। छादयन्नाननं वेगैरर्दयन्नङ्गमञ्जनैः। निरुच्यते छर्दिरिति दोषो वक्त्रं प्रधावितः॥"(-सुश्रुतः) इत्येवमादिषु दूषणमाच्छादनम्, इत्येवमनेके विषयाश्छादनस्य भवन्ति। न चैतेषु छाद्यस्यान्तर्धानं दृश्यते, प्रयुज्यते च स आच्छादनशब्दः। तदित्थं तस्यानैकार्थ्ये सिद्धे यदिदं गोपनापरपर्यायं रक्षाभिप्रायमाच्छादनं तदिहावच्छेदकानुगतं द्रष्टव्यम्। अवच्छेदकावच्छिन्नस्य स्वरूपतोऽप्रच्यवनेन गोपनं भवति।

अत्र कश्चित् प्रत्यवतिष्ठते—नेदमनैकार्थ्यं युक्तम्, प्रकरणवशप्राप्तार्थेषु शक्तिस्वीकारे शक्यतावच्छेदकानन्त्यापातात्। वस्तुतस्तु अपवारणे छादयतिः पठितो धातुपाठेषु। अपवारणं च द्विविधम्। एकदिग्वृत्तित्वे आवरणम्, अनेकदिग्वृत्तित्वे च संवरणम्। इदं च संवरणं वस्तुतः स्वरूपानुगतमपि द्वेधा—पृथग्दृष्टमपृथग्दृष्टं च। तथा हि 'मेघच्छन्नम्' इत्यादावावरकत्वेन, उपसंवीत-

घटादीनां बहिरवस्थानां व्याप्यवर्त्तिनां दिग्देशकालपरिमाणादीनां च संवरकत्वेन प्रतिपत्तिः । अनेकदिग्वर्त्तिनोऽप्येकदिग्वर्त्तित्वाव्याघातात् संवरणेऽप्यावरणशब्दः प्रयोगार्ह इत्यन्यदेतत् । उभयोरेवानयोरर्थयोः दृष्टिसम्बन्धप्रतिबन्धकत्वमेवाच्छादनशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम् । प्रतिबन्धकतावच्छेदकं च दृग्दृश्यान्तरालवर्त्तित्वं व्यवधानापरपर्यायम् । 'मेघच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनम्' इत्यत्र अहःशब्दस्य तत्प्रवर्तकसूर्यपरतया तदंशुपरतया वा विवक्षणात् तददर्शनं मेघरूपावरणप्रयोज्यम् । तथा च छन्नाच्छादितादिशब्दानां प्रतिबद्धदर्शनार्थकत्वात्, अवच्छेदावच्छिन्नानां चानवरुद्धदर्शनत्वेनाभिप्रेतत्वात्, नावच्छेदानामाच्छादकत्वम्; अनाच्छादकत्वाच्च नावच्छेदश्छन्दः इति चेत्; अत्रोच्यते—नैकान्ततस्तावद् दृगवरोधकस्यैवाच्छादकत्वं वक्तुं शक्यम्, एकान्ते स्थितवतां पुंसां 'छन्ने स्थाने तिष्ठामः' इति प्रतिपत्तिदर्शनात् । 'न च वर्षातपात् कृच्छ्रं छत्राच्छादिवर्षणः' इत्यादौ च सर्वावयवैर्दर्श्यमानस्यापि पुंसः छत्रच्छन्नत्वोपचारात् । एवं दृष्टिप्रतिबन्धनैरपेक्ष्येऽपि अवरोधकेषु आच्छादकत्वोपचारश्चन्द्रातपादौ व्यवहृतः । तथा चेतरसम्बन्धापवारकत्वमेवाच्छादकत्वमिति निष्कर्षः । इतरत्वं तु क्वचिद् दृष्टेः, क्वचित्तु प्रतिविघातकानामर्थानाम् । तत्र दृष्टिसम्बन्धापवारणे छन्नस्य गुप्तत्वं गूढत्वापरपर्यायम् । प्रतिविघातकदोषसम्बन्धापवारणे छन्नत्वं, गुप्तत्वं, रक्षितत्वापरपर्यायम् । तथा चावच्छेदानामपि, अवच्छिन्नस्वरूपानुगतया यावदवयवप्रच्यावकदोषसम्बन्धापवारकतया सिद्धमेव स्वरूपाच्छादकत्वं छन्दःशब्दप्रवृत्तौ निमित्तमिति । इत्थं च मात्रावर्णनियताक्षरव्यूहरूपस्यापि तच्छन्दोव्यक्तिस्वरूपाच्छादकत्वेन छन्दस्त्वं सिद्धम् । अभिप्रायेऽपि मनसः स्वरूपाच्छादकत्वरूपं छन्दस्त्वम् । वेदानां च छन्दः परिच्छिन्नस्वरूपतया छन्दस्त्वं रूढिप्राप्तमिति सर्वेषां छन्दःशब्दप्रतिपाद्यानामर्थानां सङ्ग्रहोऽवमेयः । स्वमते तु पद्यच्छन्दसः चन्दनादाह्लादनाच्छन्दस्त्वमुक्तमाचार्यैरिति दिक् ।

छन्दो-भेदाः ।

तदिदं छन्दो बहुधा विभक्तं दृश्यते छन्दःशास्त्राभिज्ञैः । तदित्थम्--

(१) छन्दःशब्दप्रवृत्तिविषयः पद्यजातं द्विधा—पद्यं जातिश्च । यत्र नियतवर्णव्यवस्थया छन्दःसिद्धिस्तद्वृत्तम् । यत्र तु नियतमात्राव्यवस्थया

छन्दःसिद्धिः सा जातिः। तथा चाह पिङ्गलच्छन्दःशास्त्रटीकायां हलायुधः—

"पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा।
एकदेशस्थिता जातिर्वृत्तं लघुगुरु स्थितम्॥" इति॥

(२) परे तु वृत्तिर्जातिरिति द्विधा विभज्य तयोरुभयोरपि वृत्तशब्देन छन्दः-शब्देन च व्यवहारमिच्छन्ति। वर्णवृत्तं वर्णच्छन्दः, मात्रावृत्तं मात्राच्छन्द इति तथा चैषां मते छन्दो-वृत्तशब्दयोः पर्यायवाचित्वम्।

(३) छन्दःपरिमलकारास्तु वृत्तच्छन्दः शब्दयोः पर्यायत्वं प्रत्याचक्षते। मात्राक्षरसंख्यया नियता वाक् छन्दः, गलसमवेतत्वरूपेण नियता वाग् वृत्तमित्येवं व्यवस्थापयन्ति।

(४) अन्ये पुनरन्यथा विभज्य व्याचक्षते तथा हि—पद्यच्छन्दस्तावत् त्रेधा—वैदिकं (प्राकृतं वा) लौकिकं (संस्कृतादिलोकभाषानिबद्धम्), उभयसाधारणं च। तत्र लौकिकं त्रेधा गणच्छन्दः, मात्राच्छन्दः अक्षरच्छन्दश्चेति। तथा च संगृह्णन्ति—

"आदौ तावद्गणच्छन्दो मात्राच्छन्दस्ततः परम्।
तृतीयमक्षरच्छन्दः छन्दस्त्रेधा तु लौकिकम्॥
आर्याद्युद्गीतिपर्यन्तं गणच्छन्दः समीरितम्।
मात्राच्छन्दश्चूलिकान्तमौपच्छन्दसिकादिकम्।
सामान्याद्युत्कृतिं यावदक्षरच्छन्द एव च॥" इति॥

(५) परे तु पद्यच्छन्दश्चतुर्धा विभेजुः—अक्षरच्छन्दः, मात्राच्छन्दः, अक्षर-गणच्छन्दो मात्रागणच्छन्दश्चेति भेदात्। यत्र मात्राणां न्यूनातिरेकेऽप्य-क्षरसंख्यानं तदक्षरच्छन्दः यथाऽनुष्टुबादि। यत्राक्षराणां न्यूनातिरेकेऽपि मात्रासंख्यानं तन्मात्राच्छन्दः। यथौपच्छन्दसिकवैतालीयादिकम्। यत्र पुनरक्षरगणानां क्रमसन्निविष्टानां व्यवस्थया छन्दःस्वरूपसिद्धिस्तत्रा-क्षराणां गुरुलघुस्थानानां च नियतत्वादक्षरगणच्छन्दस्त्वेन व्यवहारः। यथेन्द्रवज्रा-स्रग्धरा-वसन्ततिलका-मन्दाक्रान्तादि। एवं यत्र मात्रागणानां

क्रमसंनिविष्टानां व्यवस्थया छन्दःसिद्धिस्तत्राक्षरनियमाभावान्मात्रागण-छन्दस्त्वेन व्यवहारः, यथा—आर्या-दोहा-कुण्डलिकादीति ।

वस्तुतस्तु प्रोक्तरूपेण विभक्तेषु गणवृत्तेषु वर्णव्यवस्थासामान्यात् वर्ण-वृत्ताननिरिक्तत्वं पश्यन्तिं विवेचकाः । तथा च वर्णवृत्तं मात्रावृत्तमिति द्वयमेव पद्यच्छन्दोविभाजकमिति युक्तमुत्पश्यामः ।

स्वमते तु 'वृत्तम्' (१.१२) इति सूत्रवृत्तौ—प्राङ्मात्राच्छन्दोभ्यो यदभिधास्यते तद्वृत्तसंज्ञं ज्ञेयम् । तच्च स्थिरे गुरुलघ्वक्षरविन्यासमिष्यते—पाटनसंयोगयोरभावात् । मात्राच्छन्दांसि तु जातिरिति प्रसिद्धानि" इत्युक्त्वा पूर्वोदाहृतं हलायुधटीकास्थितं पद्यमेव स्वमतोपोद्वलकत्वेन विन्यस्तम्, यदाहुः—

"पद्य चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा ।" इति ।

एव च वृत्तं जातिरिति द्विधैव विभागः संमतः । तत्र वृत्ते यत्र यो गणो यावद्भिर्यथोक्तलघुगुरुप्रस्तारक्रमवद्भिरक्षरैर्निरूपितः स तथैव निबद्धव्य इति तत्र गुरुलघूनां स्थिरत्वं, न तु मात्राच्छन्दोवत् गुरोर्लघुद्वयकल्पनया पाटनं, लघुद्वय-स्यैकगुरुत्वकल्पनया वा संयोगस्तत्र भवतीति तस्याक्षरवृत्तत्वम् । मात्राच्छन्दःसु, तु यथाकथंचित्तावन्मात्रापूर्त्तिरिति नाक्षरविन्यासे स्थिरतेति भेदः ।

तत्र वस्तुगत्या नियतस्थानानियतस्थानाभिर्वा मात्राभिर्नियताक्षरव्यूह एव छन्दः, मात्राप्रस्तारस्वरूपाणां वर्णप्रस्तारेषु वर्णप्रस्तारस्वरूपाणां वा मात्रा-प्रस्तारेषु च यथायथमन्तर्भावः क्रियते । ततो वर्णवृत्तमात्रावृत्तेति भेद-करणमापाततो निर्मूलं प्रतिभाति । तथापि वर्णगणविशेषरूपपिण्डापेक्षया वर्णवृत्तत्वम्, तदुपेक्षया च मात्रावृत्तत्वमिति विभागपरिकल्पनेति विज्ञेयम् ।

तेषु च छन्दःप्रकारभेदेषु वर्णात्मकेषु मात्रात्मकेषु वा उक्ताद्यवान्तर-जातयः परिकल्पिता इति वृत्तेष्वपि कथं जातिपरकल्पनेति न भ्रमितव्यम्; तासां सामान्यबोधकत्वेन मात्रात्मकछन्दोवाचिजातेर्व्यतिरेकात् । वर्णवृत्त-समुदायान्तर्गतोक्तादिजातयः तत्तदक्षरसंख्याव्यवस्थितानां वृत्तानां परस्पर-व्यावर्त्तिकाः सामान्यरूपा इति बोध्यम् । न ताव्रता वृत्तं जातिरिति द्विधाकल्पि-तस्य विभागस्य व्याघात इति ।

अपरो भेदप्रकारः

पुनरपि छन्दांसि समार्ध सम-विषमभेदात् त्रिधा विभक्तानि । समैः पादैः समम् (१.१३.-१,१५.) इत्यादिसूत्रैरेष विभाग आचार्येण प्रपञ्चितः । अन्यैरपि पूर्ववर्त्तिभिः परवर्त्तिभिश्च छान्दसिकैरेष विभागः स्वीकृतः । अन्यैरेषां लक्षणसूत्राणि न कृतानि दृश्यन्ते । अत्र तु कृतानीति विशेषः । अन्येऽपि द्विपदी, पञ्चपदी, षट्पद्यष्टपद्यादिभेदाः प्राकृतच्छन्दःप्रकरणे व्यावर्णिताः, ते च प्रकाराः सर्वेऽपि प्राय एष्वेव त्रिषु-समार्ध-सम-विषमेषु यथायथमन्तर्भवन्तीति विभज्य नोक्ताः ।

वृत्तानां नामानि

अथ यान्येतानि श्रीः, स्त्री, पद्ममित्यादीनि छन्दसां नामानि पठ्यन्ते तान्येतानि, यादृच्छिकानि, रूढानि, योगरूढानि, यौगिकानि वेति जायते विचारणा । तत्र तावत् येऽन्यत्रार्थे लोके यौगिकत्वेन प्रसिद्धास्तेऽत्र प्रयुज्यमानाः शब्दा योगरूढाः, ये चावयवार्थवर्जिता यथा नकुंटकादयस्ते यदृच्छाशब्दा एव । सर्वेषां रूढिकल्पना तु न युक्ता, यत एकस्यैव वृत्तस्य आचार्यभेदेन भिन्नानि नामानि दृश्यन्ते । एतच्च तत्र तत्राचार्येण प्रदर्शितमेव । कतिचिच्च नामानि श्रुतिगतिमनुरुध्य प्रवर्त्तितानि दृश्यन्ते यथा-द्रुतविलम्बितम्, रथोद्धता, भुजङ्गप्रयातम्, शार्दूलविक्रीडितमित्यादीनि एषां छन्दसां श्रवणे, उच्चारणे वा तादृश्यार्थावगतिर्ज्ञायते । तानि च यौगिकान्यपि सन्तु । नात्रैकरूपताग्रह आचार्याणामिति प्रतीयते ।

यतिनियमः

'श्रव्यो विरामो यतिः' (छन्दोऽनु. १.१६) इति सूत्रेण तद्वृत्त्या चाचार्येण यतिनियमाः स्फुटं प्रतिपादिताः । न ह्येवमन्यत्र छन्दोग्रन्थेऽस्य विषयस्य वर्णनं दृश्यते । छन्दःशास्त्रसम्प्रदायप्रवर्तकाचार्येषु केचन यतिनियमं नेच्छन्ति । ते च स्वाभाविकमेवैतन्मन्यन्ते, यथारुचि स्वत एवात्र लोका यतन्ते इति तेषामभिप्रायः । आचार्यहेमचन्द्रतः किञ्चित्प्राचीनेन जयकीर्तिना चैवं तेषां विभागः प्रदर्शितः स्वकीये छन्दोऽनुशासने—

"वाञ्छन्ति यतिं पिङ्गल-वसिष्ठ-कौण्डिन्य-कपिल-कम्बलमुनयः ।
नेच्छन्ति भरत-कोहल-माण्डव्याश्वतरसैतवाद्या केचित् ।।"
इति (१.१३.)

स्वयम्भूनाम्ना काव्यदर्पणकर्त्रा स्वग्रन्थे यद्यपि जयदेवस्यापि यतिनियमाङ्गीकार उक्तः । तथा हि—

"जयदेवपिङ्गला सक्कयंमि दोच्चि अ जइं समिच्छंति ।
मंडव्व-भरह-कासव-सेयवपमुहा न इच्छंति ।।" इति (१.४४)

दृश्यते च तदीयग्रन्थे सूत्रेषु तत्र तत्र यतिविचारः—यथा "ओजौ याश्च त्रयः स्युः स्वरमुनितुरगैः स्नग्धरा स्याद्विरामैः" (जयदेवछन्दः, ७.२४) इत्येवमादयः । तथापि जयकीर्त्तिनाऽत्र तन्नामानुल्लेखः अन्ते च छन्दोवित्समुदाये तन्नामोल्लेखश्च तदीयग्रन्थपरिचयात् सम्भाव्यते । यद्यपि प्रामाणिकैतिहासिकमतानुसारं जयदेवो दशमशतककेशवीयवर्ष-पूर्वधा पूर्वमेवाभूदिति निश्चीयते; तत्समयसमुद्भूतेन पिङ्गलच्छन्दःशास्त्रटीकाकर्त्राहलायुधेन स्वग्रन्थे तदुल्लेखात् । जयकीर्तिश्चैकादशशतकसमुद्भूत इति तावत्कालपर्यन्तं जयदेवग्रन्थस्य प्राप्तप्रचारत्वं सम्भाव्यते । तथापि मुद्रणालययुगाभावात् तदीयग्रन्थप्राप्तिः, नवीनतया वा तन्मतोल्लेखानावश्यकता वा सम्भाव्यते इति नेदं दोषावहम् । यतेर्लक्षणं चात्रोक्तं तत्र—

"वाग्विरामो यतिः स्यात् संस्थाप्यते श्रुतिसुन्दरम् ।
पादान्ते सूचितस्थाने युक्पादान्ते विशेषतः ।।" इति (१.१०)

एतच्च लक्षणं 'श्रव्यो विरामः' इति पदद्वयेनैवाचार्येण संगृहीतमिति विज्ञायते । अन्यैश्च पिङ्गलं विहाय यतिमिच्छद्भिरपि यतिलक्षणं स्वकीयग्रन्थे प्रदर्शितं न दृश्यते । पिङ्गलसूत्रस्य 'यतिर्विच्छेदः' (६.१) इत्यस्य व्याख्यायां हलायुधेन बहुप्रपञ्चितं यतिविषये, तदेव चात्रानुगतं दृश्यते ।

छन्दःशास्त्रसम्प्रदायः

प्रकृतग्रन्थे स्वकीयमङ्गलश्लोकव्याख्यावसरे वृत्तौ 'पूर्वाचार्यशासनस्यानु'

इति लिखता आचार्येणास्य शास्त्रस्याचार्यपरम्पराप्राप्तत्वं स्पष्टमुद्घोषितम्। तत्र किमानुपूर्वीकेयमाचार्यपरम्परेति विचारणायां प्रस्तुतायाम्–तत्र तत्र ग्रन्थेषु समुद्दिष्टनाम्नामाचार्याणां नामान्येवोल्लेखयोग्यानि न तु तेषामानुपूर्वी विज्ञातुं शक्यते, तत्तद्ग्रन्थनुपलम्भात्, प्राचीनतरेतिहासस्य प्राप्ताभावात्।

तथाहि अग्रे प्रदर्श्यमानरीत्या पिङ्गलेन स्वसूत्रेषु यास्क-ताण्डि-सैतव-काश्यपानामुल्लेखः कृतः। ते च यद्यपि शास्त्रान्तरेष्वपि प्रसिद्धा आचार्याः, परं तेषां छन्दोग्रन्था इदानीं न समुपलभ्यन्ते, इति न तदीयविषये किमपि वक्तुं शक्यम्। जयकीर्तिना स्वकीये छन्दोऽनुशासने पूर्वोदाहृतयतिनियमाङ्गीकर्तृ-तद्भिन्नाचार्यनामसूचकपद्ये पिङ्गल-वसिष्ठ-कौण्डिन्य-कपिल-कम्बल-भरत-कोहल-माण्डव्याश्वतराणां नामानि कीर्तितानि, तेषामपि ग्रन्था अनुपलब्धा एव। एवमनेनैव विदुषा स्वग्रन्थसमाप्तिसमये पद्यमिदमुक्तम्—

"माण्डव्य-पिङ्गल-जनाश्रय-सैतवाख्य–
श्रीपादपूज्य-जयदेवबुधादिकानाम्।
छन्दांसि वीक्ष्य विविधानपि सत्प्रयोगान्
छन्दोऽनुशासनमियं जयकीर्तिनोक्तम्॥" (८.१९)

एतेन ज्ञायते यदेषां छन्दोग्रन्थास्तदानीमुपलब्धा आसन्। सम्प्रति तु एषु केवलं जयदेवकृतं 'छन्दः' एव समुपलभ्यते। एतावता केवलमेतेषां प्राच्य-छान्दसानां स्थितिमात्रं ज्ञायते। केदारकृतो वृत्तरत्नाकरनामा छन्दोग्रन्थः साम्प्रतमपि पठनपाठने भूयसोपयुज्यते। ऐतिहासिकगवेषका एनमेकादशशतके समुद्भूतं मन्यन्ते। यावत्यष्टीका एतत्कृतछन्दोग्रन्थस्य समुपलभ्यन्ते न तावत्यः कस्याप्यन्यस्य छन्दोग्रन्थस्यैतावतैवास्य लोकप्रियत्वमनुमातुं शक्यते। अनेन केवलं लौकिकसंस्कृतच्छन्दसामेव लक्षणानि रचितानि। अतएवास्य ग्रन्थः षडध्यायनिबद्ध एव। महाकविकालिदासकृतत्वेन प्रसिद्धः श्रुतबोधनामा छन्दोग्रन्थोऽपि लघुकलेवर एकः प्रचलति। किन्त्वस्य बालोपयोगिलघुसङ्ग्रह-रूपतया न नीतिनिर्धारकत्वमिति नायमेतत्परम्पराप्रवेशार्हः। भारते छन्दः-शास्त्रे लोकानां रुचिर्महत्यासीदिति पुराणादिष्वपि तेषां लक्षणादिदर्शनेन

परिज्ञायते। तथा च गरुडपुराणेऽपि प्रथमखण्डस्य २०६ तमाध्याये केषांश्चिच्छन्दसां लक्षणानि संगृहीतानि। भरतनाट्यशास्त्रे पञ्चदशाध्याये छन्दसां लक्षणानि सम्यङ्निरूपितानि। दृश्यते च प्रकृतग्रन्थेऽपि लक्ष्यच्छन्दसो नामान्तरवर्णनस्थले भरतस्य नाम बहुधा समुल्लिखितमाचार्येण। एवं च समुपलभ्यमानप्राचीनतरछन्दोग्रन्थेषु तस्यैव पूर्वमुल्लेखो योग्यः। यद्यपि ततः परमस्य विषयस्य विस्तारः कृतः तथापि तस्य मौलिकता न लुप्यते। एतावता परम्पराप्राप्तमेवेदं शास्त्रमाचार्येण मुनिबद्धमिति तदीयमङ्गलश्लोकवृत्त्या यदुद्भासितं तत्सम्यगेवेति सिद्धम्। छान्दसिकेषु पिङ्गलाचार्यः परमादरणीयः सम्प्रति समुपलभ्यमानेषु सर्वेष्वेव छन्दोग्रन्थेषु अयमेतच्छास्त्रोपज्ञातेव समादृतो दृश्यते। एतदीयामेव शैलीं परेश्रिताः। लोकेषु च पिङ्गलशास्त्रं छन्दःशास्त्रपर्यायतया प्रथितम्।

उपालभ्यमानछन्दोग्रन्थानां परिचयः

(१) तत्र तावत् समुपलभ्यमानमौलिकछन्दोग्रन्थेषु सर्वतः प्राचीनतया सर्वसम्मतं पिङ्गलछन्दःशास्त्रद्वयमेव (पिङ्गलछन्दःशास्त्रम्, प्राकृतपिङ्गलञ्च)। परतः समुपलभ्यमानेषु सर्वेष्वेव ग्रन्थेषु तस्य नामतोऽर्थतश्च समुल्लेखस्य दर्शनात्। तत्र चैतेषामाचार्यिणां नामानि उल्लिखितानि दृश्यन्ते–यास्कः (पि. छ. शा. ३.३०) ताण्डी (पि.छ.शा. ३.३६), सैतवः (पि.छ.शा. ५.१८; ७.१०), काश्यपः (पि.छ.शा. ७.६) इति।

(२) ततः परमुपलब्धग्रन्थेषु जयदेवच्छन्दसो नाम समायाति। अयं दशमशताब्द्यां ततः पूर्वं वा समुद्भूतो यत उत्पलभट्टविरचितायां वराहमिहिरकृतबृहत्संहितायाष्टीकायां ९६६ ईशवीयवर्षलिखितायां १०३ तमे अध्यायेऽस्य नाम कीर्तितमस्ति। आचार्येणापि स्वग्रन्थेऽयमुल्लिखितः (२.२९७; ३.५१-५२)। अयं च दाक्षिणात्य इति बहवः सम्भावयन्ति। अस्योल्लेखो भट्टहलायुधेन श्वेतपटशब्देन कृतः। वृत्तरत्नाकरटीकाकर्त्रा सुल्हणेन च 'शूद्रश्वेतपट-जयदेवेन' इत्येवंरूपेणास्योल्लेखः कृतः इति श्वेताम्बरसम्प्रदायोऽयमित्यायाति, अनेन च वैदिकानामपि छन्दसां लक्षणानि कृतानीति श्वेताम्बरत्वमस्य सन्दिग्धमेव प्रतिभाति। प्रायो

जैनाचार्यैः कृतेषु छन्दोग्रन्थेषु वैदिकच्छन्दसां लक्षणानि न विहितानि स्वार्थं उपयोगाभावात् ।

(३) अस्मात् परं जयकीर्तेः छन्दोऽनुशासनमुपलभ्यते । तच्च प्रकृतग्रन्थवदष्टभिरधिकाराख्यैरध्यायैः समापितम् । तत्र केवलं लौकिकसंस्कृतभाषायामुपयुक्तानि छन्दांस्येव लक्षितानि । अयमपि जैनाचार्य एव, यतो मङ्गलश्लोकेऽनेन श्रीवर्धमानस्य नतिः प्रयुक्ता । अयं च जयदेवादर्वाचीन आचार्यहेमचन्द्राच्च प्राचीन इत्यैतिहासिकाः साधयन्ति । स्पष्टमेतदुक्तं H D. वेलङ्करनाम्ना प्राध्यापकेन स्मरसंगृहीतस्य 'जयदाम'नाम्नो वृत्तकुसुमोच्चयस्य भूमिकायामाङ्ग्लभाषानिबद्धायाम् ।

(४) 'स्वयम्भूछन्दः'कर्ता स्वयम्भूनामकोऽपि जैनाचार्य एव । एतत्कृतग्रन्थः एशियाटिकसोसाइटीनाम्न्याः समितेः पत्रिकायां १९३५ तमेशवीयवर्षे मुद्रित इति पूर्वोक्तवेलङ्करमहाशयस्य भूमिकात एवावगम्यते, अनेन च प्राकृतच्छन्दसामपि लक्षणानि विहितानि । अयमपि ईशवीयदशमशताब्दीसमुद्भूत एवेति तत एव ज्ञायते ।

(५) एकं 'विरहाङ्क'कर्तृकं 'वृत्तजातिसमुच्चय'नामकं पुस्तकमपि एशियाटिकसोसाइटीनाम्न्यां संस्थायामेवोलभ्यते । तदीयसमयः तत्कर्तुः परिचयश्च न ज्ञायते इति तस्य पौर्वापर्यं निश्चेतुमशक्यम्, तथापि प्राचीनश्रेण्यामेव तदुल्लेखोऽन्यैः कृत इति वयमपि तं प्राचीनमेव मन्यामहे ।

(६) अतः परं केदारस्य समयः स चैकादशशतकसमुद्भूतः वृत्तरत्नाकरकर्तेति च इति पूर्वमुक्तमेव ।

(७) अतः परं चाचार्यहेमचन्द्रस्यायं ग्रन्थ एव सर्वाङ्गपूर्णो विभाति । पिङ्गलाचार्यं विहाय प्रायः सर्वैरेव छन्दोलक्षणकर्तृभिः, लक्षणसूत्रं तद्वृत्तस्य पादरूपेण, पूर्णवृत्तरूपेण वा निबद्धम् । अनेन तु पिङ्गलाचार्यरीतिरेवानुसृता । यथासम्भवमल्पाक्षराणि सूत्राणि रचितानि । पिङ्गलसूत्रवद् दुर्बोधं मा भूदिति शिष्यपरम्परोपकारार्थमन्यस्वकीयग्रन्थवद् अस्यापि विवृतिराचार्येण स्वयमेव विहितेति बहूपकृतं लोकानाम् । एतद्ग्रन्थस्य

परिचयश्चानुपदमेव दास्यते। अतः परं केचनार्वाचीनाः प्राचीना अपि छन्दोग्रन्थाः प्रचलिता लोके, यथा—

(८) कविदर्पणम्–अज्ञातकर्तृकम्, प्राय आचार्येणापि चर्चितं स्वग्रन्थे।

(९) उत्पलीया टीका बृहत्संहताया १०३ तमाध्यास्य, एषाऽपि छन्दःपरिचयोपकृतेति तत्र तत्र तदुल्लेखादवगम्यते, 'विजयानगरम्-सस्कृतमालायां मुद्रिता।

(१०) छन्दोमञ्जरी गङ्गादासकृता, सम्प्रति प्रचलितपरीक्षास्वपि सन्निविष्टा। सा च वृत्तरत्नाकरतोऽपि सुबोधेति साऽपि बहूपयोगिनी छन्दोरसिकानाम्।

(११) मन्दारमन्दचम्पूनामा छन्दोग्रन्थः काव्यमालाया मोहमयीतः प्रचलितायां द्विपञ्चाशत्तमकुसुमरूपेण मुद्रित इति श्रूयते। छन्दःकौस्तुभनामा छन्दोग्रन्थः बहुत्र छन्दःशास्त्राणां टीकादिषु समुदाहृतो मूलेऽपि क्वचित्क्वचिदुल्लिखितः सम्प्रति पुण्यपत्तनस्थभाण्डारकरभाण्डारे ८९४ संख्याङ्कितो मातृकारूपेणैव स्थित इति नास्माकमद्यावधि दृग्गोचरीभूतः। ईशवीयषोडशशतकसमुद्भूतस्य मैथिलकवेर्दामोदरस्य।

(१२) वाणीभूषणं नाम छन्दोग्रन्थस्तत्कालीयमिथिलाशासकानाम् ओइनवारवंश्यानां राज्ञां प्रशस्तिपद्योदाहारणैर्युतो विदुषां मनोहारी। नातोऽधिकाश्छन्दोग्रन्थाः सम्प्रति समुपलब्धा इति प्रतिभाति।

प्रकृतग्रन्थस्य विशेषः

प्रकृतमिदं कलिकालसर्वज्ञेन पूज्यश्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरेण कृतं छन्दोऽनुशासनं यद्यपि पूर्वाचार्याणामेव शैलीमनुसरति, तथापि स्वकीयां विशिष्टतां बिभ्रत् मौलिकतां न जहातीत्यविवादम्। अयं च ग्रन्थः सूत्रमयैर्लक्षणैः स्वकृतोदाहरणैश्छन्दोनामाङ्कितैस्तथानिबद्धो यथा व्युत्पित्सूनामतीवसारल्यमावहति। छन्दसां नामानि यथासम्भवं पूर्वाचार्यग्रन्थप्रसिद्धान्येव स्थापितानि। यत्र च केनाप्याचार्येण सह भेदः सोऽपि सूचितः—यथा भरतेन सह नामविसंवादस्तत्र तत्र बाहुल्येन सूचितः।

यद्यपि प्रस्तारक्रमेणैकैकजातेः कोटिशोऽपि भेदाः सम्भवन्तीति तत्र तत्र प्रद्योते सूचितमेव। तथापि प्रस्तारान्तर्गता एव भेदाः कविभिः स्वमहाकाव्या-

दिषु अन्यत्र वा प्रयुक्ता ये च पठ्यमानाः श्रूयमाणा वा कर्णसुखमुत्पादयन्ति त एव भेदा इह लक्षिताः, इति कारणादेव लक्षितच्छन्दसां संख्यायाः कोऽपि क्रमो वात्रावलोक्यते। एषैव च रीतिरन्येषामपि छन्दोलक्षणकर्तृणामिति नायं विशेषः। यथैकस्या त्रिष्टुब्जातेः भेदाः प्रकृतग्रन्थे अष्टाविंशतिः, पिङ्गलछन्दः-शास्त्रे द्वादशभेदा एव लक्षिताः। क्वचिदितोऽपि न्यूना अधिका वा। न तावता कस्यापि ग्रन्थस्य न्यूनत्वमाधिक्यं निर्णेयम्, किन्तु ग्रन्थकर्तुर्बहुद्रष्टृत्व-मल्पद्रष्टत्वं च परापतत्येव। तादृशविचारे च क्रियमाणे पूर्वेभ्य आचार्येभ्यः, परेभ्यश्चायं विशिष्यते यथासम्भवमधिकभेदोपदर्शकत्वात्। तथा च दण्डक-प्रकरणं नैतावदुपबृंहितमन्यैर्यथा प्रकृतग्रन्थकर्त्रा। किञ्च सर्वस्य छन्दसः स्वयमुदाहरणोपन्यासोऽपि पूर्णरूपेण नापरत्र दृश्यते। पिङ्गलछन्दःशास्त्रादौ चोदाहरणानि टीकाकृद्भिरेवोपन्यस्तानि। ग्रन्थस्यास्यान्यग्रन्थेभ्यः तुलना-रूपेण सम्यगालोचने तु प्रस्तावनाया अस्याः कलेवरं बहुलीभूतं स्यादिति तत्परित्यक्तम्। विवेचकैः स्वयमेव परस्परमेलनेन परिज्ञातुं सुशकमित्यस्माकं विश्वासः।

प्राकृतभाषाच्छन्दोविषये तु अयं प्रशस्यतर एव। यतः प्राकृतछन्दांसि मुख्यतया प्राकृतपिङ्गले लक्षितानि। किन्तु तत्र संस्कृतेऽपि व्यवह्रियमाणानां छन्दसां लक्षणानि प्राकृतभाषयैवोपनिबद्धानीति प्राकृतानभ्यासजुषां सम्यगुप-काराय न भवन्तीति सम्प्रति तत्पठनपाठने वैरल्यं जातम्। वृत्तजातिसमुच्चये 'विरहाङ्क'कृतेऽपि प्राकृतच्छन्दसां विचारः समुपलभ्यते, किन्तु स ग्रन्थो विरल-प्रचार इति नोपकर्ता लोकानामिति विज्ञायते। स्वयम्भूच्छन्दसोऽप्येषैव गति-रिति प्राकृतछन्दोविषयेऽयमेव ग्रन्थः कल्पवृक्षायत इति निर्विवादम्।

ग्रन्थकर्तृपरिचयादिः

कलिकालसर्वज्ञाः सर्वतन्त्रस्वतन्त्रगतय आचार्यहेमचन्द्रसूरयो बहुतर-निबन्धरचयितारः सर्वजनविदिताः, राजद्वय-सम्मानिततया च निर्णीतसंसार-स्थितिसमयाश्चेति तेषां समयनिरूपणाद्यर्थमन्यमिव बहुत्रैर्विस्तरेण विचारित-मितीदानीमिह न तत् प्रपञ्च्यते। एतच्चानुशासनं तेषां प्रधानकृतिषु तृतीयां

धुरमारूढमिति 'सिद्धशब्दकाव्यानुशासनः' इति मङ्गलश्लोकस्थस्ववचसैव प्रमाणितम् ।

एवं च सर्वशास्त्रोपकारकतया पूर्वशब्दानुशासनानां च न्यूनातिरेककठिन्यादिदोषदुष्टतया सकलसंस्कृतमहोदधिप्रविविक्षुजनतोपकारार्थं शब्दानुशासननिरूपणकार्यं संसाध्य, ततः परं सुखपूर्वकचतुर्वर्गफलप्राप्त्यादिरूपप्रयोजनं काव्यं व्याचक्षाणः काव्यानुशासनं सर्वाङ्गपूर्णं रचयामासेति शब्दकाव्यानुशासनयोः पूर्वापरचर्चया निर्णीतम् । काव्यानुशासनविरचनानन्तरं काव्योपयोगिछन्दसां निरूपणं स्मृतिपथमारूढमुपेक्षानर्हं चेति तदनुशासनमिदं पूर्वानुशासनानुगतमपि पूर्वं प्रदर्शितदिशा स्वकीयं वैशिष्ट्यं बिभ्रद् अतिसरलपद्धत्या प्रकाशितम् । तदपि परानुशासनानुगतमपि न मौलिकतां जहातीत्यावेदितमेव । प्राध्यापकवेलङ्करसम्पादिते जयदामनामनि वृत्तकुमुमोच्चये जयदेवच्छन्दः–जयकीर्तिकृत–च्छन्दोनुशासनम् — केदारविरचितवृत्तरत्नाकरः — आचार्यहेमचन्द्रविरचित – छन्दोनुशासनम् — इति ग्रन्थचतुष्टयसङ्ग्रहरूपे – एतच्छन्दोऽनुशासनसूत्राण्येव प्रकाशितानि । तत्र प्रत्यध्यायं – 'आचार्यहेमचन्द्रानुस्मृतेच्छन्दोऽनुशासने' इत्येवं लेखेनास्य स्मृतिरूपत्वं प्रकटितम्–अन्यत्र च "इत्याचार्यहेमचन्द्रविरचितायां स्वोपज्ञच्छन्दोऽनुशासनवृत्तौ" इत्येवमुल्लेखो दृश्यते । तथा च सूत्राणां स्मृतिरूपत्वेन न नूतनोद्भावितत्वं, वृत्तेश्च नूतनत्वमित्यायाति, अत्र किं तत्त्वमिति परीक्षकैः शोधनीयम् ।

टीकाकर्तृपरिचयः

जगद्गुरु – शासनसम्राट् – सूरिचक्रचक्रवर्ति–तपोगच्छाधिपति–विविधतीर्थोद्धारक – परमपूज्यचार्यप्रवर-श्रीविजयनेमिसूरीश्वरपट्टालङ्काराः व्याकरण - वाचस्पति – कविरत्न – शास्त्रविशारदेत्यादिपदवीविभूषिताः सप्तलक्षश्लोकाधिकपरिमितख्याकग्रन्थसम्पादकाः प्रगुरुदेवाः पूज्याः श्रीविजयलावण्यसूरीश्वराः छन्दोनुशासनस्योदाहरणादिसहितस्य सकलजनसुबोधतामापादयितुं प्राञ्जलया नातिसंक्षेपविस्तरया च सरण्या प्रद्योतनामकमिदं व्याख्यारत्नं कृत्वा बहूपकृतवन्तो जिज्ञासूनामिति टीकादर्शनेनैव प्रकटीभविष्यति सर्वेषामिति

तद्विषये बहुलेखनमनावश्यकं मन्ये। एतेषां जन्म भाद्रकृष्णषष्ठ्यां १९५३ मिते विक्रमवत्सरे सौराष्ट्रजनपदान्तर्गते बोटादनगरेऽभूत्। आषाढशुक्लपञ्चम्यां १९७२ तमे विक्रमवत्सरे राजस्थानान्तर्गते सादडीग्रामे च दीक्षिता एते। महादीक्षा च एतैः मार्गशुक्लपञ्चम्यां १९७३ मिते विक्रमवत्सरे लब्धा। कार्तिककृष्ण-द्वितीयायां अमदाबादे १९८९ विक्रमवत्सरे प्रवर्तकपदमाप्तम्। मार्गशुक्लाष्टम्यां १९९० विक्रमवत्सरे भावनगरे सौराष्ट्रान्तर्गते गणिपदमुपलब्धम्। मार्गशुक्ल-दशम्यां १९९० तमे विक्रमवर्षे भावनगर एव पन्यासपदमपि गताः। ज्येष्ठ-कृष्णनवम्यां १९९१ तमे विक्रमवर्षे चोपाध्यायतया ख्याताः महुआनगरे सौराष्ट्रान्तर्गत एव। वैशाखशुक्लचतुर्थ्यां १९९२ तमे विक्रमवर्षे चाचार्यपद-मलङ्कृतम्। दैवदुर्विपाकाच्च सर्वथा ग्रन्थादिरचनासामर्थ्यभाजोऽपि सततं यथोपलब्धसमयस्य तदर्थमेवोपयोगं कुर्वाणा अपि शरीरशैथिल्यात् २०२० विक्रमवत्सरे फाल्गुनकृष्णनवम्यां राजस्थानान्तर्गत(राणावतों का)खिमाडा ग्रामे दिवमगमन्।

एतैश्च सर्वशास्त्रप्रविष्टप्रखरमतिभिः समयानुसारं लोकानां मतिवैभव-मान्द्यमवलोक्य शास्त्रीयग्रन्थानां च सर्वजनसुखसंवेदनीयतासिद्धयर्थं तद्व्याख्याने स्वसमय उपयुक्तः। सर्वतोऽधिकं पू० आचार्यश्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरविरचित-सिद्ध-हेमचन्द्रशब्दानुशासनीय-स्वोपज्ञशब्दमहार्णवन्यासस्य दैवयोगाद् यत्र तत्र बहुत्रुटि-तस्यानुसंधानं तदीयप्रकाशनव्यवस्थापनं च विधाय महदुपकृतं शासनस्येति सर्वैर्विदितमेव। एवं काव्यानुशासनस्यापि सवृत्तिकस्य टीका महता सौष्ठवेन विरचिता साऽपि भागशः प्रकाशिता प्रकाशयिष्यमाणा च। तृतीयमिदं छन्दोऽनुशासनमपि दुर्व्याख्याविषमूर्च्छितव्याख्यातं वा न तिष्ठेदित्येतस्यापि टीका रचितैव। परं विधिगतिवशतो नास्य प्रकाशनं तैः स्वाग्रे सम्पादितम-भूदिदिति खेद एव विदुषां, येन चात्र पुनस्तेषां दृष्टिपातः सम्यङ् नाभूत्।

सम्पादकस्य निवेदनम्

मया प्रगुरुवराणां तेषां कृपादृष्टिपूतेन यथामतिविभवमस्य सम्पादनं कृतमपि, अस्थिरनिवास-बहुतरलोकप्रभावनादिकार्यचञ्चलेन कियत्तत्र पारितमिति

निर्णेतुं पाठका एव प्रमाणम्। किन्तु मुद्रणपूर्वरूपानवलोकनजन्यमशुद्धीनां बाहुल्यं पश्चाद्दृष्टिपथमारूढम्। पुस्तकस्यास्य पुनर्मुद्रणं विना लोकदृष्टिपथप्रापणमनुचितमिति विचार्य किंकर्तव्यमूढेन किञ्चिन्निर्णेतुमपारयता, कृतस्य व्ययस्य नैष्कल्यं मा भूदिति भक्तजनप्रेरणामधिगत्य द्वितीयाध्यायान्त एव भागः सम्प्रति प्रकाशितः। सति सर्वथा विश्वसनीयशुद्धमुद्रणप्रबन्धेऽग्रिमोऽपि ग्रन्थो यथासम्भवं झटित्येव लोकदृष्टिपथमवतारयिष्यत इति विश्वसिमि।

अत्र यद्यपि शुद्धिपत्रमपि योजितम्; किन्तु तदल्पकलेवरमिति तत्र सर्वासामशुद्धीनां परिमार्जनमसम्भवमासीदिति घ-धयोः, भ-मयो, ब-वयोः परस्परव्यत्ययः, अनुस्वार-विसर्ग-रेफादीनां त्रुटेराधिक्यम् वा स्थूलतरमशुद्धं विभाव्य न परिहृतम्। किञ्च लक्षणसमन्वयस्थले प्रायः त्रुटेरधिकस्थानेऽस्ति। तदीयपरिमार्जनमपि क्लेशावहमिति तदपि प्रायः परित्यक्तमेव। अक्षरस्यातिलघुतया दृष्टिच्युतिदोषजा अपि बहुतराशुद्धयः शोधनेन वञ्चिताः सम्भाव्यन्त इति ताः सर्वा अपि गुणग्रहणपरैः सुधीभिः स्वयमेव संशोध्य व्यवहर्तव्या इति विनतः प्रार्थयेयमित्यतोऽन्यन्न किमपि तत्परिमार्जनसाधनम्।

यथावस्थमेतत्पाठकानां पुरतः स्थापयतो ममैतावानेव हर्षो यत्परमगुरूणां तेषां परिश्रमः जनानां किञ्चिदप्युपकुर्वन्, निर्वाणपदमास्थितानामपि तेषां चेतसि परमं प्रमोदमाधास्यतीति।

अन्ते च—

"गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव न संशयः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥"

इति सूक्तिमवलम्ब्य समाधानं सम्भावयन् सन्तोषमासादयामि।

अस्य च प्रकाशने साहाय्यं कृतवतां श्रेयःपरम्परां हृदयेनाशंसमानस्तेषां धर्मभावनायाः कर्तव्यभावनाया वा संवर्धनाय परमेशमभ्यर्थये । अस्य प्रकाशयित्र्याः समितेः सभ्यानामपि कृते शतशो धन्यवादाः शुभाशंसाश्चेति शिवम् ।

वीरसंवत् २४९४,
विक्रमसंवत् २०२४
चैत्रशुक्ला त्रयोदशीतिथिः,
गुरुवारः ।
दिनाङ्क ११-४-६८
[श्रीमहावीरप्रभोः जन्मकल्याणक-
दिवसः]

स्थानम्—
राजस्थानान्तर्गतमरुधरस्थं
श्रीराणकपुरमहातीर्थम्

लेखक—
शासनसम्राट् - सूरिचक्रचक्रवर्ति - तपो - गच्छाधिपति**श्रीविजयनेमिसूरीश्वर - स्य** पट्टालङ्कार - व्याकरणवाचस्पति - शास्त्रविशारद - कविरत्न - **श्रीविजय-लावण्यसूरीश्वरस्य** पट्टधर - शास्त्र - विशारद - कविदिवाकर - व्याकरणरत्न - **श्रीविजयदक्षसूरीश्वरस्य** पट्टधर - शास्त्रविशारद - साहित्यरत्न - कविभूषण-
विजयसुशीलसूरिः

सवृत्तिच्छन्दोऽनुशासने

प्रथमा

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठे	पंक्तौ
प्रद्योतकारमङ्गलाचरणम्	१	१५
अथ प्रथमोऽध्यायः	२	१
सावतरणमङ्गलाचरणम्	२	२
वर्णगणनिरूपणम्	१०	५
मात्रागणनिरूपणम्	११	२५
समानानां संख्यात्वसङ्केतः	१३	२७
ह्रस्वस्य ल्संज्ञा, प्रस्तारे तत्स्वरूपं च	१४	२०
ह्रस्वस्य पादान्ते गुरुत्वम्, गुरोः प्रस्तारे स्वरूपं च	१५	७
ह्रस्वस्य जिह्वामूलीयादिपरत्वे गुरुत्वम्	१७	६
दीर्घप्लुतयोर्ग् संज्ञा	२२	६
गुरोर्द्विमात्रत्वकल्पनम्	२२	१४
प्राकृते एदोतोर्ह्रस्वत्वम्	२३	१
सामान्यतो वृत्तचतुर्थांशस्य पादसंज्ञा	२४	२७
वर्षच्छन्दसां वृत्तसंज्ञा	२५	१९
समार्धसमविषमवृत्तनिरूपणम्	२६	२२

विषय	पृष्ठे	पंक्तौ
यतिनिरूपणम्	२८	१
त्र्यादिसंख्यानां गादिसंज्ञा	४८	२२
अथ द्वितीयोऽध्यायः		
छन्दोऽधिकारः	५०	१
पादाधिकारः	५०	१६
उक्ता जातिः एकाक्षरा	५१	११
एकैकवर्णवृद्धया अत्युक्तादिजातिः	५२	१
एकगुरुरूपपादा उक्ता 'श्रीः' एका सोदा०	५३	१६
गुरुद्वयपादा अत्युक्ता, द्विभेदा 'स्त्री' 'दुःखं' च	५४	१२
१. उक्ताजातौ श्रीरित्येकं वृत्तं सोदाहरणम्	५३	१६
२. वर्णद्वयपादाया अत्युक्ताया भेदत्रयं,–'स्त्री', 'दुखं' 'सुखम्'		
३. वर्णद्वयपादाया मध्यमायाश्चत्वारो भेदाः– 'नारी' 'केशा' 'मृगी' 'मदनः'	५५	२०
४. वर्णचतुष्टयपादाया प्रतिष्ठाया अष्टौ भेदाः– कन्या, सुमुखी, विलासिनी, समृद्धिः, मृगवधूः, व्रीडा, सुमति, सोमप्रिया इति	५८	१
५. वर्णपञ्चकपादायाः सुप्रतिष्ठाया दशभेदाः– प्रीतिः, विदग्धकः, पङ्क्तिः, रतिः, सती, नन्दा, जया, सावित्री, घनपङ्क्तिः, अभिमुखीति	६१	३
६. वर्णषट्कपादाया गायत्र्याः ऊनविंशतिभेदाः– सावित्री, तटी, रमणी, तनुमयधा, गुरुमध्या, सोमराजी, शशिवदना, मालिनी, कामलतिका,		

विषय	पृष्ठे	पंक्तौ
मुकुलम्, शफरिका, कच्छपी, लघुमालिनी, विमला, जला, सुनन्दा, विक्रान्ता, सूचीमुखी, शिखण्डिनीति	६५	१७
७. सप्ताक्षरपादाया उष्णिहो विंशतिभेदाः— गन्धर्वी, उष्णिक्, कुमारललिता, मदलेखा, उद्धता, भ्रमरमाला, हंसमाला, कलिका, विधुवक्त्रा, सरलम्, चित्रम्, हरिविलसितम्, शारदी, मधुकरिका, विमला, सुभद्रा, कुमुद्वती, मुदिता, मनोज्ञा, दीप्तेति	७५	१
८. अष्टाक्षरपादाया अनुष्टुभः षोडशभेदाः— विभा, अनुष्टुब्, विद्युन्माला, चित्रपदा, सुमालती, माणवकं, नाराचम्, हंसरुतम्, ललितगतिः, सिंहलेखा, प्रमाणी, समानी, गुणलयनी, मही, रतिमाला, वितानमिति	८५	१६
९. नवाक्षरपादाया बृहत्या ऊनविंशतिभेदाः— वक्त्रं, बृहतिका, हलमुखी, भुजगशिशुसृता, उदयम्, उत्सुकम्, भद्रिका, उपच्युतम्, अक्षि, कनकम्, तारम्, सौम्या, रुचिरा, विशाला, मकरलता, शशिलेखा, लघुमणिगुणनिकरः, सिंहाक्रान्ता, कामिनीति	९६	३
१०. दशाक्षरपादायाः पङ्क्तेर्भेदा विंशतिः—मत्ता, पङ्क्तिका, शुद्धविराट्, पणवः, मयूरसारिणी,		

विषय	पृष्ठे	पंक्तौ
त्वरितगतिः. रुक्मवती, चित्रगतिः, निलया, उषिता, मणिरङ्गः, बन्धूकम्, मनोरमा, उपस्थिता, कलिका, मृगचपला, कुमुदिना, उद्धतम्, विपुलभुजा, मालेति	१०६	१८
११. एकादशाक्षरपादायास्त्रिष्टुभोऽष्टाविंशति - भेदाः– रोचकम्, अच्युतम्, लयग्राहिः, दोधकम्, विदुषी, श्रीः, उपस्थिता, उपस्थितम्, वातोर्मी, (अस्या भेदद्वयम्) भ्रमरविलसितम्, वृन्ता, पतिता, रथोद्धता, स्वागता, भद्रिका, श्येनी, सुमुखी, एकरूपम्, मोहनकम्, उत्थापनी, मुखचपला, कमलदलाक्षी, अशोका, सारणी, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रेति	११६	३
इह संकररूपा उपजातिः १४ चतुर्दशधा तस्या एकमुदाहरणं वृत्तौ । त्रयोदशोदाहरणानि प्रद्योते	१३६	१६
न केवलमिन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोः, इन्द्रवंशावंशस्थयोरेव सङ्करोऽपित्वन्यजातीनामपीति	१५०	५
१२. द्वादशाक्षरपादाया जगत्या जातेः षट्–त्रिंशद्भेदाः–इन्द्रवंशा, वंशस्थम्, कलहंसा, चन्द्रवर्त्म, तोटकम्, द्रुतविलम्बितम्, पुटः, ततम्, उज्ज्वला, कामावतारः, कुसुमविचित्रा, जलोद्धतगतिः, भुजङ्गप्रयातम्, स्रग्विणी,		

	विषय	पृष्ठे	पंक्तौ
	मौक्तिकदाम, कल्याणम्, प्रियंवदा, ललिता, प्रमिताक्षरा, वैश्वदेवी, जलधरमाला, नवमालिनी, मालती, प्रमुदितवदना, प्रभा, तामरसम्, विभावरी, कुमुदिनी, ललना, कामदत्ता, मेघावली, पुष्यविचित्रा, मणिमाला, केकिरवम्, ह्रीः, कोल इति	१५३	२६
१३.	त्रयोदशाक्षरपादाया अतिजगत्याः षड्विंशतिभेदाः—उर्वशी, सुवक्त्रा, अङ्गरुचिः, प्रहर्षिणी, रुचिरा, मत्तमयूरम्, क्षमा, श्रेयोमाला, कुटिलगतिः, क्षमा, चन्द्रिणी, चन्द्रिका, मञ्जुभाषिणी, चन्द्रलेखा, लयः, विद्युन्मालिका, नन्दिनी, मदललिता, कुटजम्, गौरी, लक्ष्मीः, अभ्रकम्, कोट्टुम्भः, सुदन्तम्, कमलाक्षी, त्वरितगतिरिति	१७७	७
१४.	चतुर्दशाक्षरपादाया शक्वर्या द्वाविंशतिभेदाः—अपराजिता, अलोला, प्रहरणकलिता, करिमकरभुजा, वसन्तः, लक्ष्मीः, जया, ज्योत्स्ना, सिंहः, राजरमणीयम्, असम्बाधा, वसन्ततिलका, वलना, सुकेसरम्, उपचित्रम्, धृतिः, दर्दुकः, स्खलितम्, इन्दुवदना, शरभललितम्, शरमा कुटिलमिति	१९४	२२

	विषय	पृष्ठे	पंक्तौ
१५.	पञ्चदशाक्षरपादाया अतिशक्वर्याः एकविंशतिभेदाः– ऋषभः, शशिकला, स्रक्, मणिगुणनिकरः, मालिनी, चन्द्रोद्योतः, उपमालिनी, चित्रा, चन्द्रलेखा (अस्या द्वितीयः प्रकारः), एला, प्रभद्रकम्, तूणकम्, कलभाषिणी, सुन्दरम्, गौः, भोगिनी, शिशुः, केतनम्, मृदङ्गः, कामक्रीड़ेति	२१०	१४
१६.	षोडशाक्षरपादाया अष्टिजातेस्त्रयोविंशतिभेदाः–मणिकल्पलता, शरमाला, संगतम्, कामुकी, (अस्याः प्रकारान्तरम्), चलधृतिः, अचलधृतिः, अङ्गना, ऋषभगजविलसितम्, ललितपदम्, जयानन्दम्, महिषी, मदनललिता, वाणिनी (अस्या अन्यः प्रकारः), पञ्चचामरम्, चित्रम्, सुरतललिता, शैलशिखा, वरयुवतिः, ललना, वेल्लिता, कोमललतेति ।	२२५	५
१७.	सप्तदशाक्षरपादाया अत्यष्टेः चतुर्दशभेदाः–शिखरिणी,पृथ्वी,वंशपत्रपतितम्,अतिशायनी, मन्दाकान्ता, भाराक्रान्ता, हारिणी, हरिणी, पद्मम्, रोहिणी, वसुधारा, अवितथम्, कोकिलकम्, वाणिनीति	२४३	१
१८.	अष्टादशाक्षरपादाया धृतेरेकविंशतिभेदाः–काञ्ची, मणिमाला, कुसुमितलतावेल्लिता,		

	विषय	पृष्ठे	पंक्तौ
	चित्रलेखा, चन्द्रलेखा, चलम्, केसरम्, चन्द्रमाला, ललितम्, भ्रमरपदम्, शार्दूललालितं, कुरङ्गिका, अनङ्गलेखा, उज्ज्वलम्, निशा, पङ्कजवक्त्रा, सुरभिः, क्रीडा, हरिणीपदम् भङ्गिः, बुद्बुदम्–इति	२५४	२३
१९.	ऊनविंशत्यक्षरपादाया अतिधृतेस्त्रयोदशभेदाः- शार्दूलविक्रीडतम्, वायुवेगा, मकरन्दिका, छाया, रतिलीला, पुष्पदाम, वञ्चितम्, मुग्धकम्, ऊर्जितम्, तरलम्, माधवीलता, तरुणीवदनेन्दुः, सुवदना इति	२७२	७
२०.	विंशत्यक्षरपादायाः कृतेरेकादशभेदाः– सुवदना, वृत्तम्, भत्तेभविक्रीडितम्, मुद्रा, शोभा, चित्रमाला, सद्रत्नमाला, नन्दकम्, कामलता, दीपिकाशिखा, शशाङ्करचितम् इति	२८३	१
२१.	एकविंशत्यक्षरपादायाः प्रकृतेरष्टौ भेदाः– स्रग्धरा, कथागतिः, ललितविक्रमः, मत्तक्रीडा, चन्दनप्रकृतिः, सिद्धिः, वनमञ्जरी, तरङ्गः, भद्रकम्–इति	२९३	१
२२.	द्वाविंशत्यक्षरपादाया आकृतेः पञ्चभेदाः– मद्रकम्, महास्रग्धरा, मदिरा, वरतनुः, दीपकचिरिति	२९९	२५

विषय	पृष्ठे	पंक्तौ
२३. त्रयोविंशत्यक्षरपादाया विकृतेः सप्तभेदाः–अश्वललितम्, मत्ताक्रीडा, शङ्खः, हंसगतिः, चित्रकम्, चपलगतिः, वृन्दाकरम् इति	३०४	२५
२४. चतुर्विंशत्यक्षरपादायाः संकृतेः सप्तभेदाः–तन्वी, ललितलता, मेघमाला, सुभद्रम्, द्रुतलघुपदगतिः:, संभ्रान्ता, विभ्रमगतिः–इति	३११	२३
२५. पञ्चविंशत्यक्षरपादाया अभिकृतेश्चत्वारो भेदाः–कौञ्चपदा, हंललयः, हंसपदा, चपलम् इति	३१८	७
२६. षड्विंशत्यक्षरपादाया उत्कृतेः पञ्चभेदाः–भुजङ्गविजृम्भितम्, अपवाहः, आपीडः, वेगवती, सुधाकलश इति	३२२	५
२७-३०. सप्तविंशत्यक्षरपादामारभ्य त्रिंशदक्षरपादान्ताः शेषजातयः पञ्च–मालाचित्रम्, प्रमोदमहोदयः, नृत्तललितम्: ललितललिता, पिपीलिकेति	३२७	१३
३५-४५ शेषजातौ - पञ्च - दश - पञ्चदशाक्षरवृद्धपादाः–करभ–पणव–मालाः	३३४	१
दण्डकजातिषु सप्तविंशत्यक्षरपादा चण्डवृष्टिः	३३८	१४
अत्रैकैकरगणवृद्धया–अर्ण–अर्णव–व्याल–जीमूत–लीलाकर–उद्धाम–शङ्खइत्यादयः	३४०	१
प्रचितो दण्डकः	३५०	१०

विषय	पृष्ठे	पंक्तौ
पन्नग–दम्मोलि – हेलावली – मालती – केलि–कङ्केल्लि–लीला–विलास इत्यादयो दण्डकाः	३५२	४
चण्डकालो दण्डकः	३५२	२२
सिंहविक्रान्तो दण्डकः	३५५	६
मेघमाला दण्डकः	३५६	१३
मत्तमातङ्गो दण्डकः	३५७	२२
कुसुमास्तरणो दण्डकः	३५६	१
सिंहविक्रीडो दण्डकः	३६०	३
अनङ्गशेखरो दण्डकः	३६१	६
अशोकपुष्पमञ्जरी दण्डकः	३६२	१५
कामबाणो दण्डकः	३६३	२२
भुजङ्गविलासो दण्डकः	३६५	१
उत्कलिका दण्डकः	३६६	७

स्वर्गस्थ पू० आ० श्रीविजयलावण्यसूरीश्वरश्रीना पट्टधर

शास्त्रविशारद–कविदिवाकर–व्याकरणरत्न

पू० आ० श्रीविजयदक्षसूरीश्वरजी महाराज

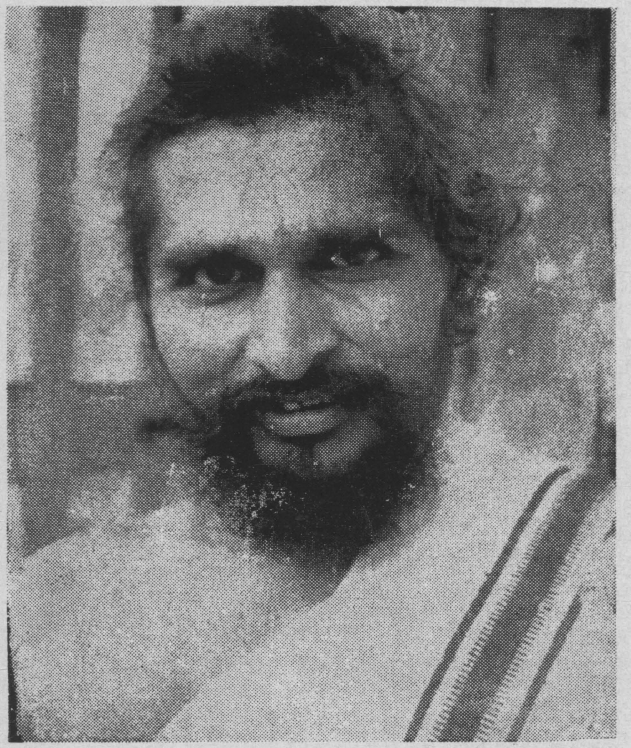

जन्म–वि० सं० १९६८ भाद्रपद सुद १४ **महेसाणा** (गुजरात)
दीक्षा–वि० सं० १९८७ मागशर वद २ **करेडातीर्थ** (मेवाड़)
बड़ी दीक्षा–वि० सं० १९८७ महा सुद ६ **उदयपुर** (मेवाड़)
गणिपद–वि० सं० २००० कार्तिक वद ६ **वेरावल** (सौराष्ट्र)
पंन्यासपद–वि० सं० २००७ वैशाख सुद ३ **अमदाबाद** (गुजरात)
उपाध्यायपद–वि० स० २०१६ कार्तिक वद ३ **वलभीपुर** (सौराष्ट्र)
आचार्यपद–वि० सं० २०१९ वैशाख सुद ६ **वराडा** (राजस्थान)

पू० आ० श्रीविजयदक्षसूरीश्वरश्रीना पट्टधर

शास्त्रविशारद–साहित्यरत्न–कविभूषण

पू० आ० श्रीविजयसुशीलसूरीश्वरजी महाराज

जन्म–वि० सं० १९७३ आसोज सुद १२ **चाणस्मा** (गुजरात)
दीक्षा–वि० सं० १९८८ कार्तिक वद २ **उदयपुर** (मेवाड़)
बड़ी दीक्षा–वि० सं० १९८८ महा सुद ५ **सेरसातीर्थ** (गुजरात)
गणिपद–वि० सं० २००० कार्तिक वद ६ **वेरावल** (सौराष्ट्र)
पन्यासपद–वि० सं० २००७ वैशाख सुद ३ **अमदाबाद** (गुजरात)
उपाध्यायपद–वि० सं० २०२१ महा सुद ३ **मुंडारा** (राजस्थान)
आचार्यपद–वि० सं० २०२१ महा सुद ५ **मुंडारा** (राजस्थान)

सुवृत्तवदनचन्द्राय श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राय नमो नमः ॥
आशैशवशीलशालिने श्रीनेमीश्वराय नमो नमः ॥

अप्रतिमप्रतिभाभासुरेण प्रौढप्रतापशालिना कलिकालसर्वज्ञेन
परमार्हतकुमारपालभूपालमौलिलालितचरणरेणुना
भगवता श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरेण विरचितं
स्वोपज्ञवृत्तिसमलंकृतम्—

छन्दोऽनुशासनम् ॥

तदुपरि च—

तपोगच्छाधिपति–सर्वतन्त्रस्वतन्त्र–शासनसम्राट्–
जगद्गुरु–श्रीविजयनेमिसूरीश्वरपटालङ्कारेण
'व्याकरणवाचस्पति–शास्त्रविशारद–कविरत्न'
इति पदालंकृतेन श्रीविजयलावण्यसूरिणा
प्रणीतः—

प्र*द्यो*तः

गोभिर्दोषानुषक्तां ततितिमिरतति लीलयाऽलं लुनानं,
सच्चक्रानन्दनिष्णं निखिलकुवलयोल्लासदं ध्वस्तजाड्यम् ।
लोकानां बान्धवत्वं निखिलतनुयुतैर्मित्रभावं दधानं,
वन्दे देवेन्द्रवन्द्यं समविदमनघं श्रीजिनेन्द्रं दिनेन्द्रम् ॥१॥
क्षमापालालिधीशालि–लालिताङ्घ्रिसरोरुहम् ।
निबन्धालिप्रसूनालि–मालाकारं गुणालयम् ॥२॥
कलिकाले च सर्वज्ञं, पारीन्द्रं वादिदन्तिषु ।
सूरीन्द्रं हेमचन्द्रं तं, कस्को हिं न नमेत् सुधीः ॥३॥ युग्मम् ॥
नौमि श्रीनेमिसूरीशं, गुरुराजं जगद्गुरुम् ।
सर्वतन्त्रस्वतन्त्रं च, जन्मतो ब्रह्मचारिणम् ॥४॥
द्विधापि हि सुशीलाय, पन्न्यासाय कृते मुदा ।
तन्यते किल प्रद्योतः, श्रीमल्लावण्यसूरिणा ॥५॥

अथ प्रथमोऽध्यायः ।

अर्हं ॥ शब्दानुशासनविरचनानन्तरं तत्फलभूतं काव्यमनुशिष्य तदङ्गभूतं छन्दोऽनुशासनमारिप्समानः शास्त्रकार इष्टाधिकृतदेवतानमस्कारपूर्वकमुपक्रमते-

वाचं ध्यात्वाऽर्हतीं सिद्धशब्द-काव्यानुशासनः ।
काव्योपयोगिनां वक्ष्ये, छन्दसामनुशासनम् ॥१॥

अर्हद्भ्यः कृता "कृते" [सिद्धहे० ३. ३. १९२.] इत्यणि- आर्हती वाक् द्वादशाङ्गं गणिपिटकम् । यद्यपि द्वादशाङ्गी सूत्रतो गणधरैर्निर्ममे, तथापि तदर्थस्यार्हदुपदिष्टत्वादार्हतीत्युच्यते । यदाह-

"अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं ।" [१. १] ॥ इति । सूत्रमपि चाचिन्त्यार्हत्प्रभावादेव गणधरैर्ग्रथ्यत इत्यार्हत्येव वागिति न विरोधः । सिद्धं-प्रतिष्ठां प्राप्तं, शब्दानां-नामा-ऽऽख्यादिभेदानां प्रकृति-प्रत्ययादिविभागेन, काव्यस्य च गुणा-ऽलङ्कारादिविवेचनेन, पूर्वाचार्यशासनस्यानु-पश्चात्, शासनं-सन्दर्भो यस्य स सिद्धशब्दकाव्यानुशासनः । ध्यानं-प्रणिधानम्, तच्चेह मानसो नमस्कारः । काव्योपयोगिनामिति-गद्यकाव्ये न छन्दसामुपयोग इत्यर्थात् पद्यं काव्यमिह गृह्यते, उपयोगः-साहायकं वृत्तसंशयच्छेदादिना, यदाह-"छन्दोविचितेर्वृत्तसंशयच्छेदः" [१-२] ॥

इदमभिधेयप्रयोजनम् । काव्योपयोगाभावाच्च न वैदिकानि छन्दांसीह लक्षयिष्यन्ते । छन्दसामिति-कर्मणि षष्ठी, चन्दनादाह्लादनात् छन्दांसि वर्ण-मात्रानियमितानि वृत्तानि, तेषाम् । अनुशिष्यतेऽनेनेति-अनुशासनं शास्त्रम् । वक्ष्य इति-तृतीयत्रिकप्रयोगाद् 'अहम्' इति लभ्यते । ननु भवतु 'वाचं ध्यात्वार्हतीं' इतीष्टदेवतास्तुतिः, अधिकृतदेवतास्तुतिस्तु कथमियम् ? नह्यधिकृतानि छन्दांसि अर्हत्प्रणीतानि; मैवं वोचः, न हि सूक्तं किञ्चिदर्हतामुपदेशमन्तरेण जगत्यस्ति, यत् सिद्धसेनः-

"मुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु, स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तसम्पदः ।

तवैव ताः पूर्वमहार्णवोद्धृता, जगत्प्रमाणंजिनवाक्यविप्रुषः ॥" [१–३] । इति सर्वमवदातम् । अनेन च श्लोकेन शब्द-काव्य-च्छन्दोऽनुशासनानामेककर्तृत्वमुक्तम् ॥ सू–१ ॥

अथ प्रथमोऽध्यायः ।

प्रद्योतः–स्वोपज्ञछन्दोऽनुशासनस्य वृत्तिमारिप्समानः शिष्टपरम्पराचारानुमितावश्यकर्तव्यताकं मङ्गलमाचरन् व्याख्यातृ-श्रोतृणामप्यनुषङ्गतो मङ्गलार्थं ग्रन्थादौ निबध्नाति कलिकालसर्वज्ञः सर्वतन्त्रस्वतन्त्रो भगवान् श्रीहेमचन्द्रसूरिराजः–**'अर्हं'** इति । इदं च पदं स्वयमेव व्याख्यातमाचार्येण स्वोपज्ञशब्दानुशासनस्य बृहद्वृतौ, तथाहि-'अर्हं' इत्येतदक्षरम्,परमेश्वरस्य परमेष्ठिनो वाचकम्, सिद्धचक्रस्यादिबीजम्, सकलागमोपनिषद्भूतम्,अशेषविघ्नविघातनिघ्नम्, अखिलदृष्टादृष्टफलसङ्कल्पकल्पद्रुमोपमम्, आशास्त्राध्ययनाध्यापनावधि प्रणिधेयम्, इति । एतेनैतत्पदस्य स्वरुपा-ऽभिधेय-तात्पर्याणि संक्षेपतो निरूपितानि, अक्षरमिति हि स्वरूपकथनम्, 'परमेश्वरस्य परमेष्ठिनो वाचकम्' इत्यभिधेयम्, सिद्धचक्रस्येत्यादि च तात्पर्यम् । 'अशेषविघ्नविघातनिघ्नम्' 'अखिलदृष्टादृष्टफलसङ्कल्पकल्पद्रुमोपमम्' इति च विशेषणद्वयं प्रकृते तत्प्रणिधानस्य तदुल्लेखस्य च प्रयोजनस्फोरकम् । तथा च सकलविघ्नविघातपूर्वकं सङ्कल्पितग्रन्थसमाप्तितत्प्रचारादिदृष्टफलस्य, अध्येतृपरमपरातत्त्वज्ञानप्रयोजकतयाऽनुषङ्गतो जायमानपुण्योपचयरूपादृष्टफलस्य च कामनया परमरहस्यभूतस्यास्य प्रणिधानम्, शिष्या अप्येतत् कुर्युरिति शिक्षार्थं तदुल्लेखश्च कृत इति निगूढाशयः । 'अर्हं' इत्यस्य ग्रन्थघटकत्वमाश्रित्येदं व्याख्यानम् ॥

ग्रन्थादौ कृतस्य मङ्गलस्य पीठिकामारचयन् शब्दशास्त्राऽलङ्कारशास्त्ररचनानन्तरमस्य रचना मया कृतेति व्याख्यातृ-श्रोतृन् प्रति बोधयति–**शब्दानुशासनविरचनानन्तरमि**त्यादिना, शब्दानामनुशासनस्य–सिद्धहेमशब्दानुशासननाम्ना प्रसिद्धस्य संस्कृत-प्राकृतव्याकरणशास्त्रस्य, विरचनं-ग्रन्थरूपेण प्रकाशनं तस्य अनन्तरम्- अव्यवहितोत्तरकालं, **तत्फलभूतं** तस्य-शब्दानुशासनस्य फलभूतं-प्रयोजनस्थानीयं, **काव्यं** कविकृतिविषयं गुणाऽलङ्कारादि, **अनुशिष्य** पूर्वाचार्यपरम्पराप्राप्तमार्गेणोपदिश्य, **तदङ्गभूतं** तस्य–काव्यस्य, **अङ्गभूतं**

शरीरसन्निवेशप्रकारप्रदर्शकतया समुपकारकं, **छन्दोऽनुशासनं** छन्दसाम्-उक्तादीनां वृत्तानाम्, अनुशासनं-पिङ्गलाचार्यादिपरम्पराप्राप्तस्यार्थस्य सङ्ग्रथनम्, **आरिप्समानः** आरब्धुमिच्छन् प्राथमिककृतिविषयतामानिनीषुरिति यावत्, **शास्त्रकारः** प्रकृतच्छन्दोऽनुशासनरचयिता आचार्यः श्रीहेमचन्द्रसूरिः, **इष्टाधिकृतदेवतानमस्कारपूर्वकम्** इष्टा-पूज्यत्वेनेच्छाविषयीभूता च सा अधिकृतस्य-प्रकृतस्य वाङ्मयरूपस्य ग्रन्थस्य, देवता-अधिष्ठात्री देवी, तस्या नमस्कारः-स्वावधिकोत्कृष्टत्वप्रकारकबोधानुकूलमानसिककायिकोभयव्यापार विशेषकरशिरःसंयोगादिरूपः, पूर्वः-प्रथमकृतिविषयो यथा स्यात् तथा कृत्वा, **उपक्रमते** क्रममारभते प्रवर्त्तत इति यावत् ।

अयमाशयः- सर्वस्यामिषेयस्य वागधीनतया पूर्वं वाचः संस्काराय शब्दानुशासनमुपदिष्टम्, तदनु तत्प्रयोगविषयस्य काव्यस्य स्वरूपं गुणालङ्कारादयश्च काव्यानुशासने समुपदिष्टाः, काव्यं च गद्य-पद्यात्मकत्वेन द्विविधमिति पद्यरूपस्य, बहुशो गद्यरूपस्यापि तस्य छन्दोबद्धतया छन्दांस्यपि तदङ्गभूतानीति निरूपणीयतां प्राप्तानि, तन्निरूपणस्य निर्विघ्नपरिसमाप्तिपूर्वकबहुतरप्रचाराय मङ्गलमाचरणीयमिति "आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वाऽपि मङ्गलम्" इत्युक्ततया आशिषोऽपि देवतादिप्रसादाशंसनरूपतया देवादिनमस्कारलभ्यत्वेन वाचः प्रसराय वागधिष्ठात्र्या देवताया एव पूज्यत्वेनेष्टतया प्रकृतविषयाधिकृतत्वेन तन्नमस्कारमेव पूर्वमाचर्य्य तदनु ग्रन्थ आरभ्यत इति ।

वाचमित्यादि । "सिद्धशब्द-काव्यानुशासनः [अहं] आर्हतीं वाचं ध्यात्वा काव्योपयोगिनां छन्दसाम् अनुशासनम् वक्ष्ये" इत्यन्वयः । पदार्थनिर्वचनपूर्वकं वाक्यार्थं विवृणोति-**अर्हद्भिः कृते**त्यादिना । **अर्हद्भि**रिति-"अर्ह पूजायाम्" चतुस्त्रिंशतमतिशयान् सुरासुरादिकृतपूजां वा अर्हन्तीति-अर्हन्तः "सुगद्विषा-ऽर्हः सत्रि-शत्रु-स्तुत्ये" [सि० ५. २. २६.] इति अतृश् प्रत्ययः, अरिहननात् रजोहननात् रहस्याभावाच्चेति वा-अर्हन्तः, पृषोदरादित्वात् साधुः, तैरर्हद्भिः, तीर्थङ्करैरित्यर्थः। **कृता** तत्त्वरूपेण गणधरादिभ्यः समुपदिष्टा -आर्हती "कृते" [सि० हे० ६. १. १९२.] इति सूत्रेण कृतार्थेऽणि विहिते आदिस्वरवृद्धौ स्त्रियामणन्तत्वात् ङीप्रत्यये आर्हती इति सिध्यतीत्यर्थः, तादृशी या वाक् तामिति । का सा वाग् ? इत्याह-**द्वादशाङ्गं गणिपि-**

टकमिति–प्रवचनरूपपुरुषस्याङ्गानीवाङ्गानि, द्वादश अङ्गानि यस्य तद् द्वादशाङ्गं प्रवचनम्, यद्वा अङ्गशब्दस्य पात्रादिगणे वैकल्पिकपाठकल्पनात् द्वादशानामङ्गानां समाहार इति 'द्वादशाङ्गं द्वादशाङ्गी' इति रूपद्वयम् । अङ्गानि च द्वादशेमानि– १ आचाराङ्गम्, २ सूत्रकृताङ्गम्, ३ स्थानाङ्गम्, ४ समवायाङ्गम्, ५ भगवत्यङ्गम्, ६ ज्ञाताधर्मकथाङ्गम्, ७ उपासकदशाङ्गम्, ८ अन्तकृद्दशाङ्गम्, ९ अनुत्तरौपपातिकाङ्गम्, १० प्रश्नव्याकरणाङ्गम्, ११ विपाकाङ्गम् १२ दृष्टिवादाङ्गमिति, तदेतद् द्वादशाङ्गं गणिपिटकमित्युच्यते, गुणानां साधूनां वा गणो विद्यतेऽस्येति-गणी आचार्यः, गणिर्वा साङ्गप्रवचनाध्येता, तस्य पिटकमिव सर्वार्थरत्नाधारत्वाद् गणिपिटकम्, तन्नाम्ना द्वादशाङ्गी गणिपिटकमुच्यते । यथा-पिटके तृणकाष्ठादिनिर्मिते पात्रविशेषे सर्वाणि प्रयोजनीयवस्तूनि संगृह्यन्ते तथाऽत्रापि ऐहिकामुष्मिकफलप्रदानामागमानां संग्रह इति पिटकसंज्ञा सार्थिका ।

अत्र शङ्कते–**यद्यपि द्वादशाङ्गी सूत्रतो गणधरैर्निर्ममे** इति– अग्रे समुदीर्ष्यमाणप्रमाणानुसारं द्वादशाङ्गीसूत्राणि गणधरैर्निर्मितानीति प्रमीयते, ततश्च न सा आर्हती वागिति तस्या आर्हतीत्वेन निर्देशोऽनुचित इति शङ्का, तत्राह– **तथापि तदर्थस्य अर्हदुपदिष्टत्वादार्हतीति उच्यते** इति, अयमाशयः– सूत्राणां गणधरकर्तृकत्वेऽपि तेषामर्हदुपदिष्टार्थानुसारित्वादर्हतामेव तत्कर्तृत्वं युज्यत इति सा वागार्हत्येवेति बोध्यम् । उक्तार्थं आगमप्रमाणमाह– **यदाह**–"अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं" [१–१] इति– अर्थं भाषते अर्हन् सूत्राणि ग्रन्थन्ति गणधरा निपुणम्" इति संस्कृतम् । तेषामार्हतत्वे युक्त्यन्तरमाह– **सूत्रमपि चाचिन्त्यार्हत्प्रभावादेवे**त्यादि, गणधरेषु न स्वतस्तादृशः प्रभावो येन तथाविधानि सर्वविषयव्यापीनि सूत्राणि ग्रथ्यन्ते स्म, किन्तु अचिन्त्यमहिम्नामर्हतामुपदेशस्यैव स प्रभावो येन ते तादृशसूत्राणां निर्माणे प्रभवो जाताः, तथा च यत्प्रभावप्रभवत्वं तेषां सूत्राणां तदीयत्वमेव तेषु व्यवहर्तव्यमिति तेषामार्हतत्वेनोल्लेखो न विरुद्ध इत्यर्थः ।

'सिद्धशब्द-काव्यानुशासनः' इति पदं व्याचष्टे– **सिद्धं प्रतिष्ठां प्राप्तमित्यादिना**, न केवलं भूतकृतिविषयत्वं सिद्धत्वमपि तु प्रतिष्ठात्वेन, प्रतिष्ठा च शिष्टसम्प्रदायमान्यता, तथा च निर्माणोत्तरकालमेव उभयोरनुशासनयोः शिष्ट-

परिगृहीतत्वं व्यज्यते, तेन चास्मिन्नपि वक्ष्यमाणे छन्दोऽनुशासने सोत्साहा **प्रवृत्तिरित्यपि** प्रतीयते । शब्दाश्च काव्यानि चेति शब्द-काव्यानि तेषामनुशासनमिति विग्रहे द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्यानुशासनपदस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् शब्दानुशासनं काव्यानुशासनं चेति लभ्यते, तत्र शब्दानुशासनपदं व्याचष्टे-**शब्दानामित्यादिना**, केषां शब्दानामित्याह- **नामाऽऽख्यातादिभेदानामिति**- आदिपदेनोपसर्ग-निपातयोः सङ्ग्रहः । अनुशासनप्रकारमाह-**प्रकृति-प्रत्ययादिविभागेनेति**-प्रकृतिः- नाम-धात्वादिः, प्रत्ययाः- स्यादयः, कृतः, तद्धिताः, स्त्रीप्रत्ययादयश्च; आदिपदेन आगमाऽऽदेश-विकरणादयः, तेषां विभागेन- यथायथं विवेकेन, संस्कृत्येति क्रियापदमध्याहृत्य तदनुरोधेन हेतौ तृतीया । यदाह-

"प्रकृतिप्रत्ययोपाधिनिपातादिविभागशः ।
पदान्वाख्यानकरणं शास्त्रं व्याकरणं विदुः" ।। इति ।

काव्यानुशासनपदं व्याचष्टे-**काव्यस्य चेत्यादिना- काव्यस्य** कविप्रयोगविषयस्य शब्दस्यार्थस्य च, **गुणालङ्कारादिविवेचनेन** गुणाः- माधुर्योजः-प्रसादाः, अलङ्काराः- अनुप्रासादयः शब्दालङ्काराः, उपमादयश्चार्थालङ्काराः, आदिपदेन रस-भाव-तदाभास-नित्यानित्यदोषादयः, तेषां विवेचनं-स्वरूपनिर्वचनपूर्वकं यथावद्वर्णनं, तेन परिचाय्येति क्रियापदाध्याहारः ।

अनुशासनपदं व्याचष्टे-**पूर्वाचार्यशासनस्यानु** इति, अयमाशयः-नास्माभिः किमपि नूतनशास्त्रमेतद्विषये प्रवर्त्तितमपि तु पूर्वाचार्यशासनमनुसृत्यैव लोकोपकाराय सरलया पद्धत्या शासनं कृतमिति तदीयशासनपश्चाद्भावित्वेनेदमनुशासनमिति व्यवह्रियते इति । शासनशब्दस्यापि लोकप्रसिद्धार्थापेक्षयाऽर्थान्तरमाह- **सन्दर्भ** इति- सन्दर्भश्च पूर्वापरीभावेन संग्रन्थनम् । वक्तुविशेषणत्वसम्पत्यै बहुव्रीहिसमासविग्रहमाह- **यस्य स सिद्धशब्द-काव्यानुशासन** इति ।

ध्यात्वेति पदार्थान्तर्गतं ध्यानमिह किमित्याह- **ध्यानं प्रणिधानम्** इति। प्रणिधानं च विषयविशेषे मनस एकाग्रता, तदिह किंस्वरूपेत्याह- **तच्चेह मानसो नमस्कार** इति- स्वावधिकोत्कृष्टत्वप्रकारकबोधानुकूलो व्यापार एव नमस्कारः, स च कायिक-वाचिक-मानसिकभेदात् त्रिविधः, कायिकः कर-शिरः-

संयोगादिरूपः, वाचिकः शब्दप्रयोगरूपः, मानसिकश्च मनसैव तदर्हत्वस्वीकारः। तथा चात्र ध्यानेन मानसिकः प्रणिपात एव बोध्यत इत्यर्थः।

काव्योपयोगिनामिति छन्दसां विशेषणमुक्तमिति सर्वत्र काव्ये छन्दसामुपयोगे एव संगच्छेतेति काव्यस्य गद्यपद्यात्मकत्वेन द्वैविध्यात् गद्यं च प्रकृतच्छन्दसामनुपयोगान्न्यूनतेति शङ्कायामाह–**गद्यकाव्ये न च्छन्दसामुपयोग इत्यर्थात् पद्यं काव्यमिह गृह्यत** इति, **अर्थादिति**– अर्थमनुरुध्येत्यर्थः, "गम्ययपः कर्माधारे" [२. २. ७४.] इति पञ्चमी। तथा च यद्यपि गद्यं पद्यमुभयमपि काव्यमेव तथाऽपीह छन्दसामुपयोगरूपार्थानुरोधेन पद्यरूपमेव काव्यं काव्यपदेन गृह्यत इति न न्यूनता। उपयोगपदस्य यथाकथंचिदुपकारसाधारणपरत्वेनेह विशिष्योपयोगप्रकारमाह– **उपयोगः साहायकं वृत्तसंशयच्छेदादिनेति**, कवयो हि न छन्दांस्यनुरुध्य काव्यानि विरचयन्ति किन्तु स्वभावत एव तत्तच्छन्दोरूपेण तेषां वाक् प्रसरति, बोद्धृणां च तत्र संशयः सम्भवति-किमिदं छन्दः? इति, तादृशसंशयच्छेद एवैतच्छास्त्रप्रयोजनम्, तथा च काव्यसम्बन्धिवृत्तसंशयच्छेदे साहायकम्– उपकार एवास्य शास्त्रस्य, शास्त्रप्रतिपाद्यानां छन्दसां चोपयोग इति विशकलितार्थः। **छेदादीत्यत्रादिपदेन** च यतिसंशयच्छेदोपकारकत्वं तत्तच्छन्दोऽनुसरणेन काव्यानिर्माणोपकारकत्वं च विज्ञेयम्। उक्तार्थे पूर्वाचार्यसम्मतिमाह–**"छन्दोविचितेर्वृत्तसंशयच्छेदः"** इति-विचयनं-विचितिः सङ्ग्रहः, छन्दसां विचितिश्छन्दोविचितिः, तस्याः-तामाश्रित्येत्यर्थः, अत्रापि "गम्ययपः०" [२. २. ७४.] इति कर्मणि पञ्चमी; वृत्तेषु–वृत्तविषये यः संशयः सन्देहस्तस्य छेदः–निवृत्तिरित्यर्थः [१. २.]।

मङ्गलाचरणेनैवानुबन्धचतुष्टयस्यापि सूचनं भवतीति पूर्वाचार्यपरिपाटी, तां स्फोरयन्नाह–**इदमभिधेयप्रयोजनमिति**–अभिधेयस्य-ग्रन्थप्रतिपाद्यविषयस्य, प्रयोजनं–यमर्थमधिकृत्य प्रवृत्यते तदित्यर्थः। अयमाशयः–विषय-प्रयोजना-ऽधिकारि-सम्बन्धा अनुबन्धचतुष्टयपदवाच्याः, तत्र छन्दांसि प्रकृतग्रन्थप्रतिपाद्यानीति विषयः, विषयस्य च प्रयोजनत्वमावश्यकमिति वृत्तसंशयच्छेदः प्रयोजनम्, तज्ज्ञासुश्चाधिकारी, सम्बन्धश्च प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः, इति चतुर्णामप्यनुबन्धानां प्रकृतपद्येन सूचनमिति। आर्षी-गायत्री–त्रिष्टुबादीनां वेदप्रसिद्धानां छन्दसामिह कथनाभावात् न सर्वेषां छन्दसामिह संग्रह इति न्यून-

तेति शङ्कायामाह-**काव्योपयोगाभावाच्चे**त्यादि,प्रकृते हि काव्योपयोगिनामेव छन्दसां लक्षणं विवक्षितमिति वेदानां काव्यबहिर्भूतत्वेन तच्छन्दसामिह कथनस्यानावश्यकत्वेन तानि नेह **लक्षयिष्यन्ते** स्वरूपप्रतिपादनेन निरूपयिष्यन्ते ।

छन्दसामित्यत्र षष्ठीविभक्त्यर्थः क इत्याह-**कर्मणि षष्ठी**ति-"कर्मणि कृतः" [सि० सू० २. २. ८३.] इति विहितेति भावः । छन्दःशब्दव्युपत्तिमाह-**चन्दनादाह्लादनादि**ति-चदु आह्लादे दीप्तौ च पठितो भौवादिको धातुः, तस्मादौणादिकोऽस्प्रत्ययः, पृषोदरादित्वाद् वर्णव्यत्ययेन चकारस्य छकार इति छन्दःशब्दव्युत्पत्तिः । पर्यायमाह-**वर्णमात्रानियमितानि वृत्तानी**ति-इह हि द्विविधानि वृत्तानि, कानिचिद् वर्णनियमितानि कानिचिन्मात्रानियमितानि, **वर्णैः**-वर्णसन्निवेशविशेषैः, नियमितानि-बद्धस्वरूपाणि, मात्राभिः-कालविशेषोपलक्षिताभिः, नियमितानि वृत्तानि-मात्रावृत्तानि, मात्रा चेत्थं लक्षिताऽभियुक्तैः-"कालेन यावता पाणिः पर्येति जानुमण्डले । सा मात्रा कविभिः प्रोक्ता" इति, तेषां वृत्तानामनुशासनं छन्दोऽनुशासनम् । अनुशासनपदं व्युत्पादयति-**अनुशिष्यतेऽनेने**ति, तथा च करणेऽनः, तच्चेदं शास्त्रमिति, अनेन शास्त्रेण भरतादिपूर्वाचार्यशिष्टानि छन्दांसि अनुशिष्यन्ते । कर्तुरिहानुक्तेराक्षेपलभ्यत्वमित्याह-**वक्ष्य इति तृतीयत्रिकप्रयोगादि**ति-क्रिया हि कर्तारं विनाऽनुपपन्ना तमाक्षिपति, सा चेह वक्ष्य इति तृतीयत्रिकेकवचनरूपा, तृतीयं च त्रिकमस्मद्युपपदे सत्येव भवति "त्रीणि त्रीणि-अन्ययुष्मदस्मदि" [सि० सू० ३. ३. १७.] इत्यनुशासनात् । तथा चास्मदः प्रयोगं विनाऽनुपपद्यमानस्तृतीयत्रिकप्रयोगोऽस्मच्छब्दप्रतिपाद्यं कर्तारमाक्षिपतीति-अहमिति [कर्ता] लभ्यते ।

प्रकृतपद्यावतरणिकायाम्-'इष्टाऽधिकृतदेवतानमस्कारपूर्वकम्' इत्युक्तं, तत्र शङ्कते-**ननु भवतु 'वाचं ध्यात्वाऽऽर्हतीम्' इति इष्टदेवतास्तुतिः, अधिकृतदेवतास्तुतिस्तु कथमियम् ?** इति, अयमर्थः-आर्हती वाक् परमेष्ठिसम्बन्धादभ्यर्हिततरेति प्रसादनीयत्वेनेष्टा भवितुमर्हति अधिकृतानां-प्रकृतानां छन्दसां देवतात्वं तु तस्या न युक्तमिति तावानंशस्तत्रासङ्गतः । तत्र हेतुमाह-**नह्यधिकृतानि छन्दांस्यर्हत्प्रणीतानि** इति, अधिकृतानि-प्रकृतग्रन्थप्रतिपाद्यानि, छन्दांसि-वृत्तानि,न अर्हद्भिः प्रतिपादितानि,अपि तु पूर्वाचार्यैः-भरतादिमुनिभिरेव प्रतिपादितानीति आर्हत्या वाचस्तद्देवतात्वं-तदधिष्ठात्रीत्वं

न यूक्तमिति भावः। उत्तरयति–**मैवं वोचः** इति–वचेर्ब्रूगो वा अद्यतन्या द्वितीयत्रिकैकवचनम्, माङो योगादडागमाभावः, एवम्–उक्तप्रकारेण, **मा**–नहि, **वोचः**–कथय, कुत इत्याह–**नहि सूक्तं किञ्चिदि**त्यादि। **जगति** संसारे, किमपि **सूक्तं** शोभनवचनम्, **अर्हतां** तीर्थकराणाम्, **उपदेशम्** आद्योच्चारणम् **अन्तरेण** विना न अस्ति। सर्वमेव लोकहिताधायकं वचनं अर्हदुपदेशसम्बद्धमेवेति छन्दसामपि सूक्तान्तर्गतत्वात् परम्परयाऽपि अर्हत्प्रभवत्वमेवेति भवत्यार्हत्या वाचोऽधिकृतदेवतात्वम्।

उक्तार्थे श्रीसिद्धसेनदिवाकरवचनसम्मतिमाह–**यत्–श्रीसिद्धसेनः**–"**सुनिश्चितमि**त्यादि। "परतन्त्रयुक्तिषु याः काश्चन सूक्तसम्पदः स्फुरन्ति ताः तवैव [इति] नः सुनिश्चितम्[यतः]पूर्वमहार्णवोद्धृताः जिनवाक्यविप्रुषः जगत्प्रमाणम्" इत्यन्वयः। परेषां–जैनागमानुयायिभिन्नानां, तन्त्रेषु–आगमेषु, युक्तिषु–युक्तिप्रतिपादकसंग्रहेषु च, **याः काश्चन** विरलाः, **सूक्तसम्पदः** शुभवचनात्मकसम्पत्तयः, **स्फुरन्ति** विद्योतन्ते, **ताः** सर्वाः, **तवैव** त्वत्सम्बन्धिन्य एव, यतः **पूर्वमहार्णवोद्धृताः** सर्वाङ्गभ्यः पूर्वं तीर्थङ्करैरभिहितत्वात् पूर्वाणि, तानि च उत्पातादीनि लोकबिन्दुसारपर्यन्तानि आगमग्रन्थात्मकानि चतुर्दश, तान्येव महार्णवः–सवार्थरत्नसंग्राहित्वात् स्वयम्भूरमणनामा सर्वतो महान् समुद्रः, तत उद्धृताः–स्वाप्रतिमप्रतिभया प्राकट्यं नीताः, **जिनवाक्यविप्रुषः** अर्हद्वचनबिन्दव एव **जगत्प्रमाणं** विश्वस्मिन् व्यवहारे प्रमाणभूताः, नान्यत् किञ्चन सांसारिकैहिकामुष्मिकव्यवहारे प्रामाण्यं प्राप्नुमर्हति। ततश्च यत्किञ्चिदिह शुभं प्रमाणभूतं च वचनमुपलभ्यते तत् सर्वमर्हत्सम्बन्ध्येवेति छन्दसामपि तदधीनत्वं सिद्धम्। इत्थमशेषशङ्काकलङ्कप्रक्षालनं कृतमिति निगमयति–**इति सर्वमवदातमि**ति, इति–इत्थं प्रकारेण, सर्वे–प्रकृतमङ्गलश्लोकवर्णितं वस्तु, अवदातं–दोषसम्बन्धरहितम्।

ननु प्रकृतग्रन्थमङ्गलश्लोके पूर्वविरचितयोः शब्द-काव्यानुशासनयोश्चर्चायाः किमौचित्यमिति चेदत्राह–**अनेन च श्लोकेने**त्यादि,अयमाशयः–महति संसारे निरवधौ च काले भवति केषांचित् संशयो यत्–इमानि अनुशासनानि नैककर्तृकानि, अपि तु पृथक् पृथगेवैतेषां कर्तारः, कालभेदेन देशभेदेन कर्तृनामैक्यं सम्भाव्यत इति तदुच्छेदायात्र श्लोके 'सिद्ध-शब्दकाव्यानुशासनः' इति

कर्तृविशेषणत्वेनोक्तमिति त्रयाणामपि शब्दानुशासन-काव्यानुशासन-च्छन्दोऽनुशासनानामेककर्तृकत्वप्रतिपादनम् । किञ्चैतेन सकलस्य वाग्व्यवहारस्योपकारकाणि शास्त्राणि मयैकेनैव लोकोपकृतये रचितानीति स्वशक्तिव्यापकत्वमपि सूचितं भवतीति विज्ञेयमिति ।। अ० १, सू०–१ ।।

सर्वादि मध्या-ऽन्तग्लौ त्रिकौ म्नौ भ्यौ ज्रौ स्तौ वर्णगणाः ।।२।।

सर्वादि-मध्या-ऽन्तौ गुरु-लघू ययोस्तौ यथाक्रमं 'म्नौ भ्यौ ज्रौ स्तौ' इत्येवं संज्ञौ ज्ञेयौ। चतुर्ग्लादीनामपि मादिसंज्ञा मा भूदिति नियमार्थमाह-त्रिकौ, त्रयः प्रमाणमनयोस्तौ "मानम्" [सिद्धहे० ६. ४. १६९.] इति के त्रिकौ। तत्र सर्वग्लौ–म्नौ, आदिग्लौ भ्यौ, मध्यग्लौ–ज्रौ, अन्तग्लौ–स्तौ । सर्वेषां न्यासः– ऽऽऽ म, ।।। न, ऽ।। भ, ।ऽऽ य, ।ऽ। ज, ऽ।ऽ र, ।।ऽ स, ऽऽ। त । पठन्ति च–

"मस्त्रिगुरुस्त्रिलघुश्च नकारो, भादिगुरुश्च तथादिलघुर्यः ।
जो गुरुमध्यो मध्यलघू रः, सोऽन्तगुरुः कथितोऽन्तलघुस्तः ।।" इति वर्णगणाः [२–१] ।। सू०–२ ।।

प्रद्योतः–सर्वा-ऽऽदि-मध्याऽन्तेति–वर्णमात्रामेदेन वृत्तानां द्वैविध्यमुक्तं पूर्वकारिकावृत्तौ, तत्र संक्षेपतो वृत्तानां स्वरूपनिरूपणाय वर्णगणा मात्रागणाश्च कल्पिताः, तेषु प्रथमं वर्णगणानाह प्रकृतसूत्रेण । सूत्रं विवृणोति–**सर्वाऽऽदि-मध्या-ऽन्तौ गुरु-लघू ययोरि**ति–सर्वश्च आदिश्च मध्यश्च अन्तश्चेति संख्यासामान्यविवक्षया द्वन्द्वः, ग् च ल् चेति पृथक् द्वन्द्व समासः, सर्वादिमध्यान्तशब्दा अधिकरणार्थपराः, ततस्तयोः पदयोः समानाधिकरणो बहुव्रीहिः, सर्वादिशब्दानां पृथक् पृथक् द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणाभ्यां ग्लाभ्यां सम्बन्धः, तथा च **म्ना-वि**त्यादिपदानामपि गणद्वयपरत्वेन पृथक् पृथक् सम्बन्धकल्पने-सर्वगः त्रिकः–मः १, सर्वलः त्रिकः–नः २, आदिगः त्रिकः–भः ३, आदिलः त्रिकः–यः ४, मध्यगः त्रिकः–जः ५, मध्यलः त्रिकः–रः ६, अन्तगः त्रिकः–सः ७, अन्तलः त्रिकः–तः ८, इत्येवं विशकलितो बोधः । **सर्वादी**त्यादिपदं **त्रिकौ**वित्यस्य विशेषणम्; **त्रिकौ**वि ति चोद्देश्यपरं संज्ञिबोधकम्, **म्नौ**वित्यादि च संज्ञाबोधकम्, तदाह–**यथाक्रमं म्नौ भ्यौ ज्रौ स्तौ इत्येवंसंज्ञौ ज्ञेयौ**वि ति । यद्यपि एतेषां द्वन्द्वपदानां समुदायरूपेणैव संज्ञात्वं प्राप्नोति विधेयबोधकपदत्वेन स्वात–

न्त्र्यात् तथापि इतरेतरयोगद्वन्द्वे सर्वपदार्थस्य तुल्यं प्राधान्यमिति भवति प्रत्येकं संज्ञात्वम्। ननु 'आदि–मध्य–अन्त'पदानां महिम्ना समुदायस्य वर्णत्रयात्मकत्वं स्वत एव प्रतीयत इति त्रिकाविति समुदायस्वरूपबोधकं पदं व्यर्थमेवेति चेदत्राह–**चतुर्ग्लादीनामपि मादिसंज्ञा मा भूदिति नियमार्थमाह–त्रिकाविति**, अयमाशयः–आदिमध्यान्तेति पदत्रयमहिम्ना एक-द्वि-वर्णात्मकस्य समुदायस्य व्यावृत्तावपि चतुरादिवर्णात्मकानां समुदायानां व्यावृत्तिर्न स्यादिति तेषां व्यावर्तनाय त्रिकाविति पदं नियमार्थम्–त्रिकावेव, न चतुष्कः पञ्चको वेत्यादि। त्रिकाविति पदं व्युत्पादयति–**त्रयः प्रमाणंमनयोस्ताविति**–समुदायौ प्रत्ययार्थः। प्रत्ययविधिसूत्रमाह–**"मानम्" [सि० है० ४. ६. १६३.] इति के** इति–मानमित्यर्थे "संख्याडतेश्चाशत्-ति-ष्टेः कः" [सि० ६.५.१३०.] इति विहित क इति भावः। सूत्रपाठानुसारं सम्बन्धमाह–**तत्र सर्वग्लौ म्नौ** इत्यादिना। प्रत्येकं विशकलितः सम्बन्धः पूर्वमुक्त एव। यत्र गणे यो वर्णो विशिष्य गुरुर्लघुर्वोक्तस्तत्र तदतिरिक्तौ लघू गुरू वा यथाक्रमं विज्ञेयौ। गुरोर्लघोश्च न्यासप्रकारं वक्ष्यति पञ्चम-षष्ठाभ्यां सूत्राभ्यां "ह्रस्वो ल्–ऋजुः" "ग्–वक्रः" इति। तथा च ऋज्वी रेखा 'ा' लघुसूचिका, वक्रा 'ऽ' रेखा गुरुसूचिका। तदनुसारमेव वर्णगणानामेषां न्यासप्रकारमाह–**सर्वेषां न्यास** इति। एवं च–सर्वगुरुः ऽऽऽ त्रिकः–मः, सर्वलघुः ।।।–नः, आदिगुरुः ऽ।।–भः, आदिलघुः ।ऽऽ–यः, मध्यगुरुः ।ऽ।–जः, मध्यलघुः ऽ।ऽ–रः, अन्तगुरुः ।।ऽ– सः, अन्तलघुः ऽऽ।– तः, इति न्यासक्रमः ।। 491.2/2957

स्वोक्तार्थे पूर्वाचार्यसम्मतिमाह–**पठन्ति च–मस्त्रिगुरुः** इत्यादि, "त्रिगुरुः:–मः, त्रिलघुः–नः, आदिगुरुः–भ्, आदिलघुः–यः, गुरुमध्यः–जः, मध्यलघुः–रः, अन्तगुरु;–सः, अन्तलघुश्च–तः, कथितः" इत्यन्वयः, स्पष्टश्चार्थः। वर्णगणवर्णनपरिसमाप्तिमाह–**इति वर्णगणाः** इति। सू०२ प्रमाणवचनम् १।।सू०२।।

द्वि-त्रि-चुतुष्-पञ्च-षट्कला द-त-च-प-षा- द्वि-त्रि-पञ्चा-ऽष्ट-त्रयोदशभेदा मात्रागणाः ।।३।।

कला मात्रा, द्विकलो-दसंज्ञः, त्रिकलः-तसंज्ञः, चतुष्कलः–चसंज्ञः, पञ्चकलः-पसंज्ञः, षट्कलः–षसंज्ञः। इति द्वि-त्रि–चतुष्–पञ्च-षण्णामादिप्रतीकेन "कु-

तृ–रा–स–दिवा–द–र०" इत्यादिवत् दादिसंज्ञा मात्रागणाः। ते च यथासंख्यं द्वि-त्रि-पञ्चा-ऽष्ट-त्रयोदशभेदाः, तत्र–

दगणो द्विभेदः– ऽ, ।।,

तगणस्त्रिभेदः– ।ऽ, ऽ।, ।।।,

चगणः पञ्चभेदः– ऽऽ, ।।ऽ, ।ऽ।, ऽ।।, ।।।।,

षगणोऽष्टभेदः– ।ऽऽ, ऽ।ऽ, ।।।ऽ, ऽऽ।, ।।ऽ।, ।ऽ।।, ऽ।।।, ।।।।।,

बगणस्त्रयोदशभेदः– ऽऽऽ, ।।ऽऽ, ।ऽ।ऽ, ऽ।।ऽ, ।।।।ऽ, ।ऽऽ।, ऽ।ऽ।, ।।ऽ।।, ऽऽ।।, ।ऽ।।।, ऽ।।।, ।।।।।।,

"सर्वगः सर्वलो दस्त आदिमान्तिमसर्वलः।
सर्वान्तिमध्यमाद्यग् चः समस्तलो मतश्च सः॥ [३–१]

प आद्यन्तर्लघुग्लान्तः स्यादुपान्त्यगुरुः स च।
आद्युत्तरगुरुः सोऽपि गुर्वादिः सकलोऽपि च॥ [३-२]

बः सर्वगो द्वयाद्यलः स्यादाद्योपान्त्यलघुस्तथा।
आद्यान्तिमगुरुश्चैव पर्यन्तगुरुरेव च॥ [३–३]

आद्यन्तल उपान्त्याद्यग उपान्त्यगुरुस्तथा।
द्वयाद्यगो मध्यगश्चाद्युत्तरगादिश्च सर्वलः॥" [३–४]

इति संग्रहश्लोकाः॥सू० ३॥

प्रद्योतः–अथ मात्रागणानाह–**द्वि-त्रि-चतुष्-पञ्च-षट्कला०** इति–द्वे च तिस्रश्च चतस्रश्च पञ्च च षट् च–द्वित्रिचतुष्पञ्चषट्, ताः–[तावत्यः]कलाः-मात्रा येषु ते-द्वित्रिचतुष्पञ्चषट्कलाः, दश्च तश्च चश्च पश्च षश्चेति ते–द-त-च-प-षाः। नामैकदेशग्रहणे नामग्रहणमिति दादयो द्विकलादीनां संज्ञाः। तदाह–**द्विकलो दसंज्ञ** इत्यादिना। एषां कथं द्विकलादिबोधकत्वमित्यत्राह–**द्वित्रि-चतुष्पञ्चषण्णामादिप्रतीकेने**ति–द्विकलस्यादिः दकारः, त्रिकलस्य तकारः, चतुष्कलस्य चकारः, पञ्चकलस्य पकारः, षट्कलस्य षकार इति। नैषा प्रक्रियाऽस्माभिरेव कल्पिता, अपि तु पूर्वाचार्यैरप्यनया व्यवहारः कृत इत्याह–**"कृतूरासदिवादर०" इत्यादिवदिति**–कृ तृ रा स दिवा द र भूत दिवा, शु च राऽष्ट दिवैक र पूर्ण दिवा" इति ज्योतिःशास्त्रीयवचने कृ–तृ–रा इत्यादयः 'कृष्णपक्ष–तृतीया–रात्रि' इत्यादिपदानामर्थे प्रयुक्ता भद्राविचारप्रकरणे। कृ–

कृष्णपक्षे, तृ– तृतीयायाम्, रा–रात्रौ, भद्रा भवतीत्यर्थः; एवं–स–सप्तम्याम्, दिवा–दिवसे भद्रा । शु– शुक्लपक्षे, च–चतुर्थ्याम्, रा– रात्रौ, भद्रा; अष्ट–अष्टम्याम्, दिवा–दिवसे, भद्रा; एक–एकादश्याम्, र–रात्रौ, भद्रा; पूर्ण–पूर्णिमायाम्, दिवा– दिवसे भद्रा । कृष्णपक्षे–तृतीयायायां दशम्यां च रात्रौ भद्रा, सप्तम्यां चतुर्दश्यां च दिवा भद्रा, शुकपक्षे– अष्टम्यां पूर्णिमायां च दिवसे भद्रा, एकादश्यां चतुर्थ्या च रात्रौ भद्रा भवतीति भावः । निगमयति– **दादि-संज्ञा मात्रागणा** इति । तथा चैते पञ्च मात्रागणाः । एषां कलापर्यायेण प्रत्येकं कति भेदा इत्याकाङ्क्षायामाह–**द्वि-त्रि-पञ्चा-ऽष्ट-त्रयोदशभेदाः** इति-प्रथमो द्विकलः–एकगुरुऽ-लघुद्वय।।भेदेन द्विविध एव । द्वितीयस्त्रिकलः–लघ्वादिऽ-लघ्वन्तऽ-लघुत्रय।।।भेदेन त्रिविधः । तृतीयश्चतुष्कलः–गुरुद्वयऽऽ-लघुद्वयादिगुर्वन्त।।ऽ-गुरुमध्य।ऽ-गुर्वादिलघुद्वयान्तऽ।-लघुचतुष्टय।।।।भेदेन पञ्चविधः । चतुर्थः पञ्चकलः–लघ्वादिगुरुद्वय।ऽऽ-लघुमध्यगुरुद्वयऽ।ऽलघुत्रयादिगुर्वन्त।।ऽ-गुरुद्वयादिलघ्वन्तऽऽ।-लघुद्वयगुरुलघु।।ऽ।-लघुगुरुलघुद्वय-।-ऽ।।-गुरुलघुत्रयऽ।।-लघुपञ्चक।।-।।।भेदेनाष्टविधः पञ्चमः । षट्कलः–गुरुत्रयऽऽऽ-लघुद्वयगुरुद्वय।।ऽऽ–लघुगुरुलघुगुरु।ऽऽ-गुरुलघुद्वयगुरुऽ।।ऽ-लघुचतुष्ट–यगुरु।।।ऽ-लघुगुरुद्वयलघु।ऽऽ।-गुरुलघुगुरुलघुऽऽ।-लघुत्रयगुरुलघु।।।ऽ।-गुरुद्वयल–घुद्वयऽऽ।-लघुद्वयगुरुलघुद्वय।।ऽ।।-लघुगुरुलघुत्रय।ऽ।।-गुरुलघुचतुष्टय-ऽ।।।-लघुषट्क।।।।।भेदेन त्रयोदशविध इति विवेकः । एतदेव संगृह्णाति–**सर्वगः सर्वलो दस्त** इत्यादिना । 'सर्वगः, सर्वलः' इति द्विविधो दः । 'आदिमलः, अन्तिमलः, सर्वलः' इति त्रिविधः–तः । सर्वगः, अन्तगः, मध्यगः, आदिगः, समस्तलश्च' इति पञ्चविधः– चः, मतः [३–१] ।। 'आदिलघुः, मध्यलघुः, गुर्वन्तः, लघ्वन्तः, उपान्त्यगुरुः, आद्युत्तरगुरुः, गुर्वादिः, सर्वलघुः' इत्यष्टभेदः– षः स्यात् । [३ । २] 'सर्वगुरुः, लघुद्वयादिः, आद्योपान्त्यलघुः, आद्यान्तिमगुरुः, अन्तगुरुः [३–३], आद्यन्तलघुः, उपान्त्याद्यगुरुः, उपान्त्यगुरुः, गुरुद्वयादिः, मध्यगुरुः, आद्युत्तरगुरुः, आदिगुरुः, सर्वलघुः–षः स्यादित्यन्वयः [३–४] ।। स्वरूपाणि च पूर्वमुक्तान्येव ।। सू०–३ ।।

समानैकादिः ।। ४ ।।

ग्लौ मात्रयो दावयश्च समानेन लक्षिता एकादिसंख्या भवन्ति । यावतिथः

समानस्तावतिथा गादयोऽपि गृह्यन्ते। ग–१, गा–२, गि–३, गी–४, गु–५, गू–६, गृ–७, गॄ–८, ग्लृ–९, ग्लॄ–१०। एवं लादयोऽपि ॥ सू०–४ ॥

प्रद्योतः–पूर्वनिर्दिष्टानां वर्णगणानां मात्रागणानां गुरु-लघ्वोश्च नियतसंख्यकानां लाघवेन निर्देशस्योपायमाह–**'समानेनैकादिः'** इति। सूत्रस्य सूक्ष्माक्षरत्वादभिधेयार्थस्य सूचनमात्रपरत्वाच्च विवरणमाह वृत्तिकृत्– **ग्लौ मादयो दादयश्चै**त्यादि। **ग्लौ** गुरु-लघुप्रतीकभूतौ गकार-लकारौ **मादयः** मगणादिवर्णप्रतीकभूताः म-न-भ-य-ज-र-स-ताः, **दादयश्च** द्विकलादिमात्रागणप्रतीकभूताः-द-त-च-प-षाश्च, **समानेन** "ऌदन्ताः समानाः" इति [सि० सू० १. १. ७.] सङ्केतिता अकारादयो ऌकारपर्यन्ता वर्णाः समानसंज्ञाः, तेन तेन स्वरेण **लक्षिताः** उपलक्ष्य निर्दिष्टाः, **एकादिसंख्या भवन्ति** प्रथमेन समानेनोपलक्षिता एकसंख्याबोधकाः, द्वितीयेन द्वयोः, तृतीयेन त्रयाणामित्येवं क्रमेण दशसंख्यापर्यन्तं स्वं बोध्यार्थं सूचयन्ति। तदेव स्फोरयन्नाह–**यावतिथः समानस्तावतिथा गादयोऽपि गृह्यन्ते** इति–यावतिथः–यत्संख्यायाः पूरणः, समानः–स्वरः, तावतिथाः–तावत्संख्याकाः, गादयोऽपि–गुरु-लघु-मादिदादिगणा अपि, गृह्यन्ते–प्रतीतिपदवीं गच्छन्ति। तदेव स्वरूपतो दर्शयति– **ग–१ गा–२ गि–३** इत्यादिना **ग्लॄ १०** पर्यन्तम्। प्रकृतमर्थमतिदिशति– **एवं–लादयोऽपी**ति–ल–१ ला–२ लि–३ इत्येवं लघु संख्या, म–१ मा–२ मि–३ इत्येवं मगणादिसंख्या, द–१ दा–२ दि–३ इत्येवं द्विकलादिगणसंख्या च विज्ञेयेति भावः ॥ सू०–४ ॥

ह्रस्वो ऌ ऋजुः ॥ ५ ॥

ह्रस्वो–मात्रिको वर्णो ऌसंज्ञो भवति, स च प्रस्तारे ऋजुः स्थाप्यः।सू०–५॥

प्रद्योतः–मादयो वर्णगणा दादयश्च मात्रागणा द्वितीय-तृतीयसूत्राभ्यां निरूपिताः, तत्स्वरूपं च प्रदर्शितम्, लघु-गुर्वोः 'ल्–ग्' संज्ञा च न निरूपिता नवा तत्स्वरूपं प्रदर्शितमिति तत्प्रदर्शनायाह–**ह्रस्वो ऌजुः** इति–'ह्रस्वः ऌ ऋजुः' इति पदच्छेदः। विवृणोति–**ह्रस्वो मात्रिको वर्णो 'ल्'संज्ञो भवतीति**–"एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते" इत्यभियुक्तोक्तया एक-

मात्रयोच्चार्यो वर्णो ह्रस्वः, स चात्रानुशासने ल् इति व्यवह्रियत इत्यर्थः। 'ह्रस्वो ल्' इत्येतस्यार्थमुक्त्वा शिष्टस्य 'ऋजुः' इत्यंशस्यार्थमाह–**स च प्रस्तारे ऋजुः स्थाप्य** इति–'ल्' इत्यस्य देहलीदीपन्यायेन पूर्वत्र परत्र चान्वयः, पूर्वं प्रति अस्य विधेयरूपेणोपस्थितिरिति संज्ञापरत्वम्, परम् 'ऋजु' इति पदं प्रति च उद्देश्यत्वेनोपास्थितिरिति स **ऋजुः** ऊर्ध्वाधः सरलक्रमेण स्थितरेखा'।'रूपेण प्रस्तारसमये स्थापनीय इत्यर्थः ।। सू०–५ ।।

वा-ऽन्ते ग् वक्रः ।। ६ ।।

पदान्ते वर्तमानो ह्रस्वो ग्संज्ञो भवति, स च प्रस्तारे वक्रः स्थाप्यते। वेति व्यवस्थितविभाषा, तेन यत्र "जौ ग्लौ समानी" [२. ८३.] इत्यादावपवादस्तत्र ग्संज्ञो न भवति। वंशस्थादौ च पादान्ते लघोर्गुरुत्वं न भवति। यदाह–

"वंशस्थकादिचरणान्तनिवेशितस्य, गत्वं लघोर्नहि तथा श्रुतिशर्मदायि।
श्रोतुर्वसन्ततिलकादिपदान्तवर्ति–लो गत्वमत्र विहितं विबुधैर्यथा तत् ।।"
[६–१]। ध्रुवासु विवक्षावशात् गुरुत्वं लघुत्वं च। यदाह–

"ओजसंख्या यदाभीष्टा, ध्रुवासु विरतौ तदा।
गो लता युग्मसंख्ये तु, विरतौ गुरुता लघोः ।।" [६–२]। तथा–
गुरुअ च्चिअ एक्कलहू, विरामविसयंमि विसमसंखाए।
जमललहू लहुअ च्चिअ समसंखासंठिओ होइ ।। " [६–३] ।। सू०–६ ।।

प्रद्योतः–द्विमात्रस्य गसंज्ञां वक्ष्यति, क्वचिद् ह्रस्वस्यापि गसंज्ञाऽभिमतेति प्रकरणात् तां कथयन् गुरुस्वरूपमप्याह–**वाऽन्ते ग् वक्रः** इति। विवृणोति–**पादान्ते वर्तमानो ह्रस्वो ग्संज्ञो भवतीति**। अन्तपदस्य समुदायसापेक्षत्वात् कस्यान्ते इत्याकाङ्क्षाया व्याख्यानमात्रनिवर्त्यत्वेनाह–**पादन्ते** इति। पादश्च पद्यचतुर्थांशः, तदन्ते यदि लघुर्भवेत् स यथाप्रयोजनं 'ग्'संज्ञो भवति। सर्वत्र गुरुत्वाभावात् वेत्याह, तच्चाग्रे स्वयमेव स्फोरयिष्यति। 'वक्रः' इत्यंशं व्याख्याति–**स च प्रस्तारे वक्रः स्थाप्यते** इति–'ग्' इत्यस्य पूर्वसूत्रोक्तरीत्या पूर्वत्र परत्र च विधेयत्वेनोद्देश्यत्वेन यथायथं सम्भन्धात् स चेत्यर्थलाभः, वक्रः सर्पगत्युपलक्षितकुटिलरेखा'ऽ'रूपेण प्रस्तारे स्थापनीय इत्यर्थः। **वेति व्यवस्थितविभाषा तेन यत्रेत्यादि**– वेति पदेन विभाषार्थो विकल्पः सूच्यते, सा

च विभाषा व्यवस्थिता, विविधया यथालक्ष्यं भिन्नयाऽवस्थया उपलक्षिता। तत्फलमाह- **तेन यत्र "जौ ग्लौ समानी" [छ० सू० २-८३] इत्यादावपवाद** इति, अयमाशयः-सामान्यतः पादान्तस्थस्य लघोर्गुरुत्वं भवति, किन्तु यत्र विशिष्य पादान्तस्थस्य लघुत्वं कथ्यते तत्र "सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्" इति न्यायेन पादान्तस्थस्य लघोर्लघुत्वमेव तिष्ठति, न गुरुत्वं भवति, यथा 'जौ ग्लौ' इति समानीच्छन्दसो लक्षणे पादान्तलघोरेव लक्षणघटकत्वं विशिष्य कथ्यते तत्र पादान्तस्य गुरुत्वं न भवति। न केवलमपवादस्थल एव किन्तु श्रुतिसुखानुरोधेनापि पादान्ते लघोर्गुरुत्वं न भवतीत्याह- **वंशस्थादौ च पादान्ते लघोर्गुरुत्वं न भवतीति**। तत्र पूर्वाचार्यसम्मतिमाह- **वंशस्थकादीति**- "यथा विबुधैर्वसन्ततिलकादिपदान्तवर्ति-लो गत्वं विहितं श्रुतिशर्मदायि तथा वंशस्थकादिचरणान्तनिवेशितस्य लघोर्गत्वं न श्रुतिशर्मदायि" इत्यन्वयः। वसन्ततिलकाच्छन्दसो लक्षणं च "त्भौ जौ गौ वसन्ततिलका" [२-२३१] इति, तत्र पादान्ते गुरुद्वयं प्रोक्तमिति कदाचिल्लघु पादान्ते प्रयुक्तमपि गुरुत्वं प्राप्यत एव, तथैव च श्रुतिसुखं भवति; तथा "जतज्रा वंशस्थम्" [२-१५६] इति लक्षितस्य वंशस्थस्य पादान्ते रगणस्य कथनात् अन्ते गुरोरौचित्येऽपि यदि लघुः प्रयुज्येत तर्हि स लघुरेवोच्चारितः श्रुतिसुखदायी भवति न तु स गुरुत्वं प्राप्यते इत्येवमेवास्य नियमस्य व्यस्थितत्वं बोध्यमिति समुदितार्थः [६-१]॥

पादान्तस्य लघौर्गुरुत्वे स्थानवशाद् व्यवस्थान्तरमाह- **ध्रुवासु विवक्षावशाद् गुरुत्वं लघुत्वं च** इति- ध्रुवासु- षष्ठाध्याये वक्ष्यमाणासु षट्पदीचतुष्पदी-द्विपदीप्रभिन्नासु छन्दोजातिषु, विवक्षावशात्- कवेरितिशेषः, [पादान्तस्य] गुरुत्वं लघुत्वं च-गुरोरपि पठितस्य लघुत्वं लघोरपि पठितस्य गुरुत्वं च भवतीति भावः। तत्र पूर्वाचार्योक्तां व्यवस्थामाह-**यदाह-ओजसंख्या यदाऽभीष्टेति**। **ध्रुवासु** वक्ष्यमाणासु षट्पद्यादिषु, **विरतौ** पादान्ते, **ओजसंख्या** अयुग्मपादमात्रासंख्या, **यदाऽभीष्टा** यत्र पूरयितुमीष्टा, **तदा** तत्र **गः** गुरोः, **लता** लघुता। **युग्मसंख्ये** युग्मपादयोः, [यदा अभीष्टा तदा] **विरतौ** पादान्ते, **लघोः** गुरुता भवतीति भावः [६-२]॥

क्वचिदन्यथैवेत्याह-**तथा-गुरुअ ह्मिअ एक्कलहू** इति, **विसमसंखाए**

विषमसंख्यायाम्–प्रथम-तृतीययोः पादयोः, **विरामविसयंमि** विरामविषये पादान्ते, **एक्कलहू** एकलघुः [विवक्षावशात्] **गुरुअ च्चिअ होइ** गुरुरिव भवति । **समसंखासंठिओ** समसंख्यासंस्थितः–युग्मपादान्तस्थ इत्यर्थः । **जमललहू** युग्मलघुः–गुरुः, **लहुअ च्चिअ होइ** लघुरिव भवतीत्यर्थः, [६–३] ।। सू०–६ ।।

(क–) (प–विसर्गा-ऽनुस्वार–व्यञ्जना–ऽह्रादिसंयोगे ।।७।।

जिह्वामूलीये उपध्मानीये विजर्जनीये अनुस्वारे व्यञ्जने ह्रादिवर्जिते संयोगे च परे ह्रस्वोऽपि गो भवति वक्रश्च ।'अह्रादि'इति समस्तव्यस्तसंग्रहात्-ह्रसंयोगे हसंयोगे रसंयोगे च न गुरुः । आदिशब्दाद् यथा दर्शनम् । ह्रादिसंयोगे च यथा–

"स्पृष्टं त्वयेत्यह्रियः खलु कीर्तयन्ति ।" [७–१] ।।

तथा–

"तव ह्रियाऽप्यह्रियो मम ह्रीरभूत्, शशिग्रहेऽपि ब्रुतं न धृता ततः ।
वहलभ्रामरमेचकतामसं, मम प्रिये ! क्व समेष्यति तत् पुनः ।।" [७–२]

"धनं प्रदानेन श्रुतेन कर्णौ" [७–३] । इत्यादि ।

"लीलासिताब्जमुत दर्पणमातपत्रं, किं दन्तपत्रमथ किंशुकमौलिरत्नम् ।
किंचामरं तिलकबिन्दुरयेन्दुबिम्बमेतद् दिवो निह्नुतदीप्ति मुदे न कस्य ।।" [७–४] ।

प्राकृतेऽपि यथा–

"जह ण्हाउं ओइण्णे अब्भुत्तमुल्हसिअमंसुअद्धंतं ।
जह य ण ण्हाओ सि तुमं सच्छे गोलानईतूहे ।।" [७–५] ।

अब्भुत्तं अभिषिक्तम्, तूहं तीर्थम् । तथा–

"वोव्रहव्रहंमि पडिआ०" [७–६] "कुवलयखित्तव्रहि०" [७–७] । इत्यादि ।

एषु अतीव्रप्रयत्नत्वं संयोगस्य गुरुत्वाभावे हेतुः । तीव्रप्रयत्ने तु भवत्येव गुरुः । यथा– "बर्हभारेषु केशान्०" [७–८] । केचित् तु–(क–) (-पयोरपि परत्र स्थितयोः पूर्वस्य लघोर्गुरुत्वं नेच्छन्ति । यथा–

"प्रणतसुखरधरणनृप) (परमविजितमदमदनजननमरणः ।
सकलुषजनसलिलकतक-कनकमयसुतनु जिनवर ! वृषभ ! जय ।।" [७–९] ।। सू०–७ ।।

प्रद्योतः–लघोर्गुरुत्वस्य नियमान्तरमाह–≍क–)(प–**विसर्गानुस्वार०** इति । सूत्रं विवृणोति–**जिह्वामूलीये** क-खाभ्यां प्राग् विसर्गस्थानीयो वज्राकारो जिह्वामूलीय इति कथ्यते, तस्मिन् परतः प्रयुज्यमाने, **उपध्मानीये** प-फाभ्यां प्राग् विसर्गस्थानीयो गजकुम्भाकार उपध्मानीय इति कथ्यते, तस्मिन् परतः प्रयुज्यमाने, **विसर्जनीये** विसर्गे, **अनुस्वारे** स्वरात् परतः प्रयुज्यमाने भकारादिस्थानीये बिन्दुरूपे, **व्यञ्जने** स्वरवियुक्ते व्यञ्जनमात्रे, **ह्रादिवर्जिते संयोगे च** 'ह्-र्' एतयोः प्रत्येकं मिलित्वा वा संयोगं वर्जयित्वाऽन्यस्मिन् संयोगे च, **परे** परतः प्रयुज्यमाने सति, **ह्रस्वोऽपि गो भवति वक्रश्च** एतच्च पूर्वानुसृतार्थवर्णनम् । एतास्ववस्थासु ह्रस्वस्यापि गुरुत्वं भवति स च **वक्रः** वक्ररेखारूपेण प्रस्तार्य इत्यर्थः । **'अह्रादि'** इति संयोगपर्युदासो न केवलं हकारोत्तररेफरूपसंयोगपरोऽपि तु यथाकथंचित् एतद्वर्णद्वयसंयोगपर इत्याह–**'अह्रादि' इति समस्तव्यस्तसंग्रहात्–ह्रसंयोगे हसंयोगे रसंयोगे चे**ति । अयमाशयः–'ह्र' इति हकारोत्तररेफरूपः संयोगः समस्तः, वर्णान्तरैरपि हकार-रेफयोः प्रातिस्विकसंयोगो व्यस्तः, संयोग इत्युभयोरेवात्र ग्रहणं विनिगमकाभावात् लक्ष्यानुरोधाच्च । 'अह्रसंयोगे' इत्येव वक्तव्ये आदिपदोपादानं किमर्थमित्याशङ्क्यायामाह–**आदिशब्दाद् यथादर्शनम्** इति–आदिशब्दोपादानेन यथालक्ष्यमन्यसंयोगेऽपि लघोर्गुरुत्वं न भवतीत्यर्थः ।

उदाहरति–**ह्रादिसंयोगे यथे**ति–ह्रादिसंयोगे लघोर्गुरुत्वं यत्र न भवति तदुदाह्रियत इत्यर्थः । **स्पृष्टं त्वये**ति । त्वया मम किञ्चिदङ्गं यन्न स्पर्शनीयं तत् **स्पृष्टम्**–आमृष्टमिति, **अपह्रियः** अपगतलज्जाः [ललनाः] **कीर्तयन्ति** उद्घोषयन्तीत्यर्थः । अत्र वसन्ततिलकायां छन्दसि द्वितीयस्य भगणस्य लघ्वन्तत्वेन पकारस्य लघुत्वं युक्तं तद्धि यदि ह्रे परे गुरुत्वं भजेत तर्हि छन्दोभङ्गः स्यादिति गुरुत्वं न भवति [७–१] ॥

ह्रे संयोगान्तरे च परतो गुरुत्वाभावमुदाहरति–**तथा–तव ह्रियेति**–हे प्रिये ! **तव** भवत्याः, **ह्रिया**–लज्जया कारणेन, **अपह्रियो** निर्लज्जस्यापि **मे, ह्रीः**–लज्जा, अभूत्, अतः **शशिग्रहेऽपि** चन्द्रग्रहणसमयेऽन्धकारप्रादुर्भावेऽपि न **धृता** हस्ते गृहीता । **तत्** तादृशं, बहलं–घनीभूतं, भ्रामरमेचकं–भ्रमरसम्बन्धिरूपवत् श्यावर्णं, तामसं–तमः पुनः, **क्व समेष्यति** कस्मिन् समये सङ्गतं

भविष्यतीत्यर्थः। अर्थे रामणीयकामावेऽपि उदाहरणमात्रसम्पतये कल्पितमिदं पद्यम्। अत्र द्रुतविलम्बितच्छन्दसि प्रथमो नगणो द्वितीय-तृतीयौ भगणाविति व-प-मानां प्रथमपादे, 'शि-पि' इत्येतयोर्द्वितीयपादे, लस्य तृतीयपादे, मस्य चतुर्थपादे, लघुत्वमेव युक्तं, किन्तु प्रथमपादे 'ह्र-ह्रि-ह्री' इत्येतेषु, द्वितीयपादे 'ग्र-ग्रु' इत्येतयोः, तृतीये 'भ्रा' इत्येतस्मिन्, चतुर्थे 'प्रि' इत्येतस्मिन् परतो गुरुत्वं प्राप्तम्, तत् अह्रादिपर्युदासान्न भवतीति न च्छन्दोभङ्गः [७-२]॥

उदाहरणान्तरमाह-**धनं प्रदानेने**त्यादि, प्रदानेन-सत्पात्रसमर्पणेन धनं [शोभते] श्रुतेन-सच्छास्त्रश्रवणेन कर्णौ [शोभेते] इत्यादिरूपेणान्वयः। अत्रोपेन्द्रवज्राच्छन्दसि द्वितीयस्य तगणत्वेन 'प्रदानेन' इत्यत्र नकारस्य लघुत्वं युक्तं, तस्य श्रुशब्दे परे गुरुत्वं प्राप्तं न भवति [७-३]॥

पुनरप्युदाहरति- **लीलासिताब्जमिति**, एतत्-परिदृश्यमानं, दिवः-आकाशस्य, निह्नुतदीप्ति-आच्छादितकान्ति वस्तुविशेषः, [दिवः स्त्रीत्वेनाध्यवसितायाः] लीलासिताब्जं-क्रीडार्थं श्वेतकमलं किम्?, उत दर्पणं किम्? उत आतपत्रं-श्वेतच्छत्रं किम्? अथ दन्तपत्रं-ताटङ्कं किम्?, अथवा किंशुकवत्-पलाशपुष्पवत्, प्रकाशमानं मौलिरत्नं किरीटस्थं रत्नं किम्? अथवा चामरं किम्?, तिलकबिन्दुः-तिलकीकृतश्वेतचन्दनबिन्दुः किम्? अथ-अथवा इन्दुबिम्बं-चन्द्रमण्डलं किम्?, यदस्तु तदस्तु, किन्तु तत् कस्य मुदे नेत्यन्वयः। अत्र वसन्ततिलकाच्छन्दसि प्रतिपादं द्वितीययस्य भगणत्वेन पञ्चमस्य 'नि' इत्यस्य लघुत्वमपेक्षितं तत् 'ह्नु'रूपे संयोगे न प्राप्तमिति प्रकृतनियमाल्लघुत्वं तिष्ठत्येव [७-४]॥

इत्थं संस्कृते समुदाहृत्यान्यत्राऽप्युदाहर्तुमाह-**प्राकृतेऽपि यथेति**-प्राकृतेऽपि प्रकृतसूत्रानुसारं हसम्बन्धिसंयोगे गुरुत्वं यथा न भवति तथोदाह्रियत इत्यर्थः। **जह ण्हाउ०** इति-यथा-"स्नातुभवतीर्णे अभिषिक्तयुत्स्नस्तमंशुककपर्यन्तम्। यथा च न स्नातोऽसि त्वं स्वच्छे गोदानदीतीर्थे॥" इति संस्कृतम्। अत्र च्छन्दोऽनुशासनपर्याय इत्थम्-**"जह ण्हाउं** ति-स्नातुमवतीर्णे सात्त्विकभाववशात् आर्द्रं सत् उत्स्नस्तम्, अंशुकपर्यन्तम् "अद्धंतो पेरन्ते" इति वचनात्, उद्धृतशफरीं दृष्ट्वा चकितो न स्नात इति संटङ्कः" इति। अत्र केचिदेवमाहुः-त्वयि

स्नातुमवतीर्णे जलेन आर्द्रं कस्याश्चित् अंशुकान्तम्–अञ्चलम्, सात्त्विकभावातिरेकात् उत्स्रस्तम्–शरीरादपगतम्। यथा च–येन हेतुना च "न नग्नां स्त्रियं पश्येत्" इति निषेधात् तद्दर्शनं परिहरन् त्वम्, स्वच्छे–निर्मले, गोदानद्याः, तीर्थे–जलावतारे, न स्नातोऽसि इत्यर्थ इति। अत्रार्याच्छन्दसि ह्रे संयोगे परतो गुरुत्वाभावान् मात्राधिक्यम् [७–५]॥

तथा–वोद्रहद्रहंमि पडिआ इति–

"ते च्चिअ सुहया" ते च्चेअ पंडिआ ते जयंति जिअलोए।
वोद्रद्रहम्मि पडिआ तरंति जे चेव लीलाए॥" इति पूर्णा आर्या।

"त एव सुभगाः त एव पण्डिताः ते जयन्ति जीवलोके। ग्रामीणतरुणह्रदे पतिताः तरन्ति ये चैव लीलया॥" इति संस्कृतम्। ग्रामीणाशिक्षितयुवकानां मध्ये निमग्ना अपि ये लीलया ततः पृथग् भवन्ति त एव सुभगाः, त एव पण्डिता, त एव जीवलोके विजयिन इति भावः। अत्र द्रहेति द्ररुपे संयोगेऽपि परतः पूर्वस्य गुरुत्वं न भवतीति न मात्रावृद्धिः। अत्र "द्रे रो नवा" [सि० ८. २. ८०.] इति सूत्रेण द्रशब्दरेफस्य विकल्पेन लोपेनात्र रेफस्य लोपाभावो विज्ञेयः [७–६]॥

एवं-"कुवलयखित्तद्रहि" इत्यादि, "पंकयपंकि वहोडि कुवलयखित्तद्रहि" इत्यादि रूपेण क्वापि समायाता मात्राजातिरियमपूर्णाऽस्पष्टा चेति नानूद्यते। अत्रापि 'द्रहि' इति द्रशब्दे परे पूर्वस्य लघोर्न गुरुत्वमित्येतावन्मात्रेण प्रकृतोपयोगः। पर्यायेऽत्रेत्थम्–"**कुवलयखितद्रहि** त्ति-पंकयपंकि वहोडि, कुवलयखित्तद्रहि। बिवति वाडिहि घल्लि, ससहरु·····गहि। निम्मवि करवयणा-हर पुह लीलावईहि। उग्घीट्टी निअसिट्टी निवाइ पयाइहि।" इति। अत्र कथञ्चिदियं संस्कृतच्छाया–पङ्कजानि पङ्के क्षिप्त्वा, कुवलयानि क्षिप्त्वा ह्रदे; विम्बानि वाटिकायां क्षिप्त्वा, शशधरं [गगनात्] गृहीत्वा। निर्माय कर-नयना-ऽधरमुखानि लीलावत्याः। उद्धृष्टा [उत्कृष्टा] इव सृष्टिः, निष्पादिता प्रजापतेः॥ [७–७]॥

प्रकृतसूत्रवर्णितह्रादिवर्जनं न केवलं वाचनिकमपि तु सहेतुकमपीत्याह–**एषु अतीव्रप्रयत्नत्वं संयोगस्य गुरुत्वाभावे हेतुरिति**। **एषु** प्रदर्शितेषु उदाहरणेषु, **अतीव्रप्रयत्नत्वं** तीव्रप्रयत्नोच्चार्यत्वाभावः, **संयोगस्य** संयुक्तवर्णस्य, **गुरुत्वा-**

भावे पूर्वलघोर्गुरुतासम्पादकत्वाभावे, **हेतुः** कारणमित्यर्थः । अयमाशयः–संयोगस्योच्चारणे तत्पूर्वं स्थितः स्वरस्तीव्रप्रयत्नेनोच्चार्यत इति तत्र मात्राधिक्यं भवतीति गुरुत्वं जायते, यत्र तीव्रप्रयत्नं विनैव संयोगपूर्वस्थितस्य स्वरस्योच्चारणं क्रियते तत्र गुरुत्वं न जायत इति स्वाभाविकमिति । यत्र तीव्रप्रयत्न आवश्यक एव तत्र गुरुत्वं जायत एवेत्याह–**तीव्रप्रयत्ने तु भवत्येव गुरुः** इति । उदाहरति–**बर्हभारेषु केशान्** इति–मेघदूते यक्षेण विरहिणा कामिनोक्तस्य पद्यस्यांशोऽयम् । स हि प्रियां प्रति संदेशं मेघद्वारा प्रेषयन् प्रियां सम्बोध्याह–

"श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं,
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां, **बर्हभारेषु केशान्** ।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीविचिषु भ्रूविलासान्,
हन्तैकस्मिन् क्वचिदपि न ते चण्डि ! सादृश्यमस्ति ।।" [उ० मे० ४६] ।।

ते अङ्गं श्यामासु– प्रियङ्गुलतासु, दृष्टिपातं-नेत्रव्यापारं, चकितहरिणीप्रेक्षणे– चकितायाः–शङ्कितायाः हरिण्याः, प्रेक्षणे–नेत्रव्यापारे, वक्त्रच्छायां–मुखकान्तिं, शशिनि–चन्द्रमसि, केशान् शिखिनां–मयूराणां बर्हमारेषु, भ्रूविलासान्–कटाक्षक्रीडाः, प्रतनुषु–क्षुद्रासु, नदीविचिषु-सरित्तरङ्गेषु,उत्पश्यामि–उत्प्रेक्षया साक्षात्करोमि, हे चण्डि ! कोपने !, क्वचिदपि–एकस्मिन् वस्तुनि, ते सादृश्यं न अस्ति, येनैकत्रीभूतं तद् दृष्टा विनोदमुपलभे, इति हन्त दुःखमित्यर्थः । अत्र बर्हेति पदे रेफयुक्तस्य हकारस्योच्चारणं तीव्रप्रयत्नसापेक्षमिति तस्मिन् परतो विद्यमाने पूर्वस्य गुरुत्वं जायत एवेति भावः [७–८]।।

अत्र मतान्तरमाह–**केचित् त्वि**ति, केचित्–अनिर्दिष्टनामान आचार्याः, **क–)(पयोरपि परत्र** जिह्वासूलीयोपध्मानीययोरपि परतः सतोः, **पूर्वस्य लघोः** तदव्यवहिनपूर्वस्थितस्यापि मात्रिकस्य स्वरस्य **गुरुत्वं** प्रकृतसूत्रोक्तनियमप्राप्तं गुरुभावं **नेच्छन्ति** न स्वीकुर्वन्ति । उदाहरति–**यथा–प्रणतसुरवरे**ति, **कनकमयसुतनु** ! कनकमयी– सुवर्णवर्णा सुतनुर्यस्य तत्सम्बोधनं– हे कनकमयसुतनु ! हे जिनवर ! वृषभ ! **परमविजितमदमदनजननमरणः** परममत्यन्तं विजितानि, मदः–अहङ्कारः, मदनः–कामः, जननम्–उत्पत्तिः, मरणं-प्राणवियोगश्चेति मदमदनजननमरणानि येन सः,**प्रणतसुरवरधरणनृपः** प्रणताः सुरवरा धरणा नृपाश्च यस्मै सः, **सकलुषजनसलिल-**

कतकः सकलुषाः–सकल्मषपङ्का जना एव सलिलं तस्य [नैर्मल्याय] कतकः–पङ्कापनोदकः फलविशेष इव, त्वं **जय** सर्वोत्कर्षेण वर्तस्वेत्यर्थः। अत्र पथ्यायां जातौ चतुष्कलत्रये विराम इति जिह्वामूलीयोपध्मानीयाभ्यां पूर्वस्य गुरुत्वे त्रयोदशकला भवन्तीति मात्रावृद्धिः स्यादिति गुरुत्वं नाश्रीयते इत्युदाहरणतात्पर्यम् [७-८] ॥ सू० ७ ॥

दीर्घ-प्लुतौ ॥८॥

द्विमात्र-त्रिमात्रौ वर्णौ 'ग्'संज्ञौ भवतः, वक्रौ च ॥ सू० ८ ॥

प्रद्योतः–लघोर्गुरुत्वप्राप्तिं विचार्य वस्तुतो गुरुत्वस्य विधायकं सूत्रमाह–**दीर्घप्लुतावि**ति। व्याख्याति–**द्विमात्र-त्रिमात्रौ वर्णावि**ति–द्वे मात्रे–उच्चारणकालकले यस्य स द्विमात्रः, तिस्रो मात्राः– **उच्चारणकालकला** यस्य स त्रिमात्रः, तौ च वर्णौ, अर्थात् स्वरौ तयोरेव तादृशत्वसम्भवात्; ग्संज्ञौ भवतः। वक्र इत्यप्यनुवृत्तमुद्देश्यपारवश्याद् द्विवचनान्ततया विपरिणते, तदाह–**वक्रौ चे**ति– प्रस्तारे वक्ररेखया संकेतनीयाविति भावः ॥सू०–८॥

स द्विमात्रः ॥ ९ ॥

स 'ग्'संज्ञो द्विमात्रो भवति। एकमात्रे असती मात्रा आरोप्यते, त्रिमात्रे सती निराक्रियते ॥ सू०–९ ॥

प्रद्योतः–द्वि-त्रिमात्रयोर्वर्णयोः साधारण्येन ग्संज्ञाविधानात् ग्संज्ञा किं द्वयोर्मात्रयोर्बोधिका तिसृणां मात्राणामुभयोर्वेति संशये प्राप्ते इदमुच्यते–**स द्विमात्रः** इति। विवृणोति– **स ग्संज्ञो द्विमात्रो भवती**ति– वस्तुत एकमात्रो द्विमात्रस्त्रिमात्रो वा भवतु, ग्प्रज्ञायां सत्यां स साधारण्येन द्विमात्र एव गण्यत इत्यर्थः। फलितमाह– **एकमात्रे असती मात्रा आरोप्यते, त्रिमात्रे सती मात्रा निराक्रियत** इति। अयमाशयः–यत्र पादान्ते लघोरपि ग्संज्ञा भवति, तत्र अविद्यमानैव द्वितीया मात्रा आरोप्यते, आरोपश्च बाधसमानकालीनमाहार्यज्ञानम्, वस्तुगत्या एकस्या मात्रायाः श्रुतत्वेन द्विमात्रत्वज्ञानं बाधितमपि तत्समानकालीनमाहार्यं द्विमात्रत्वज्ञानं गृहीतं भवति। यत्र च वस्तुतः प्लुतत्वादिना त्रिमात्रत्वं श्रूयते तत्रापि ग्संज्ञया द्विमात्रत्वमारोप्यत इति **विद्यमानापि तृतीयामात्रा** निराक्रियते–अपह्नूयत इति ॥सू०–९॥

एदोतौ पदान्ते प्राकृते ह्रस्वौ वा ।। १० ।।

पदान्ते वर्तमानौ एकार-ओकारौ प्राकृतभाषायां वा ह्रस्वौ भवतः । यथा–

"पच्चूसगयवरुम्मूलिआएं उड्डीणससिविहंगाएं ।
धवलाइं गलंति निसालयाएं नक्खत्तकुसुमाइं ।।" [१०–१]
"उअ पोमरायमरगयसंवलिआ णहयलाओं ओअरइ ।
णहसिरिकंठब्भट्ठ व्व कंठिआ कीरंरिछोली ।।" [१०–२]

'इं हिं' इत्येतयोर्ह्रस्वत्वं शब्दानुशासने सानुनासिकत्वविधानात् सिद्धमिति नेहोच्यते । अपभ्रंशे तु–अपदान्तयोरपि "कादिस्थेदोतोरुच्चारलाघवम्" [सिद्ध-हे० ८. ४. ४१०.] इति "पदान्ते उँ हुँ हिँ हँ काराणाम्" [सिद्धहे० ८. ४. १११.] इति च ह्रस्वत्वं शब्दानुशासने निर्णीतमिति नेहोच्यते ।।सू०–१०।।

प्रद्योतः–इत्थमेकमात्र-त्रिमात्रयोर्विषये ग्संज्ञा द्विमात्रत्वप्रतिज्ञामुक्त्वा क-चिद् द्विमात्रस्यापि एकमात्रत्वं भवतीति वस्तुतो गुरोरपि तस्य लघुत्वं भव-तीति विशेषमाह–**एदोतौ पदान्ते प्राकृते ह्रस्वौ वेति** । विवृणोति–**पदान्ते वर्तमानौ एकार-ओकारौ प्राकृतभाषायां वा ह्रस्वौ भवतः** इति–पदान्ते पादान्ते वर्तमानयोरेकार-ओकारयोः प्राकृते यथालक्ष्यं ह्रस्वत्वं भवतीति वस्तुतो द्विमात्रयोरपि तयोरेकमात्रित्वं भवतीत्यर्थः । एकार-ओकारयोरिति असंदेहाय सन्ध्यभावः ।।

क्रमश उदाहरति–**यथा** एकारस्यैकमात्रत्वमुदाह्रियत इत्यर्थः । **पच्चूस०** इति– "प्रत्यूषगजवरोन्मूलिताया उड्डीनशशिविहंगायाः ।
धवलानि गलन्ति निशालताया नक्षत्रकुसुमानि ।।" इति संस्कृतम् ।

आर्याप्रमेदेऽस्मिन् ऊनत्रिंशन्मात्रामितपूर्वार्धपूर्तये प्रथम-द्वितीय-तृतीयपादा-नामन्ते समागतस्यैकारस्य ह्रस्वत्वं भवति । मुद्रिते पुस्तके द्वितीयपादान्तस्थ-स्य एकारस्य ह्रस्वत्वं न प्रदर्शितं, तस्यापि वस्तुतो द्विमात्रत्वस्यैव ह्रस्वत्व-सूचकचिह्नेन निर्देशनं न कृतमिति नोचितं प्रतिमाति, तथा सति मात्राधिक्यं स्यात् ।

अर्थश्च–प्रत्यूषः–प्रभातमेव गजवरः, तेन उन्मूलितायाः–विच्छेदं नीतायाः, उड्डीनः शशी चन्द्र एव विहंगः:–पक्षी यस्यास्तस्याः, निशालतायाः–लतात्वेना-

ध्यवसिताया निशायाः, धवलानि नक्षत्राण्येव कुसुमानि गलन्ति–पतन्तीति। प्रातःकाले चन्द्रोऽस्तं याति, नक्षत्राणि च दृष्टिपथाद् विलीयन्ते इति वस्तुस्थितिः, तत्र निशां–रात्रिं लतात्वेन रूपयित्वा तस्यां स्थितस्य चन्दस्य विहंगमत्वं, नक्षत्राणां च कुसुमत्वं रूपितम्, निशाया उच्छेदकरः प्रातः कालो गजत्वेन निरूपितः, गजोन्मूलितलतायाः पक्षिण उड्डयनं पुष्पाणां पतनं च स्वाभाविकमिति रूपकोपस्थापितः स्वभावोक्तिरलङ्कारः [१०–१] ॥

ओकारस्यैकमात्रत्वं यथा–**उअ पोमरायेति**। "पश्य पद्मरागमरकतसंवलिता नभस्तलात् अवतरति। नभःश्रीकण्ठभ्रष्टा इव कण्ठिका कीरश्रेणिः ॥" इति संस्कृतम्। आकाशात् पतन्ती शुकश्रेणिमवलोक्य कश्चित् कञ्चित् प्रत्याह–पद्मरागैर्मरकतमणिभिश्च संवलिता–मिश्रिता, नभःश्रीकण्ठभ्रष्टा नभःश्रियः–आकाशलक्ष्म्याः, कण्ठात् भ्रष्टा–पतिता, कण्ठिका–कण्ठाभरणमिव, कीरश्रेणिः–शुकपङ्क्तिः, नभस्तलात्– आकाशात्, अवतरति–नीचैरायाति। अत्र नभःश्रीः स्त्रीत्वेनाध्यवसिता, शुकपङ्क्तिश्च रक्त-हरितवर्णमणिविशेषैर्निर्मितया मालयोपमिता, शुकानां चञ्चवो रक्तवर्णा इति पद्मरागमणिस्थानीयाः, शरीरं च हरितमिति मरकतमणिस्थानीयम्, मालारूपेण मण्डलीभूय पतनाच्च मालासाम्यम्। अत्र 'णहयलाओ' इत्योकारस्य ह्रस्वत्वं भवतीति ऊनत्रिंशन्मात्रा जायन्ते, अन्यथा त्रिंशन्मात्राः स्युः [१०–२] ॥

प्राकृताऽपभ्रंशादिषु कानिचिच्छन्दानुशासनसिद्धान्येव लघुत्वानि प्रकृतोपयोगित्वाद् विवृणोति–**'हँ हिँ'** इत्यादिना, एतयोः सानुनासिकत्वं प्राकृतशब्दानुसासने विहितम्, सानुनासिकत्वं हि न काञ्चिन्मात्रामाधत्तेऽपि तु तस्य नासिकयोच्चार्यत्वमात्रं विधत्ते इति न तेन मात्रावृद्धिरिति ह्रस्वत्वं तिष्ठत्येव। अपभ्रंशे तु उच्चारणलाघवार्थं सूत्रस्य मुक्तमेवेत्याह– **अपभ्रंशे तु कादिस्थैदोतोरिति, पदान्ते० इति च** आभ्यां सूत्राभ्यामेकारौकारयोः सानुस्वाराणाम् 'उँ' इत्यादीनामुच्चारणे लाघवं विधीयते, ततश्चेह पुनस्तस्य विधानमानवश्यकमिति न कथ्यते इत्याह– **ह्रस्वत्वं शब्दानुशासने निर्णीतमिति नेहोच्यत** इति ॥ सू०–१० ॥

तुर्योंऽशः पादोऽविशेषे ॥ ११ ॥

छन्दसश्चतुर्थो भागः पादसंज्ञः, अविशेषे–सामान्याभिधाने। यत्र तु 'द्विपदी

पञ्चपदी षट्पदी अष्टपदी च' इति विशेषाभिधानं तत्र द्वितीयाद्यंशोऽपि पादः ॥सू०-११॥

प्रद्योतः-अथ पादसंज्ञामाह-**तुर्योंऽशः पादोऽविशेषे** इति । विवृणोति-**छन्दसश्चतुर्थो भाग** इत्यादिना, छन्दस इति प्रकरणबलादायातम्, तस्य चत्वारो भागा भवन्ति, तेष्वेको भागः पाद इत्याख्यायत इत्यर्थः । द्वितीयाध्याये "पादः" [२-२] इत्यधिकृत्य एकाक्षरपादादीनां छन्दसां कथनं प्रस्तोष्यमाणमिति तदेव पादसंज्ञाप्रयोजनस्थलम् । 'अविशेषे' इत्युक्तम्, तस्याशयमाह- **यत्र तु द्विपदी**त्यादि । अयमाशयः-वृत्तं जातिश्चेति द्विधा विभक्तानि छन्दांसि, तत्र वृत्तानि चतुष्पदान्येव भवन्ति, जातयस्तु द्विपदी [चतुष्पदी] पञ्चपदी षट्पदी अष्टपदीत्येवं विशिष्योक्ताः, तत्र चतुष्पद्यास्तुरीयोंऽशः पादश्चेदविशेष एव वृत्तेभ्यः, द्विपदीपञ्चपद्यादिषु व्यभिचार इति तद्वारणाय 'अविशेषे' इत्युक्तम्, तेषु विशेषस्य विधानान्नायं नियमो यत् तुरीयोंऽश एव पादः स्यादिति, तत्र द्वितीय-पञ्चमाद्यंशानामपि पादत्वात्, तुर्यत्वादि च विपरीतगणनायां प्रथमादावप्यस्त्येवेति सर्वेषां भागानां पादत्वम् । तथा च सापेक्षं तुर्यत्वादि, एवं-द्वितीयाद्यंशोऽपीत्यत्रापि विज्ञेयम् । चतुर्धा परिकल्पितस्यैकस्य छन्दस एको भागः पादः, द्विधा परिकल्पिताया द्विपद्यादेरेकोंऽश इत्यादिरूपेण बोध्यम्, यस्य च्छन्दसो यावन्तो भागाः परिकल्पितास्तेषां प्रत्येकं पादसंज्ञेति यावत् ॥ सू०-११ ॥

वृत्तम् ॥१२॥

प्राङ् मात्राछन्देभ्यो यदभिधास्यते तद् वृत्तसंज्ञं ज्ञेयम् । तच्च स्थिरगुरुलघ्वक्षरविन्यासमिष्यते पाटन-संयोगयोरभावात् । मात्राछन्दांसि तु जातिरिति प्रसिद्धानि । यदाहुः-

"पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा ।" [१२-१] ॥

प्रद्योतः-पादस्य तुर्यांशस्य कथनात् सम्पूर्णस्य का संज्ञेत्याकाङ्क्षायामाह-**वृत्तमिति** । विवृणोति-**प्राक् मात्राछन्दोभ्य** इति-आर्यादयो मात्रानियमितानि च्छन्दांसि मात्राच्छन्दांस्युच्यन्ते, तेभ्यः पूर्वं यानि च्छन्दांस्युच्यन्ते तेषां वृत्तसंज्ञाऽधिक्रियते । तत्र यो विशेषस्तमाह-**तच्च स्थिरगुरु-लघ्वक्षरविन्यासमिष्यते**

इति–स्थिरैः–नियतरूपैः, गुरुभिर्लघुभिश्चाक्षरैर्विन्यासः–संनिवेशो यस्य तथाभूतमित्यर्थः । अयमाशयः– वृत्ते यत्र यो गणो यावद्भिर्यथोक्तलघुगुरुप्रस्तारक्रमवद्भिर्निरूपितः स तथैव न्यसनीयः, न तु तस्य यथेच्छं विन्यासः, एतदेव स्पष्टयति– **पाटन-संयोगयोरभावात्** इति– गुरोर्लघुद्वयकल्पना पाटनं, लघुद्वयस्य एकगुरुत्वकल्पना संयोगः, तयोरभावात्– वृत्तच्छन्दसि तथा विधानस्यासंमतत्वात् । अयमर्थः– मात्राच्छन्दसि यावत्यो मात्रा यत्र पादेऽर्धे वा नियतास्ताः स्वेच्छानुसारं लघुभिर्गुरुभिर्वा पूर्यन्ते, यत्र गुरोर्विन्यास आवश्यकस्तत्र लघुद्वयमपि विन्यस्यते, यत्र च लघुद्वयस्य विन्यास उक्तस्तत्र गुरोरेकस्य विन्यासेनापि छन्दः पूर्यते, न त्वेवं वर्णवृत्ते, तत्र यत्र स्थाने यो गुरुर्लघुर्वा विन्यसनीयत्वेनोक्तः स तथैव विन्यस्यते, न तु तत्र लघुद्वयेन सह गुरोः परस्परविनिमयः शक्यः कर्तुमिति ।

एवमक्षरच्छन्दसां वृत्तसंज्ञामुक्त्वा पारिशेष्यसिद्धमर्थमाह– **मात्राच्छन्दांसि तु जातिरिति प्रसिद्धानि** इति– मात्राभिर्नियमितानि मात्राच्छन्दांसि, तानि जातिरिति संज्ञया व्यवह्रियन्ते इति भावः । यद्यप्यक्षरच्छन्दःस्वपि एकाक्षरजातिरिति द्व्यक्षरजातिरित्येवं प्रकृत्य उक्तादिजातयोऽभिधास्यन्ते तथापि तत्र जातिशब्दः सामान्यपरो न तु छन्दोभेदपर इत्यवगन्तव्यम् । एवं छन्दसां द्वेधा विभागो न केवलं मयैव परिकल्पितोऽपि तु पूर्वाचार्यव्यवहारोऽपीदृश एवेत्याह– **यदाहुः– "पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा"** इति– [का० द० १–११] अत्र चतुष्पदीति कथनं बाहुल्याभिप्रायकं द्विपदी-पञ्चपद्यादीनामपि वक्ष्यमाणत्वात् पूर्वसूत्रे चर्चितत्वाच्च [१२–१] ॥१२॥

वृत्तं च समा-ऽर्धसम-विषमभेदात् त्रेधा । तत् क्रमेण लक्षयति–

समैः पादैः समम् ॥ १३ ॥

पादैश्चतुर्भिस्तुल्यलक्षणैः समं वृत्तम् ॥ सू–१३ ॥

प्रद्योतः– इत्थं वृत्तपरिचयानन्तरं तद्भेदनिरूपणं प्राप्तावसरमिति तदर्थं सूत्रेऽवसरसङ्गतिमाह– **वृत्तं समा-ऽर्धसम-विषमभेदात् त्रेधेति**, अयमभिप्रायः– अग्रे त्रिधा वृत्तानि निरूपितानि, तत्र कानिचित् समवृत्तानि कानिचिदर्धसमवृत्तानि कानिचिद् विषमवृत्तानि । अयं च भेदः प्रतीत एवेति न

सूत्रेण तद्वर्णनम्, किन्तु विशिष्यैव समादिवृत्तानां लक्षणान्याख्यायन्ते, तदाह– **तत् क्रमेण लक्षयती**ति– उक्तविभागसिद्धमेव समादिवृत्तं प्रातिस्विकरूपेण वर्णयतीत्यर्थः । तथा च सूत्रम्– **समैः पादैः समम्** इति । व्याख्याति– **पादैश्चतुर्भिस्तुल्यलक्षणैः समवृत्तमि**ति– यत्र वृत्ते चत्वारोऽपि पादाः समानेन लक्षणेन युक्तास्तद् वृत्तं सममित्याख्यायत इत्यर्थः । अयमर्थः– सममिति न वृत्तान्तरेण साम्यमादायोच्यतेऽपि तु स्वावयवानां चतुर्णामपि पादानां साम्यमादायैवेति ॥१३॥

समार्धमर्धसमम् ॥ १४ ॥

यस्य तुल्ये अर्धे तदर्धसमं वृत्तम् ॥ सू–१४ ॥

प्रद्योतः–क्रमप्राप्तमर्धसमं लक्षयति–**समार्धमर्धसमम**िति । व्याख्याति– **यस्य तुल्ये अर्धे,** यस्य– वृत्तस्य, अर्धे– समांशद्वयं द्वि-द्विपादात्मकम्, तुल्ये– समानलक्षणलक्षिते, **तदर्धसमम**िति– विज्ञेयमित्यर्थः, अयमाशयः– सर्वेषां पादानां साम्याभावश्चेत् तथापि द्वाभ्यां पादाभ्यां निर्मितयोरर्धयोः साम्येऽर्धसममिति । यद्यपि समवृत्तेऽपि अर्धयोः साम्यमस्त्येव तथापि समवृत्तभिन्नत्वे सतीत्यपि विशेषणं देयमित्यत्र तात्पर्यम्, अर्धयोरेव साम्यं न तु पादानामित्येवं परत्वात् सूत्रस्य । अर्धसमवृत्तानि हरिणप्लुतादीनि तृतीयाध्याये निरूपयिष्यन्ते ॥१४॥

अन्यद्वृ विषमम् ॥ १५ ॥

आभ्यामन्यद् विषमं वृत्तम् ॥ सू–१५ ॥

प्रद्योतः–पारिशेष्याद् विषमवृत्तस्य वर्णनमवसरप्राप्तं, तदाह–**अन्यद् विषममि**ति । विवृणोति– **आभ्यामन्यद् विषमं ज्ञेयमि**ति– आभ्यां पूर्वसूत्रद्वयलक्षिताभ्यां समाऽर्धसमवृत्ताभ्याम्, अन्यद्– विपरीतं विषमं वृत्तं ज्ञेयमित्यर्थः, समैः पादैः, अर्धाभ्यां च विगतं समं– साम्ययुक्तं स्वरूपं यस्य तद् विषममित्यर्थः । अर्धसमवृत्तानि अर्धे साम्यं बिभ्रति, विषमं तु क्वापि साम्यं न दधातीत्यर्थः । विषमवृत्तानि वक्त्रादीनि तृतीयाध्याय एव वर्णयिष्यन्ते ॥१५॥

श्रव्यो विरामो यतिः ॥ १६ ॥

विरमणं विरामो विश्रामः, स श्रुतिसुखो यतिसंज्ञः । सा च तृतीयान्तेषु गद्यादिनिर्देशेषूपतिष्ठते । गादयश्च साकाङ्क्षत्वात् यतिरित्यनेन सम्बध्यन्ते । तेन गद्यवच्छिन्नैरक्षरैर्यतिः क्रियत इत्ययमर्थः सिध्यति । तत्रैषा यत्युपदेशोपनिषत् पठ्यते–

"यतिः सर्वत्र पादान्ते श्लोकार्धे तु विशेषतः ।
गादिच्छिन्नपदान्ते च लुप्तालुप्तविभक्तिके ॥" [१६–१] ।

तत्र 'यतिः सर्वत्र पादान्ते' यथा–

"नमोऽस्तु वर्धमानाय स्पर्धमानाय कर्मणा ।
तज्जयावाप्तमोक्षाय परोक्षाय कुतीर्थिनाम् ॥" [१६–२] ।

न पुनरेवं यथा–

"नमस्तस्मै महादेवाय शशाङ्कार्धधारिणे ॥" [१६–३] ।

'श्लोकार्धे तु विशेषतः' इत्यत्र सन्धिकार्याभावः स्पष्टविभक्तिकत्वं च विशेषः । यथा–

"नमस्यामि सदोद्भूतमिन्धनीकृतमन्मथम् ।
ईश्वराख्यं परं ज्योतिरज्ञानतिमिरापहम् ॥" [१६–४] ।

अत्र 'ईश्वरम्' [ईश्वराख्यम्] इत्यस्य पूर्वमकारेण सन्धिर्न कर्तव्यः । स्पष्टविभक्तिकत्वं चात्रैव । न त्वेवं यथा–

"सुरासुरशिरोरत्नस्फुरत्किरणमञ्जरी–
पिञ्जरीकृतपादाब्जद्वन्द्वं वन्दामहे शिवम् ॥" [१६–५] ।

'गादिच्छिन्नपदान्ते च लुप्तालुप्तविभक्तिके' यथा–

"उत्तुङ्गस्तनकलशद्वया लोलाक्षी विपुलनितम्बशालिनी च ॥" [१६–६] ।
"यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु ॥" [१६–७] इति ।

"लुप्तालुप्तविभक्तिके" इति 'यतिः सर्वत्र पादान्ते' इत्यनेनापि सम्बध्यते । यथा–

"नमस्तुङ्गशिरश्चुम्बिचन्द्रचामरचारवे ।
त्रैलोक्यनगरारम्भमूलस्तम्भाय शम्भवे ॥" [१६–८] । तथा–
"वशीकृतजगत्कालं कण्ठेकालं नमाम्यहम् ॥" [१६–९] इति । तथा–

"क्वचित् तु पदमध्येऽपि गकारादौ यतिर्भवेत् ।
यदि पूर्वापरौ भागौ न स्यातामेकवर्णकौ ॥" [१६–१०] । यथा–
"पर्याप्तं तप्तचामीकरकटकतटे श्लिष्टशीतेतरांशौ ॥" [१६–११] इति ।

तथा–
"कूजत्कोयष्टिकोलाहलमुखरभुवः प्रान्तकान्तारदेशाः ॥" [१६–१२] इति ।

तथा–
"हासो हस्ताग्रसंवाहनमपि तुलिताद्रीन्द्रसारद्विषोऽस्य ॥" [१६–१३] ।
"वैरिञ्चानां तथोच्चारितचतुरऋचां चाननानां चतुर्णाम् ॥" [१६–१४] इति ।
"खड्गे पानीयमाह्लादयति हि महिषं पक्षपाती पृषत्कः ॥" [१६–१५] इति ।

'गकारादौ' इति किम् ? पदमध्ययतिः पादान्ते मा भूत् । यथा–
"प्रणमत भवबन्धक्लेशनाशाय नारा–
यणचरणसरोजद्वन्द्वमानन्दहेतुम् ॥" [१६–१६] ।
पूर्वोत्तरभागयोरेकाक्षरत्वे तु पदमध्ये यतिर्दुष्यति । यथा–
"एतस्या गण्डतलममलं गाहते चन्द्रकक्षाम् ॥" [१६–१७] इति ।
"एतासां राजति सुमनसां दाम कण्ठावलम्बि ॥" [१६–१८] इति ।
"सुरासुरशिरोनिघृष्टचरणारविन्दः शिवः ॥" [१६–१९] इति ।
"पूर्वान्तवत् स्वरः सन्धौ क्वचिदेव परादिवत् ॥" [१६–२०] ।
योऽयं पूर्वापरयोरेकादेशः स्वरः सन्धौ विधीयते स क्वचित् पूर्वस्यान्तवद् भवति, क्वचित् परास्यादिवत्, उभयादेशत्वात् । यथा–
"स्यादस्थानोपगतयमुनासंगमेवाभिरामा ॥" [१६–२१] ।
"जम्भारातीभकुम्भोद्भवमिव दधतः ॥" [१६–२२] इति । तथा–
"विक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ॥" [१६–२३] इति ।
परादिवद्भावो यथा–
"स्कन्धे विन्ध्याद्रिबुद्ध्या निकषति महिषस्याहितोऽसूनहार्षीत् ॥" [१६–२४] इति ।
"शूलं तूलं तु गाढं प्रहर हर हृषीकेशकेशोऽपि वक्र–

भ्रक्रेणाकारि किं ते० ।।" [१६–२५] इति ।

अत्र हि स्वरस्य परादिवद्भावे व्यञ्जनमपि तद्भक्तत्वात् तदादिवद् भवति ।

"यदि पूर्वापरौ भागौ न स्यातामेकवर्णकौ ।।" [१६–२६] ।

इति अन्तादिवद्भावविधावपि सम्बध्यते । तेन–

"अस्या वक्त्राब्जमवजितपूर्णेन्दुशोभं विभाति ।।" [१६–२७] ।

इत्येवंविधा यतिर्न भवति ।

"द्रष्टव्यो यतिचिन्तायां याद्यादेशः परादिवत् ।।" [१६–२८] । यथा–

"अच्छिन्नप्रसराणि नाथ ! भवतः पातालकुक्षौ यशां–

स्यद्यापि क्षपयन्ति कोकिलकुलच्छायासपत्नं तमः ।।" [१६–२९] ।

"वितततघनतुषारक्षोदशुभ्रासु दूर्वा–

स्वविरलपदमालां श्यामलामुल्लिखन्तः ।।" [१६–३०] इति ।

"नित्यं प्राक्पदसम्बद्धाश्चादयः प्राक्पदान्तवत् ।।" [१६–३१] ।

चादिभ्यः पूर्वं यतिर्न कर्तव्येत्यर्थः । यथा–

"स्वादु स्वच्छं च सलिलमिदं प्रीतये कस्य न स्यात् ।।" [१६–३२] इति ।

'नित्यं प्राक्पदसम्बद्धा' इति किम् ? अन्येषां पूर्वान्तवद्भावो मा भूत् । यथा–

"मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ।।" [१६–३३] इति ।

"इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे ।।" [१६–३४] इति ।

"परेण नित्यसम्बद्धाः प्रादयश्च परादिवत् ।।" [१६–३५] ।

प्रादिभ्यः परा यतिर्न भवतीत्यर्थः ।

"दुःखं मे प्रतिक्षिपति हृदये दुःसहस्त्वद्वियोगः ।।" [१६–३६] इति ।

'परेण नित्यसम्बद्धाः' इति किम् ? अन्येभ्यः परापि यतिर्यथा स्यात् ।

"श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि ।।" [१६–३७] ।

अयं च चादीनां प्रादीनां चैकाक्षरत्वेनैकाक्षराणामेव पदान्तयतावन्तादिवद्भाव इष्यते, न त्वनेकाक्षराणां पदमध्ययतौ । तत्र हि पदमध्येऽपि चामीकरादिष्विव यतेरभ्यनुज्ञातत्वात् । तत्र चादीनां यथा–

"प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम् ।।" [१६–३८] इति ।

प्रादीनां यथा–"दूरारूढप्रमोदं हसितमिव परिस्पष्टमासां सखीभिः ।।"

[१६-३९] इति ।

तदेतत् सर्वं श्रव्यपदेनैव गतार्थमिति न सूत्रितम् । अनिर्दिष्टयतिकेऽपि च छन्दसि श्रव्यैव यतिः करणीया । न पुनरेवं यथा-

"तेन शशिमुखि! गतेन सखि! किं प्रियेण कुरु मानमपि तस्मिन् ।
स तव वरतनु! समदनः स्वयमेव समेति चरणयुगम् ॥" [१६-४०] इति ।

तथाहि-

"अबहूत्वर्थापि मधुरा मनो हरति भारती ।
तमोनिचयसंकाशा मत्तनादेव कोकिला ॥" [१६-४१] इति ॥सू-१६॥

प्रद्योतः- छन्दोविषयाः संज्ञाः कथयन्नवसरप्राप्तां यतिमाह- **श्रव्यो विरामो यतिः** इति । विवृणोति- **विरमणं विराम** इति- विपूर्वस्य रमेर्गतिविच्छेदोऽर्थः, तथा चैकधारया पठ्यमानस्य च्छन्दसो मध्ये पाठविच्छेदो विरामः, पर्यायमाह- **विश्रामः** इति- स एव विश्रामोऽत्र शास्त्रे यतिरित्याख्यायत इत्यर्थः । भावव्युत्पत्त्याऽर्थवर्णनमिदम्, आधारव्युत्पत्त्या तु विरमन्त्यत्रेति विराम इति, तथा च विश्रामस्थानं यतिरित्यायाति । यद्यपि यतिशब्देन न क्वापि व्यवहृतं तथापि अधिकारार्थमेतदुक्तमित्यनुपदं स्फुटीकरिष्यते । श्रव्यपदं व्याचष्टे-**श्रुतिसुखः** इति-श्रुतिभ्यां कर्णाभ्यां सुखः-सुखकर इत्यर्थः, यथा पठ्यमानस्य च्छन्दसः श्रवणात् सुखमनुभूयते तथा विरामे यतिरिति भावः । विरामश्चार्धमात्राकालव्यवच्छेदः पादमध्ये, पादान्ते च मात्राकालव्यवच्छेदः, द्वितीयपादान्ते च मात्राद्वयव्यवच्छेद इति केचित् । तदाह-

"श्लोकेऽर्धमात्रा तु यतौ विरतौ मात्रयाऽन्तरम् ।
विच्छेदे त्वत्र मात्रे द्वे अवसाये ततोऽधिकम् ॥" इति ।

तत्र यतिः पादमध्यविश्रामः, विरतिः पादान्तविश्रामः, विच्छेदः श्लोकार्धविश्रामः, अवसायः श्लोकसमाप्तिः, तत्र मात्राद्वयादप्यधिको विश्राम इति विज्ञेयम् । संज्ञाप्रयोजनमाह- **सा च तृतीयान्तेषु ग-घादिनिर्दशेषूपतिष्ठत** इति- अनेन सूत्रेण या यतिसंज्ञा विधीयते साऽग्रे "त्र्यादिर्गादिः" [१-१७] इति सूत्रपरिभाषणानुसारं त्र्यादिवर्णबोधकैश्छन्दोलक्षणसूत्रस्थैर्ग-घादिभिस्तृतीयानिर्दिष्टैः पदैः सह सम्बध्यते । यथा-"म्तौ ल्गौ माणवकं घैः" [२-७७] इत्यत्र यतिरित्युपस्थितौ चतुर्भिर्वर्णैर्यतिरित्यर्थो भवति । तदाह- **गाद्यवच्छि-**

न्नैरक्षरैर्यतिः क्रियत इत्ययमर्थः सिध्यतीति- गद्यवच्छिन्नाश्च त्रित्वादिसंख्योपलक्षिताः ॥

यतिसंज्ञामुक्त्वा तद्विषये व्यवस्थां पूर्वाचार्यैरुक्तां व्याचिख्यासुराह- **तत्रैषा यत्युपदेशोपनिषत् पठ्यत** इति- यतेरुपदेशस्य उपनिषत्- रहस्यभूतं वचनं, पठ्यते पूर्वाचार्यैरिति शेषः। सा च चतुःश्लोकात्मिका अभियुक्तपरम्पराप्रसिद्धा पूर्वैरपि हलायुधादिभिः छन्दःशास्त्रव्याख्यातृभिरेभिरेव शब्दैः प्रस्तुता स्वीयवृत्त्यादौ। क्रमशो व्याख्यातुं पृथक् पृथक् तदीयांशानुद्धरति-**"यतिः सर्वत्र पादान्ते"** इत्यादिना, सर्वत्र श्लोके पादान्ते- प्रतिपादसमाप्तौ, यतिः- विरामः, **श्लोकार्धे** द्वितीयपादान्तभावे तु, **विशेषतः** प्रथम-तृतीयपादान्तापेक्षयाऽधिककालं, वक्ष्यमाणविशेषवती च यतिरित्यर्थः। स्वाभाविकीं यतिमुक्त्वा लक्षणेषूक्तां यतिमप्याह- **गादिच्छिन्नपदान्ते चे**ति- गादिभिः- त्र्यादिवर्णबोधकैर्लक्षणान्तर्गतैस्तृतीयान्तपदैः, छिन्नानि- अवच्छिन्नानि पृथग्बोधितानि यानि पदानि तेषामन्तेऽपि यतिः; तानि पदान्येव त्रिशिनष्टि-**लुप्ताऽलुप्तविभक्तिके** इति- लुप्ता- ऐकार्थ्यनिमित्तककृतविलोपा, अलुप्ता-श्रूयमाणा वा, विभक्तिः- स्यादिर्यस्मिन् तादृशे गादिच्छिन्नपदान्तेऽपि यतिः। एतच्च पूर्वार्धोपात्तस्य 'पादान्ते' इत्यस्यापि विशेषणमिति वक्ष्यति। अत्र त्रिधा यतिरुक्ता पादत्रयेण, तां क्रमश उदाहरन्नाह- **तत्र यतिः सर्वत्र पादान्ते यथे**ति। क्वेत्याह- **नमोऽस्तु वर्धमानाये**त्यादि, कर्मणा घात्यादिभेदभिन्नेन सह, **स्पर्धमानाय** अभिभवेच्छायुक्ताय, **तज्जयावाप्तमोक्षाय** तस्य- कर्मणो, जयेन- अभिभवेन, अवाप्तोऽधिगतो मोक्षो येन तथाभूताय, **कुतीर्थिनाम्** अनुचितसम्प्रदायानुगामिनां कृते, **परोक्षाय** अज्ञातस्वरूपाय, **वर्धमानाय** तन्नामकतीर्थङ्कराय, **नमः** प्रह्वत्वम्, **अस्तु** भवत्वित्यन्वयः। अत्र सर्वत्र पादान्ते परस्परासंसर्गात् विश्रामोऽव्याहत एव [१६-१]॥

प्रत्युदाहरणमाह- **न पुनरेवं यथा नमस्तस्मै महादेवाये**ति- एवं पुनर्न यतिर्विधेया यथा- उदाह्रियमाणे "नमस्तस्मै" इत्यादिपद्ये दृश्यते, अत्र हि प्रथमपादस्यान्ते यतिरुचिता, किन्तु पदस्यासमाप्ततया सा न सम्भवति, केवलं 'य' कारस्य द्वितीयपादे पाठेनार्थबोधेऽपि विच्छेदापत्तेः। किञ्च तत्र 'वा' इत्यन्तस्य नैकार्थ्यनिमित्तकलुप्तविभक्तिकत्वं नवाऽलुप्तविभक्तिकत्वमिति नैषा

यतिर्युक्तेति भावः । **शशाङ्कार्धधारिणे** अर्धचन्द्रयुक्तललाटाय, **तस्मै** प्रसिद्धाय, **महादेवाय** शिवाय, नम इति तदर्थः [१६-२] ॥

इत्थं प्रथमपादोक्तां यतिमुदाहृत्य द्वितीयपादोक्तयतेरुदाहरणावसरे पूर्वं तदर्थं स्पष्टयति- **'श्लोकार्धे तु विशेषतः' इत्यत्र सन्धिकार्याभावः स्पष्टविभक्तिकत्वं च विशेषः** इति, अयमाशयः- साधारण्येन यतिस्तु यथा प्रथमपादान्ते तथैव द्वितीयपादान्तरूपे श्लोकार्धेऽपि भवत्येव किन्तु प्रथमपादान्तस्य द्वितीयपादादिना सह सन्धिरपि भवति, किन्तु द्वितीयपादान्तस्य तृतीयपादादिना सह सन्धिर्न भवति । किञ्च प्रथमपादान्ते विभक्तेः स्पष्टताऽनावश्यकी पदमध्येऽपि क्वचित् प्रथमपादान्तविश्रामदर्शनात् तस्य सर्वानुमतत्वाच्च, किन्तु द्वितीयपादान्ते विभक्तेः स्पष्टता तृतीयपादादिना सहासम्बन्धार्थमावश्यकीत्येव श्लोकार्धयतौ विशेष इति ।

तथा च समुचितां पादार्धयतिमुदाहरति- **नमस्यामि सदोद्भूतमिति, सदोद्भूतं** कालत्रयेऽपि प्रकाशमानम्, **इन्धनीकृतमन्मथम्** इन्धनीकृतः- स्वललाटनेत्रोत्थवह्निर्दाह्यतामानीतः, मन्मथः- कन्दर्पो येन तत्, **ईश्वराख्यम्** ईश्वरेति नाम्ना आख्यायमानम्, **अज्ञानतिमिरापहम्** अज्ञानं- वस्तुतत्त्वाप्रकाश एव तिमिरमन्धकारः, तमपहन्ति- नाशयतीति तथाभूतम्, **परं ज्योतिः** उत्कृष्टतरं तेजः, **नमस्यामि** प्रणमामीत्यन्वयः [१६-३] ॥ अत्र यतेः साधारण्येऽपि यो विशेषस्तमाह- **अत्र ईश्वरमित्यस्येत्यादिना**, अत्र 'ईश्वराख्यम्' इति प्रतीकोपादानं युक्तम्, ईश्वरमिति पदस्य तृतीयपादादावदृष्टत्वात्, तथा च 'ईश्वरमित्यस्य, इति लेखो लेखकप्रमादादायात इति संभावयामः । पूर्वार्धान्ते समागतस्य 'म्'कारस्य तृतीयपादादिना ईकारेण सह सन्धिः- मेलनं न कर्तव्यः; मात्राकालविच्छेदमाश्रित्य तेन सह संहिता न कार्या, तथा च न कृताऽपि । किञ्चान्योऽपि विशेष इत्याह- **स्पष्टविभक्तित्वं च अत्रैव** स्पष्टविभक्तिकत्वांशस्यापि इदमेवोदाहरणं युक्तमिति भावः ।

प्रत्युदाहरणं दर्शयितुमाह- **न त्वेवं यथा- सुरासुरे**ति- सुरासुराणां- देवदानवानां, शिरःसु यानि रत्नानि तेषां स्फुरन्तीभिः- उद्गच्छन्तीभिः, किरणमञ्जरीभिः- प्रकाशकलिकाभिः, पिञ्जरीकृतं- चित्रितं, पादाब्जद्वन्द्वं- चरणकमलयुगलं यस्य तादृशं, शिवं, वन्दामहे- प्रणमाम इत्यन्वयः । अत्र तृतीयपादेन सह द्वितीयपादस्यापि सम्बन्धात् तस्य समस्तपदतया स्पष्टविभक्तिकत्वं

नास्ति, तथा च समासस्थपूर्वोत्तरपदयोर्मध्ये यावानेव कालो विच्छेदस्य स एवात्र समाश्रयितुं युज्यते, न च तावता श्लोकार्धविरतिः स्पष्टीभवतीति 'श्लोकार्धे तु विशेषतः' इत्युक्ता विशिष्टा यतिर्नेहेत्येवं न प्रयोज्यमिति समुदितार्थः [१६-४] ॥

तृतीयां यतिमुदाहर्तुमाह- **गादिच्छिन्ने**ति- व्याख्यातोऽयमंशः । **उत्तुङ्ग-स्तने**ति- इदं पद्यं पिङ्गलछन्दःशास्त्रे हलायुधेन प्रहर्षिणीच्छन्दस उदाहरणत्वेन उदाहृतम्, तत्र पूर्वार्धमात्रमत्र पठितं तावतैवोदाहरणसम्पत्तेः । उत्तरार्धे तु तत्रेत्थमुक्तम्- "बिम्बोष्ठी नरवरमुष्टिमेयमध्या सा बाला भवतु मनःप्रहर्षिणीति ॥" इति । उत्तुङ्गम्- अत्युन्नतं, स्तनकलशद्वयं- कलशोपमं कुचयुग्मं यस्याः सा, **नताङ्गी** स्तनभारभङ्गुरशरीरा, **लोलाक्षी** चपलनयना, **विपुलनितम्बशालिनी** विपुलेन- विशालेन, नितम्बेन- कटिपश्चाद्भागेन, शालते- शोभते तच्छीला, **बिम्बोष्ठी** बिम्बवत् स्वनामप्रसिद्धपक्वफलवत् रक्तवर्णौ ओष्ठौ यस्याः सा, **नरवरमुष्टिमेयमध्या** नरवरस्य- पुरुषश्रेष्ठस्य तत्सहवासोचितस्य, मुष्टया मेयं- परिच्छेद्यं कृशतरमिति यावत्, मध्यम्- उदरप्रदेशो यस्याः, तथाभूता बाला- प्रथमावतीर्णयौवना, **मनःप्रहर्षिणी** मानसोल्लाससम्पादिका भवत्वित्यन्वयः । अत्र "भ्रौ ज्रौ गः प्रहर्षिणी गैः" [२-१६७] इति लक्षणानुसारं समस्ते लुप्तविभक्तिकेन गावच्छिन्नपदेन, असमस्ते च अलुप्तविभक्तिकेन गावच्छिन्नपदेन, अवच्छिन्नेषु पदेषु यतिः स्पष्टा । अन्ये तु पद्यमिदं केवलं लुप्तविभक्तिकस्य गावच्छिन्नपदान्तस्योदाहरणमिति व्याचक्षते, तन्मते उत्तुङ्गेत्यत्र ऐकार्थ्येन 'लोलाक्षी, बिम्बोष्ठी, बाला' इति पदेषु ङ्याः परत्वनिमित्तत्वेन च विभक्तेर्लुप्तत्वमिति यथाकथंचिल्लुप्तविभक्तित्वमस्त्येव । परं तैरेव लुप्तविभक्तिपदव्याख्यानसमये ऐकार्थ्यनिमित्तलुपैव लुप्तविभक्तित्वं ग्राह्यमित्युक्तमिति पूर्वापरविरोधस्तेषां स्पष्टः । तथा च लोलाक्षीत्यादीनां लुप्तविभक्तिकत्वेऽपि नात्र लुप्तविभक्तिकत्वरूपेण ग्रहणमिति युक्तमुत्पश्यामः । अस्तु वा तल्लुप्तविभक्तिकं शस्यैवोदाहरणम्, स्पष्टमलुप्तविभक्तिकमुदाहर्तुं तादृशस्थलविशेषस्यापि सत्त्वात् [१६-५] ॥

तत्रोदारणान्तरमाह- **यक्षश्चक्रे** इति, कालिदासकवेर्मेघदूतस्याद्यपद्यस्यांशोऽयम् । पूर्णं च पद्यं यथा-

"कश्चित् कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारप्रमत्तः,
शापेनास्तङ्गमितमहिमा वर्षभोग्येन भर्तुः ।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु,
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ।।" इति ।

स्वाधिकारप्रमत्तः पूजावसरसम्पादनीयपुष्पपूर्त्तिरूपस्वनियोगाच्च्युतः, **कश्चित्** अज्ञातनामा, **यक्षः** देवयोनिविशेषः, **कान्ताविरहगुरुणा** कान्तया सह विरहो-वियोगः, तेनैव गुरुणा-दुर्वहेन, **वर्षभोग्येन** एकाब्दपर्यन्तस्थायिना, **भर्तुः** यक्षेश्वरस्य कुबेरस्य, **शापेन** कान्तासक्तेरेवैवं त्वं स्वाधिकारात् प्रच्यवसे इति वर्षं यावत् तया वियुक्तो भवेत्याक्रोशेन, अस्तङ्गमितः– नष्टो महिमा– स्वेच्छाविहारादिरूपमैश्वर्यं यस्य तादृशः सन्, **जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु** जानकीशरीरसम्पर्कपरिपूतसलिलेषु, **रामगिर्याश्रमेषु** चित्रकूटस्थमुनिनिवासेषु, कीदृशेषु ? **स्निग्धच्छायातरुषु** निबिडनमेरुवृक्षयुक्तेषु, **वसतिं** निवासं, चक्रे इत्यन्वयः । अत्र मन्दाक्रान्ताच्छन्दसि "मो भ्नौ तौ गौ मन्दाक्रान्ता घ-चैः" [२–२९०] इति लक्षिते चतुर्भिः षड्भिश्च विरामस्य युक्तत्वात् 'यक्षश्चक्रे' इति चतुरक्षरांशस्यालुप्तविभक्तिकत्वम्, 'जनकतनया' इति षडक्षरांशस्य तु लुप्तविभक्तिकत्वमेव, तथा प्रथमपादादौ घावच्छिन्नांशस्य लुप्तविभक्तिकत्वं चावच्छिन्नांशस्य त्वलुप्तविभक्तिकत्वमेवेत्येवं विचारेऽस्यापि लुप्तालुप्तविभक्तिकोदाहरणत्वमेवेति नैतयोः कश्चिद् भेद उदाहरणयोरिति युक्तमुत्पश्यामः [१६–६] ।।

इत्थं कारिकोक्तां त्रिरूपामपि यतिमुदाहृत्य 'लुप्तालुप्तविभक्तिके' इत्यंशस्य प्रथमपादविषयेऽपि सम्बन्ध इत्याह– **लुप्तालुप्तविभक्तिके इति यतिः सर्वत्र पादान्ते' इत्यनेनापि सम्बध्यत** इति, तथा च पादान्तयतेरपि द्वैविध्यं सम्मतमिति भावः । तदुदाहरति– **यथा नमस्तुङ्गेति**, [हर्षाख्यायिकागतं] पद्यमिदं हलायुधेन छन्दःशास्त्रवृत्तौ मङ्गलत्वेनोक्तम् एतद्विषयोदाहरणत्वेन च । **तुङ्गशिरश्चुम्बी**– उन्नतमस्तकारूढः, चन्द्र एव चामरस्तेन चारुः–सुन्दरस्तस्मै, **त्रैलोक्यमेव नगरं**–पुरं, तस्यारम्भे–तदादौ, मूलस्तम्भाय– आधारस्थाणवे, **शम्भवे** महेश्वराय, नम इत्यन्वयः । यथा कस्यचिन्नगरस्य समारम्भसमये चामरान्वितो मूलस्तम्भः स्थाप्यते तथैवायमपि त्रैलोकस्य मूलभूतः

स्थाणुः शिरसि चन्द्ररूपेण चामरेण शोभित इति रूपकेण सूच्यते। अत्र प्रथम-तृतीयपादान्तयोर्लुप्तविभक्तिकत्वं द्वितीयचतुर्थपादान्तयोश्चालुप्तविभक्तिकत्वम् [१६-७] ॥

उदाहरणान्तरमाह- **वशीकृतेति**, इदमपि पद्यं हलायुधेन स्ववृत्तावुदाहृतम्, उत्तरार्धं चास्येत्थमुक्तम्- "महाकालं कलाशेषशशिलेखाशिखामणिम्" इति । वशीकृतो जगतां-**सर्वेषां** जङ्गमानां कालो-यमो येन तं, **कण्ठेकालं** कण्ठे स्थितः कालः- विषपानोद्भूतः कालिमा यस्य तं, कलाशेषा-एककला-मात्रावसाना, शशिलेखा- चन्द्ररेखैव, शिखामणिः- चूडारत्नं यस्य तं, **महा-कालं** तदाख्यं शिवम्, अहं नमामि, इत्यन्वयः। अत्रापि प्रथम-द्वितीयपादान्तयो-रलुप्तविभक्तिकत्वं तृतीयपादान्तस्य लुप्तविभक्तिकत्वं चतुर्थे पुनरलुप्तविभक्ति-कत्वमिति [१६-८] ॥

यतिव्यवस्थाविषयिणीं द्वितीयां कारिकामाह- **क्वचित् तु पदमध्येऽपीति**, **क्वचित् तु** पूर्वोक्तव्यवस्थाभिन्नस्थलेऽपि विरलविषये, **पदमध्येऽपि** स्या-द्यन्तादिरूपपदासमाप्तावपि, **गकरादौ** गाद्यवच्छिन्नभागे, **यतिः** विश्रामः, **भवेत्** सम्भाव्यते; किमविशेषेण नेत्याह- **यदि पूर्वापरौ भागाविति**, **यदि** चेत्, **पूर्वापरौ** गाद्यवच्छिन्नसमुदायस्थः पदस्य प्रथमोंशः, अवशिष्यमाणश्च उत्तरोंशः, **एकवर्णकौ** एकाक्षरमात्रौ, **न स्यातां** न भवेताम्। अयमाशयः- यत्या विच्छिद्यमानस्य पदस्य विच्छिन्नोंशः परिशिष्टांशश्च एकवर्णाधिकः स्यात् तदैव पदमध्ये यतिरनुमता नान्यथेति। पदमध्ये यतीरुदाहरति- **यथा-पर्याप्तमित्यादि**, मयूरकवेः सूर्यशतकस्य कस्यचित् पद्यस्य पादोऽयम्, तप्तचा-मीकरं- दाहशोधितसुवर्णमयं, कटकतटं- प्रान्तभागो यस्य तादृशे, **श्लिष्टशी-तेतरांशौ** श्लिष्टाः- संलग्नाः, शीतेतरा- उष्णाः, अंशवः- किरणा यस्मिन् तादृशे, [सुमेरौ तव तेजः] **पर्याप्तं** परितो व्याप्तमिति सम्बन्धः। अत्र स्रग्धराच्छन्दसि छावच्छिन्नैः [सप्तभिः] अक्षरैर्यतिरिति तदवच्छिन्नो भागः 'चामीकर' इति पदस्य मध्ये एव समाप्त इति तस्य भागस्यानेकवर्णत्वम्, अवशिष्टस्य 'कर' इति भागस्यापि तथात्वमिति यतेरौचित्यम् [१६-९] ॥

उदाहरणान्तरमाह- **तथा-कूजत्कोयष्टि०** इति- कूजतां- शब्दायमानानां, **कोयष्टीनां**- टिट्टिभानां, कोलाहलैः- आरावैः, मुखरिता- शब्दपूर्णा, भूर्येषां

तादृशाः, प्रान्तस्थाः– समीपस्थाः, कान्तारदेशाः– वनभूमयः, इत्यन्वयः। स्रग्धरावृत्तेऽत्र 'कूजत्कोयष्टिकोला' इत्यन्तो भागोऽत्र यतौ विच्छिद्यते, तत्र च 'कोलाहला' इति पदं मध्ये भिन्नम्, परतोऽपि च 'हल' इति समुदायो नैकाक्षर इति यतेर्व्यस्थितत्वम् [१६–१०] ॥

पुनरुदाहरति– **तथा हासो हस्ताग्रे**ति, अत्र हलायुधवृत्तौ 'द्विषोऽस्य' इत्यस्य स्थाने 'द्विषोऽसौ' इति पाठः समुपलभ्यते, स एव चार्थवर्णनाय कथमपि युक्तः प्रतिभाति। यद्यपि एतेषां चतुर्णामप्युदाहरणानां पूर्णपाठस्यालभ्यतया नार्थवर्णनासौकर्यं तथापि तावत एवांशस्य व्याख्यानमिह क्रियते यावानिहोपलब्धः। तुलितः– तोलितः, अद्रीन्द्राणां– प्रधानपर्वतानां, सारो– बलं येन **स**–इन्द्रः, तस्य द्विट् शत्रुर्महिषासुरः, तस्यास्य **हस्ताग्रसंवाहनमपि** कराग्रभागेन [देव्याः] पादसंवाहनमपि, हासः– उपहासः। अत्रापि 'संवाहन' इति पदमध्य एव यतिः स्रग्धरायां छैर्यतेरुक्तेः, तथा च शिष्यमाणः पदांशो नैकाक्षर इति व्यवस्थानुकूल्यम् [१६–११] ॥

भूय उदाहरति– **वैरिञ्चानामि**ति, अत्र 'चतुरऋचाम्' इत्यंशस्य स्थाने 'रुचिरऋचाम्' इति पाठो हलायुधानुमतः, तथा चार्थस्यापि वैमत्यमिति तं पाठमाश्रित्यैव व्याख्यायते– **तथोच्चारितरुचिरऋचां** तथा– उचितरूपेण, उच्चारिता रुचिराः– सुन्दरा ऋचो यैस्तेषां, **वैरिञ्चानां** ब्रह्मसम्बन्धिनाम्, **चतुर्णाम्, आननानां** मुखानाम्, इत्यर्थः। अत्रापि 'उच्चारित' इति पदस्य मध्ये एव यतिः, उभयोर्भागयोश्च द्व्यक्षरत्वमिति व्यवस्थिता **यतिः** [१६–१२] ॥

चतुर्थमुदाहरणमाह– **खड्गे पानीयमि**ति, इदं चोदाहरणं पूर्वपादसम्बन्धं विना व्याख्यानायोग्यम्, पूर्वेषां पादानां चानुपलब्धेर्न व्याख्यायते। **अत्रापि** आह्लादयतीति पदस्य मध्य एव यतिः, उत्तरांशस्य त्र्यक्षरत्वं, पूर्वांशस्य **च** द्व्यक्षरत्वमित्युभयोरेकवर्णत्वाभावः स्पष्टः [१६–१३] ॥

पदकृत्यं पृच्छति– **गकारादौ किमि**ति, सामान्यतः 'अनेकवर्णकपूर्वोत्तरभागवत्पदमध्येऽपि यतिः' एतावदेवोच्यतामिति भावः। उत्तरयति– **पदमध्ययतिः पादान्ते मा भूदि**ति, अयमाशयः– गकारादाविति कथनेन गद्यवच्छिन्नायाः **पादमध्यतेरियं** व्यवस्थेति गम्यते, तदनुपादाने च सर्वयतिविषय-

त्वावगमात् पादान्तयतावपि पदमध्यतयाऽनुमतिः स्यादिति पदमध्ये पादान्तयतिरपि संमता स्यात्, तथा चोदाह्रियमाणस्थले यतिः साध्वी स्यात्, न चासाविष्यते । अनिष्टां यतिमुदाहरति– **यथा– प्रणमत भवबन्धेति**– भवबन्धः– संसारसम्बन्धिबन्धनमेव, क्लेशः– दुःखं, तस्य नाशाय, **आनन्दहेतुं** सुखोत्पत्तिकारणम्, **नारायणचरणसरोजद्वन्द्वं** विष्णुपदकमलयुगं, प्रणमतेत्यन्वयः । अत्र नारायणेति पदमध्ये यतिः पादान्तस्थेति श्रोतुः कर्णसुखं नोत्पादयतीति न श्रव्यत्वमस्याः; गकारादाविति यदि प्रकृतव्यवस्थायां नोच्येत तर्ह्यस्या अपि व्यवस्थितत्वं स्यादिति पर्यवसितोऽर्थः [१६–१४] ॥

'यदि पूर्वापरौ भागौ न स्यातामेकवर्णकौ' इत्युक्तविशेषस्य फलं दर्शयति– **पूर्वोत्तरभागयोरेकाक्षरत्वे तु पदमध्ये यतिर्दुष्यतीति**– यत्र विच्छिद्यमानस्य पदस्य पूर्वांशः परांशो वा एकवर्णक एव तर्हि पदमध्ये चेद् यतिः क्रियते साऽश्रव्यतया दुष्टा भवतीत्यर्थः ।

प्रत्युदाहरणान्याह– यथा– **एतस्या गण्डतलमिति**– **अमलं** निर्मलम्, एतस्या **गण्डतलं** कपोलस्थलं **चन्द्रकक्षां** शशाङ्कसाम्यं **गाहते** प्राप्नोति । अत्र मन्दाक्रान्ताच्छन्दसि धावच्छिन्ने 'गण्डतल'स्य प्रथमेऽक्षरे यतिरायातीति सा न श्रव्या [१६–१५] ॥

एवम्– **एतासां राजति०** इति– **एतासां** पुरोवर्त्तिनीनां वनितानां, **कण्ठावलम्बि** गलावम्बलमानं, **सुमनसां दाम** पुष्पमाल्यं, **राजति** शोभते इत्यन्वयः । अत्रापि मन्दाक्रान्तायां धावच्छिन्ने राजतीत्यस्याद्याक्षरे यतिरश्रव्यैवेति [१६–१६] ॥

तथा– **सुरासुरेति**– सुरासुराणां– देवदानवानां, शिरोभिः– मस्तकैः, निघृष्टं– नततितिभिः कृतघर्षणं, चरणारविन्दं– पादकमलं यस्य तादृशः, शिव इत्यन्वयः । अत्रानुष्टुभि पादान्तयतिः 'निघृष्ट' इति पदमध्येऽपरश्च भागः 'ष्ट' इति एकाक्षर एवेत्यश्रव्यत्वमिति [१६–१७] ॥

अथ सन्धिस्थले यतिव्यवस्थायां विशेषाख्यायिकां कारिकां व्याख्यातुं तदर्धं पृथक् कृत्वाह–**पूर्वान्तवत् स्वरः सन्धौ०** इति, विवृणोति–**योऽयं पूर्वपरयोरेकादेश** इति– स्वरादेशेषु द्वैविध्यं कश्चिदेकस्थानिकः कश्चित् पूर्वपरोभयस्थानिकश्च, तत्रैकस्थानिके तु न संशयः, उभयस्थानिक एव सन्देहो यदयं पूर्वस्थानिकत्वेन गृह्येत परस्थानिकत्वेन वा, तन्निर्णये सत्येव गाद्यवच्छिन्नभागस्थितस्य तस्य

यतिस्थानत्वं निर्णीतं स्यादिति तन्निर्णयमाह- **योऽयं पूर्वपरयोरेकादेश** इत्यादिना, आकारादयः केचिदादेशा उभयोः स्थानिनोः स्थाने विधीयन्त इत्येकादेशतया व्यवह्रियन्ते, तेषु प्रत्येकस्य विषये लक्ष्यानुसारं क्वचित् पूर्वस्थानिकत्वमिति पूर्वभागस्यान्तवद्भावः समाश्रीयते, क्वचित् परस्थानिकत्वमाश्रित्य उत्तरभागस्यादिवत्वं समाश्रीयते, तत्र कारणमाह- **उभयादेशत्वादिति**- स हि उभयोः स्थाने विहित इति तयोरुभयोर्धर्मं प्राप्नोति तत्स्थानापन्नस्तद्धर्मं लभते इति न्यायात्। तत्र लोकव्यवहारमपि दृष्टान्ततयोपोद्बलकत्वेन दर्शयति- **यथा- पित्रोः पुत्रः पितुश्च मातुश्च भवतीति**- माता च पिता च- पितरौ, तयोरुभयोरपि शुक्रशोणिताभ्यां लब्धोत्पत्तिः पुत्र उभयोरपि जन्यत्वेन व्यवह्रियत इति भावः। तत्रायं विशेषो यद् दृष्टान्तस्थले युगपदुभयजन्यत्वाश्रयणेऽपि व्यवहारे न कश्चिद् विरोधः, इह शास्त्रे च समकालं पूर्वान्तत्वं परादित्वं च नाश्रीयते शास्त्रीयव्यवहाराननुगुणत्वात्, एतदर्थमेव वैयाकरणैः कैश्चित् 'उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्' इति न्यायः स्वीक्रियते। तथा च क्वचित् पूर्वस्यान्तवत् क्वचित् परस्यादिवदित्येव सिद्धान्तः।

तत्र पूर्वान्तवद्भावमुदाहर्तुमाह-**स्यादस्थानोपगतयमुने**ति, पूर्वमेघे पद्यमिदम्।

"तस्याः पातुं सुरगज इव व्योम्नि पश्चार्द्धलम्बी,
त्वं चेदच्छस्फटिकविशदं तर्कयेस्तिर्यगम्भः।
संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसि च्छायया ऽसौ,
स्यादस्थानोपगतयमुनासंगमेवाभिरामा ॥" इत्येवंरूपम्।

व्योम्नि आकाशे, **पश्चार्द्धलम्बी** शिरोभागं नीचैः कृत्वा लम्बमानः, **सुरगज इव** ऐरावत इव, **तिर्यक्** ऊर्ध्वाधोरूपेण स्थितः, **त्वं** मेघः, **अच्छस्फटिकविशदं** स्वच्छस्फटिकवत् अवदातं, **तस्याः** जाह्नव्याः, **अम्भः** जलं, पातुं तर्कयेश्चेत् [तदा] **असौ** जाह्नवी, **स्रोतसि** प्रवाहे, संसर्पन्त्या चलन्त्या, **भवतः** तव मेघस्य, च्छायया, **अस्थानोपगतयमुनासङ्गमेव** प्रयागातिरिक्तस्थानलब्धकालिन्दीसंसर्गेव, **अभिरामा** मनोहरा स्यादिति सम्बन्धः। अत्र 'अस्थान-उपगत' शब्दयोरन्त्याद्योः स्थाने जात ओकाररूप एकादेशः पूर्वस्यान्तवद् भवतीति 'नो' 'इत्यत्र' छावच्छिन्ने भागे स्रग्धराछन्दसो यतिः श्रव्या [१६-१८]॥

उदाहरणान्तरमाह– **जम्भारातीभे**ति, सूर्यशतके मयूरकवेः पद्यस्यांशोऽयम्, अत्र 'सान्द्रसिन्दूररेणुम्' इति पादशेषः। जम्भारातिः– इन्द्रः, तस्य इभः– गज ऐरावतः, तस्य कुम्भे– ललाटे, उद्भवः– उत्पत्तिर्यस्य तादृशमिव, सान्दं– निबिडं, सिन्दूररेणुं दधत्, इत्यन्वयः। अत्र स्रग्धराच्छन्दसि छावच्छिन्नैः– सप्तभिर्वर्णैर्विराम इति कुम्भशब्दाकारस्य उद्भवशब्दोकारेण सह ओकाररूप एकादेशः पूर्वान्तवद् भवतीति 'कुम्भो' इत्यन्ते यतिः श्रव्या जाता [१६–१८]॥

उदाहरणान्तरमाह– **दिक्कालेति**, 'स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे' [भर्तृहरेः–नी० श० १] इत्युत्तरार्धमस्य हलायुधवृत्तौ दृश्यते। दिक्कालादिभिः, अनवच्छिन्ना-अव्यावर्त्तिता, अत एव अनन्ता– अपर्यन्ता, चिन्मात्रा– चैतन्यैकस्वभावा, मूर्तिः– स्वरूपं यस्य तस्मै, स्वानुभूतिः– स्वापरोक्षानुभव एव, एकं– केवलं, मानं– प्रमाणं यत्र तस्मै, **शान्ताय** अव्याकुलाय, **तेजसे** परप्रकाशरूपाय [ब्रह्मणे] नमः, इति। अयमाशयः–त्रिधा ह्यवच्छेदो भवति– दिशा कालेन वस्तुना च, सर्वत्र सर्वदा सर्वस्वरूपेण स्थितस्य वस्तुनो दिशा कालेन वस्त्वन्तरेण वा व्यावृत्तिर्न संभवतीत्यपरिच्छिन्नं तदनन्तमिति सिध्यति, न च तस्य चैत्यन्यकैवल्यादतिरिक्तं स्वरूपमिति पूर्वार्धेन, स्वानुभूतिमात्रवेद्यत्वं सर्वोपद्रवशून्यत्वं स्वप्रकाशत्वं चोत्तरार्धेनोक्तमिति। अत्रानुष्टुप्छन्दसः प्रथमपादान्तस्य उत्तरपादादिस्थितेन 'अनन्त'शब्दाकारेण सह दीर्घ इति तस्य पूर्वान्तवद्भावेन पादान्तयतेरौचित्यमिति [१६–२०]॥

इत्थं पूर्वान्तवद्भावानुदाहृत्य परादिवद्भावमुदाहर्तुमाह– **परादिवद्भावो यथे**ति– यथा यतौ परादिवद्भाव आश्रीयते तदुदाह्रियत इत्यर्थः। **स्कन्धे** इति, **इदं च** वाक्यं पूर्वपादानामज्ञातत्वे उपलब्धमात्रेऽशेऽस्पष्टमिति न व्याख्यायते। अत्र 'महिषस्य अहितः' इति पदयोरन्तादी दीर्घेणैकीभूताविति परादिवद्भावे सति 'स्या' इत्यंशः परतो नीयत इति 'महिष' इत्यन्तभागेऽपि स्त्रग्धराच्छन्दसश्छावच्छिन्नाक्षरे यतिरदुष्टेति समन्वयः [१६–२१]॥

परादिवद्भावस्योदाहरणान्तरमाह– **शूलं तूलं तु गाढं प्रहरे**ति– हे हर ! **तूलं** तूलोपमतया सुखदमिव, **शूलं** स्वायुधं त्रिशूलं, प्रहर, हे **हृषीकेश** ! विष्णो !, ते चक्रेण केशोऽपि किं वक्रः, **अकारि** तेनापि मम न कापि पीडेति

भावः। अत्र 'हृषीक–ईश' इत्यनयोः सन्धिः परादिवदिति 'हृषी' इत्यन्तेऽपि स्रग्धरायाश्छावच्छिन्ने यतिरदुष्टेति [१६–२१] ॥

नन्वस्तु परादिद्भावे सत्यपि स्वरांशस्यैव परतो गतिः, व्यञ्जनांशः कथं परतो नीयते तस्यैकादेशाविषयत्वादित्याशङ्क्यायामाह– **अत्र हि परादिवद्भाव** इति, अयमाशयः– व्यञ्जनानि न स्वतन्त्राणि, तानि कंचित् स्वरमाश्रित्यैवोच्चारयितुं शक्यन्ते, तत्र पूर्वस्य परस्य च स्वरस्याश्रयतायां समुपस्थितायां परमेव स्वरमाश्रयन्तीति स्थितिः। तदुक्तमभियुक्तैः– "नटभार्यावद् व्यञ्जनानि भवन्ति" इति, अयमभिसन्धिः– यथा नटभार्याः पूर्वस्मिन् परस्मिश्चानुरक्ते जने समुपस्थिते पूर्वस्योपभुक्ततया परमेवाश्रयन्ति तथैव व्यञ्जनान्यपि परभक्तानि– पराश्रितानि भवन्तीति। तथा व्यञ्जनानां स्वरपारवश्यात् तस्य [स्वरस्य] परादित्वे तस्यापि पराधीनत्वमेवेति तदादिवदेव तदिति। अत्र विशेषमाह– **"यदि पूर्वापरौ भागौ न स्यातामेकवर्णकौ" इति अन्तादिवद्भावविधावपि सम्बध्यत** इति, अयमाशयः– अन्तवद्भावेन आदिवद्भावेन च या यतिरधस्तात् प्रतिपादिता तत्रापि, पूर्वोत्तरभागयोरेकवर्णत्वं नोचितमिति। तत्फलमाह– **तेन–"अस्या वक्त्राब्ज०" इत्येवंविधा यतिर्न भवतीति**– अवजिता–निर्जिता, पूर्णेन्दोः– सकलकलायुतचन्द्रस्य, शोभा–कान्तिर्येन तादृशमस्याः, **वक्त्राब्जं–** मुखकमलं, **विभाति** शोभते, इत्यन्वयः। अत्र मन्दाक्रान्ताच्छन्दसि प्रथमा द्वावच्छिन्ना द्वितीया चावच्छिन्ना च यतिः पूर्वान्तवद्भावेन 'वक्त्रा' इत्यन्ते, परादिवद्भावेन 'पू' इत्यन्ते च भागे समापतति, परन्तु प्रथमायां द्वितीयायां च पूर्वोत्तरभागयोरुभयोरप्येकवर्णत्वमेव भवतीति अदुष्टा यतिर्न भवतीत्याशयः [१६–२३] ॥

एवमुभयादेशस्थले व्यवस्थामुदाहृत्य एकस्थानिकादेशविशेषे व्यवस्थामाह– **द्रष्टव्यो यतिचिन्तायां याद्यादेशः परादिवदिति– यतिचिन्तायां** यतिविचारप्रसङ्गे, **याद्यादेशः** एकस्थानिको 'य-व-र-ल' इत्येवंरूप आदेशः, परस्य– निमित्तभूतस्वरस्य, आदिवत्, द्रष्टव्य इत्यर्थः।

उदाहरति– **यथा– अच्छिन्नेति,**

"अत्यासन्ननिषण्णपन्नगवधूगीतोत्सवप्रक्रमे,
पत्युर्भोगभृतां ददन्ति किमपि प्रीतिं मुहुः श्रोत्रयोः।

अच्छिन्नप्रसराणि नाथ ! भवतः पातालकुक्षौ यशां–
स्यद्यापि क्षपयन्ति कोकिलकुलच्छायासपत्नं तमः ॥" इति पूर्णं पद्यम् ।

हे नाथ ! **अच्छिन्नप्रसराणि** अव्याहतप्रचाराणि, **भवतः** तव, यशांसि, अद्यापि, **पातालकुक्षौ** क्षित्यधोभागे, अत्यासन्ननिषण्णाः– अतिसमीपोपविष्टाः, याः, पन्नगवध्वः– नागवनिताः, तासां गीतोत्सवस्य– संगीतविनोदस्य, प्रक्रमे– अवसरे, **भोगमृतां** सर्पाणां, **पत्युः** स्वामिनो वासुकेः, **श्रोत्रयोः** चक्षुषोः, सर्पाणां चक्षुःश्रवत्वात्, **किमपि** अनिर्वचनीयं यथा स्यात् तथा, **प्रीतिम्** आह्लादं ददति, किञ्च **कोकिलकुलच्छायासपत्नं** पिकसमूहकान्तिसदृशं, **तमः** अन्धकारं, **क्षपयन्ति** नाशयन्ति, इत्यन्वयः । लोकत्रयप्रसरद्यशस्ते प्रियतरा समुज्वला च कीर्तिर्नागवधूभिरपि गीयते येन तत्पत्युर्नागराजस्य प्रीतिस्तत्रत्यान्धकारस्य नाशश्चाद्यापि जायत इति भावः, अनेन यशसो विस्तारः सकलजीवाह्लादकत्वं च वर्णितम् । अत्र तृतीयपादान्तसमागतस्य 'यशांसि' इति पदसम्बन्धिन इकारस्य स्थाने जातो यादेशः परादिवद् भवतीति 'यशां' इत्यत्रैव पादान्तयतिः श्रव्यतां नातिक्रामति [१६–२४] ॥

उदाहरणान्तरमाह– **विततघन०** इति– विततताः-विस्तृताः, घनाः-सान्द्राः, तुषारक्षोदाः– हिमकणाः, तैः शुभ्रासु– श्वेतीभूतासु, दूर्वासु, **श्यामलां** श्यामवर्णाम्, **अविरलपदमालां** निबिडपदपङ्क्तिम्, **उल्लिखन्तः** प्रकाशयन्तः, इत्यक्षरार्थः । हिमाच्छादितदूर्वायुक्तभूमौ चलनाद्धिमस्य गलने दूर्वावर्णस्य प्रकाशात् पदपङ्क्तिः श्यामला भातीति भावः । अत्र प्रथमपादान्तस्थ 'दूर्वासु' इति पदसम्बन्धिन उकारस्य स्थाने जातो वकारः परस्य निमित्तभूतस्य स्वरस्यादिवद् भवतीति तेन सहैव तस्योच्चार्यतया छिन्नेऽपि पदे पूर्वपादान्तयतिर्न दुष्यतीति [१६–२५] ॥

स्वरसन्धिविषये यतिव्यवस्थामुक्त्वा चादिनिपातविषये यतिव्यवस्थामाह– **नित्यमिति**– प्राक्पदेन सम्बद्धाश्चादयः पूर्वपदस्यान्तवद् भवन्तीति ततः प्राग् यतिरनुचितेति तदर्थः । तदेव वृत्त्या आह– **चादिभ्यः पूर्वं यतिर्न कर्तव्येत्यर्थः** इति । व्यावर्त्ययति प्रदर्शयति– **यथा– स्वादु स्वच्छं चेति**– **स्वादु** सुरसं, **स्वच्छं** निर्मलं च, **इदं** सन्निकृष्टस्थितं, **सलिलं** जलं, कस्य **प्रीतये** तृप्तये, **न स्यात्**– सर्वस्य तृप्तिकारणं स्यादेवेति भावः । अत्र मन्दाक्रान्ताच्छन्दसि

धैश्चैश्च यतिरिति स्वच्छमित्यत्र यतिरुचिता किन्तु तत्सम्बद्धः 'चः' ततो विभिद्यत इति एतादृशस्थले चादेः पूर्वं यतिरनुचितेति सङ्गतिः [१६-२६] ॥

पदकृत्यं पृच्छति- **'नित्यं प्राक्पदसम्बद्धाः' इति किमि**ति- चादयः प्राक्पदान्तवद् भवन्तीति केवलमुच्यतां चादीनां प्रायः पूर्वपदेनैव सम्बन्ध इति 'नित्यं प्राक्पदसम्बद्धाः' इति विशेषणं व्यर्थमिति प्रष्टुराकूतम् । उत्तरयति- **अन्येषां पूर्वान्तवद्भावो मा भूदि**ति- ये चादयः पूर्वेण परेण च सम्बद्धयन्ते, केवलं परेणैव वा सम्बद्धास्तेषां परादिवद्भावो भवति, स यथा स्यात्, पूर्वान्तवद्भावो न स्यादित्येतदर्थं 'नित्यं प्राक्पदसम्बद्धाः' इत्यस्योपादानमावश्यकमिति भावः । तादृशं स्थलमुदाहरति-- **यथा- मन्दायन्ते** इति,

"तां कस्यांचिद् भवनवलभौ सुप्तपारावतायां,
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात् खिन्नविद्युत्कलत्रः ।
दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान् वाहयेदध्वशेषं,
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ।" [पू० मे० ३८] इति पूर्णं पद्यम् ।

यक्षो मेघस्य मार्गक्रमं वर्णयन्नाह- सुप्ताः पारावताः- कपोता यस्यां तादृशि, **कस्यांचित्** स्वेच्छास्वीकृतायामनिर्दिष्टायां, **भवनवलभौ** प्रासादाग्रस्थितकपोतपालिकायां, **तां** तत्रोपस्थितां, रात्रिं **नीत्वा** अतिवाह्य, **चिरविलसनात्** बहुकालं विद्योतनात्, अथ च कलत्रत्वेन रूपितत्वात् बहुकालकृतरतिक्रीडाया हेतोः, **खिन्नविद्युत्कलत्रः** खिन्ना-शिथिला विद्युदेव चपलैव कलत्रं भार्या यस्य तादृशो **भवान्** मेघः, **सूर्ये दृष्टे** इति- दिनादावित्यर्थः, **अध्वशेषं** शिष्टं पन्थानं, **वाहयेत्** लङ्घयेत् । तत्समर्थनायार्थान्तरं न्यस्यति- **सुहृदां** मित्राणाम्, **अभ्युपेतार्थकृत्याः** स्वीकृतप्रयोजनीयकार्या जनाः, **न खलु** नैव, **मन्दायन्ते** गतिशैथिल्यमाश्रयन्ति, इत्यर्थः । अत्र चाद्यन्तर्गतो नकारो यद्यपि प्राक्पदसम्बद्ध एव, तथापि तस्य चकारवत् नित्यं प्राक्पदसम्बन्धाभावात् तत्पूर्वमपि यतिरविरुद्धा, अन्यथा स्वादु स्वच्छं चेति पूर्वोदाहरणवत् यतेरनौचित्यं स्यादिति परादिवद्भावो न स्यात्, भवति च स इति 'नित्यं प्राक्पदसम्बद्धाः' इति कथनमावश्यकमिति [१६-२७] ॥

पूर्वसम्बद्धमपि अनित्यसम्बद्धं प्रत्युदाहृत्य परसम्बद्धं प्रत्युदाहरति- **इत्यौत्सुक्यादि**ति,

"धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः,
सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः ।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे,
कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥" [पू० मे० ५] इति पूर्णं पद्यम् ।

कविकुलतिलकः कालिदासो निर्जीवं मेघं प्रति यक्षस्य प्रार्थना कथमुचितेति शङ्कामपनयन्नाह– **धूमज्योतिःसलिलमरुतां** बाष्पतेजोजलवायूनां, **संनिपातः** सङ्घातस्वरूपः, मेघः क्व ? **पटुकरणैः** विचारपूर्वकयथोचितव्यापारसमर्थेन्द्रियैः, **प्राणिभिः** जीवैः, **प्रापणीयाः** नेयाः, **सन्देशार्थाः** वाचिकाभिधेयाः, **क्व ?** अनयोर्नैकत्र समावेश इति, **औत्सुक्यात्** प्रबलौत्कण्ठ्यात्, **इति** पूर्वोक्तविवेकम्, **अपरिगणयन्** अनिर्धारयन्, **गुह्यकः** यक्षः, **तं** मेघं, **ययाचे** सन्देशप्रापणार्थं प्रार्थयामास; प्रकृतमर्थं समर्थयितुमर्थान्तरं न्यस्यति–**हि** यतः, **कामार्त्ताः** परस्परसंश्लेषाभिलाषविकलाः, **चेतनाचेतनेषु** जीवाजीवेषु, **प्रकृतिकृपणाः** स्वभावत एव दैन्यप्रदर्शिनो भवन्ति, इत्यर्थः । अत्र नञ्युक्तस्य परेर्निपातस्य गणयतिना परेण सम्बद्धत्वात् तस्य परादिवत्त्वमेव भवतीति 'इत्यौत्सुक्या' इत्येतावत्येव यतेर्विश्रान्तिः, सा च 'चादयः प्राक्पदान्तवत्' इति सामान्यनियमाश्रयणे नोचिता स्यादिति 'नित्यं प्राक्पदसम्बद्धा' इति विशेषाश्रयणमावश्यकमेवेति [१६–२८] ॥

प्रादिविषये व्यवस्थान्तरमाह–**'परेण नित्यसम्बद्धाः'** इति– प्रादयो ये नित्यं परेण सम्बध्यन्ते ते परादिवदेव भवन्तीत्यर्थः । तथा च फलितार्थमाह– **प्रादिभ्यः परा यतिर्न भवतीत्यर्थः** इति– परेण सम्बद्धेभ्यः प्रादिभ्यः पूर्वमेव यतिर्भवति, तदन्ते यतिर्न भवतीति भावः । प्रत्युदाहरति– **दुःखं मे** इति– **दुसहः** सोढुमशक्यः, **त्वद्वियोगः** त्वया सह विरहः, मे हृदये दुःखं **प्रतिक्षिपति** प्रवेशयतीत्यर्थः, अत्र 'प्र' इत्यस्य क्षिपतीति क्रियया नित्यसम्बन्धात् ततः परा तमभिव्याप्य मन्दाक्रान्ताच्छन्दसो धावच्छिन्नभागे यतिर्न भवतीति प्रकृते यतिभङ्गदोषः स्पष्टः, स न विधेय इति समन्वयः [१६–२९] ॥

*पदकृत्यं पृच्छति– **'परेण नित्यसम्बद्धाः' इति किमिति**– प्रादयश्च* परादिवदित्येवोच्यतामिति प्रष्टुराशयः । क्वचित् प्रादिभ्यः पराऽपि यतिरिष्टा,

सा चैवं सामान्यनियमाश्रयणे न स्यादित्युत्तरयति– **अन्येभ्यः परापि यतिर्यथा स्यादिति**– नित्यपरसम्बद्धातिरिक्तेभ्यः प्रादिभ्यः पराऽपि यतिर्यथा भवति तथा भवेदेवेत्येतदर्थमेव 'नित्यं प्राक्पदसम्बद्धाः' इति कथनमावश्यकमित्यर्थः। तादृशं स्थलं दर्शयति– **श्रेयांसि बहुविघ्नानीति**– **महतामपि** परमैश्वर्यशालिनामपि, **श्रेयांसि** परमकल्याणानि, **बहुविघ्नानि** अनेकप्रतिबन्धयुक्तानि, भवन्तीत्यन्वयः। अत्रापीत्यस्य पूर्वसम्बद्धत्वेन ततः पराऽपि पादान्तयतिरदुष्टा, सामान्यतः प्रादीनां परादिवत्वाश्रयणे इह यतेर्दुष्टत्वं स्यात् ततो नित्यपरसम्बन्धित्वमवश्यं निवेशनीयमिति भावः [१६–३०] ॥

पूर्वोक्तचादिप्रादिविषयकयतिनियमे विशेषं दर्शयितुमुपक्रमते– **अयं च चादीनां प्रादीनां चेति**, अयमर्थः– चादयः प्रादयश्च बाहुल्येनैकाक्षरा एव, अतः पदान्ते प्राप्ताया यतेर्यथायथं पूर्वान्तवद्भावेन परादिवद्भावेन वा व्यवस्था विहिता, ये च केचिदनेकाक्षराश्चादयः प्रादयो वा तेषां विषये तु पदमध्येऽपि [अपीत्युक्त्या 'ततः पूर्वमपि, ततः पश्चादपि' इत्याक्षिप्तम्] यतेरौचित्यमभ्यनुज्ञातम्, यथा चामीकरादिशब्देषु मध्येऽपि यतेरौचित्यं पूर्वमुक्तं तद्वत्। तत्र पूर्वक्रममनुरुध्य पूर्वमनेकाक्षरचादिविषये, ततः पूर्वमपि यतिमुदाहरति– **प्रत्यादेशादपीति**–

"रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्यं,
प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम्।
त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या,
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ॥" [उ० मे० ३७] इति पूर्णं पद्यम्।

मेघाय स्वप्रियावृत्तान्तं कथयन् यक्ष आह– **त्वयि** मत्संदेशवाहके, **आसन्ने** समीपप्राप्ते सति, **अलकैः** ललाटप्रान्तकेशैः, **रुद्धापाङ्गप्रसरम्** अस्तव्यस्ततया नेत्रोपरिपतनात् प्रतिबद्धापाङ्गव्यापारम्, **अञ्जनस्नेहशून्यं** [प्रोषितपतिकाचारपरिशीलनात्] कज्जलसम्बन्धिस्निग्धतारहितम्, **मधुनः** मदोत्पादकस्य मद्यस्य, **प्रत्यादेशात्** [प्रोषितपतिकानियमानुरोधेन] परित्यागात्, **अपि** [मदफलस्य विलासस्याङ्गभूतयाऽपि भ्रूविक्षेपस्यानवसरत्वमपिशब्देन द्योत्यते] **विस्मृतभ्रूविलासं** विस्मृतः– अनभ्यासवशात् स्मृतिपथादपि विच्युतः, भ्रूविलासः–कटा-

क्षप्रेक्षणं यस्य तथाभूताम्, **मृगाक्ष्याः** चञ्चलविलोचनायाः प्रियायाः, नयनम्, **उपरिस्पन्दि** शुभप्राप्तिसूचकतयोपरिभागे स्फुरत् सत्, **मीनक्षोभात्** मत्स्यकृतालोडनात्, **चलकुवलयश्रीतुलां** चञ्चलनीलकमलकान्तिसाम्यम्, **एष्यति** प्राप्स्यति, इति **शङ्के** तर्कयामि । कुवलयेन सह नेत्रस्योपमा कविभिर्दीयते, किन्तु तत्र कटाक्षविक्षेपाऽञ्जनसम्बन्धभ्रूविलासादयो न भवन्तीति साम्यं सम्यक्तया न घटते, संप्रति च मत्प्रियानेत्रमपि तत्तद्विशेषशून्यमेव, केवलं शुभसूचकोपरिभागस्फुरणयुक्तम्, तच्च मत्स्यसंपर्कात् कुवलयेऽपि सम्पन्नमिति साम्प्रतमेवोमयोः पूर्णं साम्यमिति कवेरुत्प्रेक्षा । अत्र चाद्यन्तर्गतस्य अपेः प्रत्यादेशादिति प्राक्पदेन सम्बन्धसत्त्वेऽपि अनेकवर्णतया ततः पूर्वमपि मन्दाक्रान्ताच्छन्दसो द्यावच्छिन्नभागे विरामोऽदुष्ट इति सङ्गतिः [१६–३१] ।।

चादिविषये पूर्वान्तवद्भावाभावमुदाहृत्य प्रादिविषये परादिवद्भावाभावमुदाहरति– **प्रादीनां यथा– दूरासूढप्रमोदमिति–आसां** प्रकृतानां वनितानाम्, **सखीभिः** सवयोभिः सहचरीभिः सह, **परिस्पष्टं हसितं दूरारूढप्रमोदमिव यथैताः** सखीभिः सह मिलित्वाऽतिस्पष्टरूपेण हसन्ति तथाऽनुमीयते– आसां प्रमोदो हर्षो दूरमारूढ इत्यर्थः । अत्र स्निग्धराच्छन्दसि छायाविच्छिन्ना द्वितीया यतिः 'परि' इत्येतस्य अन्ते पततीति, परेः प्रादितया तस्य परादिवद्भावौचित्येऽपि अनेकवर्णत्वेन न सा व्यवस्थाऽत्र युक्तेति न दोष इति संगतिः [१६–३२] ।।

एतत् सर्वमन्योक्तयतिव्यवस्थामाश्रित्य कथितम्, तथा चास्यावश्यकत्वमपि अनुमतमेव, अप्रतिषिद्धं परमतमनुमतं भवतीति पसिद्धेः, एवं च स्वग्रन्थे एतद्विषये सूत्राभावादनुशासनेऽपूर्णतेति शङ्कामपाकुर्वन्नाह– **तदेतत् सर्वं श्रव्यपदेनैव गतार्थमिति**, अयमर्थः– "श्रव्यो विरामो यतिः" [१–१६] इति सूत्रव्याख्याप्रसङ्गेन–

"यतिः सर्वत्र पादान्ते श्लोकार्धे तु विशेषतः ।
गादिच्छिन्नपदान्ते च लुप्तालुप्तविभक्तिके ।।१।।
क्वचित् तु पदमध्येऽपि गकारादौ यतिर्भवेत् ।
यदि पूर्वापरौ भागौ न स्यातामेकवर्णकौ ।।२।।
पूर्वान्तवत् स्वरः सन्धौ क्वचिदेव परादिवत् ।
द्रष्टव्यो यतिचिन्तायां याद्यादेशः परादिवत् ।।३।।

नित्यं प्राक्पदसम्बद्धाश्चादयः प्राक्पदान्तवत् ।
परेण नित्यसम्बद्धाः प्रादयश्च परादिवत् ॥४॥"

इति कारिकाचतुष्टयमनुसृत्य यत् किञ्चिद् यतिविषये व्यवस्थापितं तदिह सूत्रे सन्निवेशितेन श्रव्यपदेनैव संगृहीतमिति तदर्थं न पृथक् सूत्रप्रणयनमावश्यकम् । श्रव्यत्वं हि श्रुतिसुखकरत्वमिति तत्सूत्रविवरण एवोक्तम्, तथा च प्रोक्तकारिकाचतुष्टयेन तथैव यतेर्व्यवस्था प्रदर्शिता यथा श्रोतुः श्रवणसुखमुत्पद्यते, विपरीतस्य श्रोतुर्वैमुख्यापादकत्वमिति हेयत्वमेव, एवं च कारिकाचतुष्टयेन तत्सम्बद्धेन वा व्याख्यानेन न किञ्चिदिहि विशिष्य विधातुमिष्टमिति । किञ्च, एतावता यतेः श्रुतिसुखायैव विन्यास इति यत्र यतिर्नोपदिष्टा तत्रापि स्वेच्छया तथा यतिः कल्पनीया यथा श्रव्यता स्यादित्युपदिशति– **अनिर्दिष्टयतिकेऽपि च्छन्दसी**ति, अयमाशयः–वर्णच्छन्दःस्वेव केषुचिद् यतिर्निर्दिष्टा मात्राछन्दःसु तु सा नोच्यते तथापि तत्राऽपि तथैव यतिः करणीया यथा श्रव्यता भवेत् । तादृशयतेः सूत्रेणानिर्देशेऽपि उदाहरणेषु व्यक्तीभावादनिष्टामेव यतिं प्रदर्शयति परित्यागार्थम्– **न पुनरेवं यथा तेने**त्यादि– एवं पुनर्यतिर्न विधेया यथोदाह्रियमाणे पद्ये दृश्यत इत्यर्थः । अत्र मानमपीत्यस्य पाठस्य स्थाने 'मानमयि' इति पाठस्य स्थितिः सम्भाव्यते तथैव शोभनार्थगतेः । अपेरत्रासंश्लिष्टार्थत्वमेव । "अयि शशिमुखि ! सखि ! तेन प्रियेण गतेन किं, तस्मिन् मानं कुरु, हे वरतनु ! समदनः स तव चरणयुगम्, स्वयमेव समेति" इत्यन्वयः । काचित् सखी कुपित्वा गतं प्रियं प्रति शोचन्तीं नायिकां प्रोत्साह्यन्त्याह– अयि शशिमुखि !– शशी चन्द्र इव मुखं यस्यास्तत्सम्बुद्धौ– हे चन्द्राऽनने ! सखि ! समानसुखदुःखे !, [एतेन हितोपदेशपात्रत्वमप्रतारणीयत्वं च सूचितम्] तेन–पूर्वोपभुक्तेन, प्रियेण–तवापि प्रीतिपात्रेण, गतेन– त्वां विहायान्यत्र यातेन, किं– न किमपि, ते अत्याहितम् । कुत इत्थं कथयसीत्याशङ्क्याहाह– हे वरतनु !– वरा सर्वावयवकमनीया तनूः– शरीरं यस्यास्तथाभूते !, समदनः–कामपीडायुक्तः, सः– तव प्रियः, तव– भवत्याः पूर्वोक्तसौन्दर्यशालिन्याः, चरणयुगं– पादद्वन्द्वं प्रति, [तवानुनयनाय प्रणिपतितुम्] स्वयमेव– दूतीप्रेषणादिकं विनैव, समेति– समागच्छत्रेवास्ति, न तु समेष्यति, वर्तमानसामीप्यविवक्षया भविष्यति वर्तमानकालप्रयोगः । अत्र यतिः क्वापि न प्रतीयत इत्यस्य पद्यस्याश्रव्यत्वम् [१६–३३] ॥

प्रकृतयतिविचारमुपसंहरन्नाह– **तथा हि** इत्यादि, एतावता विचारेण योऽर्थः प्रतिपादयितुमिष्टः सोऽनया कारिकयोच्यत इति भावः। **अबह्वर्थापी**ति– नास्ति बहुः– अन्तर्निगूढबाहुल्यवान् अर्थो यस्यास्तथाभूताऽपि, **मधुरा** स्थान-प्रयुक्तयत्यादिना सुखश्रव्या, **भारती** वाणी, मनः **हरति** स्ववशं नयति, दृष्टान्तेनोक्तमर्थं समर्थयति– **तमोनिचयसंकाशा** अन्धकारसमूहाकृतिरपि, **मत्तनादा** मदयुक्तं नदन्ती, **कोकिला** पिकी इवेत्यर्थः। कोकिला दर्शने कुरू-पापि श्रुतिसुखदशब्देन यथा मनो हरति तथैव श्रव्या भारत्यपीति भावः।

यत्यादिदोषयुक्तं वचनं कियच्छ्रुतिदुःखावहं भवतीत्यत्र प्राकृतपिङ्गले इत्थ-मुक्तम्–

"जेम ण सहइ कणअतुला तिलतुलिअं अद्धअद्धेण।
तेम ण सहइ सवणतुला अवच्छन्दं छन्दभङ्गेण॥
अबुह बुहाणं मज्झे कव्वं जो पढइ लक्खणविहूणं।
भुअग्गलग्गखग्गेहिँ सीसं खुडिअं ण जाणेइ [१–१०, ११] इति।

"यथा न सहते कनकतुला तिलतुलितमर्धार्धेन।
तथा न सहते श्रवणतुला अपच्छन्दश्छन्दोभङ्गेन॥
अबुधो बुधानां मध्ये काव्यं यः पठति लक्षणविहीनम्।
भुजाग्रलग्नखड्गैः शिरः खण्डितं न जानाति॥ इति संस्कृतम्।

अस्यार्थः– कनकमानतुलायां तिलार्धार्धमपि चेत् प्रक्षिप्यते तदपि तुलया विरुध्यत एव, एवं यदि कश्चिन्मूर्खः पण्डितसमाजे छन्दःशास्त्रीययतिमात्रादि-लक्षणहीनं काव्यं पठति, तां श्रवणतुला न सहते, प्रत्युतायं दोषः खड्गेन शिर-श्छेदवद् दुःखकर इति स [अबुधो] न जानातीति [१६–३४]॥

त्र्यादिर्गादिः ॥१७॥

त्रि-चतुरादिः संख्या क्रमेण 'ग-घ-ङा'दि संज्ञा॥ सू० १७॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां स्वोपज्ञच्छन्दोऽनुशासनवृत्तौ संज्ञा-ध्यायः प्रथमः समाप्तः॥१॥ ग्रन्थाग्रं–१२५, अ० १८।

एवं यतिं निरूप्य छन्दोलक्षणोपयुक्तां गादिसंज्ञामाह– **त्र्यादिर्गादिरिति**। तदेव विवृणोति– **त्रिचतुरादिसंख्या क्रमेण ग-घ-ङादिसंज्ञा** इति, अय-

माशयः- पूर्वं यतिसंज्ञासूत्रे वृत्तौ "सा च तृतीयान्तेषु गघादिनिर्देशेषूपतिष्ठते" इत्युक्तम्, स च गघादिनिर्देशः किमर्थबोधक इति शङ्कापनोदोऽनेन क्रियते, गकारादयो वर्णमालायां स्वक्रमप्राप्तां संख्यां बोधयन्तीति तत्र तृतीयस्य गस्य त्रित्वसंख्याबोकत्वम्, चतुर्थस्य घस्य चतुष्ट्वसंख्याबोधकत्वमिति त्र्यादिसंख्यानां गादिः संज्ञेति । गादिसंज्ञाप्रदेशाश्च-"म्नौ ज्रौ गः प्रहर्षिणी गैः" [२-१९७] "म्तौ ल्गौ माणवकं धैः" [२-७७] इत्येवमादयो बोध्याः ॥ सू० १७ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञकल्पश्रीहेमचन्द्रसूरिभगवत्प्रणीते स्वोपज्ञवृत्ति-संकलिते **छन्दोऽनुशासने** प्रथमाध्याये तपोगच्छाधिपति- सर्व-तन्त्रस्वतन्त्र- **श्रीविजयनेमिसूरीश्वर**पटालंकारेण 'व्या-करणवाचस्पति-शास्त्रविशारद-कविरत्न' इति पदालंकृतेन **श्रीविजयलावण्यसूरिणा** प्रणीतः प्रद्योतः ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

छन्दः ॥१॥

आ शास्त्रपरिसमाप्तेः, 'छन्दः' इत्यधिकृतं वेदितव्यम् ॥१॥

छन्दोऽनुशासनोपयोगिनीः संज्ञाः प्रथमाध्यायेनोक्त्वा छन्दांसि विवक्षुरग्रे वक्ष्यमाणसूत्रेषु सर्वत्रोपस्थास्यत् 'छन्दः' पदमधिकरोति-"**छन्दः**" इति । सूत्रस्यैकपदरूपत्वात् पदान्तरं विना च वाक्यार्थबोधानुपयुक्तत्वात् सूत्रस्य नैरर्थक्यशङ्कायामाह- **आ शास्त्रपरिसमाप्तेरिति**- शास्त्रस्य- प्रकृतच्छन्दोऽनुशासनस्य, समाप्तिमभिव्याप्य, **'छन्दः' इति पदमधिकृतं**- सर्वत्र सम्बध्यमानं, **वेदितव्यं** ज्ञातव्यमित्यर्थः । तथा चाधिकारसूत्रमिदं वक्ष्यमाणानां सूत्राणामुपकारकमिति स्वांशेऽबोधकत्वेऽपि परत्र बोधजननात् सार्थक्यमासादयति । एवं च-

"संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च ।
प्रतिषेधोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम् ॥"

इति परिगणितेषु सूत्रलक्षणेषु षष्ठी विधाऽस्य सूत्रस्येति । एतच्च सूत्रं छन्दोलक्षणसूत्रेष्वेवाधिकृतं बोध्यम्, न तु "पादः" [२-२] इत्येवमादिष्वधिकारसूत्रेषु, तेषामपि विधिसूत्रोपकारकत्वेन गुणरूपत्वात्, "गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात्" इति न्यायानुसारं परस्परसम्बन्धानर्हत्वात्; तथा च "अपेक्षातोऽधिकारः" इति न्यायेन यत्रैतस्यापेक्षा तत्रेदं सम्बध्यत इति पर्यवसितम् ॥ अ० २, सू०-१ ॥

पादः ॥२॥

पाद इत्यधिकार आ शास्त्रपरिसमाप्तेः ॥२॥

अन्यदप्यधिकारसूत्रमाह-"**पादः**" इति । अस्याप्येकपदत्वेन स्वार्थबोधाक्षमत्वात् परार्थत्वे विज्ञातेऽधिकारार्थत्वमेव योग्यतया प्रतीतमित्याह- **पाद इत्यधिकार आ शास्त्रपरिसमाप्तेरिति**, तथा च पूर्वसूत्रवदिदमपि यत्र यत्र

लक्षणसूत्रेऽपेक्ष्यते तत्र तत्र सम्बध्यत इत्यर्थः । एवं चाग्रे यावद्भिरक्षरैर्मात्राभिर्वा यस्य छन्दसो लक्षणं वक्ष्यते तस्यैकः पादस्तादृशलक्षणयुक्तः, तावद्भिर्वर्णैर्मात्राभिर्वा तदीयः पादो विज्ञेय इति यावत् । यद्यप्यग्रे पूर्वार्धपरार्धयोरप्यार्यादिच्छन्दःसु मात्रासंख्या नियता न तु प्रतिपादम्; एवं च तेषु 'पाद' इत्यस्याधिकारो न सम्बध्यत इति तस्य विच्छेदोऽभ्युपेयः, तथाप्यार्याप्रकरणानन्तरं गलितकादिच्छन्दसि पुनः पादानुसार्यैव लक्षणमिति तत्रैतस्याधिकार आवश्यक एवेति "अपेक्षातोऽधिकारः" इति न्यायानुसारं मण्डूकप्लुत्या तत्राधिकारोपस्थितिः स्वीकार्येति साधूक्तम्– आ शास्त्रपरिसमाप्तेरिति ॥२॥ अ० २, सू०–२ ॥

इदानीमेकाक्षराद्याः षड्विंशत्यक्षरावसानाश्छन्दोजातीराह–

एकाक्षरोक्ता जातिः ॥३॥

एकाक्षरपादा उक्ता नाम भेदसंग्रहात्मिका जातिः ॥३॥

आरभ्यमाणस्य छन्दोलक्षणग्रन्थस्याधिकारसूत्रानन्तरं पठ्यमानं प्रकरणमवतारयति– **इदानीमेकाक्षराद्याः षड्विंशत्यक्षरावसानाश्छन्दोजातीराहे**ति– एकाक्षरपादं छन्द आदौ षड्विंशत्यक्षरात्मकपादं च छन्दोऽवसाने यासां तादृशीः, छन्दोजातीः– स्वावान्तरविशेषसहितानि छन्दः सामान्यानि, **आह**– कथयति, वक्ष्यमाणैः सूत्रैरित्यर्थः । तत्रैकाक्षरच्छन्दोजातिं प्रथमेन वस्तुतस्तृतीयेन सूत्रेणाह– **एकाक्षरोक्ता जातिरि**ति– अत्र पदत्रयम्– एकाक्षरा उक्ता जातिरिति च । तथा चार्थमाह– **एकाक्षरपादा** इत्यादिना, एकाक्षरमात्रः पादो यस्यास्तादृशी छन्दोजातिः **'उक्ता'** इति संज्ञिता । तादृशस्य च्छन्दस एकत्वेनैकव्यक्तिमात्रवृत्तिधर्मस्य जातित्वाभावात् कथं जातिरिति व्यवहार इति चेत् ? अत्राह– **भेदसंग्रहात्मिके**ति– छन्दोभेदसंग्रह एव आत्मा स्वरूपं यस्याः सा इत्यर्थः, तथा च उक्तात्वं न सामान्यरूपमपि तु औपाधिको धर्मविशेष एकाक्षरपादच्छन्दोवृत्तिरिति न काऽपि हानिरिति । क्वचित् पिङ्गलच्छन्दःशास्त्रादावस्य च्छन्दसश्छन्दोजातेर्वाऽस्याः 'उक्था' इति नाम दृश्यते, अर्थविशेषाननुगमात् पारिभाषिकनाम्नि नियामकाभावाच्च नात्र किञ्चिन्निर्णायकमिति यदृच्छाशब्दवदपर्यनुयोजनीयमेतत् ॥ अ० २, सू०–३ ॥

अत्युक्ता-मध्या-प्रतिष्ठा-सुप्रतिष्ठा-गायत्री-उष्णिग्-अनुष्टुब्-बृहती-पङ्क्ति त्रिष्टुब्-जगती अतिजगती-शक्करी अतिशक्करी-अष्टि-अत्यष्टि धृति-अतिधृतयः-एकैकवृद्धाः ॥४॥

उक्तात एकैकाक्षरवृद्धपादा अत्युक्तादयः । तत्र द्व्यक्षरा- अत्युक्ता जातिः, त्र्यक्षरा- मध्या, चतुरक्षरा- प्रतिष्ठा, एवं- यावदेकोनविंशत्यक्षरा-अतिधृतिः ॥४॥

षड्विंशत्यक्षरावसानानां जातीनां वर्णनस्य प्रकृतत्वाद् द्व्यक्षरादिजातीराह- **अत्युक्ता-मध्या०** इत्यादिना सूत्रेण । व्याख्याति- **उक्तात एकैकाक्षरवृद्धपादा अत्युक्तादय** इति- तासां छन्दोजातीनां किमपि विशिष्य लक्षणमपि तु अक्षरसंख्यैव तत्तज्जातिनियामिकेत्यर्थः । एतानि नामानि संज्ञामात्रप्रयोजनानि न तु तत्राऽक्षरार्थानुगमः कश्चित् । छन्दोऽनुशासनविधायकैः पूर्वाचार्यैरपि यानि नामानि समाश्रितानि तान्येव परम्पराप्राप्तानीमानि नामानि, तथा च प्रत्येकं विविच्य परिचाययति- **तत्र द्व्यक्षरा-अत्युक्ता जातिरि**त्यादिना, द्वे अक्षरे यस्याः पादे सा **द्व्यक्षरा, जातिः** छन्दःप्रभेदः, **अत्युक्ता** नामेत्येवंरूपेण व्याख्येयम् । 'षड्विंशत्यक्षरावसानाः' इत्युक्तमत्र तु पूर्वसूत्रलक्षितयोक्तया सह एकोनविंशतीनामेव कथनमिति किमत्रैव विंशत्यक्षरादिपादानामपि संनिवेश उत तानि पृथग् वक्ष्यन्ते इति शिष्यसंशयोच्छेदायाह- **एवं-यावदेकोनविंशत्यक्षरा- अतिधृतिरिति**- विंशत्याद्यक्षरपादानामग्रिमसूत्रेण संगृह्य संज्ञाया वक्ष्यमाणत्वेनैकोनविंशत्यक्षरपादानामेवात्र संनिवेश इति भावः, एकेन ऊना-एकोना "ऊनार्थ०" [३. १. ६७.] इति समासः, एकोना चासौ विंशतिरिति कर्मधारये पुंवद्भावे च- एकोनविंशतिरिति, एकान्नविंशतिरिति पाठे तु- एकेन नविंशतिरेकान्नविंशतिरिति "नविंशत्यादि०" [३. १. ६९.] इति समास एकशब्दस्य चादन्तागमः, सूत्रनिर्देशबलात् नञोऽदादेशो डः समासान्तश्च न भवति ॥ अ० २, सू०-४ ॥

कृतिः प्राविसमभ्युदश्च ॥५॥

'प्र-आङ्-वि-सम्-अभि-उद्' इत्येतेभ्यश्च परा कृतिरेकैकवृद्ध्याक्षरा । विंशत्यक्षरा- कृतिः, एकविंशत्यक्षरा- प्रकृतिः, द्वाविंशत्यक्षरा- आकृतिः, त्रयो-

विंशत्यक्षरा– विकृतिः, चतुर्विंशत्यक्षरा– संकृतिः, पञ्चविंशत्यक्षरा– अभिकृतिः, [एवं] षड्विंशत्यक्षरा– उत्कृतिः, इति [यावत्] ॥५॥

विंशत्यादिषड्विंशत्यवसानाक्षरपादानां छन्दसां जातीः संक्षेपेणाह– **कृतिः प्राविसमभ्युदञ्चे**ति, क्वचित् 'प्राविं' स्थाने 'प्राङ्वि' इति पाठः 'कृतिः' इति चान्ते। विवृणोति–**'प्र–आङ्०'** इत्यादिना, विंशत्यक्षरपादा जातिः कृतिः, सैवैकैकाक्षरवृद्धपादा क्रमशः– 'प्र–आङ्-वि-सम्-अभि-उद्' इत्येतैः षड्भिरुपसर्गैर्युक्तेन कृतिशब्देनोच्यन्ते। तथा च योऽर्थः पर्यवसन्नस्तं विविच्य दर्शयति– **विंशत्यक्षरा– कृतिरि**त्यादिना– विंशतिरक्षराणि पादे यस्याः सा विंशत्यक्षरा जातिः, कृतिरित्याख्यायते, एकविंशतिरक्षराणि पादे यस्याः सा– **प्रकृ**तिरित्युच्यते जातिः, द्वाविंशतिरक्षराणि पादे यस्याः सा– आकृतिर्जातिः, त्रयोविंशतिरक्षराणि पादे यस्याः सा– विकृतिनाम्नी छन्दोजातिः, चतुर्विंशतिरक्षराणि यस्याः पादे सा–संकृतिरिति, अत्र समः परत्वेऽपि भूषणाद्यर्थाविवक्षया न स्सट्, पञ्चविंशतिरक्षराणि यस्याः पादे सा– अभिकृतिर्जातिः, एवं षड्विंशतिरक्षराणि यस्याः पादे सा– जातिरुत्कृतिर्नाम। **इति**शब्दः प्रकृतच्छन्दोजातिवर्णनपूर्त्तिद्योतकः ॥ अ० २, सू०–५ ॥

अथासामेव जातीनामुपयोगिनो भेदानाह–

उक्तायां गः श्रीः ॥६॥

उक्तायां जातौ गुरुरेकाक्षरः पादः, स च श्रीनामा। यथा–गी–, र्धीः। श्रीः, स्तात् ॥ ६–१ ॥

अथ प्रतिजातिच्छन्दोभेदानुदाहर्तुं सूत्राण्यवतारयति– **अथासामेव जातीनामुपयोगिनो भेदानाहे**ति– अतः परमुक्ताद्युत्कृत्यन्तानां कथितानां छन्दोजातीनामुपयोगिनः–घटकतया समवेतान्, भेदान्–विशेषान्, आह–अग्रिमैः सूत्रैः कथयतीत्यर्थः। तत्र प्रथमोपस्थितामेकाक्षरपादामुक्तामेवाह– **उक्तायां गः श्रीः** इति। विवृणोति– **उक्तायां जातावि**ति– उक्तासंज्ञिकायामेकाक्षरपादच्छन्दोजातौ एको गुरुरूप एव पादः, तच्च छन्दः श्रीनामेति तदर्थः। उदाहरति– **यथा– "गी–,र्धीः। श्रीः, स्तात् ॥"** इति– कस्मैचित्

कश्चिदाशिषं प्रयुङ्क्ते- गीः- वाणी, धीः- बुद्धिः, श्रीः- लक्ष्मीश्च, स्तात्- भवतु ।

"अहरहर्नयमानो, गामश्वं पुरुषं पशुम् ।
वैवस्वतो न तृप्यति, सुराया इव दुर्मदी ।।"

इत्यादौ विनाऽपि चं चार्थो द्योत्यत इति गीरादीनां समुच्चयो गम्यते । आद्यस्य च्छन्दसः श्रीरिति नामकथनेनाशीर्वादार्थकस्यैवोदाहरणस्य च दानेनाचार्यस्य माङ्गलिकत्वं व्यक्तम्, सहि सर्वेषां व्याख्यातृ-श्रोतृणामनायासेन मङ्गलार्थमेवैवं छन्दोनामोदाहरणं च प्रयुक्तवान् । अस्य चैकाक्षरपादत्वेन तस्याप्यक्षरस्य गुरुरूपत्वेन नियतत्वादन्येषां प्रभेदानामसम्भव एवेत्यस्यां जातावेकमेव च्छन्दः । उदाहरणेषु यथाकथंचिच्छन्दोनाम्नः समावेशनमिति रीतिः ।। अ० २, सू०-६ ।।

अत्युक्तायां गौ स्त्री ॥ ७ ॥

यथा-भ्रात-, दृष्टा । इष्टा, सा स्त्री ।। ७. १. ।। पद्ममित्येके ।। ७. १. ।।

द्व्यक्षरात्मकपादायामत्युक्तायां छन्दोविशेषमाह- **'अत्युक्तायां गौ स्त्री'** इति- गाविति गुरुद्वयरूपः पादो यस्याः सा-स्त्री, अत्युक्ताजाति विशेष इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा-भ्रातरिति-** हे भ्रातः ! इष्टा- इच्छाविषयीभूता, सा-पूर्वं चर्चिता स्त्री, दृष्टा- लोचनविषयीकृता । अत्र चतुर्ष्वपि पादेषु गुरुद्वयमिति लक्षणसमन्वयः । अस्यैव च्छन्दसो मतान्तरानुसारं नामान्तरमाह- **पद्ममित्येके** इति- एके आचार्या गुरुद्वयात्मकपादं छन्दः पद्ममित्यादुः । प्राकृतपिङ्गले च गुरुद्वयपादस्य 'काम' इति नामोक्तम्, तथा च नात्रैकरूपा आचार्यपरम्परा, यथाशास्त्रं संज्ञाभेदेऽपि जाति विषये न विवादः ।। अ० २, सू०-७ ।।

लौ मदः ॥ ८ ॥

जय, जिन ।। जित-, मद! ।। ८. १ ।। पुष्पमिति कश्चित् ।। ८. १ ।।

अत्युक्ताया एव द्वितीयं विशेषमाह- **"लौ मदः"** इति- लघुद्वयरूपो द्व्यक्षरः पादो यस्य तत् 'मद' इत्याख्यायत इत्यर्थः उदाहरति-**जय, जिनेति-** हे जितमद !- वशीकृताहङ्कार ! जिन ! [त्वं] जय- सर्वोत्कर्षेण वर्तस्वेत्यर्थः,

'जितमदः' इति पाठेतु- हे जिन ! त्वं जितमदः सन् जयेत्यर्थः । अस्यापि नामान्तरमाह- **पुष्पमिति कश्चिदिति** । प्राकृतपिङ्गले च मध्विति नाम लघुद्वयरूपपादस्य छन्दसः ॥ अ० २, सू०-८ ॥

ग्लौ दुःखम् ॥९॥

यथा- कस्य, नात्र । दुःख-, मस्ति ॥ ९. १ ॥

अत्युक्तायास्तृतीयं प्रभेदमाह- **"ग्लौ दुःखम्"** इति- एको गुरुर्द्वितीयो लघुरिति अक्षरद्वयरूपः पादो यस्य तच्छन्दो दुःखमित्याख्यायत इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- "कस्य, नात्र । दुःखमस्ति"** इति- प्रतिपादमाद्यो वर्णो गुरुर्द्वितीयो लघुः । अत्र- संसारे, कस्य- जनस्य, दुःखं- प्रतिकूलवेदनीयं कर्मफलं; न, अस्ति, अपि तु सर्वस्य तादृशफलं भवत्येवेत्यर्थः, तात्त्विकदृष्ट्या विचारे तु अत्र यत्किञ्चिदनुभूयते तत् सर्वं दुःखमेवेति ॥ अ० २, सू०-९ ॥

ल्गौ सुखम् ॥१०॥

यथा- जिनः, स वः । क्रियात्, सुखम् ॥ १०.१ ॥

चतुर्थं प्रभेदमाह- **"ल्गौसुखम्"** इति- प्रथमो लघुर्द्वितीयो गुरुरिति लघुगुरुरूपाक्षरद्वयपादवत् छन्दः सुखमिति कथ्यत इत्यर्थः । **यथा- जिनः, स वः । क्रियात्, सुखम् ॥** इति- अत्र प्रतिपादं प्रथमो लघुर्द्वितीयो गुरुरिति लक्षणसमन्वयः । अर्थश्च- स- प्रसिद्धानुभावः, जिनः, वः- युष्माकं, सुखं- अनुकूलवेदनीयं कर्मफलं, क्रियात्- विदध्यात्, इति । इत्येवमत्युक्तायाः ४ चत्वारो भेदा व्याख्याताः ॥ अ० २, सू०-१० ॥

मध्यायां मो नारी ॥११॥

यथा- निःसारे, संसारे । सारं किं, स्यान्नारी ॥ ११. १ ॥

अथ तृतीयाया मध्यायाः प्रकारानुपक्रमते- **मध्यायां मो नारीति-** मगणरूपमक्षरत्रयं पादे यस्य तन्नारीनामकं छन्दो मध्यायां जातौ प्रथमो भेदो वेदितव्य इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- 'निःसारे, संसारे । सारं किं,**

स्यान्नारी' ॥ इति- अत्र गुरुत्रयात्मक- मगणरूपः पादः । अर्थश्च- निःसारे- साररहिते, संसारे, सारं- वरं किं स्यात् ? इति प्रश्ने उत्तरमाह- **नारी**ति- सांसारिकदृष्ट्या तस्या एव अनुपमत्यागमयीत्वात्, सा हि मातृरूपेण स्वकीयं सर्वमपि सुखं पुत्रार्थं त्यजति, पत्नीरूपेणाऽपि स्वसुखनिरपेक्षैव स्वामिनं सुखयति, आत्मानं च तत्रैव विलापयतीत्यहो तदीया निःस्वार्थता, तथा च सर्वश्रेष्ठत्वं तस्याः । विरक्तदृष्ट्या व्याख्याने तु निःसारे संसारे नारी किं सारं स्यात् ? इति काकुः, नैव स्यादित्याकूतम्, तस्या एव सकलबन्धहेतुत्वात्, तत्र सारत्वसन्देहोऽपि वृथै-वेत्यर्थः । अत्र यद्यपि हैमलिङ्गानुशासनरीत्या न्याय्येऽर्थे सारशब्दस्य क्लीबत्वम्, तथाहि- तत्र कारिका-

"धर्मं दानादिके, तुल्यभागेऽर्धं ब्राह्मणं श्रुतौ ।
न्याय्ये सारं, पद्ममिभबिन्दौ, काममनुमतौ ॥"

[न० लि० ७] इत्युक्तम्, अत्र च न न्याय्येऽर्थे प्रयोगः, तथा च क्लीबत्वं न युक्तमिति सारं किमिति कथनं न युज्यते; तथापि "सारो बले स्थिरांशे च, न्याय्ये क्लीबं, वरे त्रिषु" इति नानार्थवर्गेऽमरोक्त्या वरे श्रेष्ठेऽर्थे तस्य त्रिलिङ्गत्वमिति सामान्यविवक्षया सारं किमिति प्रयोगो बोध्यः ॥ अत एव "असारे खलु संसारे सारं सारङ्गालोचना" इत्याद्यपि संगच्छते ॥ अ० २, सू०-११ ॥

यः केशा ॥१२॥

यथा- पुरंध्री, सुवेशा। इयं सा, सुकेशा ॥ १२. १ ॥ घूरिति भरतः ॥१२.१॥

मध्याया जातेर्द्वितीयं प्रकारमाह- **"यः केशा"** इति । आदिलघूत्तरगुरुद्वयरूपस्त्रिवर्णात्मके यगणरूपः पादो यस्य तच्छन्दः केशा नामेत्यर्थः । उदाहरति- **पुरंध्री, सुवेशेत्या**दि- अत्र प्रतिपादमाद्यक्षरस्य लघुत्वं शिष्टयोश्च गुरुत्वमिति यगणात्मकः पादः स्पष्टः । सा इयं- प्रत्यक्षदृश्यमाना, सुवेशा- सुन्दरनेपथ्या, सुकेशा- शोभनकेशवती, पुरन्ध्री- पतिव्रता, अस्ति, इति स्वरूपकथनमर्थः । **अत्र** मतान्तरमाह- **घूरिति भरतः** इति- भरतो नाट्यशास्त्र- कर्ता, इदं छन्दः घूरिति नाम्ना व्यवहरतीत्यर्थः ॥ सू० २-१२ ॥

रो मृगी ॥१३॥

यथा-वल्लभा, गेहिनी । या मृगी-, लोचना ॥१३.१॥ तडिदिति भरतः ॥१३.१॥

मध्याया जातेस्तृतीयं प्रभेदमाह- **"रो मृगी"** इति- लघुमध्यवर्ण-त्रयात्मकरगणरूपपादयुक्तं मृगीनामकं छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **वल्लभा गेहिनी**ति- या गेहिनी- गृहिणी, मृगीलोचना- मृग्या लोचने इव लोचने यस्यास्ताहशी [सा] वल्लभा- पत्युः प्रिया भवतीत्यर्थः । अत्र चतुर्णामपि पादानां मध्यलघुत्वं स्पष्टम् । अत्रापि मतान्तरमाह- **तडिदिति भरतः** इति- भरत आचार्य इदं छन्दः 'तडित्' इत्याहेत्यर्थः ॥ अ० २, सू०-१३ ॥

सो मदनः ॥ १४ ॥

यथा- विरहे-,ऽभ्यधिकम् । मदनो दहति ॥ १४.१॥ रजनीति भरतः । केचित्तु-'भ्न-भ्य-ज्र-स्ताम्' एकैकोऽपि- अब्धिः, शङ्खः, शुभ्रं, दुग्धम्, इत्याहुः ॥ १४.१ ॥ ३।४ ॥

मध्याया जातेश्चतुर्थं विशेषमाह- **सो मदन** इति- सगणेन- लघुद्वयैक-गुरुभिर्निर्मिताः पादा यस्य तत् मदनो नाम च्छन्दः । उदाहरति- **यथा-विरह** इति- मदनः- कामः, विरहे- प्रियायाः प्रियस्य वा विच्छेदे, **अभ्यधिकं-** संयोगावस्थातोऽतिशयितं, **दहति** चेतस्तापयतीत्यर्थः । अस्यैव-च्छन्दसो नामान्तरमपि मतान्तरेणाह- **रजनीति भरत** इति- भरतनाट्य-शास्त्रे गायत्रीच्छन्दसः पूर्वं छन्दसां नामानि सम्प्रति नोपलभ्यन्ते, तथापि तस्या-कररूपत्वेन सम्भाव्यतेऽन्येषामपि तत्रोल्लेखः, कालविच्छेदाच्च स पाठोभ्रष्ट इति मध्याया जातेस्त्र्यक्षरत्वेन सर्वैरेव गणैस्तस्या निर्माणं संभवतीति गणसंख्या-समा अस्य च्छन्दसो भेदा इति केषांचिन्मतं सूचयति- **केचित् तु- 'भ्न-भ्य-ज्र-स्ताम्'एकैकोऽपी**ति- एषां गणानां प्रत्येकमपि मध्याभेदपाद-रूपतां याति, तत्र- म-य-र-सानां पादानां सत्त्वे याश्छन्दः संज्ञास्ता उपरिष्टादुक्ता एव, शेषाणां न-भ-ज-तानां पादानां संज्ञा अपि तदूहिता आह- **अब्धिः, शङ्खः शुभ्रं, दुग्धमिति**- अत्र कस्य का संज्ञेति विशिष्यानुक्तत्वात् तदनुसारिग्रन्थ-स्य चानुपलब्धत्वात् विशिष्य निर्णेतुमशक्यमिति विरमामः ॥ अ० २, सू०-१४॥

प्रतिष्ठायां म्गौ कन्या ॥१५॥

मगणो गुरुश्च । यथा- सर्वैर्देवैः, येहां चक्रे । सेयं मन्ये, धन्या कन्या ॥ १५.१ ॥

अथ चतुरक्षरपादां प्रतिष्ठाजातिं वर्णयितुं प्रथमभेदमाह- **प्रतिष्ठायां म्गौ कन्येति**- प्रतिष्ठाजात्यन्तर्गतं मगणेन- गुरुत्रयेण, गुरुणा चैकेन, चतुर्भिर्गुरुभिरिति यावत्, विरचितपादं कन्यानामकं छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- सर्वैर्देवैरिति**- या सर्वैः- देवैः- सकलैः सुरैः, ईहांचक्रे- प्राप्तुमभिलषिता, सा इयं कन्या-बाला, 'धन्या' इति [अहं] मन्ये-उत्प्रेक्षयामीत्यर्थः । अत्र चतुर्भिगुरुभिर्वर्णैः पादाः कृताः ॥ अ० २, सू०-१५ ॥

म्गौ सुमुखी ॥१६॥

मगणो गुरुश्च । यथा- क्षीणतनु-, मद्विरहे । याऽश्रुमुखी, सा सुमुखी ॥ १६. १ ॥ ललितेति भरतः ॥ १६.१ ॥

प्रतिष्ठाजातेर्द्वितीयं भेद माह- **"म्गौ सुमुखी"** इति- भगणेन गुरुणैकेन लघुद्वयेन-ऽ॥, गुरुणा चैकेनेति चतुर्भिर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् सुमुखीनामकं वृत्तमित्यर्थः। उदाहरति- **यथा- क्षीणतनुरिति**-या सा- प्रसिद्धरूपा, सुमुखी- सुन्दराननना, मद्विरहे- मया सह विच्छेदे, क्षीणतनुः- कृशशरीरा, अश्रुमुखी- नेत्रजलक्लिन्नानना, च भवतीत्यर्थः । अत्र प्रतिपादं भगणस्य ऽ॥, गुरोःऽच सन्निवेशः स्पष्टः । अस्यैव भरताभिमतं नामान्तरमाह- **ललितेति भरत** इति- अदोऽपि छन्दो भ० ना० शास्त्रे न लक्षितं दृश्यते ॥ अ० २, सू०-१६ ॥

ज्गौ विलासिनी ॥१७॥

जगणो गुरुश्च । यथा- न लभ्यते, घनस्तनी । धनं विना, विलासिनी ॥ १७.१ ॥ जयेति भरतः ॥ १७.१ ॥

प्रकारान्तरेण प्रतिष्ठामाह- **"ज्गौ विलासिनी"** इति- ।ऽ। आद्यन्तलघुगुरुमध्यजगणेन, गुरुणा चैकेन निर्मितपादं छन्दो विलासिनी नाम । उदाहरति- **यथा- न लभ्यत** इति- घनस्तनी- कठोरनिबिडकुचा, विलासिनी-

सर्वविधविलसनरतिनिपुणा स्त्री, धनं विना- वित्तरहितेन जनेन, न लभ्यते- न प्राप्यत इत्यर्थः। अत्र प्रतिपादं प्रोक्तलक्षणस्य स्थितिः स्पष्टैव । भरताभिमतं नामान्तरमाह- **जयेति भरतः** इति- भरत इदं छन्दो जयानाम्ना व्यवहरतीत्यर्थः ॥ अ० २, सू०-१७ ॥

र्गौ समृद्धिः ॥१८॥

रगणो गुरुश्च। यथा- पुण्यपात्रे, शुद्धचित्तैः। या प्रदत्ता, सा समृद्धिः ॥ १८. १ ॥ पुण्यमिति भरतः ॥ १८.१ ॥

प्रतिष्ठायांश्चतुर्थं प्रभेदमाह- **"र्गौ समृद्धिः"** इति- रगणेन ऽ।ऽ, गुरुणा चैकेन ऽ, विरचितः पादो यस्य तच्छन्दोऽत्र समृद्धिनाम्ना व्यवह्रियत इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- पुण्यपात्रे** इति- शुद्धचित्तैः- फलाभिसन्धिराहित्येन निर्मलान्तःकरणैः, पुण्यपात्रे- पुण्ये- सत्यवचनस्वधर्माचरणादिभिः पवित्रे, पात्रे- दानोद्देश्ये जने, या प्रदत्ता- वितीर्णा, सा समृद्धिरिति कथ्यते, सैव समुचिता सम्पदित्यर्थः। अस्यैव भरतसम्मतं नामान्तरमाह- **पुण्यमिति भरतः** इति 'पु[ऽ]ण्य[।]पा[ऽ]त्रे[ऽ]' इत्येवंरूपेण लक्षणसमन्वयः प्रतिपादमुन्नेयः ॥ अ० २, सू०-१८ ॥

न्गौ मृगवधूः ॥१९॥

नगणो गुरुश्च। यथा- तव पुरो, नयनयोः। किमिव सा, मृगवधूः॥१९. १॥

पञ्चमं प्रतिष्ठायाः प्रकारमाह- **"न्गौ मृगवधूः"** इति- नगणेन ।।।, गुरूणा ऽ च विरचितः पादो यस्य तच्छन्दो मृगवधूर्नाम। उदाहरति- **यथा- तव पुर** इति- किं सा- प्रकृतनिर्वचना स्त्री, तव नयनयोः, पुरः- अग्रे, मृगवधूरिव- हरिणीव चञ्चलनेत्रा भीतेव वा भवति ?। 'त[।] व[।]पु[।]रो[ऽ]' इत्येवं रूपेण लक्षणानुगतिः स्पष्टा। सर्वत्र चैतेषु छन्दःसु छन्दसो नामाऽपि प्रकृतार्थान्वय्यर्थतया समावेशितमिति न विस्मर्तव्यम्, तदनुरोधेनैव च नार्थचारुत्वे व्यवसाय इत्यपि बोध्यम् ॥ अ० २, सू०-१९. ॥

यगौ व्रीडा ॥२०॥

यगणो गुरुश्च । यथा– तथा तेन, कृतं भर्त्रा । यथा चित्ते, ऽभवद् व्रीडा ॥ २०. १ ॥

प्रतिष्ठायाः षष्ठं प्रकारमाह– **यगौ व्रीडेति**– यगणेन ।ऽऽ, गुरुणा ऽ च निर्मितः पादो यस्य तच्छन्दो व्रीडा नाम । उदाहरति– **यथा– तथा तेन** इति– भर्त्रा– स्वामिना, न तु प्रियेण, तथा– तेन प्रकारेण, कृतमाचरितं, **यथा**– येन प्रकारेण, चित्ते, व्रीडा– लज्जा, अभवत्– जातेत्यर्थः । अत्र 'य[।]-था[ऽ]चि[ऽ]त्ते[ऽ]' इत्येवं रीत्या प्रतिपादं लक्षणानुगतिः ॥ अ २, सू० २० ॥

स्गौ सुमतिः ॥२१॥

सगणो गुरुश्च । यथा– भज धर्मं, वद सत्यम् । त्यज पापं, सुमतिः सन् ॥ २१. १. ॥ भ्रमरीति भरतः ॥ २१.१ ॥

सप्तमं प्रकारमाह– **"स्गौ सुमतिः"** इति– सगणेन ।।ऽ, गुरुणा ऽ च, विरचिताः पादा यस्य तत् सुमतिनामकं छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– भज धर्मम्** इति– सुमतिः– निर्दुष्टबुद्धिः, सन्– भूत्वा, धर्मं शास्त्रगुरुपदिष्टं सत् कार्यं, भज– अनुतिष्ठ, सत्यं– यथार्थं, वद– ब्रूहि, पापम्– असदाचरणं, त्यज–वर्जयेत्यर्थः। 'भ[।]ज[।]स[ऽ]त्यं[ऽ]' इति रीत्या पादे लक्षणाऽनुगतिः, समवृत्ततया च चतुष्वंपि पादेषु तथैव वर्णविन्यासः ॥ अ० २, सू०–२१ ॥

त्गौ सोमप्रिया ॥२२॥

तगणो गुरुश्च । यथा– विभ्राजते, खे रोहिणी । चारुद्युतिः, सोमप्रिया ॥ २२. १ ॥ ४।८ ॥

प्रतिष्ठाया अष्टमं प्रभेदमाह– **"त्गौ सोमप्रिया"** इति– तगणः ऽऽ।, गुरु-रेकः ऽ, इति वर्णचतुष्टयेन निर्मिताः पादा यस्य तत् छन्दः 'सोमप्रिया' नाम्ना व्यवह्रियत इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– विभ्राजते** इति– खे– आकाशे, चारुद्युतिः– सुन्दरच्छविः, सोमप्रिया– निशाकरप्रीतिपात्रम्, रोहिणी– स्व-नामप्रसिद्धा तारा, विभ्राजते– सर्वाभ्यस्तारकाभ्योऽतिरिच्य शोभत इत्यर्थः ।

'वि[ऽ]भ्रा[ऽ]ज[।]ते[ऽ]' इत्येवंरूपेण प्रतिपादं लक्षणसमन्वयोऽवसेयः ॥ अ० २, सू०-२२ ॥

सुप्रतिष्ठायां रो गौ प्रीतिः ॥२३॥

यथा- यस्य नैवार्थाः, नैव कामिन्यः । नापि वैराग्यं, तस्य का प्रीतिः ॥ २३.१ ॥

[इत्थं प्रतिष्ठायामष्टौ भेदा उक्ताः, प्रस्तारक्रमेण च १६ षोडश भेदाः स्युरिति वृत्तरत्नाकरे निर्दिष्टम्]

एवं चतुरक्षरां छन्दो जातिं निरूप्य पञ्चाक्षरां सुप्रतिष्ठानाम्नीं छन्दोजातिं सप्रभेदां निरूपयति- **"सुप्रतिष्ठायां रो गौ प्रीतिः"** इति- 'रः-रगणः ऽ।ऽ, गुरू ऽऽ' इत्येवंस्वरूपैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् छन्दः सुप्रतिष्ठायां- सुप्रतिष्ठासंज्ञकछन्दोजातिमध्ये 'प्रीतिः' इति नाम्ना व्यवह्रियत इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- यस्य नैवार्थाः** इति- यस्य- जनस्य, अर्थाः- धन-धान्यादिसम्पदः, न एव- निश्चितरूपेण न सन्ति, कामिन्यः- कामभोगोपयुक्ताः स्त्रियः, न एव सन्ति, अपि- अन्यच्च, वैराग्यं- मोक्षोपयोगि विषयवैतृष्ण्यं न- अस्ति, तथा च विषयसतृष्णस्य सर्वविषयशून्यस्य तस्य का प्रीतिः- क आनन्दः, किमपि न सुखमित्यर्थः । सर्वथा विषयविरक्तस्यात्यन्तिकी प्रीतिः, तदभावे अर्थकामोपभोगसम्भवे क्षणिकाऽपि प्रीतिः, उभयशून्यस्य च तस्य का प्रीतिसंभावनेति तात्पर्यम् । 'य[ऽ]स्य[।]नै[ऽ]वा[ऽ]र्थाः[ऽ]' इति लक्षणसंगतिः ॥ अ० २, सू०-२३ ॥

र्लगा विदग्धकः ॥२४॥

रगणो लघुगुरू च । यथा- यौवनेन वा, कार्मणेन वा । यो न दग्धको, ऽसौ विदग्धकः ॥ २४. १ ॥ वागुरेति भरतः ॥ २४. १ ॥

सुप्रतिष्ठायामेव द्वितीयं प्रकारमाह- **"र्लगा विदग्धकः"** इति- 'र्- रगणः ऽ।ऽ, ल्- लघुः, [।], ग्- गुरुः [ऽ]' इत्येवं पञ्चभिर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तद् वृत्तं विदग्धको नाम । उदाहरति- **यथा- यौवनेन वे**ति- यः- पुमान्, यौवनेन- युवत्वकृतेन कामगर्वादिविकारेण, कार्मणेन- स्वक्रियाकृतदुर्विपाकेन वा, न दग्धकः इति- न प्लुष्टान्तःकरणः, स एव विदग्धकः- चतुर

इत्यर्थः। वि- विगतः, दग्धक इति व्युत्पत्त्या विदग्धकशब्दस्य तत्रैव प्रयोग उचित इति तात्पर्यम्। 'यौ[ऽ]व[।]ने[ऽ]न[।]वा[ऽ]' इत्येवं लक्षणसंगतिः सर्वपादेषु। अस्यैव भरतकृतं नामान्तरमाह- **वागुरेति भरतः** इति ॥ अ० २, सू०-२४. ॥

भो गौ पङ्क्तिः ॥२५॥

यथा- फाल्गुनमासे, फुल्लवनान्ते। पावकतुल्या, किंशुकपङ्क्तिः ॥२५.१॥
अक्षरोपपदेत्यन्ये। कुन्तलतन्वीति भरतः ॥२५.१॥

अत्रैव जातौ तृतीयप्रकारमाह- **"भो गौ पङ्क्तिः"** इति- 'भः- भगणः ऽ॥, **गौ**- गुरू ऽऽ' इत्येवंरूपैर्वर्णैः पञ्चभिर्विहिताः पादा यस्य तत् 'पङ्क्तिः' इत्याख्यातं छन्दः। उदाहरति- **फाल्गुनमासे** इति- फुल्लवनान्ते- फुल्लाः- विकसिताः, वनान्ताः- कान्तारप्रदेशा यस्मिन् तादृशे फाल्गुनमासे, किंशुकपङ्क्तिः- पलाशतरुमाला, पावकतुल्या- वर्णतोऽग्नि- सदृशी, विरहिणां कृते च कर्मणाऽपि तथैव दाहिकेत्यर्थः॥ अस्य नामान्तराण्याह- **अक्षरोपपदा इत्यन्ये** इति- अन्ये आचार्याः अक्षरोपपदा पङ्क्तिः- 'अक्षरपङ्क्तिः' इति प्रकृतच्छन्दोनाम निर्दिशन्ति। **कुन्तलतन्वीति भरतः** इति- भरत आचार्यः 'कुन्तलतन्वी' इति प्रथगेवास्य नाम कथयति। 'फा[ऽ]ल्गु[।]न[।]मा[ऽ]से[ऽ]' इत्येवं लक्षणसंगतिः। वृत्तरत्नाकरच्छन्दोमञ्जर्योरपि प्रकृतस्वरूपस्य च्छन्दसः पङ्क्तिरित्येव नाम ॥ अ० २, सू०-२५ ॥

म्लगा रतिः ॥२६॥

भगणो लघुगुरू च। यथा- साधुचरणा-, म्भोजयुगले। हन्त विदुषो, राजति रतिः ॥ २६.१ ॥

अस्यामेव चतुर्थं प्रकारमाह- **"म्लगा रतिः"** इति- 'भगणः ऽ॥, लघु[।], गुरुः [ऽ]' एतत्स्वरूपैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तच्छन्दः 'रतिः' इत्याख्यायते। उदाहरति- **यथा- साधुचरणे**ति- विदुषः- ज्ञानिनः, साधुचरणाम्भोज- युगले- साधुचरणावेव अम्भोजं- कमलं तस्य युगले- द्वन्द्वे, रतिः- अनुरागः,

राजति– शोभते, हन्तेति तद्विरुद्धाचारिषु खेदाभिव्यक्तये । 'सा[ऽ]घु[।]च-[।]र[।]णा[ऽ]' इत्येवं लक्षणसंगतिः ॥ अ० २, सू०–२६ ॥

जो गौ सती ॥२७॥

यथा– स्वभर्तृभक्ता, विशुद्धशीला । निरीहचित्ता, सती सतीयम् ॥२७. १.॥
शिखेति भरतः ॥२७. १.॥

अत्रैव पञ्चमं प्रभेदमाह– **"जो गौ सती"** इति– 'जगणः ।ऽ।, गुरुद्वयं ऽऽ' इत्येवं प्रकारैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तच्छन्दः 'सती' नाम । उदाहरति– **यथा– स्वभर्तृभक्ते**ति– इयं– प्रकृतवर्णिता काचित् स्त्री, स्वभर्तृभक्ता– स्वस्वामिनि भक्तियुक्ता, विशुद्धशीला– विशुद्धं परपुरुषसम्पर्कशून्यं शीलं स्वभावो यस्याः सा, निरीहचित्ता– निःस्पृहमानसा, सती– सम्पद्यमाना, सती– सच्चरित्रेति कथ्यत इति शेषः । 'स्व[।]भ[ऽ]र्तृ[।]भ[ऽ]क्ता[ऽ]' इति रूपेण लक्षणसमन्वयः । अस्यैव भरताभिमतं नामान्तरमाह– **शिखेति भरतः** इति– भरत आचार्योऽस्य च्छन्दसः शिखेति नामाहेत्यर्थः ॥ अ० २, सू०–२७ ॥

त्लगा नन्दा ॥२८॥

तगणो लघुगुरू च । यथा– चित्ते सरला, वेषे तरला । दाने पृथुला, नन्दा महिला ॥ २८.१ ॥

षष्ठं प्रभेदमाह– **"त्लगा नन्दा"** इति– 'तगणःऽऽ।, लघुः[।], गुरुः[ऽ]', इत्येवंरूपैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् 'नन्दा' नामकं छन्दः । उदाहरति– **यथा– चित्ते सरले**ति– चित्ते– चेतसि, सरला– आर्जवयुक्ता, वेषे– नेपथ्यविधौ, तरला– चञ्चला, दाने– वित्तविसर्गे, पृथुला– महत्त्ववती, महिला– भद्रा स्त्री, 'नन्दा' इत्याख्यायत इत्यर्थः । 'चि[ऽ]त्ते[ऽ] स[।]र[।]ला[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–२८ ॥

य्लगा जया ॥२९॥

यगणो लघुगुरू च । यथा– ममानीयत, मनः कान्तया । मुखेनोल्लस–, ज्जिताम्भोजया ॥ २९. १. ॥

सुप्रतिष्ठाया एव सप्तमं प्रकारमाह- **"म्लगा जया"** इति । विवृणोति- **यगणो लघुगुरू चे**ति- 'यगणःISS, लघुः[।], गुरुः[ऽ]' इत्येवं-रूपैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् 'जया' नामकं छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- ममानीय-** तेति- मुखेन- स्वीयाननेन, जिताम्भोजया- अभिभूतकमलया, कान्तया- कामिन्या, उल्लसत्- प्रसन्नं, मम मनः, अनीयत- स्ववशं नीतमित्यर्थः । अत्र पादान्तस्थस्य लघोरपि वा गुरुत्वस्य "वाऽन्तेऽवक्रः"[१।६]इति सूत्रेणानुशिष्ट-त्वात् । 'म[।]मा[ऽ]नी[ऽ]य[।]त[ऽ]' इति लक्षणसंगतिः ॥ अ० २, सू०-२९॥

म्लगाः सावित्री ॥३०॥

मगणो लघुगुरू च । यथा- जैनेन्द्रं मुखं, दिश्याद्वः सुखम् । जिग्ये येन सा, सावित्री प्रभा ॥ ३०. १ ॥

अस्या एवाष्टमं प्रकारमाह- **"म्लगाः सावित्री"** इति । विवृणोति- **मगणो लघुगुरू चे**ति- 'मगणःSSS, लघुः[।], गुरुः[ऽ]' इत्येवंप्रकारैः पञ्च-भिर्वर्णैः कृतस्वरूपाः पादा यस्य तत् 'सावित्री' नामकं छन्द इत्यर्थः । उदा-हरति- **यथा- जैनेन्द्रं मुखम्** इति- येन सा- प्रसिद्धा, सावित्री- सवितुरियं सा, सूर्यसम्बन्धिनी, प्रभा- कान्तिः, जिग्ये- जिता [तत्] जैनेन्द्रं- जिनेन्द्रस्येदं तत्, मुखम्- आननम्, वः- युष्मभ्यं, सुखं- कल्याणं, दिश्यात्- दद्यादित्यर्थः । अत्र 'जै[ऽ]ने[ऽ]न्द्रं[ऽ], मु[।]खं[ऽ]' इति लक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू०-३० ॥

सो गौ घनपङ्क्तिः ॥३१॥

यथा- क्रियया हीनं, यदिह ज्ञानम् । रहिताम्भोभिर्-, घनपङ्क्तिः सा ॥ ३१. १. ॥

अस्या एव जातेर्नवमं विशेषमाह- **"सो गौ घनपङ्क्तिः"** इति- 'सगणः ।।S, गुरुद्वयं SS,च' इति स्वरूपैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तच्छन्दो घनपङ्क्तिर्ना-मेत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- क्रियया हीनमि**ति- इह- संसारे यत् ज्ञानं क्रियया- तदनुकूलाचरणेन हीनं-रहितं, सा अम्भोभिः- जलैः, रहिता- शून्या, घनपङ्क्तिः- मेघमाला, तत्तुल्येत्यर्थः । यथा निर्जलेन मेघाऽम्बरेण किमपि न फलं तथा सदाचरणशून्येन ज्ञानेनापि न किञ्चित् फलमित्यभिप्रायः । 'क्रि[।]य[।]या[ऽ] ही[ऽ] नं[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-३१ ॥

न्लगा अभिमुखी ॥३२॥

नगणो लघुगुरू च । यथा- शशिवदना, मृगनयना । अभिसरति, त्वदभिमुखी ॥३२.१॥ मृगचपलेत्यन्यः । कमलमुखीति भरतः ॥ ३२.१ ॥ ५।१० ॥

तस्या एव दशमं विशेषमाहः "न्लगा अभिमुखी" इति । विवृणोति- **नगणो लघुगुरू चे**ति- 'नगणः ।।। लघुत्रयात्मको वर्णगणः, लघुः[।], गुरुः[ऽ]' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्याः तत् 'अभिमुखी' नामकं छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- शशिवदना** इति- शशिवदना- शशी चन्द्र इव वदनं यस्याः सा, मृगनयना- मृगस्य नयने इव नयने यस्यास्तादृशी च काचिदङ्गना, त्वदभिमुखी त्वामभिलक्ष्य,अभिसरति- रहःस्थानं गच्छतीत्यर्थः । अत्र 'श[।]शि][।]व[।]द[।]ना[ऽ]' इत्येवं लक्षणसमन्वयः । अस्या नामान्तरमप्याह- **मृगचपलेत्यन्ये** इति- अन्ये आचार्या इदं छन्दो 'मृगचपला' इत्याह । **कमलमुखीति भरतः** इति- भरत आचार्योऽस्य च्छन्दसः कमलमुखीति नामाहेत्यर्थः । इत्थं सुप्रतिष्ठाच्छन्दसो दश भेदाः कथिताः परं प्रस्तारक्रमेण च द्वात्रिंशद् भेदा भवन्तीत्यष्टमाध्याये स्पष्टीभविष्यति । निर्दिष्टं चान्यैरेतत्संख्यया, न तु लक्षणैः, तथा सति ग्रन्थानन्त्यप्रसङ्गादिति प्रसिद्धा एव भेदा लाक्षणिकैर्लक्षिता इति विज्ञेयम् ॥ अ० २, सू-३२ ॥

गायत्र्यां मौ सावित्री ॥३३॥

यथा- देवानां यः स्त्रैणैः, साक्षात् क्षोभं निन्ये । स ब्रह्मा ब्रह्मा किं, यत्कान्ता सावित्री ॥ ३३.१ ॥

अथ षडक्षरच्छन्दोजातिं गायत्रीं प्रभेदैर्वर्णयितुमुपक्रमते- **गायत्र्यां मौ सावित्री**ति- मगणद्वयं sss sss, षड् गुरवः, तैः कृताः पादा यस्य तद् गायत्रीजातिच्छन्दसां मध्ये 'सावित्री' इति नाम्ना प्रसिद्धमित्यर्थः । यद्यपि सुप्रतिष्ठायामपि "म्लगाः सावित्री"[२।३०]इति सावित्रीच्छन्दो लक्षितं तथाऽपि जात्याव्यवच्छेदसंभवान्न परस्परसंकर इति विज्ञेयम् । उदाहरति- **यथा- देवानामिति**- यः, देवानां [कृते] स्त्रैणैः- स्त्रीसम्बन्धिभिर्विकारैः, साक्षात्- प्रत्यक्षमेव, क्षोभं- मनश्चाञ्चल्यं, निन्ये- प्रापयामास स ब्रह्मा- तादृशो ब्रह्मा किञ्च सावित्री- तन्नाम्नी देवी, यत्कान्ता- यस्य पत्नीत्वेन ख्याता, स ब्रह्मा, किं

ब्रह्मा- ब्रह्मत्वेन कथनीयः ? नैव कथनीय इत्याकूतम् । क्वचित् 'देवः किं स ब्रह्मा' इत्येवं तृतीयः पादः । अत्र प्रतिपादं गुरुषट्कस्य विन्यास इति लक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू०-३३ ॥

म्रौ तटी ॥३४॥

मगणरगणौ । यथा- कामेभ्यो निस्पृहं, यस्योच्चैः स्यान्मनः । किं कुर्यात् तस्य सा, मन्दाकिन्यास्तटी ॥३४.१॥

गायत्र्या द्वितीयं प्रकारमाह- **म्रौ तटीति**- म्रावितिपदं व्याख्याति- **मगणरगणाविति**- 'मगणः ऽऽऽ, रगणः ऽ।ऽ', इत्येवं गणद्वयेन निर्मिताः प दा यस्य स 'तटी'नामको गायत्रीच्छन्दोविशेषः इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- कामेभ्यो निःस्पृहमिति**- यस्य- पुरुषधौरेयस्य, उच्चैः- उन्नतं, मनः- चेतः, कामेभ्यः- विषयाभिलाषेभ्यः विषयेभ्यो वा, निस्पृहं- प्रार्थनाशून्यं स्यात्, तस्य सा- मन.शान्त्यर्थं प्रसिद्धा, मन्दाकिन्याः- देवनद्याः, तटी- प्रान्तभूमिः, किं कुर्यात्- किमर्थं भावयेत्, स्वत एव वितृष्णस्य तस्य कृते तस्या वैयर्थ्यमेवेति भावः । 'का[ऽ]मे[ऽ]भ्यो[ऽ] नि[ऽ]स्पृ[।]हं[ऽ]' इत्येवं रीत्या लक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू०-३४ ॥

सौ रमणी ॥३५॥

यथा- रजनीरमण-,प्रतिभे- वदने । तिलकं शशकं, कुरुते रमणी ॥३५.१॥
नलनीति भरतः ॥३५.१॥

गायत्र्यास्तृतीयं प्रभेदमाह- "**सौ रमणी**" इति- 'सगणद्वयं ।।ऽ ।।ऽ' यस्य प्रतिपादं तत् गायत्रीच्छन्दोजातिकं 'रमणी' नामकं छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- रजनीरमणेति**- रमणी- रमणशीला स्त्री, रजनीरमण-प्रतिभे- रजन्याः- रात्रेः, रमणः- पतिश्चन्द्रः, तद्वत् प्रतिभा- कान्तिर्यस्य तादृशे, वदने- मुखे, शशकं- शशसदृशं, तिलकं- विशेषकं, कुरुते- विदधाती त्यर्थः । सर्वथा शशाङ्कसादृश्यप्राप्त्यर्थं शशसदृशं तिलकं रचयतीति भावः । 'र[।]ज[।]नी[ऽ]र[।]म[।]ण[ऽ]'[अग्रे संयोगसत्त्वाल्लघोरपि णकारस्य गुरुत्वात्]लक्षणसंगतिः । अस्या एव भरतोक्तं नामान्तरमाह- **नलिनीति भरतः** इति ॥ अ० २, सू०-३५ ॥

त्यौ तनुमध्या ॥३६॥

तगणयगणौ। यथा- लावण्यपयोधिः, सौभाग्यनिधानम्। सा कस्य न हृद्या, बाला तनुमध्या ॥३६.१॥

गायत्र्याश्चतुर्थं प्रकारमाह- **"त्यौ तनुमध्या"** इति। **त्याविति** पदं व्याख्याति- **तगण- यगणाविति**- 'तगणः' ऽऽ।, यगणः, ।ऽऽ' इति गणद्वयेन कृताः पादा यस्य तत् गायत्र्यां तनुमध्येतिनामकं छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- लावण्यपयोधिः** इति- लावण्यस्य पयोधिः- समुद्र इव आकरभूता, सौभाग्यनिधानं- सौभाग्यस्य- सर्वमाङ्गल्यस्य निधानं- निधिः, तनुमध्या- कृशोदरी, सा- पूर्ववर्णिता, बाला- प्रथमावतीर्णयौवना, कस्य- जनस्य, हृद्या- हृदयप्रिया, न- सर्वस्य हृदयप्रिया भवत्ये- वेत्यर्थः। 'ला[ऽ]व[ऽ]-ण्य[।]प[।]यो[ऽ]धिः[ऽ]' इति लक्षणसंगतिः ॥ अ० २, सू०-३६ ॥

स्भौ गुरुमध्या ॥३७॥

सगणभगणौ। यथा- चपला केकर-, नयना सा किल। रमणीकोविद !, गुरुमध्या तव ॥ ३७.१ ॥

अस्या एव पञ्चमं विशेषमाह- **"स्भौ गुरुमध्या"** इति। **'स्भौ'** इति पदं व्याख्याति- **सगण- भगणौ** इति 'सगणः ।।ऽ, भगणः ऽ।।' एवंरूपैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् गायत्रीजातौ 'गुरुमध्या'नामकं छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- यथा **चपला केकरे**ति- हे रमणीकोविद ! रतशीलकामिनी- विशेषज्ञ !, चपला- चरित्रचाञ्चल्यवती, केकरनयना- केकरे- निम्नोन्नते नयने यस्यास्ता-दृशी, गुरुमध्या- स्थूलोदरी, सा- पूर्ववर्णिता स्त्री, तव किल- तवैवेत्यर्थः। 'च[।]प[।]ला[ऽ], के[।]क[।]र[।]' इत्येवं रूपेण लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-३७ ॥

यौ सोमराजी ॥३८॥

यथा- स वः पातु कुन्द-, त्विषा देहभासा। समुद्द्योतितान्तो, जिनः सोम-राजी ॥ ३८.१ ॥

षष्ठं विशेषमाह– **"यौ सोमराजी"** इति– 'यगणद्वयं ।ऽऽ ।ऽऽ' इत्येवं रूपेण निर्मिताः पादा यस्य तत् 'सोमराजी' इतिनामकं गायत्रीजाति–च्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा–स वः पातु** इति– कुन्दत्विषा– कुन्दं– माघ-मासप्रभवं श्वेतपुष्पं, तद्वत् त्विट्– कान्तिर्यस्यास्तादृश्या, देहभासा– शरीर-कान्त्या, समुद्योतितान्तः– सुप्रकाशितसमीपदेशः, सोमराजी– सोमश्चन्द्रः, तद्वत् राजते– शोभते, सोमेन– स्वकीयलाञ्छनेन राजते तच्छीलः, चन्द्रप्रभनामा जिनः, वः– युष्मान्, पातु– रक्षतादित्यर्थः। 'स[।] वः[ऽ] पा[ऽ]तु[।] कु[ऽ]-न्द[ऽ]' [संयोगे गुरुः" इति लक्षणादस्य गुरुत्वम्] इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–३८ ॥

न्यौ शशिवदना ॥३९॥

नगणयगणौ। यथा– मनसिजलीला–, कुलगृहभूमिः। कुवलयनेत्रा, शशिव-दनेयम् ॥३९.१॥ मुकुलितेत्यन्यः। मकरशीर्षेति भरतः ॥३९.१॥

अस्या एव सप्तमं प्रभेदमाह– **"न्यौ शशिवदना"** इति। न्याविति पदं व्याचष्टे– **नगण-यगणाविति**– 'नगणः ।।।, यगणः ।ऽऽ' इत्येवं प्रकारैः, षड्भिर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् 'शशिवदना' इत्याख्यातं गायत्रीजातिच्छन्दः। उदाहरति– **यथा– मनसिजलीलेति**– कुवलयनेत्रा– कुवलयं– नीलकमल-मिव, नेत्रं यस्याः सा, शशिवदना– चन्द्रमुखी, इयं– प्रत्यक्षभूता काचिदङ्गना, मनसिजलीलाकुलगृहभूमिः– मनसिजस्य– कामस्य, लीलायाः– विलासस्य कुलगृहभूमिः– परम्पराप्राप्तनिवासस्थानम्, अस्तीत्यर्थः। 'म[।]न[।]सि[।]-ज[।]ली[ऽ]ला[ऽ]' इत्येवं लक्षणयोगः। अस्यैव नामान्तरेणापि व्यवहारं सूचयति– **मुकुलितेत्यन्यः** इति– अन्य आचार्य इदं छन्दो मुकुलितेत्याह। **मकरशीर्षेति भरतः** इति– भरत आचार्य इदमेव 'मकरशीर्षा' नाम्ना व्यवहरति, तथाहि–

"लघुगण आदौ, भवति चतुष्कः। गुरुयुगमन्ते मकरशीर्षा॥" इति १५।४ ॥

नाम्नो यौगिकार्थेन च्छन्दसि सम्बन्धाभावात् यथारुचि आचार्यैर्व्यवहारः-

कृतः, भविष्यति वा तेषां मनसि क्वचित् कश्चिदर्थानुगमः, किन्तु सर्वत्र तथानुगमस्य दुर्बोधत्वमेवेति यदृच्छाशब्दत्वमेवैषामिति प्रतिभाति ।। अ० २, सू०-३९ ।।

र्मौ मालिनी ।।४०।।

रगणमगणौ यथा- केतकीसंसृष्टैः, मालतीसंपृक्तैः। पङ्कजैरर्हन्तं, मालिनी सोपास्ते ।।४०.१।।

अष्टमं प्रकारमाह- **र्मौ मालिनी**ति। 'र्मौ' इति पदं व्याख्याति- **रगणमगणाविति**- 'रगणः' ऽ।ऽ, मगणः ऽऽऽ' इति प्रकृतगणद्वयेन निर्मिताः पादा यस्य तत् 'मालिनी' इति नामकं गायत्रीजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- केतकीसंसृष्टैः** इति- सा- पूर्ववर्णिता, मालिनी- मालाधारिणी स्त्री, मालाकार पत्नी वा, केतकीसंसृष्टैः- केतकीभिः- केतकीवृक्षोद्भूतपुष्पैः, संसृष्टैः- मिश्रितैः, मालतीसम्पृक्तैः- मालतीभिः- स्वनामख्यातलतापुष्पैः, सम्पृक्तैः- मिलितैः, पङ्कजैः- कमलैः, अर्हन्तं- देवम्, उपास्ते- पूजयतीत्यर्थः। 'के[ऽ]त[।]की[ऽ]सं[ऽ]पृ[ऽ]क्तैः[ऽ]' इति रूपेण सर्वत्र पादे लक्षणानुगतिर्विज्ञेया ।। अ० २, सू०-४० ।।

म्यौ कामलतिका ।।४१।।

भगणयगणौ। यथा- भाति मृदुपाणि-, पल्लवमनोज्ञा। हासकुसुमश्रीः, कामलतिकेयम् ।।४१.१।।

नवमं विशेषमाह- **"म्यौ कामलतिका"** इति । **'म्यौ'** इति पदं व्याकरोति- **भगण-यगणाविति**- 'भगणः ऽ।।, यगणः ।ऽऽ' इत्येवं गणद्वयान्तर्गतैर्वर्णै रचिताः पादा यस्य तत् 'कामलतिका' नामकं गायत्रीजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- यथा- **भाति मृदुपाणी** इति- मृदुपाणीपल्लवमनोज्ञा- मृदू- कौमलौ, पाणी- करौ पल्लवाविव, ताभ्यां मनोज्ञारमणीया, हासकुसुमश्रीः- हासः- मुखविकार एव, कुसुमानि- पुष्पाणि, तैः श्रीः- शोभा यस्याः सा, इयं- प्रत्यक्षदृश्यमाना वराङ्गना, कामलतिका- कामस्य- विषयसुखस्य [प्रस-

वित्री] लतिका इव लतिकैव वा, विभाति– शोभते । रूपकोद्वलिताऽतिशयोक्तिरलङ्कारः । 'भा[ऽ]ति[।]मृ[।]दु[।]पा[ऽ]णि' ["वाऽन्ते ग् वक्रः" इति सूत्रेण पादान्तस्थस्य लघोगुर्रुत्वानुशासनात्] लक्षणसंगतिर्बोध्या ॥ अ० २, सू०–४१ ॥

म्सौ मुकुलम् ॥४२॥

मगणसगणौ । यथा– यातोऽस्तं शशभृन्, मार्तण्डोऽभ्युदयम् । व्याकोशं कमलं, नीलाब्जं मुकुलम् ॥४२.१॥ वीथीति भरतः ॥४२.१॥

दशमं विशेषमाह– **"म्सौ मुकुलम्"** इति । 'म्सौ' इति पदं व्याख्याति– **मगण-सगणाविति**– मगणः ऽऽऽ, सगणः ।।ऽ, आभ्यां गणाभ्यां निर्मिताः पादा यस्य तत् मुकुलमिति ख्यातं गायत्रीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– यथा– **यातोऽस्तमिति**– प्रातःकालवर्णनमिदम् । शशभृत्– चन्द्रः, अस्तं– दृष्टिविषयता– शून्यत्वं, यातः– प्राप्तः, मार्तण्डः– सूर्यः, अभ्युदयं– प्राकट्यं, यातः, कमलं– पङ्कजं, व्याकोशं– प्रफुल्लतां, 'यातम्'– इति लिङ्गविपरिणामेनान्वयः, नीलाब्जं– नीलकुमुदिनीपुष्पम्, मुकुलं– भावप्रधानो निर्देश इति मुकुलतां कुड्मलतां यातमित्यन्वयः । सामान्यतः कमलानां दिवा विकासः कुमुदिन्या रात्राविति प्रसिद्धिः । अब्जत्वं चोभयत्र समानमिति प्रातर्मुकुलितत्वानुरोधेनाब्जपदं कुमुदिनीबोधकमेवेत्यसेयम् । 'या[ऽ]तो[ऽ]स्तं[ऽ],श[।]श[।]भृत्[ऽ]' इति लक्षणसङ्गतिः । अस्यैव नामान्तरं भरतानुशिष्टमाह– **वीथीति भरत** इति ॥ अ० २, सू०–४२ ॥

त्रौ शफरिका ॥४३॥

नगणरगणौ । यथा– कुवलयेक्षणे, रमयतो मनः । तव विलोचने, शफरिकाचले ॥४३.१॥ गिरेति भरतः ॥४३.१॥

एकादशं प्रकारमाह– **"त्रौ शफरिका"** इति । 'त्रौ' इति पदं व्याख्याति– **नगण-रगणाविति**– नगणः ।।।, रगणः ऽ।ऽ, आभ्यां विरचिताः पादा यस्य तत् शफरीकेति ख्यातं गायत्रीच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– कुवलयेक्षणे** इति– हे कुवलयेक्षणे !– कुवलये– नीलकमले इव, ईक्षणे नेत्रे यस्यास्तत्सम्बोधने,

शफरिका चले- शफरिकेव- क्षुद्रमत्स्यजातिविशेष इव चले- चञ्चले, तव- भवत्याः, विलोचने- विशाले नयने, मनः- चेतः, [अर्थान्मम] रमयतः- रतिं विधत्तः इत्यर्थः। अत्र 'कु[।]व[।]ल[।]ये[ऽ]क्ष[।]णे[ऽ]' इति लक्षणसंगतिः। अस्यैव भरताभिमतं नामान्तरमाह-**गिरेति भरतः** इति ॥ अ० २, सू०-४३ ॥

र्नौ कच्छपी ॥४४॥

रगणनगणौ। यथा- लक्ष्यते सरसि, चन्द्रमःसदृशि। लक्ष्मकान्तिरिह, कच्छपी पयसि ॥ ४४.१ ॥

द्वादशं प्रभेदमाह- **"र्नौ कच्छपी"** इति। **र्नाविति** पदंव्याचष्टे- **रग-ण- नगणाविति**- 'रगणः ऽ।ऽ, नगणः ।।।, इति, ताभ्यां विरचिताः पादा यस्य तत् 'कच्छपी' नामकं गायत्रीजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा लक्ष्यते** इति- इह- अस्मिन्, सरसि- जलाशये, चन्द्रमःसदृशि- चन्द्रतुल्ये निर्मले जले, कच्छपी- कमठी, लक्ष्मकान्तिः- लक्ष्मणः- चन्द्रस्थितचिह्नविशेषस्य, कान्तिः- छविरिव कान्तिर्यस्यास्तादृशी, लक्ष्यते- दृश्यते इत्यर्थः। अत्र 'ल[ऽ]क्ष्म[।]ते[ऽ]स[।]र[।]सि[ऽ]' इति लक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू०-४४ ॥

भ्रौ लघुमालिनी ॥४५॥

भगणरगणौ। यथा- त्वद्वदनाग्रतो, मण्डलमेन्दवम्। संप्रति लक्ष्यते, श्रीलघु मालिनी [नि!] ॥ ४५.१ ॥

त्रयोदशं भेदमाह- **"भ्रौ लघुमालिनी"** इति। **भ्राविति** पदं व्याख्याति- **भगण-रगणाविति**- भगणः ऽ।।, रगणः ऽ।ऽ इति, ताभ्यां निर्मिताः पादा यस्य तत् 'लघुमालिनी' नामकं गायत्रीच्छन्दोजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- त्वद्वदने**ति- अत्र श्लोकान्तस्थं 'मालिनी' इति पदं छन्दोदृष्ट्या छन्दोनामविन्यासदृष्ट्या छन्दःपूर्तिदृष्ट्या च दीर्घान्तं निर्दिष्टमपि अर्थान्वयानुरोधेन ह्रस्वान्तमेव सम्बोधनपरतया न्यस्तं स्यादिति चारु प्रतिभाति, प्रायो लेखकप्रमादादेव दीर्घान्तत्वं दृश्यत इति प्रतिभाति। छन्दोनामविन्यासस्तु आनुषङ्गिकतया गौण एव, अर्थानुरोध एवावश्यकः। रगणास्वरूपसिद्धिश्च

"वाऽन्ते ग्वक्र" इत्यनुशासनवशादेवाम्युपेया, तेन हि पादान्तस्थस्य लघोर्गुरुत्वं प्राप्यते। तथा च हे मालिनि ! सम्प्रति ऐन्दवं मण्डलं– चन्द्रमसो बिम्बं, त्वद्वदनाग्रतः– तव मुखस्य समक्षम्, श्रीलघु– श्रिया– शोभया, लघु-न्यूनं, लक्ष्यते– विज्ञायत इत्यर्थः। 'त्वद्[ऽ]व[।]द[।]ना[ऽ]ग्र[।]तः[ऽ]' इति लक्षण-समन्वयो ज्ञेयः। 'अन्तिमे पादे च सम्बोधनान्तपाठे वैकल्पिकगुरुत्वेनैव निर्वाह इत्युक्तम् ॥ अ० २, सू०–४५ ॥

स्यौ विमला ॥४६॥

सगणयगणौ। यथा– निपतन्ति यस्मिन्, सरला दृशस्ते। तमुपैति लक्ष्मी–, विमला च कीर्तिः ॥ ४६.१ ॥

चतुर्दशं प्रकारमाह– **स्यौ विमले**ति। **स्याविति** पदस्यार्थमाह– **सगण-यगणाविति**– सगणः ।।ऽ, मगणः ।ऽऽ इति, ताभ्यां विरचिताः पादा यस्य तत् **'विमला'**नामकं गायत्रीजातिच्छन्दः इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– निपतन्तीति–** ते– वर्ण्यमानस्य महापुरुषस्य, सरलाः– ऋजवः कृपार्द्राः, दृशः– दृष्टिपाताः, यस्मिन्– सुजने, निपतन्ति– विषयित्वं, प्राप्नुवन्ति, तं– जनं, लक्ष्मीः– सम्पदधिष्टात्री देवी, विमला– निर्मला, कीर्तिः– स्वख्यातिश्च, उपैति– प्राप्नोतीत्यर्थः। 'नि[।]प[।]त[ऽ]न्ति[।]यस्[ऽ]मिन्[ऽ]' इति लक्षणयोगः ॥ अ० २, सू०–४६ ॥

त्रौ जला ॥४७॥

तगणरगणौ। यथा– जातास्तव द्विषत्–, स्त्रीणां दृशो नृप !। अश्रान्तम-श्रुभिः, पर्यस्तकज्जलाः ॥ ४७.१ ॥

पञ्चदशं प्रकारमाह– **"त्रौ जला"** इति। **त्राविति** पदं व्याख्याति– **तगण-रगणाविति**– तगणः ऽऽ।,रगणः ऽ।ऽ इति, ताभ्यां विरचिताः पादा यस्य तत् 'जला'नामकं गायत्रीजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– जाता-स्तवेति**। हे नृप !– राजन् !, तव– भवतः, द्विषत्स्त्रीणां– शत्रुपत्नीनां, दृशः– नेत्राणि, अश्रुभिः–, नेत्रजलैः, अश्रान्तं– सततं, पर्यस्तकज्जलाः– प्रसृताञ्जनाः,

जाताः- सम्पन्ना इत्यन्वयः। अत्र 'कजला' इति पदांश एव 'जला' इति छन्दोनाम निविष्टं बोध्यम्। 'जा[ऽ]ता[ऽ]स्त[।]व[ऽ],द्वि[।]षत्[ऽ]' इत्थं लक्षणसमन्वयः प्रतिपादमवसेयः॥ अ० २, सू०-४७॥

म्यौ सुनन्दा ॥४८॥

मगणयगणौ। यथा- श्रीमत्पार्श्वनाथ !, त्वत्पादाब्जयुग्मे। भूयान्निर्विकल्पा, भक्तिर्मे सुनन्दा॥ ४८.१॥

षोडशं प्रभेदमाह- "**म्यौ सुनन्दा**" इति। म्यावित्यस्यार्थमाह- **मगणयगणाविति**- 'मगणः sss, यगणः ।ऽऽ इति, ताभ्यां निर्मितः पादो यस्य तत् सुनन्दा नाम गायत्रीजातिः च्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- श्रीमदिति**- श्रीमांश्चासौ पार्श्वनाथः श्रीमत्पार्श्वनाथः, तत्सम्बोधने- हे श्रीमत्पार्श्वनाथ !, त्वत्पादाब्जयुग्मे- तव पादावेवाब्जं- कमलं, तयोर्युग्मे- युगले, मे- मम, निर्विकल्पा- निःसंशया, सुनन्दा- सुष्ठु नन्दयती- ति सा, भक्तिः- श्रद्धासहितोऽनुरागः, भूयात्- अस्तु, इत्यर्थः। 'श्री[ऽ]मत्[ऽ]पा[ऽ]र्श्व[।]ना[ऽ]थ[ऽ]' ["वान्ते ग्वक्रः" इति सूत्रानुसारं पादान्तस्थस्य' लघोर्गुरुत्वात् थस्य गुरुतायां सत्यां यगणस्वरूपनिष्पत्तिः] इति लक्षणसमन्वयः॥ अ० २, सू०-४८॥

म्भौ विक्रान्ता ॥४९॥

भगणमगणौ। यथा- नो भटसिंहास्ते, त्वद्रिपुपुर्यन्तः। वासरतिं सिंहाः, बिभ्रति विक्रान्ताः॥ ४९.१॥

सप्तदशं प्रकारमाह- "**म्भौ विक्रान्ता**" इति। म्भाविति पदं व्याख्याति- **मगण-मगणाविति**- 'भगणः ऽ।, मगणः sss' इत्येवं- प्राकारैर्वर्णैः प्रकृताः पादा यस्य तत् 'विक्रान्ता' नामकं गायत्रीजातिच्छन्द इत्यर्थं। उदाहरति- **यथा- नो भटसिंहास्ते** इति- [हे नृप !] त्वद्रिपुपुर्यन्तः- तव शत्रोः पुरीमध्ये, ते- प्रसिद्धाः, विक्रान्ताः- शूराः, भटसिंहाः- भटाः सिंहा इव पराक्रमशीलाः, नो- न, वासरतिं- निवासानुरागं, बिभ्रति- धारयन्ति, किन्तु विक्रान्ताः सिंहाः- केशरिणः [एव], शून्ये तत्र वासरतिं विभ्रतीत्यर्थः। 'नो[ऽ], भ[।]ह[।]सिं[ऽ]हा[ऽ]स्ते[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः॥ अ० २, सू०-४९॥

स्मौ सूचीमुखी ॥५०॥

सगणमगणौ । यथा- अधुना पञ्चेषो-,र्नवतीक्ष्णास्त्वम् । इह जज्ञे सूची-, मुखया केतक्या ॥ ५०.१ ॥

अष्टादशं प्रकारमाह- **स्मौ सूचीमुखी**ति । **स्माविति** पदं व्याचेष्टे- **सगण-मगणाविति**- 'सगणः ।।ऽ,मगणः ऽऽऽ' इत्येवंरूपैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् 'सूचीमुखी'नामकं गायत्रीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- अधुनेति**- अधुना- सम्प्रति, इह- अत्र, सूचीमुख्या- सूची इव [तीक्ष्णं] मुखमग्रभागो यस्यास्तया, केतक्या- केतकीपुष्पेण, पञ्चेषोः- पञ्चबाणस्य कामस्य, नवतीक्ष्णास्त्रत्वं- नूतनशितप्रहरणत्वम्, जेज्ञ- जातम्, इत्यर्थः । 'अ[।]धु[।]-ना[ऽ], पञ्[ऽ]चे[ऽ]षोः[ऽ]' इति लक्षणसङ्गतिः ।। अ० २, सू०-५५ ।।

य्मौ शिखण्डिनी ॥५१॥

यगणमगणौ । यथा- हहा पान्थस्त्रीभिः, पिधीयन्ते कर्णाः । मुहुर्व्यातन्वाने, शिखण्डिन्यारावम् ।। ५१.१ ॥ ६।१६ ॥

ऊनविंशं प्रभेदमाह- **य्मौ शिखण्डिनी**ति । **य्माविति**यस्यार्थमाह- **यगण-मगणाविति**- 'यगणः ।ऽऽ, मगणः ऽऽऽ' इति, ताभ्यां विहिताः पादा यस्य तत् गायत्र्यां 'शिखण्डिनी'नामकं छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- हहेति**- शिखण्डिनि- मयुरे, मुहुः- वारं वारम्, आरावं- दीर्घकेकां, व्यातन्वाने- कुर्वाणे सति, पान्थस्त्रीभिः- पथिक-प्रोषित-जनकान्ताभिः, कर्णाः- श्रोत्राणि, पिधीयन्ते- मुद्रयन्ते, इति हहा- दुःखमित्यर्थः । मयूरशब्दस्य मेघागमनबोधकतयाऽतिदुःखजनकत्वेन प्रियविप्रययुक्तानां तासां कृते दुःश्रवत्वमिति तच्छ्रवणपरिहाराय ताः कर्णान् पिदधतीत्यर्थः । 'ह[।]हा[ऽ]पा[ऽ]न्थ[ऽ]स्त्री[ऽ]-भिः[ऽ]' इत्येवं रीत्या सर्वत्र पादेषु लक्षणसमन्वयः । इत्येवं गायत्र्या ऊनविंशतिर्भेदा वर्णिताः, प्रस्तारक्रमणे तु चतुःषष्टिर्भेदा विज्ञेयाः । तदुक्तं भरतनाट्यशास्त्रे- "वृत्तानि तु चतुःषष्टिर्गायत्र्यां कीर्त्तितानि तु" [अ० १४. का० ५५] ॥ अ० २, सू०-५१ ॥

उष्णिहि मौ गो गान्धर्वी ॥५२॥

यथा- स श्रेयांसि श्रेयांसः, श्रीमान् देवः पुष्णातु ।
क्षोभायाभूद्यच्चित्ते, गान्धर्वी न क्रीडापि ॥ ५२.१ ॥

अतः परं सप्ताक्षरपादामुष्णिक्छन्दोजातिं वर्णयितु- मुपक्रमते- **"उष्णिहि मौ गो गान्धर्वी"** इति । **मगणद्वयं गुरुश्चे**ति-'ऽऽऽ ऽऽऽ ऽ' इत्येवंस्वरूपैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् 'गान्धर्वी' नामकमुष्णिग्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- स श्रेयांसी**ति- सः-' जिनशासनप्रसिद्धः, श्रीमान्- ज्ञानादिलक्ष्म्या युक्तः, श्रेयांसः- श्रेयांसनामा, देवः- तीर्थंकरः, श्रेयांसि- कल्याणानि, पुष्णातु- वर्धयतु, स कः ? यच्चित्ते- यस्य मनसि, क्षोभाय- विकाराय, गान्धर्वी- गन्धर्वैः कृता, क्रीडा- नृत्यादिरूपाऽपि नाभवत्- समर्था न जाता, गान्धर्वी क्रीडां पश्यतोऽपि यस्य चित्तचाञ्चल्यं नासीदित्यर्थः । 'स[ऽ], श्रे[ऽ]यां[ऽ]सि,[ऽ] श्रे[ऽ]यां[ऽ]सः[ऽ]' इत्येवं रीत्या सर्वत्र पादेषु लक्षणसंङ्गतिः ॥ अ० २, सू०-५२ ॥

रजौ ग उष्णिक् ॥५३॥

रगणजगणौ गुरुश्च । यथा- उष्णिहीव संसृतौ, स्याध्रुवं रजो गुरु । नो भवेद्यदि क्षितौ, श्रीजिनेन्द्रशासनम् ॥ ५३.१ ॥ शिखेति भरतः ॥ ५३.१ ॥

द्वितीयं प्रकारमाह- **"रजौ ग उष्णिक्"** इति । **रजौ ग** इत्यस्यार्थमाह- **रगण-जगणौ गुरुश्चे**ति- 'रगणः ऽ।ऽ, जगणः ।ऽ।, गुरुः ऽ' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् 'उष्णिग्'नामकमुष्णिग्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- उष्णिवीहे**ति- संसृतौ- संसारे, उष्णिहीव- 'उष्णिक्'छन्दसीव, रजः- पापरूपा धूलिः, गुरु- महत्, ध्रुवं- निश्चितं स्यात् [उष्णिहि छन्दसि रगणात् परो जगणः, गुरु च ध्रुवं भवत्येवेति उपमेये सामान्यधर्मस्य तादृशशब्दाभिधेयार्थस्य समन्वयः] यदि क्षितौ- पृथिव्यां, श्रीजिनेन्द्रशासनं- श्रीमतो जिनेन्द्रस्य उपदेशः, नो स्यात्- न भवेत्, इत्यर्थः । अत्र 'उ[ऽ]ष्णि[।]हो[ऽ]व[।], सं[ऽ]सृ[।]तौ[ऽ]' इति रीत्या सर्वत्र पादेषु लक्षणसंङ्गतिः ।

अस्यैव च्छन्दसो नामान्तरमाह- **शिखेति भरत** इति- सम्प्रति भरतनाट्यशास्त्रे नेदनुपलभ्यते ॥ अ० २, सू०-५३ ॥

ज्सौ गः कुमारललिता ॥५४॥

जगणसगणौ गुरुश्च । यथा- नरेन्द्रगणसेना-, वृतः प्रथितशक्तिः । दधासि नृपते ! त्वं, कुमारललितानि ॥ ५४.१ ॥

अत्र केचिद् द्वाभ्यां विरतिमिच्छन्ति ।

इदं वदनपद्मं, प्रिये ! तव विभाति । इह व्रजति मुग्धे ! मनो भ्रमरतां मे ॥ ५४.२ ॥

अस्या एव जातेस्तृतीयं प्रभेदमाह- **"ज्सौ गः कुमारललिता"** इति । ज्सावितिपदं व्याचष्टे- **जगण-सगणाविति**- 'जगणः ।ऽ।, गुरुः ऽ' इत्येवंरूपैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् 'कुमारललिता' नामकं मुष्णिग्जातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- नरेन्द्रेति**- हे नृपते !- राजन् !, नरेन्द्रगणसेनावृतः- नरेन्द्रगणानां- राजसमूहानां सेनाभिः, वृतः- सहितः, प्रथितशक्तिः- प्रसिद्धसामर्थ्यः, त्वं कुमारललितानि- कुमारस्य- देवसेनापतेः स्कन्दस्य, ललितानि- चरितानि दधासि- धारयसि । कुमारोऽपि हि नरेन्द्रा इव गणाः प्रमथादयः, तेषां सेनाभिर्वृतो भवति, शक्तिश्च तस्य प्रहरणत्वेन प्रसिद्धेति प्रथितशक्तिरस्ति । तथा च तत्सदृशस्त्वं स इव रिपुषु पराक्रमविलासं दधासीत्यर्थः । 'न[।]रे[ऽ]न्द्र[।]ग[।]ण[।]से[ऽ]ना[ऽ]' इत्येवं लक्षणसङ्गतिः ।

अत्र विशेषमाह- **अत्र केचिद् द्वाभ्यां विरतिमिच्छन्तीति**, तथा च द्वौ वर्णौ, पञ्चवर्णौ चेति खण्डद्वयेन वृत्तं पठन्तीति पिङ्गलच्छन्दःशास्त्रस्य वृत्तौ हलायुधेनापि चैतदुक्तम्- अत्र केचिद् द्वाभ्यां पञ्चभिश्च यतिमिच्छन्तीति । अत्रोदाह्रियमाणं च पद्यमपि तत्रोल्लिखितम्, तथाहि- **इदं वदनपद्ममिति**- हे प्रिये ! तव इदं वदनपद्मं- वदनमेव पद्मं मुखकमलं, विभाति- शोभते; हे मुग्धे ! इह- तव मुखकमले, मनः, भ्रमरतां- मधुकरवद्रसलोलुपत्वं, व्रजति- प्राप्नोति, चुम्बनेच्छा जायत इति भावः । द्वाभ्यां यतिरस्त्येव, लक्षणसंगतिश्च पूर्ववदत्राप्यवसेया ॥ अ० २, सू०-५४ ॥

म्सौ गो मदलेखा ॥५५॥

मगणसगणौ गुरुश्च । यथा– यावत् केसरिनादो, नायाति श्रुतिमार्गम् । तावद् गन्धगजानां, गण्डे स्यान् मदलेखा ॥५५.१॥

चतुर्थं प्रकारमाह– **म्सौ गो मदलेखे**ति । **म्सावि**ति पदं व्याख्याति– **मगण-सगणावि**ति– 'मगणः ऽऽऽ, सगणः ।।ऽ, गुरु ऽ' इति प्रकारेण सप्तभिर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् 'मदलेखा' नामकमुष्णिग्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– यावदि**ति– यावत्– यत्कालपर्यन्तं, केसरिनादः– सिंहगर्जनं, श्रुतिमार्गं– कर्णपथं, न आयाति– नागच्छति, तावत्– तत्कालपर्यन्तमेव, गन्धगजानां– मत्तहस्तिनां, गण्डे– कपोले, मदलेखा– दानवारिराजि, स्यात्– भवेत् ।

"यस्य गन्धमुपाघ्राय, परे माद्यन्ति हस्तिनः ।
सन्ततंच मदस्रावी, सोऽयं गन्धगजः स्मृतः ।।"

इति परिभाषानुसारं प्रचुरमदवानपि गजः सिंहनादं श्रुत्वा तथाभीतो भवति येन तस्यातुलबलसूचिका दानपङ्क्तिरपि विच्छिन्ना भवतीति तात्पर्यम् । अत्र 'ता[ऽ]वद्[ऽ], ग[ऽ]न्ध[।]जा[ऽ]नां[ऽ]'इत्येवं रूपेण लक्षणानुगतिः ।। अ० २, सू०–५५ ।।

र्सौ ग उद्धता ॥५६॥

रगणसगणौ गुरुश्च । यथा– या बभूव सुदर्पा, वैरिणां नृप ! सेना । त्वत्प्रतापविलासे, सोद्धताऽपि गतश्रीः ॥५६.१॥

पञ्चमं भेदमाह– **र्सौ ग उद्धे**तेति । **र्सावि**ति पदं व्याख्याति– **रगण-सगणावि**ति– 'रगणः ऽ।ऽ, सगणः ।।ऽ, गुरुः ऽ' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् 'उद्धता'नामकमुष्णिग्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– या बभूवे**ति– हे नृप !– राजन् !, या वैरिणां– रिपूणां, सेना, सुदर्पा– सम्यगदर्पवती, बभूव, उद्धता– अन्येषां कृते दुर्धर्षा अपि, सा त्वत्प्रतापविलासे– तव प्रतापस्य क्रीडायां– तव सैन्योपरोधे सति, गतश्रीः– विनष्टशोभा, जाते-

त्यर्थः। अत्र 'या[ऽ], ब[।]भू[ऽ]व[।], सु[।]द[ऽ]र्पा[ऽ]' इत्येवंरूपेण सर्वपादेषु लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-५६ ॥

त्सौ गो भ्रमरमाला ॥५७॥

तगणसगणौ गुरुश्च । यथा- कुन्दे विचकिले वा, मन्दारकुसुमे वा । प्रीत्या मधुरसाढ्ये, भ्रान्ता भ्रमरमाला ॥५७.१॥

प्रकारमाह- **त्सौ गो भ्रमरमाले**ति । **त्सावि**ति **ग** इति च पदं व्याख्याति- **तगण-सगणौ गुरुश्चे**ति- 'तगणः ऽऽ।, सगणः।।ऽ, गुरु ऽ' इत्येवंरूपैर्वर्णैर्विहीताः पादा यस्य तत् 'भ्रमरमाला'नामकमुष्णिग्जातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- कुन्दे** इति- विचकिले- विकसिते, कुन्दे- माघमासोद्भवे पुष्पविशेषे, मन्दारकुसुमे- अर्कपुष्पे वा, मधुरसाढ्ये- मधुना- परागेण, रसेन- मकरन्देन च, पूर्णे, प्रीत्या- उभयत्र समानाभिलाषेण, भ्रमरमाला- मधुकरपङ्क्तिः, भ्रान्ता- गतागतलोला, भवतीत्यर्थः। 'कु[ऽ]न्दे[ऽ], वि[।]च[।]कि[।]ले[ऽ], वा[ऽ]' इत्येवं लक्षणसंङ्गतिः ॥ अ० २, सू०-५७ ॥

रौ गो हंसमाला ॥५८॥

रगणद्वयंगुरुश्च । यथा- शैवलालीनिराशा, पङ्कजे बद्धवासा । किं बकोटावलीयं, हन्त सा हंसमाला ॥५८.१॥

सप्तमं प्रभेदमाह- **रौ गो हंसमाले**ति- रगणद्वयं ऽ।ऽ ऽ।ऽ, गुरुश्च ऽ' इत्येवंप्रकारैरसप्तभिर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्याः सा हंसमाला ज्ञेया, तत् 'हंसमाला'नामकमुष्णिग्जातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- शैवलालीनिराशे**ति- शैवलालीनिराशा- शैवलपङ्क्तौ निःस्पृहा, [किन्तु] पङ्कजे- कमले, बद्धवासा- नियतवसतिः, इयं- प्रत्यक्षदृश्यमाना, बकोटावली- तुच्छबकपङ्क्तिः, किम ?- प्रश्ने, उत्तरयति- हन्त- खेदः [भवान् बक-हंसयोरन्तरं न वेत्तीति खेदप्रकाशकारणम्], सा हंसमाला- हंसपङ्क्तिः। अत्र बकोटाशब्दोऽपरिचितः प्रायः देश्य इति प्रतिभाति। 'बलाकावली' इति पठितव्ये बकोटावलीति भ्रान्त्या पठितंप्रतिलिपिकारेणेति न निश्चिनुमः। 'शै[ऽ]व[।]-ला[ऽ]ली[ऽ]नि[।]रा[ऽ]शा[ऽ]' इत्येवं लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-५८ ॥

भौ गः कलिका ॥५९॥

भगणद्वयं गुरुश्च । यथा– स्पर्शनमात्रवशाद्, या मकरन्दमुचा । किं भ्रमर ! भ्रमता, सा कलिता कलिका ॥५९.१॥ सोपानमित्यन्यः । भोगवतीति भरतः ॥५९.१॥

अष्टमं प्रभेदमाह– **भौ गः कलिकेति**– 'भगणद्वयं ऽ॥ ऽ॥, गुरुश्चऽ' इति सप्तभिर्वर्णैः कृतपादं 'कलिका' नाम उष्णिग्जातिच्छन्दः। उदाहरति– **यथा– स्पर्शनमात्रवशादिति**– या स्पर्शनमात्रवशात्– सम्पर्कमात्रेण, मकरन्दमुचा– मकरन्दं पुष्परसं मुञ्चतीति [मुलविभुजादित्वात् के स्त्रियामापि]– मकरन्दमुचा, हे भ्रमर ! भ्रमता– सर्वतोऽटता भवता, सा– तादृशी, कलिका– कुड्मलम्, कलिता– प्राप्ता, किम् ? भ्रमरकलिकान्योक्त्या कश्चित् कामुकोऽतिशयसहृदयायाः कस्याश्चित् बालायाः प्राप्तिं पृष्टः। 'स्प[ऽ]र्श[।]न[।]मा[ऽ]त्र[।]व[।]शात्[ऽ]' इति लक्षणानुगतिः। अस्य च्छन्दसो नामान्तरमाह– **सोपानमित्यन्यः** इति– एतदेवच्छन्दः कश्चित् सोपानमिति व्यवहरतीत्यर्थः। **भोगवतीति भरतः** इति– भरत आचार्य इदमेव भोगवतीनाम्ना व्यवदिशतीत्यर्थः। नाम्नः परिभाषामात्रत्वमित्युक्तं प्रागेव ॥ अ० २, सू०–५९ ॥

भ्सौ गो विधुवक्त्रा ॥६०॥

भगणसगणौ गुरुश्च । यथा– अह्नि विरहतप्ता, रात्रिमभिलषन्ती । उद्यति विधुबिम्बे, म्लायति विधुवक्त्रा ॥६०.१॥

नवमं प्रकारमाह– **भ्सौ गो बिधुवक्त्रेति** । **'भ्सौ गः'** इति पदद्वयं व्याख्याति– **भगण-सगणौ गुरुश्चेति**– 'भगणः ऽ॥, सगणः ॥ऽ, गुरु ऽ' इत्येवं सप्तभिर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् विधुवक्त्रेतिनामकमुष्णिग्जातिच्छन्दः इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– अह्नीति**– अह्नि– दिवसे, विरहतप्ता– वियोगज्वालया दग्धा, [प्रयो दैनो ग्रीष्म एव तापहेतुरिति बुद्धया] रात्रिमभिलषन्ती– रात्रिप्रवृत्तिमिच्छन्ती, विधुवक्त्रा– चन्द्रमुखी, विधुबिम्बे– शशिमण्डले, **उद्यति**– उदयं गच्छति सति, म्लायति– ग्लानिमधिगच्छति, चन्द्रोदयस्यातिशयमदनोद्दीपकत्वाद् विरहिण्याः कृतेऽसहनीयत्वमिति तापवृद्धया म्लानिरुचितैवेति

भावः। अत्र 'अ[ऽ]ह्लि[।], वि[।]र[।]ह[।]त[ऽ]ता[ऽ]' इति लक्षणानुगतिः सर्वत्र पादेषु ॥ अ० २, सू०-६० ॥

म्भौ गः सरलम् ॥६१॥

मगणभगणौ गुरुश्च। यथा- पापाभ्यासात्कुटिलं, चेतो रौद्रं भजते। शास्त्राभ्यासव्यसनाद्, धर्म्यं ध्यानं सरलम् ॥ ६१.१ ॥

दशमं प्रकारमाह- **म्भौ गः सरलमिति**। **म्भाविति** पदं व्याख्याति- **मगणभगणाविति**- 'मगणःऽऽऽ, भगणः ऽ॥, गुरुः ऽ' इत्येवं सप्तभिर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् सरलमिति उष्णिग्जातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- पापाभ्यासादिति**- पापाभ्यासात्- दुष्कृतसेवनात्, कुटिलं- वक्रतां गतं, चेतः- मनः, रौद्रं- दुर्ध्यानविशेषं, भजते- प्राप्नोति। शास्त्राभ्यासव्यसनात्- शास्त्राणां- सदनुशासनानाम्, अभ्यासस्य- सततानुशीलस्य, व्यसनात्- व्यवसायात्, धर्म्यं- धर्महितं, ध्यानं- चिन्तनं, सरलं- सुगममित्यर्थः। 'पा[ऽ]पा[ऽ]भ्या[ऽ]सात्[ऽ], कु[।]टि[।]लं[ऽ]' इत्येवं रूपेण सर्वत्र पादेषु लक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू०-६१ ॥

म्नौ गश्चित्रम् ॥६२॥

मगणनगणौ गुरुश्च। यथा- कीर्तिरिह भवतः, कुन्दकुसुमसमा। रञ्जयति हृदयं, चित्रमिदमधिकम् ॥ ६२.१ ॥

एकादशं प्रकारमाह- **म्नौ गश्चित्रमिति**। **म्नाविति** पदं व्याख्याति- **भगणनगणाविति**- 'भगणः ऽ॥, नगणः ॥।, गुरुः ऽ' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् चित्रमिति नाम उष्णिग्जातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- कीर्तिरिहेति**- इह- संसारे, कुन्दकुसुमसमा- माघमासोत्पन्नश्वेतपुष्पसदृशी, भवतः कीर्तिः, हृदयं रञ्जयति- रक्तं करोति, इदम्, अधिकम्- अतिशयेन, चित्रम्- आश्चर्यम्। स्वयं श्वेताया भवतः रागोत्पत्तिहेतुत्वमाश्चर्यम्, रागश्च वर्णान्तरोत्पादः, स च न श्वेतया कर्तुं शक्यत इति विरोधाभासः। रागस्याह्लादरूपत्वेन च तत्परिहारः। 'की[ऽ]र्ति[।]रि[।]ह[।], भ[।]व[।]तः[ऽ]' इति लक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू०-६२ ॥

नौ गो हरिविलसितम् ॥६३॥

यथा- सपदि बलिनृपान्, समिति नियमयन् । प्रथयसि न विभो, न-हरिविलसितम् ॥ ६३.१ ॥ चपलेत्यन्ये । द्रुतगतिरिति भरतः ॥ ६३.१ ॥

द्वादशं प्रभेदमाह- **"नौ गो हरिविलसितम्"** इति । नगणद्वयं ।।।, ।।।, गुरुश्चऽ' इतिरूपैः सप्तभिर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् हरिविलसितं नाम उष्णिग्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- सपदी**ति- हे विभो ! समिति- संग्रामे, बलिनृपान्- बलिनो राज्ञः, सपदि- शीघ्रं, नियमयन्- वशीकुर्वाणः, त्वम्, हरिविलसितं- सिंहक्रीडाम्, अथ च वामनावतारो यो हरिः- विष्णुः, तस्य लीलां न प्रथयसि- न प्रख्यापयसि, इति न, अपि तु प्रख्यापयस्येव । वामनो हरिः समिति- सभायां, बलिं नृपं यज्ञसदसि पादत्रय-मितभूमिदानाय कृतप्रतिज्ञं तदपूर्त्तौ नियमितवान्, इति पौराणिकी प्रसिद्धिः । त्वमपि बलिरिव नृपाः, तान्, बलिनो नृपान् वा समिति- संग्रामे, नियमयसि, इति हरि- विलासमेव प्रकटीकरोषीत्याशयः । अस्य नामान्तरमाह- **चपलेत्येन्ये** इति- अन्ये आचार्या इदमेवच्छन्दः 'चपला' इत्याहुः । **द्रुतगतिरिति भरतः** इति- भरत आचार्य इदं छन्दो द्रुतगतिरित्याह । 'स[।]प[।]दि[।], व[।]लि-[।]नृ[।] पान्[ऽ]' इति लक्षणानुगतिः सर्वत्र पादेषु द्रष्टव्या ॥ अ० २, सू०-६३ ॥

भ्जौ गः शारदी ॥६४॥

भगणजगणौ गुरुश्च । यथा- उज्ज्वलनिशाकरा, चारुकमलाकरा । कस्य न मनोरमा, श्रीर्भवति शारदी ॥ ६४.१ ॥

त्रयोदशं प्रकारमाह- **भ्जौ गः शारदी**ति । **भ्जावि**ति पदं व्याचष्टे- **भगण-जगणावि**ति- 'भगणः ऽ।।, जगणः ।ऽ।, गुरुश्च ऽ' इति तैः सप्तभि-र्विरचिताः पादा यस्य तत् 'शारदी'नामकमुष्णिग्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- उज्ज्वले**ति- उज्ज्वलनिशाकरा- उज्ज्वलः- सुप्रकाशः, निशाकरः- चन्द्रो यस्यां सा, चारुकमलाकरा- चारूणां कमलानां- सुन्दराणां पङ्कजानाम्, आकरः- समूहो यस्यां सा, शारदी- शरतसम्बन्धिनी, श्रीः- शोभा, कस्य- जनस्य, मनोरमा- चेतोमोदजननी, न भवति- सर्वस्य मनो-

रमा भवत्येवेत्याकूतम् । 'उज्[ऽ]ज्व[।]ल[।]नि[।]शा[ऽ]क[।]रा[ऽ]' इति लक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू०-६४ ॥

त्नगा मधुकरिका ॥६५॥

तगणनगणौ गुरुश्च । यथा- पान्थ ! श्रय दयितां, प्राप्तो मधुसमयः । गायन्त्यनुविटपं, प्रीता मधुकरिकाः ॥ ६५.१ ॥ वज्रमित्यन्यः ॥ ६५.१ ॥

चर्तुदशं प्रकारमाह- **त्नगा मधुकरिके**ति । **त्नगा** इति पदं व्याख्याति- **तगण-नगणौ गुरुश्चे**ति- 'तगणः ऽऽ।, नगणः ।।।, गुरुःऽ' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैर्विरचिताः पादा यस्य तत् 'मधुकरिका'नामकमुष्णिग्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- पान्थे**ति- पान्थ ! हे गृहप्रोषित !, मधुसमयः- वसन्तर्तुः, प्राप्तः- समागतः, [इति हेतोः] दयितां- कान्तां, श्रय- प्राप्नुहि, तस्याः समीपं गच्छेति भावः । वसन्तागमनमेव हेतुनोपपादयति, अनुविटपं- प्रतिवृक्षं प्रतिशाखं वा, प्रीताः- मधुपानतुष्टाः, मधुकरिकाः- भ्रमर्यः, गायन्ति- गानं कुर्वन्ति, भ्रमरीगानेन वसन्तागमनमभिलक्ष्य तदुद्भवदुःखापानोदाय दयितासमीपगमनं तवोचितमिति भावः । 'पा[ऽ]न्थ[ऽ], श्र[।]य[।], द[।]यि[।]तां[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः सर्वत्र पादेष्ववसेयः । अस्यैव नामान्तरमाह- **वज्रमित्यन्य** इति- अन्य आचार्य इदमेव वज्रमित्याहेत्यर्थः ॥ अ० २, सू०-६५ ॥

स्जौ गो विमला ॥६६॥

सगणजगणौ गुरुश्च । यथा- समशत्रुमित्रता-,मवलम्ब्य निर्ममः । भज वीतरागतां, विमलात्मको भव ॥६६.१॥

पञ्चदशं प्रकारमाह- **स्जौ गो विमले**ति । **स्जावि**ति पदं व्याख्याति- **सगण-जगणावि**ति- 'सगणः ।।ऽ, जगणः ।ऽ।, गुरुश्च ऽ' इत्येवंरूपैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् 'विमल'नामकमुष्णिग्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- समे**ति- समशत्रुमित्रतां- समे- तुल्ये, शत्रुमित्रे यस्य स समशत्रुमित्रः, तस्य भावस्तामित्यर्थः । अवलम्ब्य- आश्रित्य, निर्ममः- क्वापि स्वीयत्वबुद्धिरहितः सन्, वीतरागतां- निःस्पृहत्वं, भज- आश्रय, विमलात्मकः- निर्म-

लान्तःकरणो भवेत्यर्थः। 'स[।]म[।]श[ऽ]त्रु[।]मि[ऽ]त्र[।]तां[ऽ]' इति लक्षणसंगतिः ॥ अ० २, सू०-६६ ॥

ज्रौ गः सुभद्रा ॥६७॥

जगणरगणौ गुरुश्च । यथा- कुमारपाल ! देव, त्वदीयविक्रमेण । महौजसः सुभद्रा-,पतेः स्मृतं न केन ॥६७.१॥

षोडशं प्रकारमाह- "**ज्रौ गः सुभद्रा**" इति। **ज्राविति** पदं व्याख्याति- **जगण-रगणाविति**- 'जगणः ।ऽ।, रगणः ऽ।ऽ, गुरुश्च ऽ' इत्येवंरूपैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् सुभद्रानामकमुष्णग्जातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा-कुमारपालेति**- हे कुमारपाल !- तन्नामक !, देव !- राजन्, त्वदीयविक्रमेण- तव पराक्रमेण, महौजसः- प्रचुरपराकमस्य, सुभद्रापतेः- अर्जुनस्य, केन- जनेन, न स्मृतं- न ध्यातम्, तव पराक्रमं दृष्ट्वा सादृश्योद्बोधितसंस्कारः सर्वोपि जनोऽर्जनं स्मरत्येवेत्यर्थः। 'कु[।]मा[ऽ]र[ऽ]पा[ऽ]ल[।], दे[ऽ]व[।]' इत्येवं सर्वत्र पादे लक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू०-६७ ॥

न्यौ गः कुमुद्वती ॥६८॥

नगणयगणौ गुरुश्च । यथा- पतिविरहे यान्य-,मुखमपि नापश्यत् । कलयति सा श्लाघाम्, इह कुमुदिन्येका ॥६८.१॥

सप्तदशं प्रकारमाह- **न्यौ गः कुमुद्वती**ति। **न्याविति** पदं व्याचष्टे- **नगण-यगणाविति**- 'नगणः ।।।, यगणः ।ऽऽ, गुरुः ऽ' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् 'कुमुद्वती'नामकमुष्णिग्जातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा-पतिविरहे** इति- या [कुमुद्वती], पतिविरहे- पत्युः- चन्द्रस्य, विरहे- वियोगे सति, अन्यमुखं- पतिभिन्न[सूर्यरूप]पुरुषमुखम् अपि, [किमुतान्येन सह वार्तालापादि,] न अपश्यात्- नावलोकितवती, इह-संसारे, सा, एका- अद्वितीया, कुमुदिनी- कुमुद्वती, श्लाघां- प्रशंससनीयतां, कलयति- अधिकरोति, पतिरहितानां कुलस्त्रीणां धर्मस्य सम्यक्पालनेन सैवेका प्रशंसाभाजनमित्यभिप्रायः दिवा कुमिदिन्याः सङ्कुचितत्वस्य कविसमयसिद्धत्वेन, सर्वाङ्गसंङ्कोचे च नेत्रस्यापि मुद्रितत्वावश्यंभावेन तया परमुखदर्शनमपि परिह्रियते इति कवेरा-

कृतम् । 'प[।]ति[।]वि[।]र[।]हे[ऽ], [ऽ]या[ऽ]न्य[ऽ]' लघोरप्यन्त्यस्य "वाऽन्ते ग् वक्रः" इति गुरुत्वाल्लक्षणसंङ्गतिः ॥ अ० २, सू०–६८ ॥

य्सौ गो मुदिता ॥६९॥

यगणसगणौ गुरुश्च । यथा– लतानां कलिकाभिः, प्ररोहत्पुलकेव । वसन्तागमनेऽस्मिन्, वनश्रीर्मुदितेयम् ॥६९.१॥

अष्टादशं प्रकारमाह– **य्सौ गो मुदितेति** । **य्सावित्यस्यार्थमाह– यगणसगणाविति**–'यगणः ।ऽऽ, सगणः ॥ऽ,गुरुश्च ऽ' इत्येवं प्रकारैः सप्तभिर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् मुदिता नाम उष्णिग्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति–**यथा–लतानामिति**– अस्मिन्– प्रकृते, वसन्तागमने– वसन्तऋतुप्रवृत्तौ, लतानां– वल्लीनां, कलिकाभिः– पुष्पकोरकैः, प्ररोहत्पुलका– उद्भिद्यद्रोमाञ्चा, इयं– प्रत्यक्ष दृश्यमाना, वनश्रीः– नवनायिकात्वेनाध्यवसिता वनशोभा, मुदिता– प्रसन्ना इव, इत्युत्प्रेक्ष्यत इत्यर्थः । नायिका काचिन्नायकमागतमभिलक्ष्य यथोद्गतरोमाञ्चा भवति तथैवेयं वनशोभाऽपि नायकं वसन्तमागतं वीक्ष्य कलिकारूपरोमाञ्चैर्युक्ता स्वमोदं प्रकटयतीति भावः । 'ल[।]ता[ऽ]नां[ऽ], क[।]लि[।]का[ऽ]भिः[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ २, सू०–६९ ॥

न्रौ गो मनोज्ञा ॥७०॥

नगणरगणौ गुरुश्च । यथा– भुवनजैत्रमन्त्रं, रतिपतेरधीते । पिकगिरा मधुश्री-रतिमनोज्ञयाऽसौ ॥७०.१॥

ऊनविंशं प्रभेदमाह– **न्रौ गो मनोज्ञेति** । **न्रावित्यस्यार्थमाह– नगणरगणाविति**–'नगणः ।।।, रगणः ऽ।ऽ, गुरुश्च [ऽ]' इति तैः सप्तभिर्विरचिताः पादा यस्य तत् 'मनोज्ञा'नामकमुष्णिग्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा–भुवनेति**– असौ– पूर्ववर्णिता, मधुश्रीः– वासन्ती शोभा, रतिपतेः– कामस्य, भुवनजैत्रमन्त्रं– संसारविजयशीलं मन्त्रम्, अतिमनोज्ञया– परमाह्लादिकया, पिकगिरा– कोकिलारावेण, अधीते– अभ्यस्यतीत्यर्थः । कोकिलकुजनश्रवणेन सकलं भुवनं कामस्य वशंगतं भवतीति प्रसिद्धिः, सैव प्रकृते चारुतया रूपकेण वर्णिता । 'भु[।]व[।]न[।]जै[ऽ]त्र[।]म[ऽ]न्त्रं[ऽ]' इति रूपेण लक्षणानुगतिः ॥ अ० २, सू०–७० ॥

स्रौ गो दीप्ता ॥७१॥

सगणरगणौ गुरुश्च । यथा- नवसिन्दूरभासो, मुकुलाः किंशुकेऽमी । ध्रुव-माग्नेयबाणाः, रतिनाथस्य दीप्ताः ॥ ७१.१ ॥ ७।२० ॥

विंशं प्रभेदमाह- **स्रौ गो दीप्ते**ति । **स्रावि**त्यस्यार्थमाह- **सगण-रगणा-वि**ति- सगणः ।।ऽ, रगणः ऽ।ऽ, गुरुश्चऽ' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् 'दीप्ता'नामकमुष्णिग्जातिछन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- नवसिन्दू-रे**ति- किंशुके- पलाशवृक्षे, अमी- दूरे दृश्यमानाः, नवसिन्दूरभासः- नवाः- नूतनास्तथा, सिन्दूरस्य भा इव भा येषां ते, मुकुलाः- कोरकाः, रतिनाथस्य- कामदेवस्य, दीप्ताः- ज्वलन्तः, आग्नेयबाणा- अग्निदैवताः, अतिदाहकाः, शराः, इति ध्रुवं- निश्चितम् । किंशुककोरकाणां बसन्तसमयस्मारकाणामत्युद्दीपक-तया कामबाणत्वेनोत्प्रक्षेयम् । 'न[।]व[।]सि[ऽ]न्दू[ऽ]र[।]भा[ऽ]सः[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-७१ ॥

एवं सप्ताक्षरपादाया उष्णिग्जातेर्विंशतिर्भेदाः प्रतिपादिताः, प्रस्तारक्रमणे तु १२८ प्रभेदा अस्याः, तथाह्युक्तं भरतनाट्यशास्त्रे- "शतं विंशतिरष्टौ च वृत्तान्युष्णिह्यथोच्यते" ॥ [१४।५५] ॥

अनुष्टुभि त्रौ गौ विभा ॥७२॥

तरगगाः । यथा- देव ! त्वयि क्षमानाथे, क्षीणान्यभूभुजां कीर्तिः । पूर्वा-द्रिभाजि मार्तण्डे, का वा विभास्तु ताराणाम् ॥ ७२.१ ॥

अथाष्टाक्षरपादाया अनुष्टुब्जातेः प्रभेदान् वर्णयितुमुपक्रमते- **अनुष्टुभि त्रौ गौ विभेति । त्रौ गावि**त्यस्यार्थमाह- **तरगगाः** इति- तगणः ऽऽ।, रगणः ।ऽ।, गुरुद्वयमऽऽ' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् 'विभा'नामक-मनुष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- देव ! त्वयी**ति- हे देव !- राजन् !, त्वयि- भवति, क्षमानाथे- पृथ्वीपतौ सति, अन्यभूभुजां- त्वदितर-राजानां, कीर्तिः- प्रशस्तिः, क्षीणा- नष्टा, प्रकृतमर्थं समर्थयति- मार्तण्डे- सूर्ये, पूर्वाद्रिभाजि- उदयाचलमारूढे सति, ताराणां- नक्षत्राणां, विभा- प्रभा, का अस्तु- सूर्योदये सति ताराणां प्रभा नश्यतीति यथा नाश्चर्यकारणं तथा त्वयि राजनि विद्योतमाने सामान्यनृपाणां कीर्तिः क्षीयत इति न किमप्याश्चर्य-

मित्यर्थः । 'दे[ऽ]व[ऽ], त्व[।]यि[ऽ], क्ष[।]मा[ऽ]ना[ऽ]थे[ऽ]' इति लक्षण-समन्वयः ॥ अ० २, सू०-७२ ॥

र्यौ ल्गावनुष्टुप् ॥७३॥

रयलगाः । यथा- कुर्वते विवेकारतिं, ये विरागहेतुष्वपि । ते पठन्ति चित्रं मुहु-, र्बालिशा अनुष्टुब्बुधिया ॥ ७३ १ ॥

द्वितीयं प्रभेदमाह- "**र्यौ ल्गावनुष्टुप्**" इति । **र्यौ ल्यावित्यस्यार्थ-माह- रयलगाः** इति- 'रगणः ऽ।ऽ, यगणः ।ऽऽ, लघुः [।], गुरुश्च[ऽ]' इ-त्येवंरूपैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् 'अनुष्टुप्'नामकमनुष्टुब्जातिच्छन्दः । उदाहरति- **यथा- कुर्वते** इति- ये विरागहेतुषु- वैराग्यकारणेषु सत्स्वपि, विवेकारतिं- विवेके- वस्तुत्वविचारे, अरतिम्- अननुरागं, कुर्वते, ते बालिशाः- जडाः, चित्रं नामोष्णिग्जातिच्छन्दः, अनुष्टुब्धिया- अनुष्टुब्जातिच्छन्दोबुद्ध्या पठन्ति, येषां विवेककारणे सत्यपि न विवेकस्तैश्छन्दोजातिभेदोऽपि न विवेचयितुं शक्यत इति भावः । 'कु[ऽ]र्व[।]ते[ऽ], वि[।]वे[ऽ]का[ऽ]र[।]-र्ति[ऽ]' इत्थं लक्षणसमन्वयोऽवसेयः ॥ अ० २, सू०-७३ ॥

गीर्गीर्विद्युन्माला ॥७४॥

"समानेनैकादिः" [१-४] इति वचनाद् गीरिति गचतुष्टयं गृह्यते । मौ गाविति तु न कृतं चतुर्भिश्चतुर्भिर्यथा विरतिर्ज्ञायेतेति । यथा- सत्यं रम्या-भोगा भोगाः, कान्ताः कान्ताः प्राज्यं राज्यम् । किं कुर्वन्तु प्राज्ञा यस्माद्, आयुर्विद्युन्मालालोलम् ॥ ७४.१ ॥

तृतीयं प्रभेदमाह- **गीर्गीर्विद्युन्मालेति** । पदार्थबोधायाह- **समाने-नैकादिरिति वचनादित्यादि**- समनिनैकादिरिति प्रथमाध्यायचतुर्थसूत्रेण यावतिथः समानतावतिथस्य गादेर्ग्रहणं भवतीत्युक्तम्, तथा च गीरिति पदे चतुर्थः समान इति चत्वारो गाः [गुरवः] उच्यन्ते, तदाह- **गीरिति गचतुष्टयं गृह्यत** इति, तथा चाष्टभिर्गुरुवर्णैः कृताः पादा यस्य तत् 'विद्युन्माला'नामकमनुष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । ननु पूर्वप्रकृतानुसारं गणेनापि प्रकृतार्थबोधः सम्भवति, तथा च मगणद्वयं गुरुद्वयं चेति बोधनाय "मौ

गौ" इति सरलया रीत्यापि सिद्धत्येवेति किमिति वक्रगतिरियमाश्रितेति शङ्कायामाह– **मौ गाविति तु न कृतं चतुर्भिश्चतुर्भिर्यथा विरतिर्विज्ञायेते**ति, अयमाशयः– मौ गाविति कथनेन यद्यपि अभीष्टार्थबोधः सम्भवतिः, किन्तु प्रकृतपाठप्रयोजनं यत् गुरुचतुष्टयस्य सह पठनीयत्वं, मध्ये च किञ्चिद् विश्रम्यापरचतुष्टस्य पठनीयत्वमिति विरामः [यतिः] यथा– कथनं विनापि विज्ञायेतेति उदाहरति– **यथा– सत्यमि**ति– भोगाः– विषयाः, रम्याभोगाः– रम्य आभोगः परिपूर्णता येषां तादृशाः भवन्तीति, सत्यं– यथार्थम्, कान्ताः– वनिताः, कान्ताः– कमनीया भवन्तीत्यपि सत्यम्, राज्यं– नृपत्वम्, प्राज्यं– प्रभूतं परितोषकारणमित्यपि सत्यम्; [किन्तु] प्राज्ञा; [एमिः] किं कुवन्तु– कस्मै प्रयोजनाय एतत् सर्वं परिगृह्णन्तु, यस्मात्– हेतोः, आयुः– जीवनकालः, विद्युन्मालालोलं– सौदामिनीपङ्क्तिवच्चपलम् । आयुषः स्थिरत्वे हि कान्तादीनां रमणीयत्वमनुभवितुं शक्यते तदेव च प्राज्ञैर्विद्युदिव चपलमिति प्रत्यक्षीक्रियते, ततश्चैतत् सर्वं परित्यज्यते ते स्थिरसुखप्राप्तये पुण्यमेव संचिन्वन्तीत्यर्थः। 'स[ऽ]त्यं[ऽ], र[ऽ]म्या[ऽ]भो[ऽ]गाः[ऽ]' इति सर्वगुरुत्वं प्रतिपादमनुगतं द्रष्टव्यम् ।। अ० २, सू०–७४ ।।

भौ गौ चित्रपदा ।।७५।।

यथा– व्योमनि सागरतीरे, पर्वतशृंगनिकुञ्जे । भ्राम्यति भीमकुलेन्दो, चित्रपदा तव कीर्तिः ।। ७५.१ ।।

चतुर्थं प्रभेदमाह– **भौ गौ चित्रपदे**ति– भगणद्वयं गुरुद्वयं च 'ऽ।। ऽ।। ऽऽ' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् चित्रपदानामानुष्टुब्जातिछन्दः । उदाहरति– **यथा– व्योमनी**ति– हे भीमकुलेन्दो !– भीमभूमिपवंशशशाङ्क !, चित्रपदा– चित्राणि पदानि स्याद्यन्तत्याद्यन्तरूपाणि चरणनिक्षेपरूपाणि वा यस्यास्तादृशी, तव– भवतः, कीर्तिः– प्रशस्तिः, व्योमनि– आकाशे, सागरतीरे– समुद्रतटे, पर्वतशृङ्गनिकुञ्जे– गिरिशिखरस्थितलतागुल्मे च, भ्राम्यति– पर्यटति, सर्वत्र सा जनैर्गीयत इत्यर्थः । अत्र स्त्रीत्वेनाध्यवसितायाः कीर्त्याः सर्वजनाकर्षणार्थं रुचिरपादन्यासपूर्वकं परिभ्रमणं तस्याः स्वैरिणीत्वं व्यञ्जयति । 'व्यो[ऽ]म[।]नि[।], सा[ऽ]ग[।]र[।]ती[ऽ]रे[ऽ]' इत्येवं रीत्या लक्षणसमन्वयः ।। अ० २, सू०–७५ ।।

त्रौ ल्गौ सुमालती ॥७६॥

नरलगाः । यथा- परिहृतोत्पलावली, कनककेतकी तथा । भ्रमर मालती-कृते, तदिति सा सुमालती ॥ ७६.१ ॥

पञ्चमं प्रभेदमाह- **त्रौ ल्गौ सुमालतीति** । **'त्रौ ल्गौ'** इति पदद्वयार्थ-माह- **नरलगाः** इति- 'नगणः ।।।, रगणः ऽ।ऽ, लघुः ।, गुरुः ऽ' इत्येवमष्ट-भिर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् 'सुमालती'नामकमनुष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- परिहृतेति**- हे भ्रमर ! मालतीकृते- मालतीपुष्परसपान-समीहया [त्वया] उत्पलावली- कमलपङ्क्तिः, परिहृता- परित्यक्ता, तथा कनककेतकी- सुवर्णकेतक्यपि [परिहृता], तदिति- तस्मादेव हेतोः, सा सुमालती सर्वतः शोभना मालतीति ख्यातेत्यर्थः । 'प[।]रि[।]हृ[।]तो[ऽ]त्प-[।]ला[ऽ]व[।]ली[ऽ]' इत्येवंक्रमेण सर्वत्र पादेषु लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-७६ ॥

भ्तौ ल्गौ माणवकं घैः ॥७७॥

भतलगाः । घैरिति "व्यादिर्गादिः" [१-१७] इति वचनाच्चतुर्भिरिति लभ्यते । यतिरिति चोपतिष्ठते, तेन चतुर्भिर्यतिरिति सिद्धम् ॥ यथा- शीतरु-जान्योऽन्यरणद्, दन्तरवैर्विस्वरकम् । साम पठन् माणवको, ऽशासि मुहुर्यत्र शुकैः ॥ ७७.१ ॥

षष्ठं प्रभेदमाह- **भ्तौ ल्गौ माणवकं घैः** । **भ्तौ ल्गाविति** पदद्व-यस्यार्थमाह- **भतलगाः** इति- 'भगणः ऽ।।, तगणः ऽऽ।, लघुः ।, गुरुः ऽ' इत्येवं-रूपैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् माणवकं नामानुष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । घैरिति पदस्यार्थं तस्य वाक्यान्वयित्वं व्याचष्टे- **घैरिति "व्यादिर्गादिः" इति वचनादित्यादि**- प्रथमाध्याये सप्तदशसूत्रं "व्यादिर्गादिः" इति, तेन च गकारादिव्यञ्जनानां स्वानुक्रमगतसंख्याबोधकत्वमनुशिष्टम्, "श्रव्यो विरामो यतिः" इति प्रथमाध्याये षोडशसूत्रेण यतेः परिभाषोपदिष्टा, तृतीयान्तगादि-पदनिर्देशस्थले च 'यतिः' इत्यस्योपस्थितिरिति वृत्तौ प्रतिपादितम्, तथा चे-हाऽपि घैरित्यस्यानन्तरं यतिरित्युपतिष्ठते । तथा च योऽर्थो लब्धस्तमाह- **तेन चतुर्भिर्यतिरिति सिद्धमिति**, एवं च पादमध्ये चतुर्थवर्णान्तेऽपि विराम

इति लभ्यते, पादान्ते विरामस्तु स्वाभाविक एव "यतिः सर्वत्र पादान्ते" इति कारिकया प्रतिपादित एव। तथा चोदाहरति- **यथा- शीतरुजेति-** शीतरुजा- जाड्यक्लेशेन, अन्योऽन्यरणद्दन्तरवैः- परस्परकटकटाशब्दं कुर्वतां दन्तानां शब्दैः कारणभूतैः, विस्वरकं- विकृतोदात्तादिस्वरवद् यथा स्यात् तथा, साम- सामवेदं, पठन्- अधीयानो, माणवकः- बटुः, यत्र- यस्यां पुरि, शुकैः- कीरैः, अशासि- अनुशिष्टः- किमेवं विस्वरं करोषीति तर्जित इत्यर्थः, सततशुद्धवेदाध्यनाध्यापनश्रवणात् समुत्पन्नवैदुष्पाः शुका अपि यत्र सन्ति तत्रान्येषां सचेतसां मनुजानां कीदृशी विद्यापारगामितेति किं वर्णनीयमिति भावः। अत्र 'शी[ऽ]त[।]रु[।]जा[ऽ]न्यो[ऽ]न्य[।]र[।]णत्[ऽ]'इत्येवं लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-७७ ॥

त्रौ ल्गौ नाराचम् ॥७८॥

तरलगाः। यथा- दुर्वारवैरिदन्तिनां, कुम्भस्थलेषु निश्चलः। त्वत्कीर्तिकेतुवंशवत्, नाराच एष शोभते ॥ ७८.१ ॥

सप्तमं प्रकारमाह- **त्रौ ल्गौ नाराचमिति। 'त्रौ ल्गौ'** इति पदद्वयं व्याख्याति- **तरलगाः** इति- 'तगणः ऽऽ।, रगणः ऽ।ऽ, लघुः ।, गुरुः ऽ' एभिर्वर्णैः- ईदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् नाराचं नामानुष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा-दुर्वारेति-** दुर्वारवैरिदन्तिनां- दुर्वाराः- दुःखेन वारयितुं शक्या ये वैरिणां- शत्रूणां, दन्तिनो- गजास्तेषां कुम्भस्थलेषु- मस्तकाग्रभागेषु, निश्चलः- दूरं निखातत्वेन स्थिरः, एष- प्रत्यक्षदृश्यमानः, नाराचः- तव बाणः, त्वत्कीर्तिकेतुवंशवत्- तव कीर्त्याः सूचकः केतुः- ध्वजः- चिह्नं- त्वत्कीर्तिकेतुध्वजः, तस्य वंशवत्- वेणुदण्डवत्, शोभते- विराजत इत्यर्थः। तव वैरिणां गजकुम्भेषु स्थिरा बाणास्तव कीर्त्तिं सूचयन्तीति तात्पर्यम्। 'दु[ऽ]र्वा[ऽ]र[।]वै[ऽ]रि[।]द[ऽ]न्ति[।]नां[ऽ]' इति लक्षणानुगतिः ॥ अ० २, सू० ७८ ॥

म्नौ गौ हंसरुतम् ॥७९॥

मनगगाः। यथा- मञ्जीरक्वणितयोग्यां, कुर्वाणं श्रवणभोग्याम्। आदत्ते बत मनांसि, यूनां हंसरुतमेतत् ॥ ७९.१ ॥

अष्टमं प्रकारमाह- "**म्नौ गौ हंसरुतम्**" इति। **म्नौ गाविति** पदद्वयार्थमाह- **मनगगाः** इति- 'मगणः ऽऽऽ, नगणः ।।।, गुरुद्वयम् ऽऽ' इत्येवंरूपैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् हंसरुतं नामानुष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- मञ्जीरेति**- मञ्जीरयोः- नूपुरयोः, क्वणितस्य- ध्वनितस्य, योग्याम्- **अभ्यासं**, श्रवणभोग्यां- कर्णपेयां, कुर्वाणं- विदधत्, एतत्- अग्रे श्रूयमाणं, हंसरुतं- हंसानां वचनम्, यूनां- तरुणानां, मनांसि- चेतांसि, आदत्ते- कर्षयति, बत- इति खेदे। हंसरुतं श्रुत्वा कान्तापादस्थितमञ्जीरध्वनिं स्मरन्तो युवानस्तत्राकृष्टाः सन्तः खेदमनुभवन्तीत्यर्थः। 'म[ऽ]ञ्जी[ऽ]र[ऽ]क्व[।]णि[।]त[।]यो[ऽ]ग्यां[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ७९ ॥

न्जौ ल्गौ ललितगतिः ॥८०॥

नजलगाः। यथा- मणिरसनास्वनितात्, अनुसृतहंसकुलैः। श्रितमिव शिष्यपदं, ललितगतौ सुतनोः ॥ ८०.१ ॥

अनुष्टुभ एव नवमं प्रभेदमाह- **न्जौ ल्गौ ललितगतिरिति। न्जौ ल्गाविति**स्यार्थमाह- **नजलगाः** इति- 'नगणः ।।।, जगणः ।ऽ।, लघुः ।, गुरुश्च ऽ इत्येवंरूपैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् 'ललितगति'नामकमनुष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- मणिरसनास्वनितादिति**- सुतनोः- ललिताङ्ग्याः, मणिरसनास्वनितात्- मणिनिर्मितायाः काञ्च्याः शब्दात् हेतोः, अनुसृतहंसकुलैः- अनुगामिहंसगणैः, ललितगतौ- सविलासगमने, शिष्यपदम्- अन्तेवासिस्थानं, श्रितमिव- प्राप्तमिव ! मणिरसनानादं श्रुत्वा तदनुकूलकूजनशिक्षार्थं हंसगण अस्याः सुतनोरनुसरणं करोति, यथा शिष्या गुरुमनुसरन्ति, ततश्च तैः शिष्यत्वमिव प्राप्तमित्युत्प्रेक्षते कविः। 'म[।]णि[।]र[।]स[।]ना[ऽ]स्व[।]नि[।]ता[ऽ]द्'इति लक्षणसमन्वयः सर्वत्र पादेषु बोध्यः ॥ अ० २, सू० ८० ॥

र्जौ गौ सिंहलेखा ॥८१॥

रजगगाः। यथा- पर्णपातमात्रभीत !, कृष्णसारपोत ! तात ! किं विलम्बसे महात्मन् !, त्वं जहीहि सिंहलेखाम् ॥ ८१.१ ॥

दशमं प्रभेदमाह– **र्जौ गौ सिंहलेखेति** । **जौ गाविति** पदद्वयस्यार्थमाह– **रजगगाः** इति– 'रगणः ऽ।ऽ, जगणः ।ऽ।, गुरुद्वयम् ऽऽ' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् 'सिंहलेखा'नामकमनुष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– पर्णपातेति**– पर्णपातमात्रेण– कूचित् पतत्पत्रस्य शब्दं श्रुत्वा तन्मात्रेण– केवलेनैव तेन, भीत !– त्रस्त !, कृष्णसारपोत !– कृष्णसारस्य– मृगविशेषस्य, पोत !– पुत्र !, तात !– वात्सल्यभाजन !, महात्मन् !– अक्षुद्र !, किं विलम्बसे ?– कुतोऽग्रे न चलसि, त्वं सिंहलेखां– केसरिगणनां– [प्रायः कश्चित् सिंहोऽत्र तिष्ठति तस्यैव पदशब्दोऽयं किमिति शङ्कां] जहीहि– त्यज । अत्र 'प[ऽ]र्ण[।]पा[ऽ]त[।]मा[ऽ]त्र[।]भी[ऽ]त![ऽ]' 'कृ[ऽ]ष्ण[।]सा[ऽ]र[।]पो[ऽ]त![।]ता[ऽ]त ![ऽ]' इत्युभयत्रापि पादान्तस्य लघुत्वेऽपि "वाऽन्ते ग्वक्रः" [१-६] इति सूत्रानुसारं वैकल्पिकगुरुत्वमाश्रित्य लक्षणसंगतिर्बोध्या ॥ अ० २, सू० ८१ ॥

ज्रौ ल्गौ प्रमाणी ॥८२॥

जरलगाः । यथा– तव प्रमातुमिच्छतां, यशश्चुलुक्यभूपते ॥ समग्रमानजित्वरी, जगन्त्रयी प्रमाण्यभूत् ॥ ८२.१ ॥ मत्तचेष्टितमिति भरतः ॥८२.१॥

एकादशं प्रकारमाह– **ज्रौ ल्गौ प्रमाणीति** "**ज्रौ ल्गौ**" इत्यस्यार्थमाह– **जरलगाः** इति– 'जगणः [।], रगणः ऽ।ऽ, लघुः[।], गुरुश्च[ऽ]' इति तादृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् 'प्रमाणी'नामकमनुष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– तवेति**– हे चुलुक्यभूपते ! तव यशः– कीर्त्ति, प्रमातुमिच्छतां– परिच्छेतुमभिलषतां कृते, समग्रमानजित्वरी– सर्वविधप्रमाणमूर्धन्या, जगन्त्रयी– त्रैलोक्यमेव, प्रमाण्यभूत्– प्रमाणतां गता, अप्रमाणं प्रमाणं समपादीति प्रमाण्यभूत्, इति च्व्यन्तता प्रमाणीशब्दस्येति तस्य क्रियया सह समासादैकपद्यम्, यद्वा 'प्रमाणी अभूत्' इति पदद्वयम्, प्रमीयतेऽनयेति प्रमाणी, एवंविधा जगन्त्रयी, अभूत्– जातेत्यर्थः । तव यशः कियत्पर्यन्तं व्याप्तमिति जिज्ञासमानानां कृते, तस्य त्रिलोकीव्याप्तत्वेन सैव प्रमाणतां यातेत्यर्थः । 'त[।]व[ऽ], प्र[।]मा[ऽ]तु[।]मि[ऽ]च्छ[।]तां[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः सर्वत्र पादेषु ॥ **अस्य**

नामान्तरमाह- **मत्तचेष्टितमिति भरतः** इति, तथाहि तल्लक्षणम्-

"चतुर्थं च द्वितीयं च, षष्ठमष्टममेव च । गुरुण्यष्टाक्षरे पादे, यत्र तन्मत्तचेष्टितम् ।।"

इति [भ० ना० शा० १५।२०.] ॥ अ० २, सू०-८२. ॥

र्जौ ग्लौ समानी ॥८३॥

रजगलाः । यथा- रागरोषमोहदोष-, दारुदावपावकस्य । तीर्थिकैः समं जिनस्य, नो समानिका कलापि ॥ ८३ १ ॥

द्वादशं प्रकारमाह- **"र्जौ ग्लौ समानी"** इति । र्जौ ग्लावीत्यस्यार्थमाह- **रजगलाः** इति- 'रगणः ऽ।ऽ, जगणः ।ऽ।, गुरुः ऽ, लघुः ।' इति प्रकारैर्वर्णे विहिताः पादा यस्य तत् 'समानी'नामकमनुष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- रागदोषेति-** रागरोषमोहदोषदारुदावपावकस्य- रागः- आसक्तिः, रोषः- क्रोधः, मोहः- अज्ञानं वैचित्न्यं वा, तदात्मका ये दोषाः, त एव दारूणि- काष्ठानि, तत्र दावपावकस्य- दावाग्निरूपस्य, दाहपावकस्येति पाठेतुतेषां दाहेऽग्निस्वरूपस्येत्यर्थः । जिनस्य, तीर्थिकैः- अन्यैः संप्रदायप्रवर्तकैः समं- सह, समानिका- तुल्या, कलाऽपि- मात्राऽपि, नास्तीति सर्वेभ्यस्तस्य श्रेष्ठत्वमिति भावः । 'रा[ऽ]ग[।]रो[ऽ]ष[।]मो[।]ह[।]दो[ऽ]ष[।]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-८३ ॥

न्सौ गौ गुणलयनी ॥८४॥

नसगगाः । यथा- गुरुगुणचिता स्फीता, परिहृतरजःपुञ्जा । मुनितनुरियं साध्वी, न गुणलयनी साधो ! ॥८४.१॥

त्रयोदशं प्रकारमाह- **न्सौ गौ गुणलयनीति । न्सौ गाविति**स्यार्थमाह- **नसगगाः** इति- 'नगणः ।।ऽ, सगणः ।।ऽ, गुरुद्वयम् ऽऽ' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् 'गुणलयनी'नामकमनुष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- गुरुगुणे**ति- हे साधो ! गुरुगुणचिता- गुरुभिः- श्रेष्ठैः, गुणैः- शमादिभिः, चिता- व्याप्ता, स्फीता- सुसंस्कृता, परिहृतरजःपुञ्जा- परिहृतं- दूरीकृतं, रजः-पुञ्जं- रजोगुणसमूहः पापसमूहो वा यया तादृशी, साध्वी, इयं, मुनितनुः-

ऋषिशरीरम्, गुणलयनी– जवनिका न, गुणलयन्यपि गुरुभिः– महद्भिः, गुणैः– रज्जुभिः, चिता, स्फीता भवति, रजःपुञ्जनिवारिका साध्वी च भवतीति तस्या एव वर्णयितुं प्रकृत्वं प्रतीयते, तामपनूहुत्य अप्रकृताया मुनितनोस्तादृश्याः स्थापनमित्यपनूहुत्यलङ्कारोऽत्र । 'गु[।]रू[।]गु[।]ण[।]चि[।]ता[ऽ]स्फी[ऽ]-ता[ऽ]' इति लक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू०–८४ ॥

सौ ल्गौ मही ॥८५॥

ससलगाः । यथा– भृशमात्मवतः कला, ननु यस्य परिस्फुटाः । स हि काञ्चनपुष्पितां, सकलां चिनुते महीम् ॥ ८५.१ ॥

चतुर्दशं प्रभेदमाह– **सौ ल्गौ मही**ति । **सौ ग्लावि**त्यस्यार्थमाह– **सस-लगाः** इति– सगणद्वयम् ॥ऽ ॥ऽ, लघुः ।, गुरुश्च [ऽ]' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् 'मही'नामकमनुष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– भृशमि**ति– यस्य आत्मवतः– स्थिरचित्तस्य जनस्य, कलाः– विविधज्ञानमात्राः, भृशम्– अत्यर्थं, परिस्फुटाः– स्पष्टीभूताः, 'ननु' इति कोमलामन्त्रणे निश्चये वा, स– जनः, काञ्चनपुष्पितां– सुवर्णकुसुमैश्चितां, वित्तपूर्णामित्यर्थः, सकलां– समग्रा, महीं– वसुमतीं, संचिनुते– अवचितवित्तां करोति । सकलकलानिपुणस्य जनस्य कृते सकला पृथ्वी समभिलषितपूरिका भवतीति तात्पर्यम् । भृ[।]-श[।]मा[ऽ]त्म[।]व[।]तः[ऽ], क[।]ला[ऽ]' इतिलक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू०–८५ ॥

नौ गौ रतिमाला ॥८६॥

ननगगाः । यथा– ततिरिह करिणां ते, क्षरदुरुमदवारिः । नृपवर ! जलदा-नाम्, इव विचरति माला ॥ ८६.१ ॥

पञ्चदशं प्रकारमाह– **नौ गौ रतिमाले**ति । नौ गावित्यस्यार्थमाह– **नन-गगाः** इति– नगणद्वयं ।॥, ।॥, गुरुद्वयं च ऽऽ' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् 'रतिमाला'नामकमनुष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– ततिरिहे**ति– हे नृपवर !– राजश्रेष्ठ !, क्षरदुरुमदवारिः– क्षरत्– स्यन्दमानम्, उरु– अधिकं, मदवारि– मदजलं यस्याः सा, ते-तव, करिणां– हस्तिनां,

ततिः– समूहः, जलदानां– मेघानां, माला– पङ्क्तिः इव, विचरति– [संग्राम-भूमौ] परिभ्रमति । मेघेभ्योऽपि जलं स्रवति, कृष्णवर्णाश्च ते भवन्ति, गजा अपि ते दानवारिस्राविणः कृष्णवर्णाश्चेति जलदा इव राजन्ते इत्यर्थः । 'त[।]-ति[।]रि[।]ह[।]क[।]रि[।]णां[ऽ]ते[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–८६ ॥

अन्यद्वितानम् ॥८७॥

उक्ताद्वक्ष्यमाणाच्चान्यत् समवृत्तं छन्दो वितानसंज्ञम् ।

यथा– त्वयि तेजोभिरशेषं, जगदुद्द्योतयतीदम् । उदयत्येष इदानीं, सविता नाथ ! मुधैव ॥ ८७.१ ॥

तथा– कङ्कालमालभारिणं, कन्दर्पदर्पदारिणम् । संसारबन्धमोचनं, वन्दामहे त्रिलोचनम् ॥ ८७.२ ॥

तथा– तस्याः स्मरामि सुन्दरं, चन्द्रोपमाननमाननम् । कन्दर्पचापभङ्गुर-, भ्रूविभ्रमोपशोभितम् ॥ ८७.३ ॥

तथा– तृष्णां त्यज धर्मं भज, पापे हृदयं मा कुरु । इष्टा यदि लक्ष्मीस्तव, शिष्टाननिशं संश्रय ॥ ८७.४ ॥ इत्यादि ॥ ८।१६ ॥

संग्रहरूपेण षोडशं प्रकारमाह– **अन्यद् वितानमिति** । सूत्रं व्याख्याति– **उक्ताद् वक्ष्यमाणाच्चेति**– अष्टाक्षरपादस्य च्छन्दसो ये प्रकारा उक्ताः, ये च तृतीयाध्याये वक्ष्यन्ते तेभ्योऽन्यानि यानि अष्टाक्षरपादानि समवृत्तानि तानि सर्वाणि वितानसंज्ञा व्यवहरणीयानीत्यर्थः । अन्यैरपि पिङ्गलादिभिरियमेव व्यवस्था कृता, तत्र हि समानी-प्रमाणीभेदेन प्रकारद्वयमेवोक्त्वा 'वितान-मन्यत्" [अ० ५, सू०–८] इत्युक्तम्, व्याख्यातं च हलायुधेन– आभ्यां समानी-प्रमाणीभ्यामन्यदष्टाक्षरपादं छन्दो 'वितानं' नामेति, उदाहृतं च तत्र– "कङ्कालमालभारिणम्" इत्याद्यग्रे निर्दिश्यमानं पद्यत्रयम् ।

तत्र स्वकृतमुदाहरणं पूर्वमाह– **यथा– त्वयि तेजोभिरिति**– हे नाथ ! त्वयि– भवति, तेजोभिः– स्वप्रभाभिः, इदं– प्रत्यक्षवर्ति, अशेषं– सकलं, जगत्– विश्वम्, उद्द्योतयति– प्रकाश्यति सति, इदानीं– संप्रति, एषः– पुरोऽवलोक्यमानः, सविता– सूर्यः, मुधैव– व्यर्थमेव, उदेति– उदयं गच्छति ।

सवितुः– कार्यस्य, तव तेजोभिरेव कृतत्वेन तदुदयनं संप्रति व्यर्थमेवेति भावः। 'त्व[।]यि[।],ते[ऽ]जो[ऽ]भि[।]र[।]शे[ऽ]षं[ऽ]' इत्येवंप्रकारेण सगणभगणाभ्यां गुरुद्वयेन च पादनिर्मितिः ॥१॥

उदाहरणान्तरमाह– **तथा– कङ्कालेति**– कङ्कालमालभारिणं– कङ्कालस्य– शरीरास्थिपञ्जरस्य मालां बिभर्तीति तच्छीलं "मालेषीकेष्ट०" [२।४।१०२] इति सूत्रेण मालाशब्दस्य ह्रस्वः। कन्दर्पदर्पहारिणं– कन्दर्पस्य– कामस्य, दर्पं– गर्वं हरतीति तच्छीलं, दारिणमिति पाठे तु– हरतिस्थाने दृणातीति ज्ञेयम्, संसारबन्धमोचनं– संसारबन्धस्य– जन्मजरामरणादिदुःस्वरूपसांसारिकबन्धनस्य, मोचनं– छेदकं, त्रिलोचनं– शिवं, वन्दामहे– प्रणमामः। अत्र तगण-रगणाभ्यां ऽऽ। ऽ।ऽ, लगाभ्यां ।ऽ च पादनिर्माणमिति। यद्यपि नाराचच्छन्दसि "त्रौ लगौ नाराचम्"[२–७८]इति सूत्रेण वर्णितेऽन्तर्भवति, तथापि 'कन्दर्प' इति शब्दे रेफपकारसंयोगस्य गुरुत्वानाधायकत्वे तगणस्वरूपं दुष्यतीति न तेन च्छन्दसा निर्वाह इति वितानेऽन्तर्भाव इष्टः ॥२॥

तृतीयमुदाहरणमाह– **तस्याः स्मरामीति**– चन्द्रोपमानं– चन्द्र उपमानं यस्य तत्, चन्दस्य उपमानमिति वा, कन्दर्पचापभङ्गुरभ्रूविभ्रमोपशोभितं– कन्दर्पस्य– कामस्य, चापवद् भङ्गुरा– निम्नोन्नता या भ्रूस्तस्या विभ्रमेण– विलासेन, उपशोभितम्– विराजमानम्, तस्याः– प्रियायाः, सुन्दरम्, आननं– मुखं, स्मरामि– ध्यायामि, सम्प्रति तस्या विरहेपा तन्मुखस्मरणमेव मे सन्तोषायेति भावः। अत्रापि तगण-रगणाभ्यां ल-गाभ्यां च पादपूर्तिरिति नाराचलक्षणाक्रान्तत्वेऽपि 'कन्दर्प' इत्यत्र द्वितीयस्य वैकल्पिकं लघुत्वमिति वितानमध्येऽन्तर्भावः ॥३॥

चतुर्थमुदाहरणमाह– **तृष्णां त्यजेति**– तृष्णां– विषयेषु स्पृहां, त्यज– परिहर, धर्मं– सुकृताचरणं, भज– सेवस्व, पापे– दुष्कृते, हृदयं– मनो, मा कुरु– न प्रवर्तय, यदि तव लक्ष्मीः, इष्टा– अभिलषिता [तर्हि] शिष्टान्– सदाचारिणो जनान्, अनिशं– सततं, संश्रय– अनुगच्छ तानाश्रयेति वा। 'तृ[ऽ]ष्णां[ऽ], त्य[।]ज[।], ध[ऽ]र्मं[ऽ], भ[।]ज[।]' इत्येवं पादपूर्त्या पूर्वोक्तच्छन्दसां लक्षणायोगेन वितानत्वमेवात्र विज्ञेयमिति ॥४॥ एवं षोडश प्रकारा अष्टाक्षरच्छन्दस उक्ता इत्याह– **इत्यादि ८–१६** इति। प्रस्तारक्रमेण तु षट्-

पञ्चाशदधिकशतद्वयं भेदा भवन्ति, तदुक्तं भरतनाट्यशास्त्रे– "षट्पञ्चाशच्छते द्वे च वृत्तानामप्यनुष्टुभि" [१५।५६] इति ॥ अ० २, सू० ८७ ॥

बृहत्यां भो मौ वक्त्रं ङै ॥८८॥

ङैरिति पञ्चभिर्यतिः । यथा– बिभ्रमसारभ्रूविक्षेपं, मन्मथलीलालीलागारम् । कस्य न चित्ते कुर्यात् क्षोभं, बालकुरङ्गाक्षीणां वक्त्रम् ॥ ८८.१ ॥

अथ नवाक्षरपादां बृहतीजातिं वर्णयितुमाह– **"बृहत्यां भो मौ वक्त्रं ङैः"** इति । तत्र **ङैरित्यस्यार्थमाह– ङैरिति पञ्चभिर्यतिः** इति, तथा चायं सूत्रार्थः– भगणः ऽ।, मगणद्वयं ऽऽऽ, ऽऽऽ' इत्येवंरूपैर्नवभिर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् बृहतीजातिकं 'वक्त्रं' नाम च्छन्दः, तत्र च पञ्चभिः परिशिष्टैश्चतुर्भिश्च "यतिः सर्वत्र पादान्ते" इत्युक्ततया पादान्ते सर्वत्र यतिनियमात् यतिर्भवति । उदाहरति– **यथा– विभ्रमे**ति– विभ्रमसारभ्रूविक्षेपं– विभ्रमाणां– विलासानां, सारः– सर्वस्वभूतः, भ्रूविक्षेपः– कटाक्षपातो यत्र तादृशं, मन्मथलीलालीलागारं– मन्मथलीलायाः– कामक्रीडायाः, लीलागारं– क्रीडागृहं, बालकुरङ्गाक्षीणां– बालः– शिशुः, करङ्गः– मृगः– बालकुरङ्गः, तस्य– अक्षिणी इव अक्षिणी यासां तासां, वक्त्रं– मुखम्, कस्य– जनस्य, चित्ते– हृदये, क्षोभं– चाञ्चल्यं, न कुर्यात्– अपि तु सर्वस्यैव हृदि चाञ्चल्यं कुर्यादेवेत्यर्थः । 'वि[ऽ]भ्र[।]म[।]सा[ऽ]र[ऽ]भ्रू[ऽ]वि[ऽ]क्षे[ऽ]पं[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ८८. ॥

नो रौ बृहतिका ॥८९॥

यथा– विशदवृत्तलब्धात्मनः, शुचियशोयतेर्भूपते । तव कमण्डलुर्वारिधिर्, बृहतिका च मन्दाकिनी ॥ ८९.१ ॥

द्वितीयं प्रभेदमाह– **नो रौ बृहतिके**ति– 'नगणः ।।।, रगणद्वयं ऽ।ऽ, ।ऽ। च' इति प्रकारैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् 'बृहतिका' नाम बृहतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा विशदवृत्ते**ति– हे भूपते !, विशदे– उज्जवले, वृत्ते– चरित्रे, लब्धः– प्रतिष्ठित आत्मा यस्य तस्य, अथ च विशदमुज्जवलं वृत्तं येषां तेषु लब्धात्मनः– प्राप्तस्वरूपस्य, शुचियशोयतेः– पवित्रकीर्तिकसाधोः, अथ च शुचि– पवित्रं यश एव यतिः– विश्रामस्थानं यस्य यावद्यशःप्राप्ति कर्तव्यनिष्ठस्य तस्य, तव वारिधिः– समुद्रः, कमण्डलुः– जलपात्रम्, मन्दाकिनी

च बृहतिका- प्रच्छादनपटः, भूपर्तेयतित्वेन रूपणात् यतेः कमण्डलुधारणं द्वितीयवस्त्रधारणं च प्रसिद्धमिति वारिधौ कमण्डलुत्वोपचारो मन्दाकिन्यां च प्रवारत्वोपचारः। भूलोके समुद्रपर्यन्तं, दिवि च मन्दाकिनीतीरपर्यन्तं तव निर्बाधा गतिरिति व्यङ्ग्यम्। 'वि[।]श[।]द[।]वृ[ऽ]त्त[।]ल[ऽ]ब्धा[ऽ]त्म[।]नःऽ' इति लक्षणसंगतिः ॥ अ० २, सू० ८९ ॥

रनसा हलमुखी ॥९०॥

रनसाः। यथा- दन्तुरं कपिशनयनं, यन्मुखं विकटचिबुकम्। तां स्त्रियं सुखमभिलषन्, दूरतस्त्यज हलमुखीम् ॥ ९०.१ ॥

तृतीयं प्रभेदमाह- **रनसा हलमुखी**ति। 'रगणः ऽ।ऽ, नगणः ।।।, सगणः ।।ऽ' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् हलमुखीतिनामकं बृहतीजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- दन्तुरं कपिशनयनमिति**- दन्तुरं- उन्नतदन्तयुक्तं, कपिशनयनं- कपिशे पिङ्गले नयने यत्र तादृशं, विकटचिबुकं- विकटं- करालं, चिबुकं- हनु यत्र तादृशं च, यन्मुखं- यस्या मुखं स्यात्, सुखम्- आनन्दम्, अभिलषन्- इच्छन्, त्वम्, तां हलमुखीं- हलाकारवक्त्रां स्त्रियं, दूरतः- समीपमप्राप्तामेव, त्यज- परिहरेत्यर्थः ॥ अ० २, सू० ९० ॥

नौ मो भुजगशिशुसृता ॥९१॥

यथा- नयनविलसितैरस्याः, कथमिव बत मूर्छा ते। भुजगशिशुसृता यद्वा, ऽवगतमुरगकन्येयम् ॥ ९१.१ ॥ वक्रगतेरित्यर्थः, शिशुपदस्य साभिप्राय-त्वात्। यथा च- अभ्यस्यता तु तरुणीगतिवक्रिमाण- मुन्मूलिताः फणिशिशो भवतापराधाः ॥ ९१.२ ॥ इति। मधुकरिकेति भग्नः ॥ ९१.२ ॥

चतुर्थं प्रभेदमाह- **नौ मो भुजगशिशुसृते**ति। 'नगणद्वयं मगणश्च ।।।, ।।। ऽऽऽ' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् 'भुजगशिशुसृता' नाम बृहतीजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- नयनविलसितैरिति**- अस्याः- प्रकृताङ्गनायाः, नयनविलसितैः- नेत्रलीलाभिः, ते- तव, मूर्छा- सर्वेन्द्रियक्रियाशून्यता, कथमिव- केन प्रकारेणाभूत्, बत इति- खेदे कोमलालापे वा। इति प्रश्नानन्तरं स्वयमेवोत्तरयति- अवगतं- मूर्छायाः कारणं

ज्ञातं, किं तदित्याह– इयं भुजगशिशुसुता– सर्पपोतगतिः, यथा सर्वपोतः कुटिलतरं गच्छति तथैवेयमित्येनां दृष्ट्वा सर्पस्मरणाद् भीतस्त्वं मूर्च्छित इत्यर्थः। कारणान्तरमाह– यद्वा, इयम् उरगकन्या– नागजातीया बाला, अलौकिकरूपाया अस्या उरगकन्यात्वं सम्भाव्यते, तासां च दृष्टिविषत्वमिति प्रसिद्धिरिति तद्दृष्टिपातेन मूर्छा सम्भवतीत्यर्थः। अवगतेर्हेतुं स्फोरयति– **वक्रगतेरित्यर्थः**, अस्या वक्रां गतिं दृष्ट्वा मयैतदवगतमिति भावः। कथं वक्रगतेरस्यार्थस्यावगतिरिति चेदत्राह– **शिशुपदस्य साभिप्रायत्वादिति**– 'भुजगसुता' इत्यनुक्त्वा भुगजशिशुसुतेति कथने शिशुपदं यदुपात्तं तस्य कश्चिदभिप्रायोऽवश्यमिति मन्दाकुटिला च गतिरनेनावगम्यते।

किमियं भवदीयैवोत्यप्रेक्षाऽथवा कविसम्प्रदायसिद्धोऽप्यमर्थ इति शङ्कापनोदाय पूर्वकविवचनसंवादमाह– **यथा च–अभ्यस्यतेति**– क्वाचित्कं पूर्वकविपद्यार्धमिदं हलायुधवृत्तावपि प्रकृतार्थसंवादायोदाहृतम्। हे फणिशिशो !– उरगबाल !, तरुणीगतिवक्रिमाणं–युवतिपादविक्षेपकौटिल्यम्, अभ्यस्यता– पुनः पुनरनुकुर्वता भवता, अपराधाः-स्वजातिस्वभावसंपादिता दंशादिदोषाः, उन्मूलिताः-उद्धृताः, **तु** इति पक्षान्तरे। तथा च पद्योतरार्धमिदमिति प्रतीयते, पूर्वार्धेऽनेन सर्पशिशुना कृतानामपराधानामुल्लेख इति प्रत्तीयते। प्रकृते च तरुणीगति– वक्रिमायाः फणिशिशुनाऽनुकरणस्यैव स्वामीष्टार्थप्रतिपादकत्वमिति तावन्मात्रेणात्रेतदुद्धरणमिति ज्ञेयम्। अस्य नामान्तरमपीत्याह– **मधुकरिकेति भरतः** इति– भरत आचार्य इदमेवच्छन्दो मधुकरिकेति नाम्ना व्यवहरतीत्यर्थः। तथा च तदीयं वचनम्–

"नवाक्षरकृते पादे त्रीणि स्युर्नैधनानि च।
गुरूणि यस्याः सा ज्ञेया नाम्ना मधुकरी यथा ॥" इति। [भ. ना. शा. १५–२८]

गरुडपुराणे तु 'शिशुभृता' इत्येव नाम दृश्यते, तथाहि– "नौ मः शिशभृता भवेत्" [१।२०९।५] इति तत्रोक्तम्। छन्दःकौस्तुभादौ तु– "भुजगशिशुभृता" "भुजगशिशुयुता" "भुजगशिशुवृता" "भुजगशिशुसुता" इत्येव मादीनि समानाक्षराणि नामानि दृश्यन्ते। 'न[।]य[।]न[।]वि[।]ल[।]सि[।]तैं[ऽ]र[ऽ]स्याः [ऽ]' इत्येवं लक्षणसमन्वयोऽवसेयः ॥ अ० २, सू० ९१ ॥

भजसा उदयम् ॥९२॥

यथा- सुभ्रु ! भवदीयवदने, सत्यपि नितान्तरुचिरे। निस्त्रप इवैष सहसा, वाञ्छति शशाङ्क उदयम् ॥ ९२.१ ॥

पञ्चमं प्रभेदमाह- **भजसा उदयमिति**- 'भगण-जगण-सगणाः ऽ।।. ।ऽ।. ।।ऽ' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् 'उदयं' नाम बृहतीजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- सुभ्रु** इति- हे सुभ्रु !- सुन्दर भ्रुकुटे !, नितान्तरुचिरे- अतिशयकमनीये, भवदीयवदने- तव मुखे, सत्यपि निस्त्रपः- निर्लज्ज इव, एष- प्रत्यक्षस्थितः, शशाङ्कः चन्द्रः, सहसा अविचार्यैव, उदयं- दृष्टिपथातिथित्वं, वाञ्छति- अभिलषति। शशाङ्काधिकशोभाशिलिनि तव मुखे पूर्वं लोकदृष्टिमागते तेनोदेतुमयुक्तं तथापि यदयमुदयमिच्छति तेन निर्लज्जोऽविचार्यकारी चेति विज्ञायत इति भावः। अत्र 'सु[ऽ]भ्रु[।], भ[।]व[।]दी[ऽ]य[।]व[।]द[।]ने[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ९२ ॥

भौ र उत्सुकम् ॥९३॥

यथा- आपदि दीनमनोरथं, संपदि हर्षपरायणम् । मा कुरु मानस चापलं, संस्मर तत्त्वमनुत्सुकम् ॥ ९३.१ ॥

षष्ठं प्रभेदमाह- **भौ र उत्सुकमिति**- 'भगणद्वयं रगणश्च ऽ।।. ऽ।।. ऽ।ऽ' इत्येवंरूपैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् उत्सुकं नाम बृहतीजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- आपदि**ति- हे मानस ! आपदि- विपत्तौ, दीनमनोरथं- दीनः- कृपणः, मनोरथो यस्मिन् तादृशं, सम्पदि- वृद्धौ, हर्षपरायणम्- आनन्दैकरसं, चापलं- **चाञ्चल्यं**, मा कुरु- न विधेहि, अनुत्सुकं सत्- औत्सुक्यरहितं यथा स्यात् तथा तत्त्वम्- आत्मनो यथार्थस्वरूपं, संस्मर- अनुध्यायेत्यर्थः। 'आ[ऽ]प[।]दि[।], दी[।]न[।]म[।]नो[ऽ]र[।]थं[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ९३ ॥

र्नरा भद्रिका ॥९४॥

रनराः। यथा- पुण्यपापजलवर्धिते, सौख्यदुःखलतिके स्वयम् । तज्जहीहि परिविप्लवं, साधुता हृदय ! भद्रिका ॥ ९४.१ ॥

सप्तमं प्रकारमाह– **रनरा भद्रिके**ति– 'रगणः, नगणः, रगणः, ऽ।ऽ ।।। ऽ।ऽ' इत्येवंरूपैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् भद्रिका नाम बृहतीजातिवृत्तमित्यर्थः । उदाहरति– **यथा– पुण्यपापजलवर्धिते** इति– हे हृदय ! सौख्यदुःखलतिके– सौख्यं च दुःखं चेति सौख्यदुःखे, ते एव लतिके– वल्लयौ, स्वयम्– आत्मना त्वयैव, पुण्यपापजलवर्धिते,– पुण्यं च पापं च पुण्यपापे, ते एव जलं तेन वर्धिते– वृद्धिं नीते, तत्– तस्माद्धेतोः, परिविप्लवं– चित्तोद्वेगं, जहीहि– त्यज, साधुता– मुनिव्रतम्, भद्रिका– श्रेयस्करी । त्वया पुण्यजलेन सौख्यलतिका, पापजलने च दुःखलतिका स्वयमेव वर्धिता, इति सौख्येन दुःखेन वा यस्तव चित्तोद्वेगः स वृथैव, स्वकृते फले क उद्वेगः, यथा कृतं तथा भुङ्क्ष्व, कः खलु स्वोत्पादितफलानि न भुङ्क्ते। यदि पुनरीदृशफलभोगस्य समीहा न भवेत् तर्हि साधुतां श्रय यत्र न पुण्यपापे भवत इति न तज्जन्यसुखदुःखे भविष्यत इति कैवल्यं प्राप्स्यसि, अत एव साधुता भद्रिकेत्याख्यायत इति तात्पर्यम् । 'पु[ऽ]ण्य[।]पा[ऽ]प[।]जल[।]व[ऽ]र्धि[।]ते[ऽ]' इति लक्षणसङ्गतिः सर्वत्र ।। अ० २, सू० ९४ ।।

नौ र उपच्युतम् ।।९५।।

यथा– नृप!कुरु करुणां जने, परिहर खलसंगमम् । विमृश सुरविमानतस्–, त्रिदशपतिमुपच्युतम् ।। ९५.१ ।।

अष्टमं प्रकारमाह–**नौर उपच्युतमि**ति । 'नगणद्वयं रगणश्च ।।।, ।।।, ऽ।ऽ' इतिरूपैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् 'उपच्युतं'नाम बृहतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरणमाह–**यथा–नृपे**ति– हे नृप!– **राजन्** !, जने करुणां कुरु, खलसंगमं– दुर्जनैः सह सम्बन्धं, परिहर- त्यज, सुरविमानतः– देवविमानात्, उपच्युतं– पतितं, त्रिदशपतिम्– इन्द्रं, विमृश– विचारय । यदा पुण्यक्षयात् सुरपतिरपि नीचैः पतति, तस्यापि आधिपत्यं विनाशशीलं तर्हि तवाधिपत्यं स्थिरं स्थास्यतीति का प्रत्याशा, अतो यावत् न प्रच्यवसि तावदेव दीने जने दयां कुरु तेन पुण्यवृद्धिर्भविष्यति, खलसंगतिं त्यज, तेन च पापसंचयो न भविष्यतीति न ते च्युतिशङ्का स्थास्यतीति भावः । 'नृ[।]प[।], कु[।]रु[।], क[।]रु[।]णां[ऽ], ज[।]ने[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ।। अ० २, सू० ९५ ।।

स्रजसा अक्षि ॥९६॥

सजसाः। यथा– विषमास्त्र एष इति यत्, कवयो वदन्ति तदसत्। प्रहरत्ययं हि मदनः, सुतनो!तवाक्षिललितैः ॥ ९६.१ ॥

नवमं प्रभेदमाह– **"स्रजसा अक्षि"** इति– सगण-जगण-सगणाः ।।ऽ, ।ऽ।, ।।ऽ,' इतिरूपैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् 'अक्षि' नामकं बृहतीजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **विषमास्त्र** इति– एष मदनः, विषमास्त्रः– विषमं– कठोरं, [विषमसंख्यायुक्तं तद्बाच्यानां पञ्चत्वात्] अस्त्रं यस्य तादृश इति यत् कवयो वदन्ति तत्, असत्– मिथ्या, हि– यतः, हे सुतनो!– सुन्दरगात्रे!, अयं–मदनः, तव– भवत्या, अक्षिललितैः– दृष्टिविलासैः, प्रहरति। तथा च ललितास्त्र इति वक्तव्ये विषमास्त्र इति कथनं तेषामसत्यमिति भावः। अत्र पञ्चबाणत्वात् कामस्य विषमास्त्रत्वमिति प्रकृतं प्रतिषिध्य कठोरास्त्रपरत्वं स्थापितमित्यहनुत्यलंङ्कारोऽपि व्यज्यते। 'वि[।]ष[।]मां[ऽ]स्त्र[।], ए[।]ष[।], इ[।]ति[।], यत्[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ९६ ॥

मः सौ कनकम् ॥९७॥

यथा– मिथ्यादर्शनदिग्धमनाः, पापं धर्मधिया मनुते। गाढोन्मत्तरसान्धदृशां, मृत्पिण्डोऽप्यथवा कनकम् ॥ ९७ १ ॥

दशमं प्रकारमाह– **मः सौ कनकमिति**– 'मगणः सगणद्वयं च ऽऽऽ, ।।ऽ, ।।ऽ' इतिरूपैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् कनकं नाम बृहतीजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– मिथ्यादर्शनेति**– मिथ्यादर्शनेन– विपरीत-श्रद्धया, दिग्धम्-उपलिप्तं पुष्टमिति यावत्, मनो यस्य सः, पापं– दुष्कृतं, धर्म-धिया– सुकृतबुद्धया, मनुते– जानाति, अथवा गाढोन्मत्तरसान्धदृशां– गाढेन–घनेन, उन्मत्तरसेन– धत्तूरद्रवेण, [तत्सेवनेन], अन्धदृशां– आच्छन्नदृष्टीनां जनानां कृते, मृत्पिण्डोऽपि– लोष्टमपि, कनकं– सुवर्णम्। मादकद्रव्यसेवने दूषित-दृष्टिर्यथाविपरीतं पश्यति तथा मिथ्याज्ञानदूषितान्तःकरणैरपि पापमेव धर्म-दृष्ट्या द्रष्टुं युज्यत इति भावः। 'मि[ऽ]थ्या[ऽ]द[ऽ]र्श[।]न[।]दि[ऽ]ग्ध-[।]म[।]नाः[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ९७ ॥

सौ मस्तारम् ॥९८॥

यथा- सकलासुमतां रक्षायै, यतितव्यमितीयत् तत्त्वम्। रसवादविदां तत् सारं, यदि वार्तिक ! रक्तं तारम् ॥ ९८.१ ॥

एकादशं प्रभेदमाह- **सौ मस्तारमिति**- सगणद्वयं मगणश्च 'ा।ऽ. ।ऽ. ऽऽऽ' इत्येवंरूपैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् तारनामकं बृहतीजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- सकलेति**- सकलासुमतां- सर्वप्राणिनां, रक्षायै- अहिंसनाय, यतितव्यं- प्रयत्नः करणीयः, इति इयत्- एतावदेव, तत्त्वं- सर्वसिद्धान्तरहस्यम्, एतत्समर्थनायार्थान्तरं न्यस्यति- वार्तिक !- वार्ता लोकयात्रा प्रयोजनमस्येति वार्तिकः, तत्सम्बोधने- हे वार्तिक !- रसवादिन् !, रसवादविदां- रसायनप्रयोगनिपुणानां भवादृशां, तत्- तदेव, सारं- मुख्यं, यदि रक्तं- ताम्रं द्रव्यं, तारं- रूप्यं, क्रियेतेति शेषः। यथा रसशास्त्रविदां रसस्य रसान्तरपरिवर्त्तनं मुख्यं तथा स्वभावतो हिंसापरायणस्य प्राकृतजनस्य अहिंसायां स्थितिरेव तत्त्वं- सारभूतमिति भावः । 'स[।]क[।]ला[ऽ]सु[।]म[।]तां[ऽ],र[ऽ]क्षा[ऽ]यै[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः॥ अ० २, सू० ९८ ॥

सिः सौम्या ॥९९॥

सिरिति सगणत्रयम्। यथा- निजजीवितमात्ररसात्, कृतनिष्कृपकर्मतते!। मृगयामधुमद्यरते!, कुरु धर्ममसौम्यमते! ॥ ९९.१ ॥

द्वादशं प्रभेदमाह- **सिः सौम्येति**- "सम्मानेनैकादिः" [१-४] इति संख्यापरिभाषानुसारमाह- **सिरिति सगणत्रयम्** इति- 'ा।ऽ. ।ऽ. ।ऽ.' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् सौम्यानामकं बृहतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- निजजीविते**ति- निजजीवितमात्ररसात्- स्वजीवनमात्राभिलाषेण, कृतनिष्कृपकर्मतते !- कृता- विहिता, निष्कृपा- भूतदयारहिता, कर्मततिः- कार्यसमूहो येन सः, तत्सम्बोधनं, मृगया-मधु-मद्यरते!- मृगयायां मधुनि मद्ये च रतिः- प्रसक्तिर्यस्य सः, तत्सम्बोधनं, असौम्यमने!-क्रूरबुद्धे!, धर्म- सुकृताचरणं, कुरु इत्यर्थः। स्वजीवितमात्ररक्षार्थं त्वया बहवो जीवा हिंसिताः, पुष्पेभ्यः सञ्चितं क्षौद्रं, मद्यं च माध्वीकादि सेवितं येन तव बुद्धिः

क्रूरा जाता, अथ ते यदि सौम्यबुद्धिताऽभिमता यां विना न शान्तिः, तर्हि धर्माचरणं विधेहीति भावः। 'नि[।]ज[।]जी[ऽ]वि[।]त[।]मा[।]त्र[।]र[।]-ते![ऽ]' इति लक्षणसंगतिः ॥ अ० २, सू०-९९ ॥

तभ्या रुचिरा ॥१००॥

तभयाः। यथा- नाश्रायि यैश्चरणपद्म-,द्वन्द्वं तव क्षणमपीश! । तैराश्रितं वनमजस्र-,दावज्वलत्तरु चिराय ॥ १००.१ ॥

त्रयोदशं प्रकारमाह- **तभ्या रुचिरे**ति- तगण-भगण-यगणाः 'ऽऽ।, ऽ।।, ।ऽऽ,' इति, तैः कृताः पादा यस्य तत् रुचिरानामकं बृहतीजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- नाश्रायी**ति- हे ईश ! यैः- जनैः, तव- भवतः परमेश्वरस्य, चरणपद्मद्वन्द्वं- पादकमलयुगलं, न अश्रायि- न शरणीकृतम्, तैः, अजस्रदावज्वलत्तरु- सततदावाग्निप्लुष्यद्वृक्षं, वनं, चिराय- दीर्घकालहेतोः, आश्रितं- शरणीकृतम्, इत्यर्थः। तव चरण युगलसेवां विना न शान्तिरिति तात्पर्यम् । 'ना[ऽ]श्रा[ऽ]यि[।], यै[ऽ]श्च[।]र[।]ण[।]प[ऽ]द्म[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-१०० ॥

नस्या विशाला ॥१०१॥

नसयाः। यथा- नृपतिलक ! मातु कीर्तिस्-,तव भुवि कथं तु यस्याः। भवति सकला त्रिलोकी, यदियमपि नो विशाला ॥ १०१.१ ॥

चतुर्दशं प्रकारमाह- **नस्या विशाले**ति- नगण-सगण-यगणाः '।।।, ।।ऽ, ।।ऽ' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् विशालनामकं बृहतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- नृपतिलके**ति- हे नृपतिलक !- राजश्रेष्ठ !, तव- भवतः, कीर्तिः- यशः, भुवि- पृथव्यां, कथं- केन प्रकारेण, मातु- परिच्छिद्यताम्, यत्- यस्मात्, इयं सकला- पूर्णा, त्रिलोकी- त्रिजगत् यस्याः- मातुमिति शेषः, नो विशाला- नातिरिक्ता । यस्याः परिच्छेदः कथमपि त्रिलोक्या कर्तुं शक्यते सा केवलायां भुवि कथं मात्विति भावः । तुशब्दः पूर्वार्धोक्तादर्थादुत्तरार्धवक्ष्यमाणस्यार्थस्य परिच्छेदमाह। 'नृ[।]प[।]ति[।]ल[।]क[।], मा[ऽ]तु[।] की[ऽ]र्तिः[ऽ]' इत्येवं लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० १०१ ॥

तन्मा मकरलता ॥१०२॥

तनमाः । यथा- भैमे! भवदरिनारीणा-मार्द्राञ्जननयनास्तौघैः । आसूत्रि कुचतटे भ्रष्टैं-नव्या मकरलताभङ्गिः ॥ १०२.१ ॥

पञ्चदशं प्रकारमाह- **तन्मा मकरलते**ति- तगण-नगण-मगणाः 'ऽऽ।, ।।।, ऽऽऽ' इत्येवंरूपैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् मकरलतानामकं बृहतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **भैमे** इति- भीमस्य राज्ञोऽपत्यं भैमिः, तत्सम्बोधने हे भैमे ! [भीमस्य वृद्धमपत्यं भैमिर्जयसिंहदेवस्तस्य सम्बोधनमिति पर्यायकारः] भवदरिनारीणां- तव शत्रुस्त्रीणाम्, आर्द्राञ्जननयनास्तौघैः- आर्द्रं- सद्यःकृतम्, अञ्जनं ययोस्ते आर्द्राञ्जने, ते च नयने- नेत्रे, तयोरस्रौघैः- अश्रुकणकुलैः, भ्रष्टैः- नीचैः पतितैः, कुचतटे- स्तनप्रान्ते, नव्या- नूतना, मकरलताभङ्गिः- मकराकरवल्लीरचना, [मत्स्याकृतिपत्ररचना] आसूत्रि- निबद्धा । त्वया रिपूणां निगडनात् पतिवियुक्तास्ताः सततं रुदन्ति, इति नेत्रजलेन सह सद्यो घृतमञ्जनं स्तनोपरि पतति, तेन च कस्तूरीरचित-मकरवल्लीसृष्टिरिव तत्र भवतीति भावः । 'भै[ऽ]मे![ऽ], भ[।]व[।]द[ऽ]रि[ऽ]ना[ऽ]री[ऽ]णां[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० १०२ ॥

नज्याः शशिलेखा ॥१०३॥

नजयाः । यथा- कलयति पाण्डुरभावं, तव विरहे सुतनुः सा । सुभग! यथा दिवसादौ, गलितरुचिः शशिलेखा ॥ १०३.१ ॥

षोडशं प्रकारमाह- **नज्याः शशिलेखे**ति- नगण-जगण-यगणाः '।।।, ।ऽ।, ।ऽऽ,' इत्येवंरूपैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् शशिलेखानामकं बृहतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा-कलयती**ति- तव- भवतः, विरहे- वियोगे, सा- पूर्वपरिचिता, सुतनुः- शुभाङ्गी, पाण्डुरभावं- श्वेतिमानं, कलयति- प्राप्नोति । किमिवेत्याह- यथा- हे सुभग ? दिवसादौ- प्रातःकाले, शशिलेखा- चन्द्रबिम्बं, गलितरुचिः- नष्टकान्तिः, भवति । 'क[।][ल[।]य[।]ति[।], पा[ऽ]ण्डु[र]भा[ऽ]वं[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-१०३ ॥

नौ सो लघुमणिगुणनिकरः ॥१०४॥

यथा– अपरमणिगुणगणः, सरिदधिप ! तव कियान् । हरिहृदि विलसति य– लघुमणिगुणनिकरः ॥ १०४.१ ॥

सप्तदशं प्रकारमाह–**नौ सो लघुमणिगुणनिकरः** इति–नगणद्वयं सगणश्च '।।।, ।।।, ।।ऽ,' इति प्रकारैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् लघुमणिगुणनिकर इति बृहतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति–**यथा– अपरमणी**ति–हे सरिदधिप !–नदीपते समुद्र !, तव– भवतः, अपरमणिगुणगणः– स्थूलमणिमालासमूहः, क्रियान्– कया संख्यया परिच्छेद्यः, यत्– यस्मात्, लघुमणिगुणनिकरः– क्षुद्रमणिमालासमूहः, हरिहृदि– विष्णोर्वक्षसि, विलसति– शोभते । यस्य तव क्षुद्रमणयोऽपि तथा महार्घा यद् विष्णुनाऽपि स्ववक्षसि धार्यन्ते तस्य स्थूलमणिगणानां का गणना भवितुमर्हतीति भावः । 'अ[।]प[।]र[।]म[।]णि[।]गु[।]ण[।]ग[।]ण[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–१०४ ॥

सभ्साः सिंहाक्रान्ता ॥१०५॥

मभसाः । यथा– त्वद्दृष्टेयं भवति विभो !, दीना प्रत्यर्थिनृपचमूः । राहुग्रस्तेव शशिकला, सिंहाक्रान्तेव मृगवधूः ॥ १०५.१ ॥

अष्टादशं प्रभेदमाह– **मभ्सा सिंहाक्रान्ते**ति– मगण-भगण-सगणाः sss, s।।, ।।ऽ, इति, एवंप्रकारैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् सिंहाक्रान्तानामकं बृहतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– त्वदृष्टे**ति– हे विभो !– सर्वथा समर्थ !, इयं, प्रत्यर्थिनृपचमूः– शत्रुराजसेना, त्वद्दृष्टा– त्वयाऽवलोकिता सती, दीना– कृपणा भवति, किमिवेत्याह– राहुग्रस्ता– सैंहिकेयाक्रान्ता, चन्द्रकला– चन्द्रलेखा इव,[किञ्च] सिंहक्रान्ता– केसरिकृतास्कन्दा, मृगवधूः– हरिणाङ्गना इव, राहुग्रासे शशिकला सिंहाक्रमणे च मृगी यथा दीना भवति तथा तव रिपूणां सेना तवाग्रे जायत इति भावः । 'त्वद्[ऽ]दृ[ऽ]ष्टे[ऽ]यं[ऽ]भ[।]व[।]ति[।]वि[।]भो[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–१०५ ॥

रज्राः कामिनी ॥१०६॥

रजराः । यथा– यत्प्रसादतो जयत्ययं, पुष्पसायको जगत्त्रयम् । उल्लसन्नवी-

नविभ्रमा- स्ताः स्तवीमि हन्त ! कामिनीः ।। १०६.१ ॥ तरंगवतीत्यन्यः ।। १०६.१ ॥ १९।९ ॥

ऊनविंशं प्रकारमाह- **रज्ञाः कमिनी**ति- रगण-जगण-रगणाः 'ऽ।ऽ, ।ऽ।, ऽ।ऽ,' इति, एवंप्रकारैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् कामिनीनामकं बृहतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- यत् प्रसादतः** इति- अयं पुष्पसायकः- कुसुमबाणः कामः, यत्प्रसादतः- यासां कामिनीनां प्रसादतः- कृपादृष्ट्या, जगत्त्रयं- त्रिलोकीं, जयति- स्ववशे करोति, उल्लसन्नवीनविभ्रमाः- उल्लसन्तो-विकसन्तः, नवीनाः, विभ्रमाः- विलासा यासां ताः, ताः- पूर्वोक्तगुणयुक्ताः, कामिनीः- कमनीया अङ्गनाः, स्तवीमि- प्रशंसामि, हन्त! इत्याश्चर्ये । एतावानासां प्रभावो यदासां कृपाकटाक्षमात्रसाहाय्येन कोमलतरपुष्पप्रहरणोऽपि कामस्त्रिलोकीं वशीकरोतीत्याश्चर्यमिति भावः । 'य[ऽ]त्प्र[।]सा[ऽ]द[।]तो[ऽ], ज[।]य[ऽ]त्य[।]यं[ऽ]'इति लक्षणसङ्गतिः । अस्या एव नामान्तरमाह- **तरङ्गवतीत्यन्यः** इति- अन्य आचार्य इदमेवच्छन्दस्तरङ्गवतीति नाम्ना व्यवहरतीत्यर्थः । इत्थं नवाक्षरपादाया बृहतीजातेरूनविंशतिभेदाः- ।। ९.१९ ॥ प्रस्तारगत्या तु द्वादशधिका पञ्चशती गणना भवति । तदुक्तं भरतेन- "शतानि पञ्चवृत्तानां बृहत्यां द्वादशैव तु" इति [म० ना० शा० १५।५६] ।। अ० २, सू०-१०६ ॥

पङ्क्तौ मभस्गा मत्ता घैः ॥१०७॥

मभसगाः । घैरिति चतुर्भिर्यतिः । यथा- आताम्रत्वं वपुषि दधानो, घूर्णन् पृथ्वीतलपतनेच्छुः । द्राग्वारुण्यां निहितकरोऽयं, मत्तावस्थां प्रथयति भानुः ।। १०७.१ ।। इयं च यद्यपि वानवासिकायामन्तर्भवति तथापि विशेषसंज्ञार्थमुक्ता । एवमन्यत्रापि ।। १०७.१ ॥

दशाक्षरपादायाः पङ्क्तिजातेर्भेदान् वक्तुमारभते- **'पङ्क्तौ मभस्गा मत्ता घैः'** इति, **मभस्गा** इत्यस्यार्थमाह- **मभसगाः** इति । **घैरि**त्यस्यार्थमाह- **चतुर्भिर्यतिरि**ति- "त्र्यादिर्गादिः" [१-१७] इति परिभाषासूत्रबलेन 'घवर्णस्य' चतुःसंख्यावाचकत्वादिति भावः । तथा चायं सूत्रार्थः- मगण-भगणसगणा गुरुश्च, 'ऽऽऽ, ऽ।ऽ, ।।ऽ, ऽ इत्येवंरूपैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् मत्तानामकं

पङ्क्तिजातिच्छन्दः, तत्र च प्रतिपादं चतुर्थाक्षरे यतिः– विराम इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– आताम्रत्वमिति**– वपुषि– शरीरे, आताम्रत्वं– ईषद्रुक्तत्वं, दधानः– धारयन्, घूर्णन्– भ्राम्यन्–, पृथ्वीतलपतनेच्छुः– पृथ्वीतले– पृथ्व्या उपरि, पतनस्य इच्छुः– अभिलषिता, वारुण्यां– मदिरायां पश्चिमाशायां च, द्राक्– झटिति, निहितकरः– स्थापितहस्तः, प्रेरितकिरणश्च, अयं भानुः– सूर्यः, मत्तावस्थां– मत्तस्य मद्यादिना विक्षिप्त चेतसो जनस्य, अवस्थां– स्थितिं, प्रथयति– प्रकटीकरोतीत्यर्थः, सायं– सन्ध्यायां सूर्यस्य, मदिरादिपानेन च विक्षिप्तस्य जनस्य सदृशी स्थितिरिह वर्णिता। 'आ[ऽ]ता[ऽ]म्र[ऽ]त्वं[ऽ], व[।]पु[।]षि[।], द[।]धा[ऽ]नो[ऽ]' इति लक्षणसङ्गतिः। अत्र विशेषमाह– **इयं च यद्यपि वानवासिकायामन्तर्भवती**ति– तृतीयध्याये "द्वादशश्च वानवासिका"[६७] इति लक्षिता। द्वादशश्चकारान्नवमश्च यत्र लघुर्भवति सा वानवासिकेति सूत्रार्थः। चतुर्थभिश्चतुर्मात्रिगणैर्विरचितपादस्य मात्रासमछन्दसो यस्य प्रतिपादं द्वादशी नवमी च मात्रा लघुवर्णे पतति तद्वृत्तं वानवासिकेति भावः। मत्ताछन्दस्यपि षोडश मात्राः प्रतिपादं सन्ति, तत्र नवमी द्वादशी च मात्रा लघुनि वर्णे पतति, तथा च वानवासिकयैव गतार्थमिदं छन्द इति पूर्वपक्षार्थः, उत्तरपक्षमाह– **तथापि विशेषसंज्ञार्थमुक्ते**ति, अयमाशयः– इदं छन्दो न केवलं मात्रावृत्तेऽन्तर्भवति, अपि तु अक्षरवृत्तेऽप्यस्त्यस्यावकाशः, तत्र च नामान्तरेणापीदं व्यवहर्तुं शक्यत इति शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थं पृथगप्युक्तेति भावः। न केवलमत्रैवायं व्यवहारोऽन्यत्रापि क्वचिदक्षरवृत्त-मात्रावृत्तयोः समतायामिदं ज्ञेयमित्यतिदिशति– **एवमन्यत्रापी**ति– यत्र क्वचनान्यत्रापि च्छन्दसि समानपादता प्रतीयेत तत्र सर्वत्र विशेषसंज्ञार्थमेव पृथगुक्तिर्बोध्येति **भावः** ॥ अ० २, सू०–१०७ ॥

र्यजगाः पङ्क्तिका ॥१०८॥

र्यजगाः। यथा– भ्रूविलासदूरीकृतोल्लसत्-कामकार्मुकां कान्तिशालिनीम्। मञ्जुगुञ्जिमञ्जीरराजितां, पश्य कामिनीपङ्क्तिकामिमाम् ॥ १०८.१ ॥

द्वितीयं प्रभेदमाह– **र्यजगाः पङ्क्तिका** इति– रगण-यगण-जगणा गुरुश्च 'ऽ।ऽ. ।ऽऽ. ।ऽ।. ऽ' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् पङ्क्तिका नाम

पङ्क्तिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– भ्रूविलासे**ति– भ्रूविलास-दूरीकृतोल्लसत्कामकार्मुकां– भ्रूविलासेन– भ्रुकुटिलीलया, दूरीकृतं– तिरस्कृतम्, उल्लसत्– स्फुरत्, कामकार्मुकं– मदनधनुर्यया ताम्, कान्तिशालिनीं– द्युतिमतीम्, मञ्जुगुञ्जिमञ्जीरराजितां– मधुररणन्नूपुरशोभितां, इमां– प्रकृते दृश्यमानां, कामिनीनां–स्त्रियां, पङ्क्तिकाम्– आवलिं, पश्य– अवलोकयेत्यर्थः । 'भ्रू[ऽ]वि[।]ला[ऽ]स[।]दू[ऽ]रीऽ[ऽ]कृ[।]तो[ऽ]ल्ल[।]सत्[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ।। अ० २, सू०–१०८ ।।

मस्जगाः शुद्धविराट् ॥१०९॥

सम्यग्ज्ञानचरित्रपात्रतां, यो दध्रे भुवनैकबान्धवः । त्रैलोक्यस्पृहणीयतां गतः, सत्यं शुद्धविराडयं मुनिः ॥ १०९.१ ॥

तृतीयं प्रकारमाह– **मस्जगाः शुद्धविरा**डिति– मगण-सगण-जगणा गुरुश्च 'ऽऽऽ. ।।ऽ. ।ऽ।. ऽ.' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् शुद्धविराट् नाम पङ्क्तिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– समग्ज्ञाने**ति– यः, भुवनैकबान्धवः– भुवनस्य– सकललोकस्य एकबान्धवः– प्रधानबन्धुः, सम्यग्ज्ञानचरित्रपात्रतां– सम्यग्ज्ञानं च चरित्रं च ते, तयोः पात्रतां– भाजनत्वं दध्रे– धारयति स्म, त्रैलोक्यस्पृहणीयतां– त्रिजगच्छ्लाघनीयत्वं, गतः– प्राप्तः, अयं मुनिः– साधुः, सत्यं– निश्चितं, शुद्धविराट्– शुद्धः– निष्पापः सन् विराजते– शोभते इति तादृशः इत्यर्थः । सम्यग्ज्ञानादिभिः सकलप्राणिहितकरणेन च पवित्रो मुनिः सत्यमेव शुद्धः सन् सर्वाधिकं शोभते, तेन च सकलजनश्लाघतीयतां प्राप्नोतीति भावः । 'स[ऽ]म्यग्[ऽ]ज्ञा[ऽ]न[।]च[।]रि[ऽ]त्र[।]पा[ऽ]त्र[।]-तां[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ।। अ० २, सू०–१०९ ।।

मन्यगाः पणवो ङैः ॥११०॥

मनया गुरुश्च । ङैरिति पञ्चभिर्यतिः । यथा– स्याद्वादामृतमुदिते चित्ते, शास्त्रोक्तिः कटुरितरा भाति । एवं संसदि चतुरङ्गायां, जल्पामो जयपणवं वत्वा ॥ ११०.१ ॥ कुवलयमालेति भरतः । केचित् तु यगणस्थाने सगणं मन्यन्ते ॥ ११०.१ ॥

चतुर्थं प्रभेदमाह– **मन्यगाः पणवो ङैरिति**– **मन्यगा** इत्यस्यार्थमाह– **मनयागुरुश्चेति** । **ङैरित्यास्यार्थमाह**– **ङैरिति पञ्चभिर्यतिरिति** । तथा च सूत्रार्थः– मगण-नगण-यगणा गुरुश्च 'sss, ।।।, ।ऽऽ, ऽ' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् पणवो नाम पङ्क्तिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– स्याद्वादेति**– स्याद्वादामृतमुदिते– स्याद्वादोऽनेकान्तवादः, स एवामृतं– मृत्युहारकतयाऽमृतायमानं, तेन मुदिते– प्रसन्ने, चित्ते– चेतसि, इतरा– अन्या, शास्त्रोक्तिः– शास्त्रवार्ता, कटुः– अरसनीया, भाति– विज्ञायते, एवम्– उक्तप्रकारेण, चतुरङ्गायाः वादि-प्रतिवादि-सभ्य-सभापतिरूपाङ्गचतुष्टययुक्तायां, संसदि– सभायां, जयपणवं– विजयवाद्यघोषं, दत्त्वा– कृत्वा, जल्पामः– कथयामः ।

अस्या नामान्तरमाह– **कुवलयमालेति भरत** इति– भरतनाट्यशास्त्रे पाठभेदेनास्या नामभेदो लक्ष्यते । तथा बडोदामुद्रिते पुस्तके मुख्यपाठस्थाने यल्लक्षणं दत्तं तत्र उत्पलमालिकेति नाम दृश्यते, यथा–

"दशाक्षरकृते पादे त्रीण्यादौ त्रीणि नैधने ।
यस्या गुरूणि सा ज्ञेया पङ्क्तिरुत्पलमालिका ।।" इति

[ ] एवं कोष्ठकमध्ये यः पाठः प्रदत्तस्तत्र कुवलयमालेति नाम दृश्यते । यथा–

"त्रीण्यादौ यदि हि गुरूणि स्युश्चत्वारो यदि लघवो मध्ये ।
पङ्क्तावन्तगतमकारः स्याद् विज्ञेया कुवलयमालारव्या ।" इति

लक्षणेऽपि भेदमाह– **केचित् तु यगणस्थाने सगणं मन्यन्ते** इति– अत्र तृतीयं सगणं न्यस्यन्तीति भावः । तथा चादौ त्रयो गुरवः ततः पञ्चलघवस्ततो गुरुद्वयमिति 'sssा ।।।ऽऽ' छन्दोरूपं भवति । परिमिदमुपलब्धेषु छन्दःशास्त्रेषु न दृश्यते । 'स्या[ऽ]द्वा[ऽ]दा[ऽ]मृ[।]त[।]मु[।]दि[।]ते[ऽ], चि[ऽ]त्ते[ऽ]' इति लक्षणसंगतिः ।। अ० २, सू०–११० ।।

रङ्गगा मयूरसारिणी ।।१११।।

रजरा गुरुश्च । यथा– या घनान्धकारडम्बरेषु, प्रीतमानसा विसर्पतीह ।
क्षोभयन्त्यपि क्षणाद् भुजंगान्, संत्यजेन्मयूरसारिणीं ताम् ।। १११.१ ।।

पञ्चमं प्रभेदमाह- **रज्रगा मयूरसारिणी**ति- रगण-जगण-रगणा गुरुश्च 'ऽIऽ, IऽI, ऽIऽ, ऽ' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् मयूरसारिणी-नामकं पङ्क्तिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- या घनान्धकारेति**- या घनान्धकारडम्बरेषु- घनानि- निबिडानि, अन्धकारडम्बराणि- तमस्तोमाः, तेषु, पक्षान्तरे- घनैः- मेघैः, कृतेषु अन्धकारडम्बरेषु, इह प्रीतमानसा- प्रसन्नहृदया, भुजङ्गान्- सर्पान्, अथ च विहान्, अपि क्षणात्- अचिरेण, क्षोभयन्ती- चित्तोद्वेगं नयन्ती, विसर्पति- सर्वतः परिभ्रमति, ताम्- पूर्वोक्त-गुणयुक्ताम्, मयूरसारिणीं- मयूरीव सरति तच्छीला ताम्, [मृगक्षीरादेराकृतिगणत्वात् पुंवद्भावः] संत्यजेत् । अयमाशयः- यथा मयूरी मेघान्धकार-बाहुल्यमालोक्य प्रसन्ना सती सर्पानपि भीषयन्ती इतस्ततः परिभ्रमति तथैव या स्त्री निबिडे ऽन्धकारे प्रसन्ना सती, सर्वदा सङ्गसौलभ्यादनुद्विग्नहृदयानां वेश्यास्वामिनामपि चित्तोद्वेगं वर्धयन्ती यत्र तत्राभिसरति तां स्त्रियं परिहरेदिति । 'या[ऽ], घ[।]ना[ऽ]न्ध[।]का[ऽ]र[।]ड[ऽ]म्ब[।]रे[ऽ]षु[।]'[पादान्तस्थस्य विकल्पेन गुरुत्वात्] लक्षणसङ्गतिः । द्वितीयपादान्तेऽपि वैकल्पिक-गुरुत्वाश्रयणमावश्यकमेव ॥ अ० २, सू०-१११ ॥

नज्नगास्त्वरितगतिः ॥११२॥

नज्ञना गुरुश्च । यथा- दिनकरपीतशुचिरुचि-श्चरमगिरेः शिखरतटीम् । अनुसरति त्रपित इव, त्वरितगतिः सितकिरणः ॥ ११२.१ ॥

षष्ठं प्रभेदमाह- **नज्नगास्त्वरितगतिरि**ति । **नज्नगा** इत्यस्यार्थमाह- **नज्ञना गुरुश्चे**ति- 'नगण-जगण-नगणा गुरुश्च 'III, IऽI, III, ऽ' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् त्वरितगतिनामकं पङ्क्तिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा-दिनकरे**ति- दिनकरपीतशुचिरुचिः- दिनकरेण- सूर्येण, पीता- आत्मसात्कृता, शुचिः- पवित्रा, रुचिः- कान्तिर्यस्य सः, सितकिरणः- शुक्लरश्मिः चन्द्रः, त्रपित इव- लज्जित इव, त्वरितगतिः- शीघ्रगमनः सन्, चरमगिरेः- अस्ताचलस्य, शिखरतटीं- कूटप्रान्तभागम्, अनुसरति- अपसर्पति, अन्योऽपि हीनकान्तिस्त्रपया क्वापि निलयितुं पलायत इति स्वाभाविकेनार्थेन प्रकृतस्य प्रातःकालिकचन्द्रस्यावस्था समर्थितेति अर्थान्तरन्यासध्वनिः ।

'दी[।]न[।]क[।]र[।]पी[ऽ]त[।]शु[।]चि[।]रु[।]चिः[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-११२ ॥

भ्मस्गा रुक्मवती ॥११३॥

भमसा गुरुश्च । यथा- ये विजितात्मानो नयनिष्ठा, जाग्रति लोकं रक्षितुकामाः । स्यान्नियतं तेषां वसुधेयं, रुक्मवती मृन्मय्यपरेषाम् ॥ ११३.१॥ चम्पकमाला सुभावेति चान्ये । पुष्पसमृद्धिरिति भरतः ॥ ११३.१ ॥

सप्तमं प्रकारमाह-**भ्मस्गा रुक्मवती**ति । **भ्मस्गेत्यस्यार्थमाह- भमसा गुरुश्चे**ति- भगण-मगण-सगणा गुरुश्च 'ऽ।।, ऽऽऽ, ।।ऽ, ऽ' इत्येवंरूपैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् रुक्मवतीनामकं पङ्क्तिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा-ये विजितात्मानः** इति- विजितात्मानः- वशीकृतचित्ताः, नयनिष्ठाः- नीतिपरायणाः, लोकं- सकलजनतां, रक्षितुकामाः- पालयितुमभिलषन्तः, ये जना जाग्रति- नित्यमुद्योगलग्नाः तिष्ठन्ति, तेषां कृते, इयं वसुधा- पृथ्वी, रुक्मवती- सुवर्णमयी, नियतं- निश्चितं स्यात्, अपरेषाम्- उक्तविपरीताचरणानां कृते, मृन्मयी- मृत्तिकाबहुलैव स्यात्, इत्यर्थः । स्थिरचित्तो निपुणो लोकोपकारी च लक्ष्मीपात्रं विपरीतो दरिद्र एवेति भावः । 'ये[ऽ]वि[।]जि[।]ता[ऽ]त्मा[ऽ]नो[ऽ]न[।]य[।]नि[ऽ]ष्ठाः[ऽ]'इति लक्षणसङ्गतिः । अस्यैवच्छन्दसो नामान्तराण्याह- **चम्पकमाला सुभावेति चान्य** इति- कालिदासः स्वकीये श्रुतबोधे चम्पकमालामाह- यथा-

"तन्विगुरुस्यादाद्यचतुर्थं पञ्चमषष्ठं चान्तमुपान्त्यम् ।
इन्द्रियबाणैर्यत्र विरामः सा कथनीया चम्पकमाला ॥" इति

एतत् समानमेव लक्षणम् । काश्चिदन्य एतच्छन्दः सुभावेत्याह । **पुष्पसमृद्धिरिति भरतः** इति- भरतनाट्यशास्त्रे च सम्प्रति न तत्पाठोऽवलोक्यते ॥ अ० २, सू०-११३ ॥

भिगौ चित्रगतिः ॥११४॥

भत्रयं गुरुश्च । यथा- यस्य न कापि कला न मति-र्नं व्यवसायलवोऽपि तथा । सोऽपि कथंचन जीवति चेद्, दैवमिदं खलु चित्रगति ॥ ११४.१ ॥

अष्टमं प्रभेदमाह- **भिगौ चित्रगतिरिति** । **भीत्यस्यार्थमाह- भत्रयमिति-** "समानेनैकादिः" [१-४] इति नियमात् तृतीयस्य समानस्य भित्वसंख्या बोधकत्वाद् भीत्यस्य भगणत्रयबोधकत्वम्, तथा च- भगणत्रयं गुरुश्च 'ऽ।।, ऽ।।, ऽ।।, ऽ' इत्येवंरूपैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् चित्रगतिरितिनामकं पङ्क्तजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- यस्येति-** यस्य- जनस्य, कापि कला- कस्यापि सांव्यहारिकस्य विषयस्य शिल्पादेर्ज्ञानं नास्ति, न मतिः- शास्त्राभ्यासजा बुद्धिरपि नास्ति, तथा व्यवसायलवः अपि न- स्वल्पोऽपि व्यापारो नास्ति, सोऽपि कथंचन- केनापि प्रकारेण, जीवति- प्राणान् धारयति, यद्वा जीविकां चालयति चेत्- यदि [तर्हि] इदं दैवं- भाग्यं, चित्रगति- आश्चर्यवृत्तिकं, खलु- निश्चयेन । शिल्प-विद्या-व्यापाराणां मध्ये किमपि जीविकासाधनभावश्यकं, तदभावेऽपि कश्चिद् यदि निर्वहति तदा चित्रमेव तदिति भावः । 'य[ऽ]स्य[।], न[।], का[ऽ]पि[।], क[।]ला[ऽ], न[।] म[।]तिः[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ।। अ० २, सू०-११४ ।।

निगौ निलया ।।११५।।

नत्रयं गुरुश्च । यथा- अपि सरिदधिपतिसुता, हरिमपि परिहरति यत् । अधमपुरुषकृतरतिं, धिगहह कमलनिलयाम् ।। ११५.१ ।।

नवमं प्रकारमाह- **निगौ निलयेति** । **नीत्यस्यार्थमाह- नत्रयमिति-** नगणत्रयं गुरुश्चेति '।।।, ।।।, ।।।, ऽ' एवंप्रकारैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् निलयानामकं पङ्क्तजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- अपि सरिदिति-** यत्- यस्मात्, सरिदधिपतिसुता- समुद्रपुत्री लक्ष्मीः, हरिमपि- विष्णुमपि, परिहरति- त्यजति, 'अपि' इति संभावनायाम्, संभाव्यते कदाचिल्लक्ष्या हरेरपि त्यागः, ततश्च, अधमपुरुषकृतरतिं- अधमपुरुषेषु- नीचजनेषु, कृता रतिर्यया तथाभूतां, कमलनिलयां- कमलवासिनीं लक्ष्मीम्, 'धिक्' इति अनादरशब्दः, अस्तु इति शेषः, 'अहह' इति दुःखातिरेके । 'अ[।]पि[।]स[।]रि[।]द[।]धि[।]प[।]ति[।]सु[।]ता[।]' इति लक्षणसमन्वयः ।। अ० २ सू०-११५।१ ।।

जिगावुषिता ॥११६॥

जत्रयं गुरुश्च । यथा– स किं वद नीचसमाश्रयो, न किं कथय स्थितिरुन्नते ।
न चापलमुज्झसि लक्ष्मि ! किं, न चेद् उषिता जलधामनि ॥ ११६.१ ॥

दशमं प्रकारमाह– **जिगावुषितेति** । **जिगावित्यस्यार्थमाह– जत्रयं गुरुश्चेति** जगणत्रयं गुरुश्च 'ISI, ISI, ISI, S.' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् उषितानामकं पङ्क्तिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– स किं वदेति**, हे लक्ष्मि !, स– प्रसिद्धः, नीचसमाश्रयः– नीचजनसङ्गतिः, नीचस्थानस्थितिश्च, किं ? कुतः कारणात्, इति वद– कथय, उन्नते– उच्चैःप्रकृतिके जने, उच्चस्थाने च, स्थितिः किं न– कस्मान्नेति कथय, चापलं– नीचाश्रयणादिरूपं चाञ्चल्यं, किं न, उज्झसि– त्यजसि, चेत्– यदि, जलधामनि– समुद्रे, जडस्य गृहे वा, [डलयोरैक्यात्], न उषिता– न कृतनिवासा स्याः । यदिदं ते सर्वं चाञ्चल्यं नीचैर्गामिनीत्वादि च तत् सर्वं जलधाम्नि निवासादेव जाड्यस्यासङ्गादिति भावः । 'स[ा], किं[ऽ], व[ा]द[ा], नी[ऽ]च[ा]स[ा]श्र[ा]यः[ऽ]' इति लक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू०–११६ ॥

रः सौ गो मणिरङ्गः ॥११७॥

यथा– धीमतां हि गुणो विशदश्री-र्जायते गुणिसंगमवाप्य । शोभते नितरां न किमङ्गे, कुङ्कुमारुणिते मणिरङ्गः ॥ ११७.१ ॥

एकादशं प्रकारमाह– **रः सौ गो मणिरङ्गः** इति– रगणः सगणद्वयं गुरुश्च, 'SIS, IIS, IIS, S' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् मणिरङ्गनामकं पङ्क्तिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– धीमतां हीति**– गुणिसङ्गं– गुणिभिः सह सङ्गतिम्, अवाप्य– अधिगत्य, धीमतां– बुद्धिमतां जनानां, गुणः, विशदश्रीः– समुज्वलशोभः, जायते । अर्थान्तरन्यासेनैतत् समर्थयति– कुङ्कुमारुणिते– कङ्कुमेनेषद्रक्ततां नीते, अङ्गे– शरीरे, मणिरङ्गः– माल्यादिस्थितस्य मणे रागः, नितराम्– अत्यर्थं, न शोभते किम् ?– अपि तु शोभत एव । गुणिनोः परस्परसङ्गत्योभयोर्गुणस्य वृद्धिरेवेति तात्पर्यम् । 'धी[ऽ]म[ा]तां[ऽ], हि[ा], गु[ा]णो[ऽ], वि[ा]श[ा]द[ऽ]श्रीः[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–११७ ॥

भ्नौ म्गौ बन्धूकम् ॥११८॥

भनमा गुरुश्च । यथा- एतदभिनवभास्वद्बिम्बं, शोणरुचिरुचिरं प्राग्वध्वाः । शेखरितनवबन्धूकश्री-बन्धुपदमधुना संधत्ते ॥ ११८.१ ॥

द्वादशं प्रकारमाह- **भ्नौ म्गौ बन्धूकमिति** । स्पष्टयति- **भमना गुरुश्चेति**- भगण-नगण-मगणा गुरुश्च, 'ऽIऽ, III, ऽऽऽ, ऽ' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् बन्धूकमिति पङ्क्तिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- एतदभिनवेति**- प्राग्वध्वाः- पूर्वदिशो वधूस्वरूपायाः, एतत्- परिदृश्यमानं, शोणरुचिरुचिरं- रक्तवर्णतया सुन्दरम्, अभिनवभास्वद्बिम्बं- अभिनवः- अचिरोदितः, भास्वान्- सूर्यः, तस्य बिम्बं- मण्डलं, स एव बिम्बं मुखमिति वा, अधुना- सम्प्रति, शेखरितनवबन्धूकश्रीबन्धुपदं- शेखरितं- मौलौ धृतं, यद् नवं- प्रत्यग्रविकसितं, बन्धूकं- रक्तवर्णं पुष्पम्, तस्य या श्रीः- शोभा तस्या बन्धुपदं- सकुल्यत्वं, संधत्ते- धारयति । 'ए[ऽ]त[।]द[।]भि[।]न[।]व[।]भा[ऽ]स्व[ऽ]द्बि[ऽ]म्बं[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-११८ ॥

न्रजगा मनोरमा ॥११९॥

नरजा गुरुश्च । यथा- निखिलदीनदुःखदारिणी, सकलबन्धुसंविभागकृत् । गुणिजनामृतार्णवोपमा, भवति सा रमा मनोरमा ॥ ११९.१ ॥

त्रयोदशं प्रकारमाह- **न्रजगा मनोरमेति** । व्याख्याति- **नरजा गुरुश्चेति**- नगण-रगण-जगणा गुरुश्च, 'III, ऽIऽ, IऽI, ऽ' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् मनोरमानामकं पङ्क्तिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- निखिलेति**- निखिलदीनदुःखदारिणी- निखिलानां- सर्वेषां, दीनानां, दुःखस्य दारिणी- नाशिका, सकलबन्धुसंविभागकृत्- सकलानां बन्धूनां कृते संविभागं- समानभोजनादिव्यवस्थां करोतीति सा गुणिजनामृतार्णवोपमा- गुणिजनानां कृते अमृतार्णवोपमा- अमृतसमुद्रसदृशी, [या] रमा- लक्ष्मीः, सा मनोरमा- मनसो मोदजननी, भवति- जायत इत्यर्थः । दीनहिता सर्वभोग्या गुणिजनसंतोषिणी च लक्ष्मीरानन्दाय, तद्विपरीता दुःखायेति भावः । 'नि[।]खि[।]ल[।]दी[ऽ]न[।]दुः[ऽ]ख[।]दा[ऽ]रि[।]णी[ऽ]' इति लक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू०-११९ ॥

तो जौ ग उपस्थिता ॥१२०॥

यथा-एषा भवतः समराङ्गणे, राजन् जयसिद्धिरुपस्थिता । कीर्तिः कुपितेव भवत्प्रिया, सद्योऽभिससार दिगन्तरम् ॥ १२०.१ ॥ अत्र द्वाभ्यां यतिरित्येके ॥ १२०.१ ॥

चतुर्दशं प्रकारमाह- **तो- जौ ग उपस्थितेति**- तगणो जगणद्वयं गुरुश्च 'ऽऽ।. ।ऽ।. ।ऽ। ऽ' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् उपास्थितानामकं पङ्क्तिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- एषा भवत** इति- हे राजन् ! समराङ्गणे- संग्रामभूमौ, भवतः- तव, जयसिद्धिः- विजयलक्ष्मीः, उपस्थिता-प्राप्ता, [इति हेतोः] भवत्प्रिया- तवाधिकवत्सला कीर्तिः कुपिता इव- सपत्नीसमागमं दृष्ट्वा क्रुद्धा इव, सद्यः- तत्कालमेव, दिगन्तरं- सर्वा दिशः प्रति, अभिससार- पलायिता, स्वप्रियमन्यसङ्गतं दृष्ट्वा कोपः, कोपाच्चान्यत्र गमनं स्त्रीणां स्वभावः । स्वाभाविकेनानेनार्थेन संग्रामे विजयेन तव कीर्तिर्दिगन्तरव्यापिनी जातेति व्यङ्ग्यम् । 'ए[ऽ]षा[ऽ], भ[।]व[।]तः[ऽ], स[।]म[।]रा[ऽ]ङ्ग[।]णे[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः । अत्र मतान्तरमाह- **अत्र द्वाभ्यां यतिरित्येके** इति- अत्र प्रतिपादं द्वितीयाक्षरे यतिरित्येके आचार्या आहुः, तथा च द्वितीयाक्षरे- पादान्ते च यतिरिति भावः, तथा च 'एषा, राजन् !, कीर्तिः, सद्यो,' इत्येतेषु स्थानेषु विश्रामः कार्यः । एतच्च पिङ्गलछन्दःशास्त्रे "उपास्थिता तूजौ जगौ" [६।१४] इति सूत्रव्याख्यायां हलायुधेनाप्युक्तम्- "अत्र द्वाभ्यामष्टाभिश्च यतिरित्याम्नायः" इति । तथा च सम्प्रदायप्राप्तोऽयमर्थो न क्वापि निबद्ध इत्यायातम् ॥ अ० २, सू०-१२० ॥

रमस्गाः कलिका ॥१२१॥

रमसा गुरुश्च । यथा- कुन्दयष्टिं हृष्टः परिचुम्बन्, किं न रे रोलम्ब त्रपसे त्वम् । तत्तथा येन प्रागनुरागात्, क्रीडितं मालत्याः कालिकायाम् ॥ १२१.१ ॥

पञ्चदशं प्रकारमाह- **रमस्गाः कलिकेति** । **रमस्गा** इत्यस्यार्थमाह- **रमसा गुरुश्चेति**- रगण-मगण-सगणा गुरुश्च 'ऽ।ऽ. ऽऽऽ. ।।ऽ ऽ' इत्येवंरूपैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् कलिकानामकं पङ्क्तिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- कुन्दयष्टिमिति**- हे रोलम्ब !- भ्रमर !, त्वं- भवान्, कुन्दयष्टिं-

कुन्दलतां, परिचुम्बन्- परितः कलिकासु विकसितेषु पुष्पेषु पत्रादिषु च मुखं योजयन्, हृष्टः सन् किं न त्रपसे- लज्जसे, येन-त्वया, प्राक्-कुन्दस्य विकासात् पूर्वं, मालत्याः कलिकायाम्, अनुरागात्- स्नेहं- प्रदर्श्य, तत् तथा- तथा तथा, अनेकप्रकारैरित्यर्थः, क्रीडितं- विलसितम्, पूर्वमन्यत्र स्वस्नेहं प्रदर्श्य पश्चादत्र रमतस्तव त्रया युक्तेति भावः। कु[ऽ]द[।]य[ऽ]ष्टि[ऽ], हृ[ऽ]ष्टः[ऽ], प[।]रि-[।]चु[ऽ]म्बन्[ऽ] इति लक्षणसंगतिः ॥ अ० २, सू०-१२१ ॥

भत्नगा मृगचपला ॥१२२॥

भतना गुरुश्च । यथा- साधु समाधाववचलता- माश्रय हे मानस ! सततम् । वाञ्छसि यद्यव्ययपदवीं, मा कुरु वृत्तिं मृगचपलाम् ॥ १२२.१ ॥

षोडशं प्रभेदमाह- **भत्नगा मृगचपलेति** । **भत्नगा** इत्यस्यार्थमाह- **भतना गुरुश्चेति**- भगण-तगण-नगणा गुरुश्च 'ऽ।. ऽऽ।. ।।।. ऽ.' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् मृगचपलानामकं पङ्क्तिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- साध्विति**, हे मानस !- चेतः।, यदि- चेत्, अव्ययपदवीं- अविनाशिस्थानं कैवल्यं, वाञ्छसि- समीहसे, तर्हि **समाधौ**- ध्याने, साधु- सम्यक्, अविचलतां- स्थिरतां, सततं-सर्वदा, आश्रय- धारय, मृगचलां- मृगवत् चञ्चलां, वृत्तिं- कृतिं, मा कुरु- न विधेहीत्यर्थः, समाधौ स्थिरतां विना नित्यपदस्य कैवल्यस्य प्राप्तिरससम्भविनीति भावः। 'सा[ऽ]धु[।], स[।]मा[ऽ]धा[ऽ]व[।]वि[।]च[।]ल[।]ताम्[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-१२२ ॥

मो नौ गः कुमुदिनी ॥१२३॥

यथा- आसाद्य प्रियमिह शशिनं, निर्गच्छद्भ्रमरकुलमिषात् । मूर्तं दुःखमिव विरहजं, तत्कालं वमति कुमुदिनी ॥ १२३.१ ॥ कुसुमसमुदितेत्यन्ये ॥ १२३.१ ॥

सप्तदशं प्रकारमाह- **मो नौ गः कुमुदिनीति**- मगणो नगणद्वयं गुरुश्च 'ऽऽऽ. ।।।. ।।।. ऽ' इति, एवंप्रकारैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् कुमुदिनीनामकं पङ्क्तिःजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **मथा- आसाद्येति**, कुमुदिनी- कुमुद्वती, इह प्रियं शशिनं- चन्द्रम्, **आसाद्य**- प्राप्य, निर्गच्छद्भ्रमरकुलमिषात्-

अन्तस्तलाद्बहिर्भवद्रोलम्बमालाव्याजात्, मूर्तं– सशरीरं, विरहजं– वियोगकालोत्पन्नं, दुःखं, तत्कालं– प्रियप्राप्तिसमसमयमेव, वमतीव– उद्धिरतीवेत्युप्रेक्षा। चन्द्रोदये सति कुमुदिनी विकसतीति तदन्तरवरुद्धा भ्रमराः कृष्णवर्णा निःसरन्तीति सा वियोगजं दुःखमिव वमतीति प्रतीयते, दुःखस्यापि कृष्णवर्णनायाः कविसमयसिद्धत्वात्। 'आ[ऽ]सा[ऽ]ध[ऽ], प्रि[।]य[।]मि[।] हश[।]शि[ऽ]नं[ऽ]' इति लक्षणसङ्गतिः। अस्या नामान्तरमपीत्याह– **कुसुमसमुदितेत्यन्ये** इति– अन्ये आचार्या इदं छन्दः कुसुमसमुदितेति व्यवहरन्तीति भावः॥ अ० २, सू०–१२३॥

मः सौ ग उद्धतम् ॥१२४॥

यथा– सर्पद्भिस्तव दिग्जययात्रा– स्वेभिर्देव तुरंगमसैन्यैः। प्राज्यैरुद्धतमध्वरजस्तां, वृद्धिं प्राप न वृन्दमरीणाम्॥ १२४.१॥

अष्टादशं प्रकारमाह– **मः सौ ग उद्धतमिति**– मगणः सगणद्वयं गुरुश्चेति, 'ऽऽऽ. ।।ऽ. ।।ऽ. ऽ.' इत्येवं प्रकारैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् उद्धतं नाम च्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– सर्पद्भिरिति**, हे देव!, तव– भवतः, दिग्जययात्रासु– दिग्विजयप्रयाणेषु, सर्पद्भिः– गच्छद्भिः, एभिः प्राज्यैः– प्रभूतैः, तुरङ्गमसैन्यैः– अश्वसेनाभिः, उद्धतम्– उपरि क्षिप्तम्, अध्वरजः– मार्गधूलिः, तां वृद्धिं प्राप, अरीणां– शत्रूणां, वृन्दं– समूहः,[तैरुद्धतं]तां वृद्धिं न प्रापेत्यन्वयः। अध्वरजः इव शत्रुवृन्दमपि उद्धतं किन्तु पूर्वं रजोयथा वृद्धिं प्राप्तं तथा परं [अरिवृन्दं] न प्राप्तमित्याश्चर्यम्, समानक्रियया फले भेदस्यायुक्तत्वात्। 'स[ऽ]र्प[ऽ]द्भि[ऽ]स्त[।]व[।], दिग्[ऽ]ज[।]य[।]या[ऽ]त्रा[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः॥ अ० २, सू०–१२४॥

नज्यगा विपुलभुजा ॥१२५॥

नजया गुरुश्च। यथा– रिपुवनिताजननिःश्वासै-रविरतमुष्णतरैः क्लान्ता। भजति चुलुक्य! जयश्रीस्ते, विपुलभुजाविटपिच्छायाम्॥ १२५.१॥

ऊनविंशं प्रभेदमाह– **नज्यगा विपुलभुजेति**। **नज्यगा** इत्यस्यार्थमाह– **नजया गुरुश्चेति**– नगण-जगण-यगणा गुरुश्चेति, '।।।. ।ऽ।. ।ऽऽ. ऽ' एवं-

प्रकारैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् विपुलभुजानामकं पङ्क्तिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– रिपुवनिता** इति, रिपुवनिताजननिःश्वसितैः– शत्रुकान्तानां निःश्वासवायुभिः, उष्णतरैः– अत्युष्णैः, अविरतं क्लान्ता– म्लायमाना, जयश्रीः– विजयलक्ष्मीः, हे चुलुकय ! ते– तव, विपुलभुजाविटपिच्छायां– विपुले भुजे– बाहू एव विटपिनौ, तयोः, छायाम्– अनातपप्रदेशं, भजति– श्रयते, उष्णक्लान्तो जनश्छायामाश्रयत इति स्वभावस्तेन रिपुघातदुःखितानां वनितानामुष्णैर्निःश्वासैः क्लान्ताया जयश्रियो विजयिचुलुक्यनृपतिभुजच्छायाश्रयणं युक्तमेवेति भावः। 'रि[।]पु[।]व[।]नि[।]ता[s]ज[।]न[।]निः[s]श्वा[s]सैः[s]' इति लक्षणसमन्वयः॥ अ० २, सू०–१२५॥

रजस्गा माला॥१२६॥

सजसा गुरुश्च। यथा– गगनाङ्गणे कुमुदषण्ड-श्रियमुद्वहन्ति निपतन्त्यः। भवदीक्षणोत्सवसतृष्णाः, नृप ! सुभ्रुवां नयनमालाः॥ १२६.१॥ प्रमितेत्यन्ये॥ १२६.१॥ १०।२०॥

विशं प्रभेदमाह– **रजस्गा मालेति**। अर्थमाह– **सजसा गुरुश्चेति**– सगण-जगण-सगणा गुरुश्च, '।।s. ।s।. ।।s. s.' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् मालानामकं पङ्क्तिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– गगनाङ्गणे** इति, हे नृप ! भवदीक्षणोत्सवसतृष्णाः– भवत ईक्षणमेवोत्सवस्तस्मिन् सतृष्णाः– साभिलाषाः, सुभ्रुवां– शोभनभ्रुकुटिशालिनीनां, नयनमालाः– नेत्रपङ्क्तयः, गगनाङ्गणे– आकाशतले, निपतन्त्यः, कुमुदषण्डश्रियं– नीलकुमुदिनीपुष्पवनशोभाम्, उद्वहन्ति– धारयन्तीत्यर्थः। भवन्तमीक्षितुं शतशः पतन्त्योऽङ्गनानां दृष्टयः स्वप्रभया आकाशे कुमुदिनीपुष्पवनशोभां धारयन्तीति भावः। 'ग[।]ग[।]ना[s]ङ्ग[।]णे[s], कु[।]मु[।]द[।]ष[s]ण्ड[s]' इति [पादान्तस्थस्य वा गुरुत्वानुशासनात्] लक्षणसमन्वयः। अस्या नामान्तरमाह– **प्रमितेत्यन्ये** इति– अन्ये केविदाचार्या इदं छन्द प्रमितानाम्ना व्यवहरन्तीत्यर्थः॥ अ० २, सू०–१२६॥

एवं दशाक्षरच्छन्दसो विंशतिभेदा उक्ताः।१०।२०॥ प्रस्तारक्रमणे तु अस्य

१०२४ भेदा भवन्ति, तदुक्तं भरतेन "षड्कथां सहस्रं वृत्तानां चतुर्विंशतिरेव तु" [भ० ना० १५।५७] इति ॥

त्रिष्टुभि भौ रो गौ रोचकम् ॥१२७॥

यथा- कुम्भभुवो जयतीह माहात्म्यं, तद् वडवामुखतेजसश्चापि । यस्य जगत्प्रलयप्रगल्भोर्मि-रम्बति रोचकगोचरं सिन्धुः ॥ १२७.१ ॥

अतः परमेकादशाक्षरपत्निदायाल्लिष्टुप्छन्दसो भेदानाह- **त्रिष्टुभि भौ रो गौ रोचकमिति**- भगणद्वयं रगणो- गुरुद्वयं च, 'ऽ।।. ऽ।।. ऽ।ऽ. ऽऽ.' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् रोचकं नाम त्रिष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- कुम्भभुव** इति, इह- संसारे, कुम्भभुवः- घटयोनेरगस्यस्य मुनेः, वडवामुखतेजसः- वडवाया मुखमिव मुखं यस्य तस्य तेजसः- अग्नेः [वडवानलस्य] च, माहात्म्यं यस्य मुनेस्तेजसश्च, जगत्प्रलयप्रगल्भोर्मिः- संसारनाशसमर्थतरङ्गः, सिन्धुः- समुद्रः, रोचकगोचरं- रुचि बुभुक्षापिपासादि-विषयत्वम्, अञ्चति- गच्छतीत्यर्थः । जगति सर्वतोऽधिकमगस्त्य मुनेर्वडवानलस्य च महत्वं यत् ताभ्यां पीतः समुद्रः, जगत्प्रलयसमर्थोऽपि न तत् कर्तुं प्रभवतीति भावः । 'कु[ऽ]म्भ[।]मु[।]वो[ऽ], ज[।]य[।]ती[ऽ]ह[।],मा[ऽ]हा[ऽ]त्म्यं[ऽ]' इति लक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू०-१२७ ॥

रः सौ ल्गावच्युतम् ॥१२८॥

यथा- त्वं दधासि विभो ! परमेष्ठिता- मीश्वरत्वमपि त्वयि राजति । अच्युतत्वमपि त्वमुपाश्रितः, कोऽपरस्त्वदृते जिन ! देवता ॥ १२८.१ ॥

द्वितीयं प्रभेदमाह- **रः सौ ल्गावच्युतमिति**- रगणः सगणद्वयं लघुगुरुचेति, 'ऽ।ऽ. ।।ऽ. ।।ऽ. ।ऽ' एवं प्रकारैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत् अच्युतं नाम त्रिष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- त्वं दधासीति**, हे जिन !- विभो !, त्वं परमेष्ठिनां परमे- सर्वोच्चे पदे तिष्ठति तच्छीलः परमेष्ठी, तस्य भावस्तां, अथ च पितामहतां ब्रह्मत्वं, दधासि- धारयसि, त्वयि ईश्वरत्वम् अपि- सर्वैश्वर्यशालित्वम्, अथ च शिवत्वं, राजति- शोभते, त्वम्, अच्युतत्वं- च्युतिरहितत्वम्, अथ च विष्णुत्वम्, उपाश्रितः- प्राप्तः, त्वदृते-

त्वां विहाय, अपरः– अन्यः, कः देवता ? सर्वदेवभयो भवानेवेति भावः । 'त्वं[ऽ]द[।]धा[ऽ]सि[।]वि[।]भो[ऽ]प[।]र[।]मे[ऽ]ष्ठि[।]ताम्' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–१२८ ॥

तिर्गौ लयग्राहि ॥१२९॥

तगणत्रयं गुरुद्वयं च । यथा– वीणानिनादानुबन्धेन हृद्यं, काञ्चीरणत्कारचित्रीयमाणम् । नव्याङ्गहारप्रकाराभिरामं, दत्ते प्रमोदं लयग्राहि लास्यम् ॥ १२९.१॥

तृतीयं प्रकारमाह– **तिर्गौलयग्राहि** इति– "समानेनैकादिः" [१–४] इति नियमादाह– तगणत्रयं गुरुद्वयं चेति– **तगणत्रयं गुरुद्वयम्**, 'ऽऽ।, ऽऽ।, ऽऽ।, ऽऽ' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् लयग्राहिनामकं त्रिष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– वीणानिनादेति**, विणानिनादानुबन्धेन– वीणारणनानुगतत्वेन, हृदयं– हृदयस्य प्रियं, काञ्चीरणत्कार चित्रीयमाणं– काञ्च्याः– मेखलायाः, रणत्कारेण– ध्वनिना, चित्रीयमाणम्– अद्भुततां प्राप्तम्, नव्याङ्गहारप्रकाशभिरामं– नव्येन– नूतनेन, अङ्गहारप्रकारेण– गात्रभङ्गी विशेषेण, अभिरामं– सुन्दरं, लयग्राहि– गानस्वरानुगतं, लास्यं– स्त्रीकर्तृकं नृत्यं प्रमोदं दत्ते– आनन्दमादधति । 'वी[ऽ]णा[ऽ]नि[।]ना[ऽ]दा[ऽ]नु[।]ब[ऽ]न्धे[ऽ]न[।]हृ[ऽ]द्यं[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–१२८ ॥

भिर्गौ दोधकम् ॥१३०॥

भत्रयं गुरुद्वयं च । यथा– पुष्करमम्बुदगर्जितधीरैः, श्रव्यमदो धकधोंकृतिनादैः । व्यञ्जितपाठकृतिध्वनिपाद–, न्यासमसाविह नृत्यति सुभ्रूः ॥ १३०.१॥ उपचित्रेयम् ॥ १३०.१ ॥

चतुर्थं प्रकारमाह– **भिर्गौदोधकमिति** । **भिरित्यस्यार्थः– भगणत्रयं गावित्यस्यार्थः– गुरुद्वयं चेति**, तथा च 'ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽऽ' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् दोधकं नाम त्रिष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– पुष्करमिति**, अदः पुष्करं– मृदङ्गम्, अम्बुदगर्जितधीरैः– मेघगर्जनवद्गम्भीरैः, धकधोंकृतिनादैः– धकं नाम वादित्रं तस्य ये धोंकृतिनादास्तैरिति पर्याये, केचित् त्वेवमाहुः– 'धकधों' इत्येवमव्यक्तस्य शब्दस्या-

नुकरणं– घकघोंकृतिरिति, तस्या नादैः शब्दैः, श्रव्यं– श्रवणयोग्यं श्रुतिसुखमिति यावत्, व्यञ्जित पाठकृति– पाठस्य कृती उपाध्यायः, व्यञ्चितः, पाठकृतिन उपाध्यायस्य ध्वनिः पद्न्यासेन यत्र नृत्ये, एतत् क्रियाविशेषणमितिपर्याये, केचित् तु एवमाहुः– व्यञ्जिता– व्यक्तीकृता, पाठकृतिः– गीतादिनाटो यस्मिंस्तत्, ध्वनिपादन्यासं– ध्वनौ गीतलये, पादन्यासः– पादप्रक्षेपो यस्मिंस्तद् यथा स्यात् तथा, असौ– पूर्ववर्णिता, सुभ्रूः– सुन्दरभ्रुकुटिमती नारी, नृत्यति– नर्त्तनं करोति। 'पु[ऽ]ष्क[।]र[।]म[ऽ]म्बु[।]द[।]ग[ऽ]र्जि[।]त[।]धी[ऽ]रैः[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः। अस्य मात्राछन्दस्यप्यन्तर्भाव इत्याह– **उपचित्रेयमिति**– तृतीयेऽध्याये "ग्युपचित्रा" [६६॥] अजमुखश्चीगन्तो नवमे गुरावुपचित्रेति वर्णितमात्रासमकच्छन्दसि चतुर्भिश्चतुष्कलैः कृतपादा उपचित्रा भवतीति वक्ष्यते, नवमश्च गुरुरिहाप्यस्त्येवेति तत्राप्यस्य च्छन्दसोऽन्तर्भावः सुशकः, किन्तु संज्ञाविशेषप्रदर्शनार्थं वर्णच्छन्दःप्रकरणेऽप्यस्यान्तर्भावः कृत इति प्राग्वदवसेयम् ॥ अ० २, सू०–१३० ॥

सिल्गा विदुषी ॥१३१॥

सत्रयं लघुगुरू च। यथा– कुरुते तरसा न हि चापलं, स्वयमेव न चार्थयते परम्। प्रकटं कुरुते न वियाततां, प्रमदा विदुषी भवतीदृशी ॥ १३१.१ ॥

पञ्चमं प्रकारमाह– **सिल्गा विदुषीति**। अर्थमाह– **सगणत्रयं लघुगुरू चेति**, तथा च '।।ऽ. ।।ऽ. ।।ऽ. ।ऽ' इत्येवंरूपैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् विदुषीनामकं त्रिष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– कुरुते तरसेति**, तरसा– सहसा, चापलं– वागादिकृतं चाञ्चल्यं, न कुरुते, परं– प्रियमपि, स्वयमेव– आत्मनैव, न अर्थयते– न याचते, प्रकटं– प्रकाशरूपेण, वियाततां– धार्ष्टर्यं प्रागल्भ्यं वा न कुरुते, ईदृशी प्रमदा– स्त्री, विदुषी भवति– संज्ञाना कथ्यते। अयं हि शालीनाङ्गनानां स्वभावः– यत् हृदये चाञ्चल्यं, सङ्गमस्पृहां, तदनुकूलं प्रागल्भ्यं च धारयन्योऽपि पुरुषप्रवर्त्तनां विना स्वत एव पूर्वं न प्रकटयन्तीति, तत् सर्वं या जानाति सैव विदुषी, विपरिता च पामरीति गण्यते। 'कु[।]रु[।]ते[ऽ]त[।]र[।]सा[ऽ]न[।]हि[।]चा[ऽ]प[।]लं[।]' इति लक्षणसमन्वयः॥ अ० २, सू०–१३१ ॥

भतना गौ श्रीर्ङैः ॥१३२॥

ङैरिति पञ्चभिर्यतिः, भतना गुरुद्वयं च, यथा- या सुजनानामुपकरणाय, प्रद्विषतां च प्रतिकरणाय । मानधनानां भवति नराणां, श्रीरितरा स्यात् परिकरमात्रम् ॥ १३२.१ ॥ सान्द्रपदमित्यन्ये । रुचिरेति भरतः । यतिनियमाभावे इदमेव प्रत्यवबोधः ॥ १३२.१ ॥

षष्ठं प्रभेदमाह- **भतना गौ श्रीर्ङैरिति** । विवृणोति- **ङैरिति पञ्चभिर्यतिः, भतना गुरुद्वयं चेति**- भगण-तगण-नगणा गुरुद्वयं च, 'ऽ।। ऽऽ। ।।। ऽऽ' इत्येवंरूपैर्वर्णैःकृताः पादा यस्य तत् श्रीनामकं त्रिष्टुब्जातिच्छन्दः । अत्र च पञ्चभिर्वर्णैर्विराम इति । उदाहरति- **यथा- या सुजनानामिति**, या- श्रीः, सुजनानां- सौजन्यशालिनां जनानां, उपकरणाय- सहायतायै, प्रद्विषतां- शत्रूणां च, प्रतिकरणाय- प्रत्यपकारं कर्तुं [प्रभवति], मानधनानां- मानिनां नराणां, [सा] श्रीः- लक्ष्मीः स्यात्, इतरा- एतद्विपरीता, परिकरमात्रं- सामग्रीमात्रमित्यर्थः । अत्र 'या[ऽ] सु[।]ज[।]ना[ऽ]ना[ऽ]मु[।]प[।]क[।]र[।]णा[ऽ]य[।]' इति लक्षणसमन्वयः । अस्य नामान्तरमाह- **सान्द्रपदमित्यन्ये** इति- केचिद्- अन्ये इदं छन्दः सान्द्रपदमित्याहुरित्यर्थः । छन्दःकौस्तुभे सान्द्रपदे कश्चिद्भेदो दृश्यते, यथा- सान्द्रपदं भ्तौ नगलघुभिश्चेति । **रुचिरेति भरतः** इति- भरत आचार्य इदं छन्दो रुचिरेत्याह । अस्यैव प्रकारान्तरेण- नामान्तरमाह- **यतिनियमाभावे इदमेव प्रत्यवबोधः** इति- **ङैर्यतिरिति** यति नियमस्यानाश्रयणे इदमेव च्छन्दः 'प्रत्यवबोध'संज्ञयोच्यत इत्यर्थः ॥ अ० २, सू०-१३२. ॥

तो जौ गावुपस्थिता ॥१३३॥

यथा- या मानमहाविषघूर्णिताङ्गो, नामूत् कलयापि वशंवदा ते । लोलन्मलयानिलदोलितात्मा, प्रीत्या सविलासमुपस्थिता सा ॥ १३३.१ ॥

सप्तमं प्रभेदमाह- **तो जौ गावुपस्थितेति**- तगणो जगणद्वयं गुरू च, 'ऽऽ। ।ऽ। ।ऽ। ऽऽ' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् उपस्थितानामकं त्रिष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- या मानमहाविषेति**,

मानमहाविषघूर्णिताङ्गी- मान एव महाविषं तेन घूर्णिताङ्ग- भ्रान्तशरीरा, या- स्त्री, कलया अपि- मात्रयाऽपि ते- तव, वशंवदा- अनुकूला, न अभूत, लोलन्मलयानिलदोलितात्मा- चञ्चलदक्षिणपवनकम्पिताऽन्तः- करणा, सा प्रीत्या- सस्नेहं, सविलासं- सविभ्रमं च, उपस्थिता- समीपं प्राप्तेत्यर्थः, दक्षिणानिलो मानापगमकारणमिति भावः । 'या[ऽ], मा[ऽ]न[।]म[।]हा[ऽ]-वि[।]ष[।]घू[ऽ]र्णि[।]ता[ऽ]ङ्गी[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-१३३. ॥

जस्ता गावुपस्थितम् ॥१३४॥

जसता गुरुद्वयं च । यथा- शिलीमुखतर्ति सत्पक्षनादां, मुहुर्निदधतं बाणासनाङ्के । पुरः शरदृतुं संप्रेक्ष्य राजन !, उपस्थितमरिस्त्वामेव मेने ॥ १३४.१ ॥

अष्टमं प्रभेदमाह- **जस्ता गावुपस्थितमिति** । अर्थमाह- जसता गुरुद्वयं चेति- जगण-सगण-तगणा गुरू च, 'ISI. IIS. SSI. SS' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तद् उपस्थितं नाम त्रिष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- शिलीमुखेति**, हे राजन् !, बाणासनाङ्के- बाणश्च आसनश्चेति- बाणासनौ, बाणवृक्षबीजकवृक्षौ, तयोरङ्के- उत्सङ्गे, सत्पक्षनादां- सन्- विद्यमानः, पक्षयोर्नादो यस्यां तां, शिलीमुखतर्ति- भ्रमरपङ्क्तिः, मुहुः- वारं वारं, निदधतं- धारयन्तं, शरदतुं, पुरः- अग्रे, उपस्थितं- समागतं, प्रेक्ष्य- दृष्ट्वा, अरिः- तव शत्रुः, [तादृशं] त्वामेव पुर, उपस्थितं मेने । त्वमपि हि सत्पक्षनादां- सन् पक्षस्य पक्षयोर्वा पुंखलग्नयोः, नादो यस्यां तां, शिलीमुखतर्ति- बाणपङ्क्तिं, बाणासनाङ्के- धनुषि, दधसि, शरदतुश्च तवाभियानसमयस्तेन दृष्टपूर्व इति शरदतुमुपस्थितं विलोक्य स त्वामेवोपपस्थितं मेने इति भावः । 'शि[।]ली[ऽ]मु[ऽ]ख[ऽ]त[।]र्ति[ऽ],सत्[ऽ]प[ऽ]क्ष[।]ना[ऽ]दां[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-१३४ ॥

मात् तौ गौ शालिनी चैः ॥१३५॥

नवमस्तद्वयं गुरुद्वयं च। धैरिति चतुर्भिर्यतिः। यथा- ऊर्मीमङ्गीर्निर्मिमाणा

धुनीनां, व्यातन्वाना वीरुधा लास्यलीलाम् । उज्जृम्भन्ते शालिनीवारपाक-, स्फारामोदाः शारदा वायवोऽमी ॥ १३५.१ ॥

नवमं प्रकारमाह– **मात् तौ गौ शालिनी धैः** इति । अर्थमाह– **मस्तद्वयं गुरुद्वयं च, धैरिति चतुर्भिर्यतिरिति**– मगणः, नगणद्वयं, गुरुद्वयं च, 'sss. ssı. ssı. ss.' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत्, यत्र च चतुर्भिर्यतिस्तत् शालिनीनामकं त्रिष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– ऊर्मीभङ्गीरिति**, धुनीनां– नदीनाम्, ऊर्मीभङ्गीः– तरङ्गखण्डान्, निर्मिमाणाः– कुर्वन्तः, वीरुधां– वल्लीनां, लास्यलीलां– नृत्यक्रीडां, व्यातन्वानाः– वर्धयन्तः, शालिनीवारपाकस्फारामोदाः– शालयः– कृष्टपच्या व्रीहयः, नीवाराः– अकृष्टपच्याः, तेषां पाकैः– पक्वैः शस्यैः, स्फारामोदाः– प्रकट सुरभयः, शारदाः– शरदृतुसम्बन्धिनः, अमी वायवः– वाताः, उज्जृम्भन्ते– बहुलीभवन्ति। त्रिभिर्विशेषणैर्वायूनां शीतलमन्दसुगन्धित्वं ध्वनितम् । 'ऊ[s]र्मी[s]भ[s]ङ्गी[s]नि[s]मि[।]मा[s]णा[s], धु[।]नी[s]नां[s]' इति लक्षणसमन्वयः । चतुर्भिश्च यतिरपि स्पष्टा ॥ अ० २, सू०–१३५ ॥

मभता गौ वातोर्मी ॥१३६॥

धैरिति वर्तते । यथा– त्वच्छत्रूणां विपिनं प्रस्थितानां, क्षिप्तः पांशुर्दृशि वातोर्मिकाभिः ॥ तापः सूर्येण च मूर्ध्नि प्रकीर्णः, को वा नास्कन्दति संप्राप्तभङ्गान् ॥ १३६.१ ॥

दशमं प्रभेदमाह– **ममता गौ वातोर्मी**ति । यतिनियमोऽपीति सूचयति– **धैरिति वर्तते** इति । तथा च मगण-भगण-तगणा गुरुद्वयं च 'sss. sıı. ssı. ss' इत्येवंरूपैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् वातोर्मीनामकं त्रिष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– त्वच्छत्रूणामिति**, विपिनं– वनं, प्रस्थितानां– चलितानां, त्वच्छत्रूणां– भवदरीणां, दृशि– नेत्रे, वातोर्मिकाभिः– वायुप्रवाहैः, पांशुः– धूलिः, क्षिप्तः– पातितः, सूर्येण च मूर्ध्नि– मस्तकोपरि, तापः– दाहः, प्रकीर्णः– प्रक्षिप्तः [अर्थान्तरं न्यस्यति] को वा सम्प्राप्तभङ्गान्– परिभूय पलायितान्, न आस्कन्दति– नाक्रामति, अपि तु सर्वं एव तादृशान् आस्कन्दत्येव । त्वया परिभूतास्त्वच्छत्रवो वनं प्रति चालिताः, तत्रापि प्रतिकूलेन

सधूलिवातेनाक्षिविघातः समुपास्थितः, छत्राभावाच्च सूर्येणापि तप्तास्ते इति भावः। 'त्व[ऽ]च्छ[ऽ]त्रू[ऽ]णां[ऽ], वि[।]पि[।]नं[ऽ], प्र[ऽ]स्थि[।]तां[ऽ]-नां[ऽ]' इति लक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू०–१३६ ॥

मो भौ गौ वा ॥१३७॥

वातोर्म्या एव लक्षणान्तरम्। धैरिति वर्तते। यथा– घोराकारा घनघोष-विशेषा, दूरोत्क्षिप्तक्षितिरेणुविमिश्रा। लोकक्षोभं सहसा विदधाना, वातोर्मीयं कुरुते जगदन्धम् ॥ १३७.१ ॥

एकादशप्रभेदत्वेन पुनस्तामेव लक्षणान्तरेणाह– **मो भौ गौ वेति**। छन्दो-नामनिर्देशाभावान्न्यूनाताशङ्कां परिहर्तुमाह– **वातोर्म्या एव लक्षणान्तर-मिति**। यतिनियमः स एवेत्याह– **धैरिति वर्तते** इति। तथा च मगणो भगणद्वयं गुरुद्वयं च, 'sss. s।. s।. ऽऽ' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य, चतुर्भिश्च यतिर्यत्र तत् वातोर्म्याश्छन्दसः प्रकारान्तरं त्रिष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– घोराकारा** इति, घोराकारा– भयंकरस्वरूपा, घनघोषविशेषा– घनानां– मेघानां, घोषेण विशेषः– अधिक्यं यस्याः सा, दूरोत्क्षिप्तक्षितिरेणुविमिश्रा– दूरोत्क्षिप्ताः– आरादुद्धूता ये क्षितिरेणवः– पृथ्वीपांशवः, तैर्विमिश्रा– सहिता, सहसा– अकस्मात्, लोकक्षोभं– जन-चाञ्चल्यं, विदधाना– कुर्वंती, इयं वातोर्मी– वायुमण्डली, जगत्– विश्वम्, अन्धं– लोचनविफलं, कुरुते– विदधाति। 'घो[ऽ]रा[ऽ]का[ऽ]रा[ऽ], घ[।]न[।]घो[ऽ]ष[।]वि[।]मि[ऽ]श्रा[ऽ]' इति लक्षणसंगतिः ॥ अ० २, सू०–१३७ ॥

मभ्नलगा भ्रमरविलसितम् ॥१३८॥

मभना लघुगुरू च। धैरिति वर्तते। यथा– प्रत्याख्याताप्यसि कमलवनं, याता तत् किं करतलचलनैः। मुग्धे ! विद्धि स्फुटकमलधिया, वक्त्रापाति-भ्रमरविलसितम् ॥ १३८.१ ॥ धानवासिकेयम् ॥ १३८.१ ॥

द्वादशं प्रकारमाह– **मभ्नलगा भ्रमरविलसितमिति**। अर्थमाह– **मभना-लघुर्गुरुश्चेति, धैरिति वर्तते** इति च। तथा च मगण-भगण-नगणा लघु-

गुरुश्चेति, 'sss. s।. ।।।. ।s' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैर्विहिताः पादा यस्य तत्, चतुर्भिश्च यतिर्यत्र तत् भ्रमरविलसितं नाम त्रिष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– प्रत्याख्यातेति,** प्रत्याख्याताऽपि– निषिद्धाऽपि, कमलवनं याता– गता, असि, तत्– तस्मात्, करतलचलनैः– [भ्रमरवारणार्थं] हस्तचालनक्रियाभिः, किं– किमपि, न साध्यम्, हे मुग्धे ! ऋजुमतितयाऽज्ञातस्वपद्मिनीत्वे, स्फुटकमलधिया– विकसितपद्मबुद्धया, वक्रापातिभ्रमरविलसितं– वक्त्रे– मुखोपरि, आपतन्ति तच्छीला ये भ्रमराः– द्विरेफाः, तेषां विलसितं– लीलां, विद्धि– जानीहि। इमामेव बाधामभिलक्ष्य त्वं मया कमलवनं प्रति गन्तुं निषिद्धा, तदनादृत्य तत्र गतात्वं तत्रत्यैर्भ्रमरैरर्धफुल्लकमलानि त्वन्मुखादल्पामोदानि हित्वा त्वन्मुखोपर्येव विलासः क्रियते, साम्प्रतं हस्तचालनैस्ते वारयितुमशक्या इति भावः। 'प्र[s]त्या[s]ख्या[s]ता[s]प्य[।]सि[।], क[।]म[।]ल[।]व[।]नं[s]' इति लक्षणसमन्वयः। अस्य च्छन्दसो मात्रासमच्छन्दस्यप्यन्तर्भावमाह– वानवासिकेयमिति– तृतीयाध्याये "द्वादशभ्र वानवासिका" [६९] इति सूत्रेण वर्णिते वानवासिकेतिनाम्नि मात्रासमकच्छन्दसि यानि लक्षणानि कथितानि तान्यत्रापीति भावः॥ अ० २, सू०– १३८॥

नौ सो गौ वृन्ता ॥१३९॥

धैरिति वर्तते। यथा– जिनपतिगुरुपदपीठे यो,-ऽशटमतिरिह लुठति प्रीत्या।
विगलति निखिलमघं तस्मात्, परिणतफलमिव वृन्तान्तात् ॥ १३९.१ ॥

त्रयोदशं प्रभेदमाह– **नौ सो गौ वृन्ता** इति। अत्रापि पूर्ववद् यतिनियम इत्याह– **धैरिति वर्तते** इति। तथा च नगणद्वयं सगणो गुरुद्वयं च, '।।।. ।।।. ।।s. ss' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य, तथा चतुर्भिर्यतिर्यत्र तत् वृन्तानामकं त्रिष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– जिनपतेरि**ति, यः, अशठमतिः– निष्कपटबुद्धिः सन्, जिनपतिः– जिनप्रवर एव, गुरुः– सर्वहितोपदेष्टा तस्य, अथवा जिनपतेर्गुरोश्च पदपीठे– पादधान्यां, प्रीत्या श्रद्धयाऽनुरोगेण वा लुठति– नम्रीभवति, तस्मात्– जनात्, वृन्तात्– गृच्छात्, परिणतफलमिव– पक्वफलमिव, निखिलमघं– सर्वं पापं, विगलति– निपतति।

'जि[।]न[।]प[।]ति[।]गु[।]रु[।]प[।]द[।]पी[ऽ]ठे[ऽ]यो[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-१३९ ॥

न्यभा गौ पतिता चैः ॥१४०॥

नयभा गुरुद्वयं च । चैरिति षड्भिर्यतिः । यथा- वहति न मन्दं दक्षिणवायु- भ्रमति न तूर्णं चूतपरागः । दधति न पिक्यः पञ्चमरागं, किमु पतिता त्वं पादतलेऽस्य ॥ १४०.१ ॥

चतुर्दशं प्रकारमाह- **न्यभा गौ पतिता चैः** । सूत्रार्थमाह- **नयभा गुरुद्वयं च, चैरिति षड्भिर्यतिरिति**- नगण-यगण-भगणा गुरुद्वयं च, '।।।. ।ऽऽ. ऽ।।. ऽऽ' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य, षड्भिश्च वर्णैर्यतिर्यत्र तत् पतितानामकं त्रिष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- वहति नेति,** दक्षिणवायुः- मलयानिलः, मन्दं- शनैः, न वहति- न चलति, चूतपरागः- आम्रमञ्जरीरेणुः, तूर्णं- शीघ्रं, न भ्रमति- दिशि दिशि न व्याप्नोति, पिक्यः- कोकिलाः, पञ्चमरागं- प्रसिद्धं स्वं पञ्चमस्वरं, न दधति- न धारयन्ति, ताः पञ्चमरागेण न गायन्तीत्यर्थः, तथापि त्वम् [मानं विहाय] अस्य- प्रकटापराधस्य पुरुषस्य, पादतले- चरणोपरि [तत्प्रसादनाय] किमु पतिता- कुतः प्रणता । सत्सु एतेषु कारणेषु तवाधीरात्वं युक्तं, तदभावे यदेवं कृतवत्यसि तदाश्चर्यमिति भावः। 'व[।]ह[।]ति[।], न[।], म[ऽ]न्दं[ऽ]द[ऽ]क्षि[।]ण[।]वा[ऽ]युः[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-१४० ॥

रनरलगा रथोद्धता॥ १४१॥

रनरा लघुगुरू च । यथा- तावकीनकटके रथोद्धताः, धूलयो जगति कुर्युरन्धताम् । चेदिमाः करिघटा मदाम्भसा, भूयसा प्रशमयेन्न सर्वतः ॥ १४१.१ ॥ अपरान्तिकेयम् ॥ १४१.१ ॥

पञ्चदशं प्रकारमाह- **रनरलगा रथोद्धतेति** । **रनरलगा** इत्यस्यार्थमाह- **रतरा लघुगुरू चेति, 'ऽ।ऽ. ।।।. ऽ।ऽ. ।ऽ' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत्** रथोद्धतानामकं त्रिष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- तानकीनेति,** तावकीनकटके- तव सेनासन्निवेशे, रथोद्धताः- रथसञ्चारोद्गताः धूलयः-

रजांसि, जगति- संसारे, अन्धतां- दृष्टिप्रतिबन्धं, कुर्युः- विदध्युः, चेत्- यदि, इमाः- धूलीः, करिघटा- गजश्रेणी, भूयसा- प्रभूतमेन, मदाम्भसा- दानजलेन, सर्वतः- सर्वासु दिक्षु, न प्रशमयेत्- न शान्तिं नयेत्। गजश्रेण्या दानजलैर्भूमेरार्द्रीकरणे धूलयो न प्रसृता इति जगदान्ध्यं न जातिमिति भावः। 'ता[ऽ]व[।]की[ऽ]न[।]क[।]ट[।]के[ऽ], र[।]थो[ऽ]द्ध[।]ताः [ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः।

अस्या० मात्रासमच्छन्दस्यप्यन्तर्भावमाह- **अपरान्तिकेयम्** इति- तृतीयेऽध्याये "वैतालीयादेर्युक्पादजा अपरान्तिका" ॥ ५९ ॥ इति सूत्रेण लक्षिते षोडशमात्रके मात्रासमच्छन्दसि अस्यान्तर्भावः संभवतीत्यर्थः। अस्यापि प्रतिपादं षोडशमात्राणां सत्त्वात्। यद्यपि तत्र प्रदर्शितेषु तद्भेदेषु न कोऽपीदृशः समुपलभ्यते यः सर्वथा रयोद्धतामनुकुर्यात्, तथापि मात्रासंख्यासाम्येनेयमपि तत्रान्तर्भवितुं शक्नोतीतिभावः ॥ अ० २, सू०-१४१ ॥

२नभा गौ स्वागता ॥१४२॥

रनभा गुरुद्वयं च। यथा- वल्लभं सुरभिमित्रमनङ्गं, दाक्षिणात्यपवनं सुहृदं च। पृच्छतीह परपुष्टविघुष्टैः, स्वागतानि नियतं वनलक्ष्मीः ॥ १४२.१ ॥

षोडशं प्रकारमाह- **र्नभा गौ स्वागतेति**। अर्थमाह- **र-न-भा गुरुद्वयं चेति**- रगण-नगण-भगणा गुरुद्वयं च, 'ऽ।ऽ. ।।।. ऽ।।. ऽऽ.' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् स्वागतानामकं छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- वल्लभमिति**, वनलक्ष्मीः- वनशोभादेवता, वल्लभं- प्रियं, सुरभिमित्रं- सुरभेः- वसन्तस्य, मित्रं- सखायम्, अनङ्गं- कामं, सुहृदं- स्वसखायं, दाक्षिणात्यपवनं- दक्षिणदिग्वायुं च, परपुष्टविघुष्टैः- परपुष्टः- पिकः, तस्य विघुष्टैः- असकृदारावैः, नियतं- निश्चितं, स्वागतानि- किं सुखपूर्वकमागतं भवद्भ्यामित्यादि, शोभनमागतं भवतोः किमित्यदि वा, परिपृच्छति- जिज्ञासते इत्यर्थः॥ 'व[ऽ]ल्ल[।]भं[ऽ], सु[।]र[।]भि[।]मि[ऽ]त्र[।]म[।]न[ऽ]ङ्गा[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-१४२ ॥

नौ रलगा भद्रिका ॥१४३॥

नद्वयं रो लघुगुरू च। यथा- परिहर नितरां परापदं, कुरु जिनवचनेऽनुरागिताम्। इति तव चरतः परे भवे, भवतु सपदि भद्रिका गतिः ॥ १४३.१ ॥

सप्तदशं प्रभेदमाह– **नौ रलगा भद्रिके**ति । अर्थमाह– **नद्वयं रो लघुगुरू-चे**ति– नगणद्वयं रगणो लघुगुरू च, '।।।. ।।।. ऽ।ऽ. ।ऽ.' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् भद्रिकानामकं त्रिपुष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा-परिहरे**ति, परापदं– अन्यजनदुःखं, परिहर– निवर्तय, जिनवचने– जिनस्योपदेशवाक्ये, अनुरागितां– श्रद्धालुत्वं, कुरु– विधेहि, इति– इत्थं, चरतः– कुर्वाणस्य, तव– भवतः, परे– अन्यस्मिन्, भवे– जन्मनि, सपदि– शीघ्रं, भद्रिका कल्याणी, गतिः– स्थितिः, भवतु– जायताम् ।

अस्य नामान्तरमाह– **अपरवक्त्रमिति भरतः** इति– भरत आचार्योऽस्य च्छन्दसोऽपरवक्त्रमिति नामाहेत्यर्थः । मात्रासमच्छन्दस्यप्यस्यान्तर्भावमाह– **उत्तरान्तिकेयमि**ति– तृतीयाध्याये "ओजजा चारुहासिनी" [६०] इति सूत्रेण वैतालीयादेर्विषमपादजाता चारुहासिनीति लक्षिता, तामेवैके– वैतालीयोत्तरान्तिकेति कथयन्ति, तस्याश्च चतुर्ष्वपि पादेषु प्रत्येकं चतुर्दश मात्रा भवन्ति, अस्य [भद्रिका]च्छन्दसोऽपि प्रतिपादं चतुर्दशमात्राः सन्तीति तन्नाम्नाऽपीयं व्यवहर्तुं शक्यत इत्यर्थः । क्वचिच्च 'चारुहासिनीयम्' इत्यपि पाठः । 'प[।]रि[।]ह[।]र[।], नि[।]त[।]रां[ऽ], प[।]रा[ऽ]प[।]दं[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–१४३ ॥

रज्रलगा श्येनी ॥१४४॥

रजरा लघुगुरू च । यथा– भ्रान्तगृध्रवृन्दकङ्कमण्डलश्येनिका त्वदीयवैरिवाहिनी । आपतत्कृतान्तद्रौकिंकर-व्याकुलेव लक्ष्यते क्षमापते ॥ १४४.१ ॥ निःश्रेणिकेत्यन्ये ॥ १४४.१ ॥

सप्तदशं प्रकारमाह– **रज्रलगाः श्येनी**ति । व्याख्याति– **रजरा लघुगुरू चे**ति– रगण-जगण-रगणा लघुगुरू च, 'ऽ।ऽ. ।ऽ। ऽ।ऽ. ।ऽ.' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत श्येनीनामकं त्रिष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा-भ्रान्तगृध्रे**ति, हे क्षमायते !– राजन् !, त्वदीयवैरिवाहिनी– तव शत्रूणां सेना, भ्रान्तगृध्रवृन्दकङ्कमण्डलश्येनिका– भ्रान्तानि गृध्रवृन्दानि– कङ्कमण्डलानि– श्येन्यश्च [भ्रान्ताः] यत्र तादृशी सती, आपतत्कृतान्तरौद्रकिङ्करव्याकुला इव– आपतन्तः– समन्तादागच्छन्तः, ये कृतान्तस्य– यमस्य, रौद्राः– भय-

ङ्करा:, किङ्करा:- अनुचरा:, तै:, व्याकुला- विपर्यस्ता इव, लक्ष्यते-ज्ञायते। त्वदीयशत्रुवाहिन्यां यत्र तत्र मृतानां सैनिकानां देहोपरि गृध्रा: कङ्का: श्येन्यश्च पतन्ति, उपरि भ्रमन्ति वा, तेनेदं लक्ष्यते यत् यमस्येमे किङ्करा एषां प्राणानादातुमागता:, तैरियं सेना व्याकुलेति। अस्या नामान्तरमन्यसम्मतमाह- **नि:श्रेणिकेत्यन्ये** इति- अन्ये आचार्या इमां नि:श्रेणिकेत्याहुरित्यर्थ:। 'भ्रा-[ऽ]न्त[।]गृ[ऽ]घ्र[।]वृ[ऽ]न्द[।]कङ्[ऽ]क[।]म[ऽ]ण्ड[।]ल[ऽ] [अग्रेसंयुताक्षरसत्त्वात्पादान्तस्थत्वाद् वा गुरुत्वम्] इति लक्षणसमन्वय:॥ अ० २, सू०-१४४॥

नो जौ ल्गौ सुमुखी ॥१४५॥

यथा- कनकरुचिर्घनपीनकुचा, मनसिजविभ्रमकेलिगृहम् । चलनयनानवकुन्ददती, न हरति कस्य मन: सुमुखी ॥ १४५.१ ॥ द्रुतपादगतिरिति भरत: ॥ १४५.१ ॥

अष्टादशं प्रकारमाह- **नो जौ ल्गौ सुमुखी**ति- नगणो जगणद्वयं लघुगुरू च, '।।।. ।ऽ।. ।ऽ।. ।ऽ.' इतीदृशैर्वर्णै: कृता: पादा यस्य तत् सुमुखीनामकं त्रिष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थ:। उदाहरति- **यथा- कनकरुचिरि**ति, कनकरुचि:- सुवर्णकान्ति:, घनपीनकुचा- घनौ- निविडौ, पीनौ- स्थूलौ च कुचौ- स्तनौ यस्या: सा, मनसिजविभ्रमकेलिगृहं- मनसिजस्य- कामसम्बन्धी यो विभ्रम:- विलासस्तस्य केलिगृहं- क्रीडागारभूता, चलनयना- चञ्चलनेत्रा, नवकुन्ददती- नवं- नवीनं कुड्मलावस्थं यत् कुन्दं- माघमासिकं श्वेतपुष्पं, तदिव दन्ता यस्या: सा सुमुखी- सुन्दरमुखी कामिनी, कस्य मन:- चेत:, न हरति- न स्ववशं नयति, अपि तु सर्वस्यापि मनो हरत्येवेत्यर्थ:। अस्यापि नामान्तरमाह- **द्रुतपादगतिरिति भरत** इति- भरत आचार्य इदं छन्दो द्रुतपादगतिनाम्ना व्यवहरतीत्यर्थ:। 'क[।]न[।]क[।]रु[।]चि[ऽ]र्घ[।]न[।]पी[ऽ]न[।]कु[।]चा[ऽ]' इति लक्षणसमन्वय:॥ अ० २, सू०-१४५॥

मस्जा गावेकरूपम् ॥१४६॥

मसजा गुरुद्वयं च। यथा- काष्ठे वा कनकेऽथवा मणौ वा, लोष्टे वा रम-

णीषु वा तृणे वा । शापे वा स्तवनेऽपि वा वितृष्णं, साधूनां मन एकरूपमेव ॥ १४६.१ ॥

ऊनविंशं प्रकारमाह– **मस्जा गावेकरूपमिति** । व्याख्याति– **मसजा गुरुद्वयं चेति**– मगण-सगण-जगणा गुरुद्वयं च 'sss. ।।s. ।s।. ss' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् एकरूपं नाम त्रिष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– काष्ठे वेति**, काष्ठे– दारुणि वा– अथवा, कनके– सुवर्णे, मणौ– रत्ने– वा, लोष्टे– मृत्पिण्डे वा, रमणीषु– रतिदात्रीषु स्त्रीषु वा, तृणे वा, शापे– आक्रोशे वा, स्तवनेऽपि– स्तुतावपि वा, साधूनां– यतीनां, वितृष्णं– निस्पृहं, मनः– चेतः, एकरूपमेव– समानस्वरूपमेव, न क्वापि आदरो नवा क्वापि निरादरः, सर्वत्र माध्यस्थ्यमेवाश्रयतीति भावः । का[s]ष्ठे[s] वा[s]क[।]न[।]के[s]थ[।]वा[s]म[।]णौ[s]वा[s]' इति लक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू०–१४६. ॥

तो जौ लगौ मोटनकम् ॥१४७॥

यथा– दन्तद्युतिद्योतदिगन्तरया, रम्यं नवयौवनया विहितम् । साचीकृतलोलविलोचनकं, दृष्टं भवता मुखमोटनकम् ॥ १४७.१ ॥

विंशं प्रभेदमाह– **तो जौ लगौ मोटनकमिति**– तगणो जगणद्वयं लघुगुरू च, 'ssl. ।sl. ।sl. ।s.' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् मोटनकं नाम त्रिष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– दन्तद्युतिद्योतेति**– दन्तद्युतिभिः– दशनकान्तिभिः, धौतानि दिगन्तराणि– सर्वादिशो यया तया, नवयौवनया-नवम्-चिरप्रादुर्भूतं, यौवनं–तारुण्यं यस्या– स्तया, विहितं– कृतं, रम्यं– मनोहरं, साचीकृतलोलविलोचनकं– साचीकृते– वक्रीकृते, लोले– चञ्चले, विलोचने– नेत्रे यत्र तद् यथा स्यात् तथा, मुखमोटनकम्– आननपरिवर्तनं, भवता, दृष्टम्– अवलोकितम्, [किमिति] प्रश्नः काङ्क्षा सूचितः । 'द[s]न्त[s]द्यु[।]ति[।]द्यौ[s]त[।]दि[।]ग[s]न्त[।]र[।]या[s]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–१४७ ॥

तमजल्गा उत्थापनी ॥१४८॥

यथा– सर्पद्विपेन्द्रभरकम्प्रमही–, प्रभ्रश्यदद्रिशिखरध्वनिभिः । अम्भोधि-मध्यशयितस्य हरे– रुत्थापनी जयति ते पृतना ॥ १४८.१ ॥

एकविंशं प्रभेदमाह– **तमजल्गा उत्थापनी** इति– तगण-भगण-जगणा लघुगुरू च, 'ऽऽ। ऽ॥। ।ऽ। ।ऽ' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् उत्थापनी-नामकं त्रिष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– सर्पदि**ति, सर्पद्विपेन्द्र-भरकम्प्रमहीप्रभ्रश्यदद्रिशिखरध्वनिभिः– सर्पन्तो–यतस्ततश्चलन्तो मे द्विपेन्द्राः– महागजाः, तेषां भरेण– भारेण, कम्प्रा– चलन्ती या मही तस्यां प्रभ्रश्यन्तः– पतन्तो येऽद्रिशिखराः– पर्वतकूटाः, तेषां ध्वनिभिः– शब्दैः; अम्भोधिमध्य-शयितस्य हरेः– समुद्रान्तः शेषश्ययां निद्रितस्य विष्णोः, उत्थापनी– निद्रापन-यनकारिणी, ते– तव, पृतना– सेना, जयति– रिपूनभिभूय वर्द्धते इत्यर्थः । 'स[ऽ]र्पद्[ऽ]द्वि[।]पे[ऽ]न्द्र[।]भ[।]र[।]क[ऽ]म्प्र[।]म[।]ही[।]' इति लक्ष-णसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–१४८ ॥

तो नौ ल्गौ मुखचपला ॥१४९॥

यथा– आकाङ्क्षसि यदि मुखमसमं, जन्मापि विमलमिह मनुषे । नागी-मिव निरवधिकुटिलां, नारीं परिहर मुखचपलाम् ॥ १४९.१ ॥

द्वाविंशं प्रभेदमाह– **तो नौ ल्गौ मुखचपले**ति– तगणो नगणद्वयं लघुगुरू च, 'ऽऽ। ।॥। ।॥। ।ऽ' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् मुखचपलानामकं त्रिष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– आकाङ्क्षसी**ति, यदि– चेत्, असमं– निरुपमं, सुखम्–आनन्दम्, आकाङ्क्षसि– वाच्छसि [तथा] विमलं– निर्मलं, जन्म– जीवनसमयं, [यदि] मनुषे– अनुजानासि, तर्हि नागीमिव– सर्पिणीमिव, निरवधिकुटिलां– निःसिमजिह्मतायुक्तां, मुखचपलां– मुखे– मुख-व्यापारे वाचि, चपलां– चञ्चलां, नारीं– स्त्रियं, परिहर– वर्जयेत्यर्थः । 'आ-[ऽ]का[ऽ]ङ्क्ष[।]सि[।], य[।]दि[।], सु[।]ख[।]म[।]स[।]मं[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–१४९ ॥

न्यनलगाः कमलदलाक्षी ॥१५०॥

नयनलगाः यथा- विरहनिदाघः सुभग ! हठा-दतिशयदीर्घीकृतदिवसः । कृतगुरुतापः कृशयति तां, कमलदलाक्षीं सरितमिव ॥ १५०.१ ॥ रुचिर-मुखीति भरतः ॥ १५०.१ ॥

त्रयोविंशं प्रकारमाह- **न्यनलगाः कमलदलाक्षी**ति । **न्यनलगा** इति विवृणोति- **नयनलगा** इति- नगणो यगणो नगणो लघुगुरू चेति, '।॥. ।ऽऽ. ।॥. ।ऽ.' ईदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् कमलदलाक्षीतिनामकं त्रिष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- विरहनिदाघः** इति, हे सुभग !- सौभाग्यशलिन् !, अतिशयदीर्घीकृतदिवसः- अत्यन्तवर्धितदिनः, कृतगुरुतापः- विहितमहादाहः, विरहनिदाघः- वियोगग्रीष्मर्तुः, कमलदलाक्षीं- कमलदले इव- पद्मपत्रे इव, अक्षिणी- नेत्रे यस्यास्तादृशीं ताम्, सरितमिव- नदीमिव, हठात्- अतिप्रसह्य, कृशयति- तनूकरोति । काचित् दूती विरहिणीवृत्तान्तं नायकाय कथयति, तव विरहे सा ग्रीष्मे सरिदिव हठात् कृशा जायत इति । तत्र विरहे निदाघत्वारोपः, नायिकायां च नद्या उपमा यथा संघटेत तथा पदविन्यासः कृत एव । निदाघे हि दिवसा दीर्घा भवन्ति, विरहेऽपि ते कठिनतयाऽतिवाह्यन्ते इति दीर्घीभूताः प्रतीयन्ते, निदाघो यथा तापं करोति तथा विरहोऽपि, यथा च नायिका कमलदलाक्षी, तथा सरिदपि कमलदलान्येवाक्षिणी यस्या इति समासाश्रयणात् । तथा चात्र रूपकपोषित उपमालङ्कारः । 'वि-[।]र[।]ह[।]नि[।]दा[ऽ]घः[ऽ]सु[।]भ[।]ग[।]ह[।]ठात्[ऽ]' इति लक्षण-सङ्गतिः । अस्य नामान्तरमाह- **रुचिरमुखीति भरतः** इति- भरत आचार्य इमां रुचिरमुखीत्याहेत्यर्थः ॥ अ० २, सू०-१५० ॥

स्मनलगा विमला ॥१५१॥

समनलगाः । यथा- शरदायातेयं गगनमणे-रिव तेजः प्रौढिं तव भजताम् । नृप ! कीर्तिर्ज्योत्स्ना तुहिनरुचे-रिव दिक्षु भ्राम्यत्वतिविमला ॥ १५१.१ ॥

चतुर्विंशं प्रकारमाह- **स्मनलगा विमले**ति । **स्मनलगा** इति पदं विवृणोति- **स्मनलगाः** इति- सगण-मगण-नगणा लघुगुरू च, '।ऽऽ. ऽऽऽ. ।॥.

।ऽ' इतीदृशैवर्णैः कृताः पादा यस्य तत् विमलानामकं त्रिष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा शरदायातेयमिति**, हे नृप !, इयं शरत् आयाता– शरन्नामकोऽयमृतुः प्राप्तः, गगनमणेः– सूर्यस्य इव, तव– भवतः, तेजः– प्रतापः, प्रौढि– प्रकर्षं, भजतां– प्राप्नोतु, तुहिनरुचेः– चन्द्रस्य, ज्योत्सना– कौमुदी इव, [तव] कीर्तिः, अतिविमला– परमनिर्मला सती, दिक्षु– आशासु, प्रसरतु– व्याप्नोतु । शरदि राजानो दिग्विजयाय प्रतिष्ठन्ते, त्वमपि प्रस्थाय स्वतेजः प्रकाशय येन दिक्षु कीर्तिरपि प्रसरिष्यतीति नृपप्रोत्साहनमिदम् । श[।]र[।]दा[ऽ]या[ऽ]ते[ऽ]यं[ऽ]ग[।]ग[।]न[।]म[।]णेः[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ।। अ० २, सू०–१५१ ।।

नस्ना गावशोका ।।१५२।।

नसना गुरुद्वयं च । यथा– अलिवलयहुंकृतिभिरुच्चै-रियमिह निषेधति भवन्तम् । वनभुवमितः पथिक ! मा गाः, कुसुमितसमुल्लसदशोकाम् ।। १५२.१ ।।

पञ्चविंशं प्रकारमाह– **नस्ना गावशोकेति । नस्ना गाविति**स्यार्थमाह– **नसना गुरुद्वयं चेति**– नगण-सगण-नगणाः गुरुद्वयं च, '।।।, ।।ऽ. ।।।. ऽऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् अशोका नाम त्रिष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– अलिवलये**ति, हे पथिक ! इयं– वनभूः, इह– वनाद् बहिरेव, उच्चैः– दीर्घैः, अलिवलय हुंकृतिभिः– मधुकरनिकरक्रोधशब्दैः, भवन्तं– त्वाम्, इतः– अस्मात् स्थानात्, कुसुमितसमुल्लसदशोकां– कुसुमितः– पुष्पितः, समुल्लसन्– शोभमानः, अशोकः– तन्नामकवृक्षो यस्यां तादृशीम्, वनभुवं– कान्तारभूमिं, मा गाः– न गच्छेः, इति निषेधति– वारयति । कान्तावियुक्तो भवान् अशोकपुष्पाणि वीक्ष्य नितान्तं तप्स्यतीति इत एव निवर्त्तस्वेति वनभूः स्वयमेव भ्रमरशब्दैस्त्वामाहेत्यर्थः । 'अ[।]लि[।]व[।]ल[।]य[।]हुं[ऽ]कृ[।]ति[।]भि[।]रु[ऽ]च्चैः[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः सर्वेषु पादेष्विति ।। अ० २, सू०–१५२ ।।

सज्या लगौ सारणी ।।१५३।।

सजयलगाः । यथा– मदनस्त्रिलोचनभालाग्निना, ज्वलितः क्षणादिह जीवेत्

कथम् । त्रिवलीतरंगजुषः स्युर्न चेद्, रससारसारणयः सुभ्रुवः ।। १५३.१ ।।

षड्विंशं प्रकारमाह– **सज्या ल्गौ सारणी**ति । **सज्या ल्गा**वित्यस्यार्थमाह– **सजयलगाः** इति– सगण-जगण-यगणा लघुगुरू च, 'ा।ऽ. ।ऽा. ।ऽऽ. ।ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् सारिणीनामकं त्रिष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– मदन** इति, त्रिलोचनभालाग्निना– त्रिलोचनस्य– त्रिनेत्रस्य शिवस्य, भालाग्निना– ललाटपावकेन, ज्वलितः– दग्धः, मदनः– कामः, इह– संसारे, क्षणात्– अचिरादेव, कथं– केन प्रकारेण, जीवेत्– पुनः प्राणान् धारयेत्, चेत्– यदि, त्रिवलीतरङ्गजुषः– त्रिवली– उदरमध्यस्थरेखात्रयम् एव तरङ्गाः तान्– जुषन्ते– दधतीति ताः, रससारसारणयः– रसेषु सारः शृङ्गारः, तस्य सूचिकाः, अन्यत्र रसं– जलमेव सारः, तस्य प्रवाहिकाः, नद्यः[इव], सुभ्रुवः– शोभनभ्रुकुटयः स्त्रियः, न स्युः– न भवेयुः । अत्र कामस्य दाहानन्तरमेव । पुनरुज्जीवनं स्त्रीषु नदीत्वारोपेण समर्थितम्, नद्यो हि जलं प्रवहन्त्यो दग्धं वस्तु यथा जीवयन्ति तथा कामिन्योऽपि दग्धं मदनं जीवयन्ति । नद्यो हि तरङ्गवत्यस्तथा स्त्रियोऽपि वलिमध्याः, नद्यो रसस्य[जलस्य] प्रवाहिकाः, स्त्रियोऽपि रसस्य [शृङ्गारस्य] प्रवाहिका इत्युभयोः साम्यम् । 'म[।]द[।]नः[ऽ]त्रि[।]लो[ऽ]च[।]न[।]भा[ऽ]ला[ऽ]ग्नि[।]ना[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ।। अ० २, सू०–१५३ ।।

तौ जो गाविन्द्रवज्रा ।।१५४।।

यथा– स्वस्वागमाचारपरायणानां, पुण्यात्मनां यः कुरुते विरुद्धम् । क्षोणीभुजस्तस्य भवत्यवश्यं, रौद्रेन्द्रवज्राभिहतस्य पातः ।। १५४.१ ।।

सप्तविंशं प्रकारमाह– **तौ जो गाविन्द्रवज्रे**ति– तगणद्वयं जगणो गुरुद्वयं च, 'ऽऽा. ऽऽा. ।ऽा. ऽऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् इन्द्रवज्रानामकं त्रिष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– स्वस्वागमे**ति, यः– क्षोणीभुक्, स्वस्वागमाचारपरायणानां– स्वस्वेषां– यथासम्प्रदायं प्रातिस्विकानाम्, आगमानाम्– आचारोपदेशकशास्त्राणां, प्रतिपाद्या ये आचाराः– सामयिकव्यवहारास्तेषु, परायणानां– तदनुष्ठानतत्पराणां, पुण्यात्मानां– सुकृतिनां, विरुद्धं– प्रतिकूलं, कुरुते– विदधाति, रौद्रेन्द्रवज्राभिहतस्य– घोर-

वासवज्रताडितस्य तस्य, क्षोणीभुजः– राज्ञः, अवश्यम्– निश्चितं पातः– पतनं, भवति– जायते । पुण्यात्मनां प्रतीपाचरणं राजभिः परिहर्तव्यमिति भावः । 'स्व[ऽ]स्वा[ऽ]ग[।]मा[ऽ]चा[ऽ]र[।]प[।]रा[ऽ]य[।]णा[ऽ]नां[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–१५४ ॥

जतजा गावुपेन्द्रवज्रा ॥१५५॥

यथा– दधासि धात्रीं विदधासि दुष्ट–,क्षमाभृतां निर्दलनं प्रसह्य । कुमारपाल! क्षितिपाल! कस्त्वम्– उपेन्द्रवज्रायुधयोस्तदत्र ॥ १५५.१ ॥

अष्टाविंश प्रकारमाह– **जतजा गावुपेन्द्रवज्रे**ति– ज्रगण-तगण-जगणाः गुरुद्वयं च, 'ISI. SSI. ISI. SS.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् उपेन्द्रवज्रानामकं त्रिष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– दधासी**ति, धात्रीं– पृथ्वीं, दधासि– धारयसि, दुष्टक्षमाभृतां– दुष्टराजानां दुष्टपर्वतानां च, प्रसह्य– हठात्, निर्दलनं– संमर्दनं, विदधासि– करोषि, [तत्] हे कुमारपाल!– तन्नामक!, क्षितिपाल!– राजन् !, त्वं– भवान्, अत्र– संसारे, उपेन्द्रवज्रायुधयोः– उपेन्द्रः– विष्णुः, वज्रायुधः– इन्द्रः, एतयोर्मध्ये, कः ?, पृथ्वीधारणं विष्णोः कार्यं, क्षमाभृन्निर्दलनं चेन्द्रस्य कार्यं, त्वं चोभयमपि करोषीति तयोर्मध्ये त्वं क इति जिज्ञासा जायत इति भावः ! 'द[।]धा[ऽ]सि[।]धा[ऽ]त्री[ऽ]वि[।]द[।]धा[ऽ]सि[ऽ]' [पादन्तस्य गुरुत्वात्] इतिलक्षणसमन्वयः ॥ अ०–२, सू०–१५५ ॥

एतयोः परयोश्च संकर उपजातिश्चतुर्दशधा ॥१५६॥

एतयोरिन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोः संकरोऽन्योन्यपादमीलनमुपजातिः । सा च प्रस्तारभेदाच्चतुर्दशधा । एवं–परयोरिन्द्रवंशा–वंशस्थयोः संकर उपजातिश्चतुर्दशधैव । स्थापना ऽ।।, ।ऽ।, ऽऽ।, ।।ऽ। ऽ।ऽ।, ।ऽऽ।, ऽऽऽ।, ।।।ऽ, ऽ।।ऽ, ।ऽ।ऽ, ऽऽ।ऽ, ।।ऽऽ, ऽ।ऽऽ।, ।ऽऽऽ. आद्यभेदोदाहरणं यथा– प्रायः पुमांसोऽभिनवार्थलाभे, गुणोज्ज्वलेष्वप्यकृतादराः स्युः । अवाप्य कुन्दं मधुपो हि जज्ञे, गतोपजातिभ्रमणाभिलाषः ॥ १५६.१ ॥ एवमन्येष्वप्युदाहार्याः । समवृत्तप्रस्तावेऽप्युपजातीनामुपन्यासो लाघवार्थः ॥ १५६.१ ॥

अथात्र त्रिष्टुब्जातावेव सङ्करूपामुपजातिमुदार्हतुमाह– **एतयोः परयोश्च**

संकर उपजातिश्चतुर्दशधेति । विवृणोति– **एतयो – इन्द्र-वज्रोपेन्द्र-वज्रयोः सङ्करः– अन्योऽन्यपादमीलनमुपजातिरिति**– उपरि इन्द्रवज्रा उपेन्द्रवज्रा छन्दसी लक्षिते, तयोः प्रत्येकं चत्वारः पादाः, तथा चाष्टानां पादानां परस्यमेलनेन यच्छन्दो जायते तदेवोपजातिरिति कथ्यते । तत्र कतिभेदाः संभाव्यन्ते इत्याशङ्कायामाह– **सा च प्रस्तारभेदाच्चतुर्दशधेति**, चतुष्पादात्मकः प्रकृतः श्लोकः, तत्र पादस्यादौ गुरुणि लघुनि वाक्षरेसति चतुरक्षरात्मकः प्रस्तारः षोडशविधो भवति, तथाहि– ऽऽऽऽ ऽ।।। ।ऽ।। ऽऽ।। ।।ऽ। ऽ।ऽ। ।ऽऽ। ऽऽऽ। ।।।ऽ। ऽ।।ऽ। ।ऽ।ऽ। ऽऽ।ऽ। ।ऽऽ। ऽ।ऽऽ। ।ऽऽऽ। ।।।।, इति । तत्र गुरुचतुष्टयेन इन्द्रवज्राच्छन्दः, लघुचतुष्टयेन उपेन्द्रवज्राछन्दः, मध्यगैश्चतुर्दशभेदैरुपजातिच्छन्दो भवति । अयमाशयः– चतुरक्षरप्रस्तारस्तावत् षोडशविधः, तत्र गुरुचतुष्टयेनेन्द्रवज्रायाश्चतुष्पादज्ञानम्, चतुर्ष्वपि पादेषु इन्द्रवज्राया आदौ गुरुरिति शेषेण लघुचतुष्टयेन, उपेन्द्रवज्रायाश्चतुर्ष्वपि पादेषु आदौ लघुरिति पादचतुष्टयज्ञानं भवति । मध्ये चोपेन्द्रवज्रापादमादिं कृत्वा चतुर्दशोपजातयो भवन्ति । तथा च प्रस्तारस्थापनां वक्ष्यति । इत्थं यथा त्रिष्टुब्जातौ इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोः सङ्करस्तथा जगतीजातावपि वर्ण्यमानयोरिन्द्रवशां-वंशस्थयोरपि सङ्करस्तदाह– **एवं परयोरिन्द्रवंशा-वंशस्थयोः सङ्करः, उपजातिश्चतुर्दशधैवेति**– जगतीजातिछन्दसि इन्द्रवंशा-वंशस्थे वर्णिते, तयोरपि पादा गुरुलघुभ्यां निर्दिश्यन्ते, इन्द्रवंशापादानां गुरुणा वंशस्थपादानां च लघुना निर्देशः, तत्र सर्वगुरुः इन्द्रवंशा, सर्वलघुर्वंशस्थम्, मध्ये च चतुर्दश भेदा एव भवन्तीति प्रस्तारानुसारं ज्ञेयम् । तथाहि स्थापनामाह– **स्थापनेति**, प्रथमः प्रस्तारः– **'ऽ।।।'** इति, तस्यार्थः– प्रथमः पाद इन्द्रवज्रायाः, शेषास्त्रय उपेन्द्रवज्राया इति, एवं सर्वत्र गुरुस्थाने इन्द्रवज्राया लघुस्थाने उपेन्द्रवज्रायाः पादा ज्ञेयाः, तथा च– ।ऽ।।. ऽऽ।।. ।।ऽ. ऽ।ऽ. ।ऽऽ. ऽऽऽ. ।।।ऽ. ऽ।।ऽ. ।ऽ।ऽ. ऽऽ।ऽ. ।।ऽऽ. ऽ।ऽऽ. ।ऽऽऽ. इति, एषां नामानि प्राकृतपिङ्गले यथा– "कीर्तिः ।ऽऽऽ, वाणी ऽ।।ऽ, माला ।।ऽऽ, शाला ऽऽ।ऽ, हंसी ।ऽ।ऽ, माया ।।।ऽ, जाया ऽ।।।, बाला ऽऽऽ। आर्द्रा ।ऽऽ।, भद्रा ऽ।ऽ।, प्रेमा ।।ऽ।, रामा ऽऽ।।, ऋद्धिः ।ऽ।।, वृद्धिः ऽ।।ऽ" इति [२.१२२] तत्र 'ऽ।।।' इति प्रथमस्य भेदस्योदाहरणं दर्शयति– **आद्यभेदोदाहरणं यथेति, प्रायः** इति– इयं जाया, प्रायः– बाहुल्येन, पुमांसः– पुरुषाः,

अभिनवार्थलाभे- नूतनवस्तुप्राप्तौ, गुणोज्ज्वलेष्वपि- [प्राचीनेषु वस्तुषु पूर्वापेक्षयां] गुणसमृद्धेष्वपि, अकृतादराः- अकृतबहुमानाः, स्युः- भवेयुः, तत्रार्थान्तरन्यासमाह- **हि**- यतः, मधुपः- भ्रमरः, कुन्दं- नवीनं माध्यपुष्पं, अवाप्य- प्राप्य, गतोपजातिभ्रमणामिलाषः- गतः- नष्टः, उपजातिषु- जातिजातीयकुसुमप्रभेदेषु, भ्रमणस्य, अभिलाषः- स्पृहा यस्य तथा भूतो जज्ञे इत्यर्थः । भ्रमरो यथा नवविकसितं कुन्दं दृष्ट्वा प्राचीनेषु कुन्दापेक्षयाधिकसुरभिष्वपि, उपजातिपुष्पेषु आदरहीनो भवति तथा पुरुषा अपि नूतनां नायिकां प्राप्य गुणवतीमपि पूर्वामनाद्रियन्त इति भावः । लक्षणसमन्वयश्च 'प्रथमपादे इन्द्रवज्रावत् शेषेषूपेन्द्रवज्रावत् ज्ञेयः । १५६।१ ।

प्रथममुपजातिभेदं स्वयमुदाहृत्य ग्रन्थगौरवभिऽन्येषामुदाहरणमादिशति- **एवमन्येष्वप्युदाहार्याः**- यथेदमाद्योपजातिभेदस्योदाहरणमुपन्यस्तं तथा शेषेष्वपि त्रयोदशभेदेषूदाहरणानि स्वयमेवन्वेषणीयानीति भावः ।। अ० २, सू०-१५६ ।।

तदिह शिष्टानां त्रयोदशभेदानामुदाहरणानि ग्रन्थान्तरत् संगृह्य लिख्यन्ते व्याख्यायन्ते च । तथाहि- उपेन्द्रवज्रायाः प्रथमः पादः, द्वितीय इन्द्रवज्रायाः शेषावुपेन्द्रवज्राया इति 'ऽ।ऽऽ' संकेतितो द्वितीयो भेदो वाणीनामा यथा-

"यः पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान् दरीमुखोत्थेन समीरणेन ।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ।।"

[कु० संभव० १।८]

यः- हिमालयः, दरीमुखोत्थेन- दरी- गुहैव, मुखं तस्मादुत्थितेन- निर्गतेन, समीरणेन- वायुना, कीचकरन्ध्रभागान्- कीचकानां वायुप्रेरणेन स्वनतां वंशानाम्, रन्ध्रभागान्- छिद्रप्रदेशान्, पूरयन्, उद्गास्यतां- करिष्यमाणगानानां, किन्नराणां- किम्पुरुषाख्यदेवविशेषाणां, तानप्रदायित्वं- गानाम्भात् पूर्वमेव तदनुकूलस्वरमूर्च्छना तानस्तस्य प्रदायी- दाता, तस्य भावस्तत्, उपगन्तुं- लब्धुम् इव, इच्छति- अभिलषति । अत्र प्रथमे तगणद्वयं जगणो गुरुश्च, द्वितीये जगण-तगण-जगणाः गुरुद्वयम्, तृतीयचतुर्थयोश्च पुनः- तगणद्वयं जगणो गुरुद्वयं चेति लक्षणसमन्वयः [उपजाति-२] ।।

तृतीयस्य मालानामकस्योपजातिभेदस्य '।।ऽऽ' यत्रोपेन्द्रवज्रायाःप्रथमार्धम्,

इन्द्रवज्राया उत्तरार्धं चेति विन्यासः। तस्योदाहरणं यथा-

"कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम्।
यत्र स्नुतक्षीरतया प्रसूतयाः सानुनि वायुः सुरभीकरोति॥ [कुं० सं० १।९]

यत्र- हिमालये, कपोलकण्डूः- गण्डस्थरवर्जूः, विनेतुं- शमयितुं, विघट्टितानां- घर्षितानां, सरलद्रुमाणां- देवदारुवृक्षाणां, स्नुतक्षीरतया- स्नुतं- स्यन्दमानं क्षीरं यस्य तस्य भावस्तया, प्रसूतः- समुत्पन्नो गन्धः- आघ्राणः, सानूनि- शिखराणि, सुरभीकरोति- सुगन्धयतीत्यर्थः॥ अत्र प्रथम-द्वितीययोः पादयोः जतजगणाः गुरुद्वयंच, तृतीय-चतुर्थयोः- तगणद्वयं जगणो गुरुश्चेति लक्षणसमन्वयः॥ [उ० जा० ३]॥

चतुर्थस्य शालानामकस्य 'ऽऽ।ऽ' इत्येवं स्थापितस्य प्रथमार्धे इन्द्रवज्रया, तृतीये पादे उपेन्द्रवज्रया, चतुर्थे पुनरिन्द्रवज्रयानिबद्धस्योदाहरणं यथा-

"उद्वेजयत्यङ्गुलिपार्ष्णिभागान् मार्गे शिलीभूतहिमेऽपि यत्र।
न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्त्ता भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः॥"
[कु० सं० १।११]

यत्र- हिमालये, अङ्गुलिपार्ष्णिभागान्- अङ्गुलीनां- पादाङ्गुलीनां, पार्ष्वभागान्- प्रान्तान्, उद्वेजयति- पीडयति, शिलीभूतहिमे- शिलीभूतं शिलावस्थां प्राप्तं, हिमं यत्र तादृशेऽपि, मार्गे- पथि, दुर्वहश्रेणिपयोधरार्ताः- दुर्वहौ- स्थूलतया बोढुमशक्यौ, यौ श्रोणी पयोधरौ च, तेषां भरेण आर्ताः- पीडिताः, अश्वमुख्यः- अश्वस्य मुखमिव मुखं यासां ता देवजातिविशेषस्त्रियः, मन्दां गतिं- शनैर्गमनक्रमं, न भिन्दन्ति- न विच्छिन्दन्ति। यद्यपि हिममये मार्गे शैत्यात् पादयोः पीडा भवतीति क्षिप्रगत्या तन्मार्गलङ्घनप्रयत्नः स्वभावप्राप्तस्तथापि श्रोणि-पयोधरयोः [नितम्बकुचयोः] दुर्वहत्वेन क्षिप्रगतेराश्रयितुमसामर्थ्यात् ता मन्दमेव गच्छन्तीत्यर्थः॥ अत्र तृतीयपादवर्जमिन्द्रवज्रया, तृतीये चोपेन्द्रवज्रया निबन्ध इति स्पष्टम्॥ [उ० जा० ४]॥

पञ्चमस्य हंसीनामकस्य 'ऽ।ऽ' इत्येवं स्थापितस्य प्रथमतृतीययोरूपेन्द्रवज्रया, द्वितीयचतुर्थयोश्चेन्द्रवज्रया निर्मितस्योदाहरणं यथा-

"पदं तुषारस्नुतिधौतरक्तं यस्मिन्नदृष्ट्वापि हतद्विपानाम्।
विदन्ति मार्गं नरवरन्ध्रमुक्तै-र्मुक्ताफलैः केसरिणां किराताः॥"
[कु० सं० १।६]

यस्मिन्- हिमालये, किराताः- वनेचराः मानवाः, हतद्विपानां- मारित-गजानां, केसरिणां- सिंहानां, तुषारस्नुतिधौतरक्तं- तुषारस्य- हिमस्य, स्नुत्या- क्षरणेन, धौतं रक्तं- रुधिरं यस्य तादृशं, पदं चरणाङ्कमदृष्ट्वापि नखरन्ध्रमुक्तैः- नखच्छेदपतितैः, मुक्ताफलैः- मौक्तिकैः, मार्गं- पन्थानं, विदन्ति- जानन्ति। अयमाशयः- सिंहहतं गजं दृष्ट्वा तद्धन्तुः सिंहस्यान्वेषणे प्रवृत्ताः किराताः शोणिताक्तपादचिह्नेन तन्मार्गमनुसरन्तो हिमस्नुत्या रक्तस्य धौतत्वेन पादचिह्नालाभेऽपि हतगजमस्तकस्थसिंहपादनखलग्नमुक्ताफलानां मार्गे नखविकासात् पतितानां प्राप्त्या तेनैव तद्गमनमार्गं जानन्तीति भावः। अत्र प्रथम-तृतीययोः- जतजा गौ, द्वितीय-चतुर्थयोः- तौ जो गाविति ॥ [उ० जा० ५]

षष्ठस्योपजातिभेदस्य मायानामकस्य '।।ऽ' इत्येवं स्थापितस्योदाहरणम्-

"प्रसीद विश्राम्यतु वीर ! वज्रं शरैर्मदीयैः कतमः सुरारिः।
बिभेतुमोघीकृतबाहुवीर्यः स्त्रीभ्योऽपि कोपस्फुरिताधराभ्यः ॥" [कु० ३।६]

शिवं वशीकर्तुमाहुतस्याविदितकार्यस्य कामस्येन्द्रं प्रति स्वपराक्रम- ख्यापनपरं वाक्यमिदम्, हे वीर ! प्रसीद- आज्ञाप्रदानेन मामनुगृह्णीष्व, वज्रं- कुलिशं [तव प्रधानमस्त्रम्] विश्राम्यतु- निर्व्यापार एव तिष्ठतु, कतमः- बहुषु कः, सुरारिः- देवशत्रुः, मदीयैः- मत्सम्बन्धिभिः, शरैः- बाणैः, कोपस्फुरिताधराभ्यः- कोपेन- क्रोधेन, स्फुरितं- स्पन्दमानम्, अधरम्- अधरोष्ठो यासां ताभ्यः, स्त्रीभ्योऽपि- कामिनीभ्योऽपि बिभेतु- त्रस्यतु। यदि कश्चिदसुरस्तव प्रतिकूलस्तर्हि स्वशरैरहतं स्त्रीणामपि वश्यं- वश्यं कर्तुं प्रभवामीति त्वया तद्विषये स्वास्त्रव्यापारो न कार्य इत्यर्थः। अत्राद्यपादत्रये जतजा गौ शेषे च तौ जो गाविति लक्षणसंगति ॥ उ० जा० ६ ॥

सप्तमस्योपजातिभेदस्य जायानामकस्य 'ऽ।।' इत्येवंस्थापितस्योदाहरणं यथा-

"कालक्रमेणाथ तयोः प्रवृत्ते, स्वरूपयोग्ये सुरतप्रसङ्गे ।
मनोरमं यौवनमुद्वहन्त्या, गर्भोऽभवद् भूधरराजपत्न्याः ॥"
[कु० सं० १।२६]

अथ- हिमवतो विवाहानन्तरं, कालक्रमेण- गच्छता कालेन, तयोः- हिमवन्मेनकयोः, स्वरूपयोग्ये- उभयोरनुरूपे, सुरतप्रसङ्गे- रहःक्रीडाविलासे, प्रवृत्ते- समारब्धे, सति मनोरमं- चेतःप्रसादकं, यौवनं- तारुण्यम्, उद्वहन्त्याः-

धारयन्त्याः, भूधरराजपत्न्याः- पर्वतपतिभार्याया मेनकायाः, गर्भः- सन्तानोत्पत्तिसंभावना, अभवदित्यर्थः ॥ अत्र प्रथमे पादे तौ जो गौ, द्वितियादिषु त्रिषु जतजा गौरिति विवेकः । यद्यपि चतुर्थे प्रथमाक्षरस्य संयोगपरत्वनिमित्तकं गुरुत्वं प्राप्तमिति स्थापनाप्रतिकूलता समायाति तथापि रसंयोगे गुरुत्ववर्जनात् समाधेयम् ॥ उ० जा० ७ ॥

अष्टमस्योपजातिभेदस्य बालानामकस्य 'ऽऽऽ।' इत्येवंस्थापितस्योदाहरणं यथा-

"यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं, मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे ।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च, पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम् ॥"

[कु० सं० १।२]

सर्वशैलाः- हिमवदतिरिक्ताः सर्वे पर्वताः, यं- हिमवन्तं, वत्सं- तर्णकं, परिकल्प्य- विधाय, दोहदक्षे- दोहनकार्यक्षमे, मेरौ- तन्नामके पर्वते, दोग्धरि- दोहकर्तरि, स्थिते सति, भास्वन्ति- प्रकाशमानानि, रत्नानि- मणीन्, महौषधीश्च, पृथूपदिष्टां- पृथुना राज्ञा गोत्वेन निर्दिष्टाम्, धरित्रीं- पृथ्वीं, दुदुहुः- निःसारयामासुः, दुहेर्द्विकर्मकत्वात् पृथ्व्या अपि कर्मत्वम् । अत्र पादत्रये तौ जो गौ, शेषे च जतजा गाविति विज्ञेयम् ॥ [उ० जा० ६]

उपजातेरष्टमप्रभेदस्य आर्द्रानामकस्य '।ऽऽ।' इत्येवं स्थापितस्योदाहरणं यथा-

"दिवाकराद् रक्षति यो गुहासु, लीनं दिवा भीतमिवान्धकारम् ।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने, ममत्वमुच्चैःशिरसां सतीव ॥"

[कु० सं० १।१२]

यः- हिमालयः, दिवा- दिवसे भीतमिव- त्रस्तमिव, गुहासु- कन्दरासु, लीनं- छन्नम्, अन्धकारं- तमः, दिवाकरात्- सूर्यात्, रक्षति- स्थापयति, शरणं- स्वाश्रयं, प्रपन्ने- प्राप्ते, समागते, क्षुद्रेऽपि- नीचेऽपि जने, उच्चैःशिरसां- उन्नतमस्तकानां जनानां, सतीव- सज्जन इव, ममत्वम्- आत्मीयताबुद्धिः । अस्य तथा गूढा गुहाप्रदेशाः सन्ति यत्र दिवसेऽपि अन्धकारस्तिष्ठत्येवेति विशेषार्थः, शरणागतस्य क्षुद्रस्यापि रक्षणं समुन्नता जनाः कुर्वन्त्येवेति सामान्येन समर्थितः । अत्र प्रथम-चतुर्थयोः पादयोर्जतजा गौ, द्वितीय-तृतीययोश्च तौ जो गाविति विवेकः ॥ उ० जा० ६ ॥

अथोपजातेर्दशमप्रभेदस्य भद्रानामकस्य 'ऽ।ऽ।' इत्येवं स्थापितास्योदाहरणं यथा–

"अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा, हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य, स्थितः पृथ्व्या इव मानदण्डः ।।"

[कु० सं० १।१]

उत्तरस्यां दिशि देवतात्मा– देवस्वरूपः, पूर्वापरौ– प्राच्य-पाश्चात्यौ, तोयनिधी– समुद्रौ, वगाह्य– तयोरवगाहनं कृत्वा, स्थितः– मध्ये वर्तमानः, पृथ्व्याः– भूमेः, मानदण्डः– परिमाणकाण्ड इव, हिमालयो नाम नगाधिराजः– गिरीशः, अस्तीत्यर्थः । अत्र प्रथम-तृतीययोः– तौ जो गौ; द्वितीय-चतुर्थयोश्च जतजा गौ इति विवेकः । भद्रैव पिङ्गलछन्दःसूत्रे आख्यानकी कथिता, "आख्यानकी तौ ज्गौ ग्, ज्तौ ज्गो ग्" [पि० सू० ५।३७] इति सूत्रेण 'यस्याः प्रथमे पादे तौ जो गौ, द्वितीये पादे ज-तजा गौ, च पूर्वार्धे, एवमुत्तरार्धेऽपि सा आख्यानकी ज्ञेयेति तदर्थः [उ० जा० ६] ।। उपजातेरेकादशभेदस्य प्रेमानामकस्य '।।ऽ।' इत्येवं स्थापितस्योदाहरणं यथा–

"अनन्तरत्नप्रभवस्य तस्य, हिमं न सौभाग्यविलेपि जातम् ।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते, निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ।।"

[कु० सं० १।३]

अनन्तरत्नप्रभवस्य– असंख्यमणिसमुद्भवस्थानस्य, तस्य– हिमवतः, हिमं– तुषारः, सौभाग्यविलोपि– सुभगत्वनाशकं, न जातं– नाभवत्, हि-यतः, इन्दोः– चन्द्रस्य, किरणेषु– रश्मिषु, अङ्कः– लाञ्छनम् इव, गुणसन्निपाते– गुणसङ्घे, एकादोषः निमज्जति– प्रतीतिविषयतां न गच्छति न गण्यते वा । अतिशैत्यसत्वेऽपि हिमालय स्पृहणीय एवेति भावः । अत्र पूर्वऽर्धेचतुर्थे च पादे उपेन्द्रवज्रायाः तृतीये इन्द्र वज्रायाः न्यासः [उ० जा० ११] ।। उपजाते द्वादशप्रभेदस्य रामानामकस्य ऽऽ।। इत्येवं स्थापनीयस्योदाहरणं यथा–

यश्चाप्सरोविभ्रमण्डनानां, सम्पादयित्रीं शिखरैर्बिभर्त्ति ।
बलाहकच्छेदविभक्तरागा– मकालसंध्यामिव धातुमत्ताम् ।।

[कु० सं० १।४]

यश्च हिमालयः, अप्सरोविभ्रममण्डनानाम्– अप्सरसां विभ्रमार्थं– वि-

लासार्थं, यानि मण्डनानि- प्रसाधनानि, तेषां सम्पादयित्रीं- पूरयित्रीं, बलाहकच्छेदविभक्तरागां- बलाहकस्य- मेघस्य, ये छेदाः- खण्डनानि, तैर्विभक्तः- मध्ये च्छिन्नः, रागो- वर्णो यस्यास्तादृशीम्, अत एव अकाल-सन्ध्यामिव- सायंकालातिरक्तकाले, जातां सन्ध्यामिव, धातुमत्तां- धातवः- स्वर्णादयः, सन्ति यस्य तस्य भावस्तत्तां, बिभर्ति- धारयति। विलासार्थमागतानामप्सरसां कृते मण्डनसाधनानि तत्र सुलभानीति भावः। अत्र पूर्वार्धे तौ जो गौ, उत्तरार्धे जतजा गावितिं विवेकः॥ उ० जा० १२॥

त्रयोदशप्रभेदस्य 'ऋद्धि'नामकस्य 'ऽऽ।।'इत्येवं स्थापनीयस्योदाहरणं यथा-

प्रसन्नदिक् पांसुविविक्तवातं, शङ्खस्वनानन्तरपुष्पवृष्टि।
शरीरिणां स्थावरजङ्गमानां, सुखाय तज्जन्मदिनं बभूव॥

[कु० सं० १।२३]

प्रसन्नदिक्- प्रसन्नाः- प्रकाशा दिशो यस्मिन् तत्, पांसुविविक्तवातं- पाँसुभिः- धूलिभिः, विविक्ताः- रहिता वाता यस्मिँस्तत्, शङ्खस्वनानन्तरपुष्पवृष्टि- शङ्खस्वनस्य- कम्बुशब्दस्य, अननन्तरम्- अव्यवहितपश्चात्, पुष्पवृष्टिः- कुसुमवर्षणं यत्र तत्, तज्जन्मदिनं- पार्वत्या जन्मदिवसः, स्थावर-जङ्गमानां- जडचेतनानां, शरीरिणां- देहिनां, सुखाय- आनन्दाय, बभूवेत्यर्थः। अत्र द्वितीये पादे तौ जो गौ, अन्यत्र जतजा गावितिं विवेकः॥ उ० जा० १३॥

चर्तुदशप्रभेदस्य बुद्धिनामकस्य 'ऽ।।ऽ' इत्येवं स्थापनीयस्योदाहरणं यथा-

अत्रोपजातिर्विविधा विदग्धैः, प्रयोज्यते तु व्यवहारकाले।
अतः प्रयत्नः प्रथमं विधेयो, भूपेन पुंरत्नपरीक्षणाय॥ भट्ट हलायुधः॥

अत्र काव्यमार्गे, व्यवहारकाले- क्रयविक्रयव्यवहारे [च] विदग्धैः- चतुरैः, विविधा- अनेकप्रकारा, उपजातिः- संकरजातिः [मण्यादेरपि सङ्करजातिर्भवति] प्रयोज्यते- व्यवह्रियते, अतः, भूपेन- राज्ञा, पुंरत्नपरीक्षणाय- पुरुषरत्नपरीक्षार्थं, प्रयत्नः- प्रयासः, प्रथमं- सर्वतः पूर्वं विधेयः- कर्तव्यः। यथा काव्यमार्गे छन्दःसु विविधा उपजातयो भवन्ति तथा मणिष्वपि भवन्तीति किं पुंरत्नम्, किंस्त्रीरत्नमिति, सम्यक् परीक्ष्य नृपैस्तत्संग्रहः कार्य इति भाव। अत्र प्रथम-चतुर्थयोः पादयोरिन्द्रवज्रा, द्वितीय-तृतीययोश्चो पेन्द्रवज्रेति विन्यासः॥ उ० जा० १४॥

इत्थमेकादशाक्षरपादयोरिन्द्रवंशोपेन्द्रवंशयोः सङ्करे यथा उपजातश्चतुर्दश तथैव द्वादशाक्षरपादयोरिन्द्रवंशा-वंशस्थयोरपीति वृत्तौ प्रोक्तमेव, तदीया अपि दशभेदा ग्रन्थान्तरात् संगृह्य कथ्यन्ते। अत्रापि चतुष्पादप्रस्तारस्य पूर्व एव क्रमः, द्विमात्रचिन्हेनेन्द्रवंशापादः, एकमात्रचिन्हेन वंशस्थपाद इत्यवगन्तव्यम्। तत्र 'ऽ।।' एवं स्थापितस्य प्रथमस्य भेदस्योदाहरणं यथा-

किं ब्रूथ रे व्योमचरा महासुराः, स्मरारिसूनुप्रतिपक्षवर्तिनः।
मदीयबाणव्रणवेदना हि साऽधुना कथं विस्मृतिगोचरी कृता ।।

[कु० सं० १५।४०]

रे! स्मरारिसूनुप्रतिपक्षवर्त्तिनः-स्मरारिसूनोः-कार्तिकेयस्य, प्रतिपक्षे-सपक्षे, [अन्यत्र प्रतिपक्षशब्दस्य विपक्षपरत्वेन- प्रतिकूलः पक्ष इति व्युत्पत्तिमनुसृत्य प्रयोगेऽपीह न तदर्थे प्रयोगेऽपि तु प्रतिगतः पक्षमिति प्रतिपक्षोऽनुकूल एव] वर्तन्त इति तादृशाः, महासुराः- महान्तो देवाः ! व्योमचराः ? आकाशस्थिता भवन्त किं ब्रूथ ?- किं कथयथ, सा- प्रसिद्धा, मदीयबालव्रणवेदना- मदीयबाणैः कृतानां व्रणानां वेदना, अधुना- सम्प्रति, कथं- केन प्रकारेण, विस्मृतिगोचरीकृता- विस्मृति पथमानीतेत्यर्थः। कार्तिकेयेन स योद्धुमागतं तारकं प्रति देवैः 'त्यजाशु गर्वाम्' इत्यादि कथितम्, तदुत्तरे प्रतिवचनमिदमिति तदनुरूपमेव व्याख्यातम्। अत्र प्रथमे तौ ज्रौ, शेषेषु ज्तौ ज्रावित्युभयोः संकरः ।। जगत्युपजाति० १ ।।

द्वितीयोभेदः 'ाऽ।।' स्थापितश्चेत् तस्योदाहरणं यथा-

पुरोगतं दैत्यचमू महार्णवं, दृष्ट्वाभितश्चुक्षुभिरे महासुराः।
स्मरारिसूनोर्नयनैककोणके ममुर्महास्तस्यरणेऽवेहलया ।। [कु० सं० १५]

महासुराः- महान्तो देवाः, पुरोगतम्- अग्रतः स्थितम् दैत्यचनूमहार्णवं- दैत्यसेनासमुद्रं, दृष्ट्वा- अवलोक्य, अभितः- सर्वतः, चुक्षुभिरे- कम्पिताः। भहाः- रिपुसैन्यानि, तस्य स्मरारिसूनोः- कार्तिकेयस्य, नयनैकोणके- नेत्रस्यैकस्मिन् प्रान्तभागे अवहेलया- तुच्छहृष्टया, ममुः- मिताः। यान् मटान् दृष्ट्वा देवा भीताः, तान्, अनादरेण नेत्र कोणेन दृष्ट्वैव कार्तिकेयस्तिरश्चकारेत्यर्थः। अत्र प्रथम-तृतीय-चतुर्थां पादा वंशस्थस्य द्वितीय इन्द्रवंशाया इति सङ्करः ।। जगत्युपजाति-२ ।।

तृतीयः प्रभेदः 'ऽऽ।' एवंस्थापितश्चेत् ? तस्योदाहरणं यथा–

निम्नाः प्रदेशाः स्थलतामुपागमन्, निम्नत्वमुच्चैरपिसर्वतश्चते। तुरङ्गमाणां व्रजतां खुरैः क्षताः, रथैर्गजेन्द्रैः परितः समीकृताः ॥ कु० सं० १४।४४ ॥ [देवसेनाप्रयाणसमये] व्रजतां– गच्छतां, तुरङ्गमाणाम्– अश्वानां, खुरैः क्षताः, उच्चैः प्रदेशाः सर्वतः, निम्नत्वं– निचैस्त्वम्, उपागमन्– प्राप्ताः, रथैः, गजेन्द्रैः, परितः– सर्वतः, समीकृताः– निम्ना नीचाः प्रदेशाः, स्थलतां– समभूमित्वम्, उपागमन् इत्यर्थः। उच्चैःस्थानस्य खुराघातान्समत्वं नीचैःस्थानस्य च रथगजैः पूरणात् समत्वं जातमिति भावः। अत्र पूर्वोत्तरार्धयोः वंशस्थस्येति सङ्करः ॥ जगत्युपजाति० ३ ॥

चतुर्थः प्रभेदः, '।।ऽऽ' इत्थं स्थापितश्चेत् ? तस्योदाहरणम्–

परस्परं वज्रधरस्य सैनिकाः, द्विषोऽपि योद्धुं स्वकरोद्धतायुधाः।
वैतालिक श्रावितमानसत्क्रमा–भिधानमीयुर्विजयैषिणो रणे ॥

॥ कु० सं०१५।५२ ॥

योद्धुं– युद्धं कर्तुं, स्वकरोद्धृतायुधाः– स्वकरैः स्वहस्तैः, उद्धृतानि– धारितानि, आयुधानि यैस्तथाभूताः, वज्रधरस्य– इन्द्रस्य, सैनिकाः, द्विषः– शत्रोस्तारकस्यापि [सैनिकाः] विजयेषिणः– स्वस्वविजयमिच्छन्तः, वैतालिकश्रावितमानसत्क्रमाभिधानं– वैतालिकैः– स्वस्वचारणैः, श्रावितानि– श्रुतिपथं नीतानि, मानश्च सत्क्रमश्चेति भानसत्क्रमौ, तयोरभिधानानि– वार्ताः यस्मिन् तद् यथा स्यात् तथा, परस्परम्– अन्योन्यं प्रति, ईयुः– संगतानीत्यर्थः। अत्र प्रथम-द्वितीय-चतुर्थपादा वंशस्थस्य, तृतीय इन्द्रवंशायाः इति स्पष्टम् ॥ जगत्युपजातिः ४ ॥

पञ्चमः प्रभेदः 'ऽ।ऽ' इत्थं स्थापितश्चेत् तदा तस्योदाहरणम्–

ऊर्ध्वीकृतास्या रविदत्तदृष्टयः, समेत्य सर्वे सुरविद्विषः पुरः।
श्वानः स्वरेण श्रवणान्तशातिना मिथो रुदन्तः करुणेन निर्ययुः ॥ कु० सं० १५।२४ ॥ [तारकासुरस्य युद्धयात्राप्रसंङ्गेऽपशुकनप्रस्तावे पद्यमिदम्] ऊर्ध्वीकृतास्याः– आकाशोन्मुखाः, रविदत्तदृष्टयः– सूर्यावलोकिनः, मिथः– परस्परं, करुणेन– शोकेन, श्रवणान्तशातिना– कर्णान्तकष्टप्रदेन, स्वरेण– बुक्कनेन सह, रुदन्तः– अश्रु विसृजन्तः, सर्वे श्वानः– कुक्कराः, सुरविद्विषः– सुरारेस्तार-

कस्य, पुरः- अग्रे, समेत्य- आगत्य, निर्ययुः- [वामेन] निष्क्रान्ताः । अत्र प्रथम-तृतीययोः पादयोरिन्द्रवंशा शेषयोश्च वंशस्थम् ॥ जगत्युपजा० ५ ॥

षष्ठः प्रभेदः 'ऽऽऽ।' इत्थं स्थापितश्चेत् तस्योदाहरणम्-

अभ्याजतोऽभ्यागततूर्णतर्णकान्, निर्याणहस्तस्य पुरो दुधुक्षतः ।
वर्गाद् गवां हुंकृतिचारुनिर्यतीमरिर्मधोरैक्षत गोमतालिकाम् ॥ [शिशुपाल-वधे १२।४१] द्वारकां गच्छतः श्रीकृष्णस्य यात्रायां शुभशकुनवर्णनप्रसङ्गे- पद्यमिदम्, मधोः- तन्नामकस्य दैत्यस्य, अरिः- शत्रुः, श्रीकृष्णः, अभ्यागततूर्ण-तर्णकान्- दोहनसमये दोग्धारं दृष्ट्वा साम्प्रतमयं पयः पाययिष्यतीति प्रत्यांशया, अभ्यागताः- अभिमुखमुपगताः, तूर्णाः- त्वरया युक्ता ये तर्णकाः- वत्सास्तान्, अभ्याजतः- गोरभिमुखं प्रेरयतः, निर्याणहस्तस्य- बन्धनरज्जुकरस्य, दुधुक्षतः- गां दोग्धुमिच्छतः, पुरुषस्य, पुरः- अग्रे, गवां वर्गात्- समूहात्, [निःसृत्य] हुंकृतिचारु- हुमित्यव्यक्तमधुरो वत्सं प्रति स्नेहप्रकाशकः शब्दः, तत्करणेन चारु-सुन्दरं यथा स्यात् तथा, निर्यतीं- दोहनस्थानमागच्छन्तीं, गोमतल्लिकां- श्रेष्ठां गाम्, ऐक्षत- अपश्यदित्यर्थः । अत्र पादत्रये तौ ज्रौ, चतुर्थे ज्तौ ज्रौ इति संकरः ॥ जगत्युपजाति-६ ॥

सप्तमो भेदः '।ऽऽ।' इत्थं स्थापितश्चेत्? तस्योदाहरणम्-

न जामदग्न्यः क्षयकालरात्रिकृत्, स क्षत्रियाणां समराय वल्गति ।
येन त्रिलोकी सुभटेन तेन ते, कुतोऽवकाशः सह वि ग्रहग्रहे ॥
[कु० सं० १५।३७]

कार्तिकेयेन सह योद्धुमायान्तं तारकं प्रति देवानामुक्तिरियम् । क्षत्रियाणां क्षयकालरात्रिकृत्- क्षयार्था कालरात्रिः- कृष्णपक्षीया चतुर्दशीरात्रिः- क्षय-कालरात्रिः, तां करोतीतितच्छीलः, जामदग्न्यः- परशुरामः, येन कार्तिकेयेन सह समराय- युद्धं कर्तुं, न वल्गति- न प्रौढीभवति, त्रिलोकी, सुभटेन- त्रयाणां लोकानां समाहारः- त्रिलोकी, तस्यां सुभटेन- सर्वतः प्रधानेन वीरेण, तेन- कार्तिकेयेन सह, विग्रहग्रहे- युद्धस्वीकारे, ते- तव क्षुद्रदैत्यस्य, कुतः- केन हेतुना, अवकाशः- संभावनेत्यर्थः । सर्वक्षत्रियान्त कृतः परशुरामस्यापि जेताऽयमित्यनेन सह का तव युद्धकथेति भावः । अत्र प्रथमे चतुर्थे च पादे वंश-स्थलक्षणम्, द्वितीये तृतीये चेन्द्रवंशालक्षणमित्येतयोः संङ्करः ॥ जगत्युपजा-७ ॥

अष्टमः प्रकारः 'ा।।ऽ' इत्थं स्थापितश्चेत् ? तस्योदाहरणम्–

निवार्यमाणैरभितोऽनुयायिभि-र्ग्रहीतुकामैरिव तं मुदुर्मुहुः ।
अपाति गृध्रैरभिमौलि चाकुलै-र्भविष्यदेतन्मरणोपदेशिभिः ॥

[कु० सं० १५।२६]

कार्तिकेयेन सह योद्धुं गच्छतस्तारकासुरस्य मार्गेऽपशुकनवर्णनप्रस्तावे पद्यमिदम् । अनुयायिभिः– तारकानुचरैः, अभितः– सर्वतो दिशि, निर्वार्यमाणैः– परिह्रियमाणैः, मुहुर्मुदुः– वारंवारं, तं– तारकं, ग्रहीतुकामैः– ग्रसितुमिच्छद्भिः, इव, आकुलैः– व्यग्रैः, भविष्यदेतन्मरणोपदेशिभिः– भविष्यत् एतस्य मरणमुपदिशन्ति– सूचयन्तीति तच्छीलैः, गृध्रैः, अभिमौलि– तारकमस्तकाभिमुखम्, अपाति– पतितमित्यर्थः । अत्रादितः पादत्रये वंशस्थलक्षणं, चतुर्थे पादे चेन्द्रवंशालक्षणमिति तयोः सङ्करः ॥ जगत्युपजाति–८ ॥

नवमः प्रभेदः 'ऽ।।ऽ'इत्थं स्थापितश्चेत् ? तदा तस्योदाहरणम्–

खातं खुरै रथ्यतुरङ्गपुङ्गवै-रुपत्यकानां कनकस्थलीरजः ।
गतं दिगन्तान् प्रखरैः समीरणैर्दाहभ्रमं भूरि बभार भूयसा ॥

[कु० सं० १४।२०]

देवसेनायाः प्रस्थानकालिकं वर्णनमिदम् । रथ्यतुरङ्गपुङ्गवैः– रथे युक्ता–रथ्याः, ये तुरङ्गपुङ्गवाः– अश्वश्रेष्ठाः, अथवा तुरङ्गाः– अश्वाः, पुङ्गवाः– वृषाश्च तैः, खुरैः,– चरणनखैः, खातं– विदारितं, भूरि– अधिकतरम्, उपत्यकानां– पर्वतोर्द्धभूमिसम्बन्धि, कनकस्थलीरजः– सुवर्णमयभूमिपांसुः, प्रखरैः– तीव्रैः, समीरणैः– वायुभिः, दिगन्तान्– सर्वदिक्प्रान्तभागान्, गतं– व्याप्तं सत्, भूयसा– बाहुल्येन, दाहभ्रमं– दिग्दाहभ्रान्ति, बभार– पुपोषेत्यर्थः । अत्र प्रथम-चतुर्थयोः पादयोरिन्द्रवंशाया द्वितीय– चतुर्थयोश्च वंशस्थस्य लक्षणमिति तयोः सङ्करः ॥ जगत्युपजातिः–९ ॥

दशमः प्रभेदः 'ाऽऽ' इत्थं स्थापितश्चेत् तस्योदाहरणं यथा–

नितान्तमुत्तुङ्गतुरङ्गहेषितै-रुद्दामदानद्विपबृंहितैः शतैः ।
चलद्ध्वजस्यन्दननेमिनिः– स्वनै-श्चाभून्निरुच्छ्वासमथाकुलं नभः ॥

[कु० सं० १४–४१]

तारकेण सह युद्धाय गच्छति देवसैन्ये जातायाः स्थितेर्वर्णनमिदम् । नितां-

न्तम्– अत्यन्तं, उत्तुङ्गतुरङ्गहेषितैः– अत्युच्चाश्वशब्दैः, शतैः– अनन्तैः, उद्दामदानद्विपबृंहितैः– उद्दामं निरतिशयप्रवृत्तं, दानं– मदो येषां तादृशा ये द्विपाः– हस्तिनः, तेषां बृंहितैः– गर्जितैः, चलद्ध्वजस्यनन्दननेमिनिःस्वनैः– चलन्तः– कम्पमाना ध्वजा येषां तादृशानि, यानि स्यन्दनानि तेषां नेमिनिःस्वनैः– चक्रप्रान्तभागशब्दैः, नभः– आकाशं, निरुच्छ्वासं– निरवकाशम्, अथ– किञ्च, व्याकुलं– व्याप्तं, अभूदित्यर्थः। अत्र प्रथम-तृतीयोः पादयोः वंशस्थम्, द्वितीय-चतुर्थयोश्च पादयोरिन्द्रवंशाच्छन्द इति तयोः सङ्करः ॥ जगत्युपजातिः–१० ॥

एकादशः प्रकारः 'ऽऽ।ऽ' इत्येवं स्थापितश्चेत् तस्योदाहरणं यथा–

श्रुत्वेति वाचं वियतो गरीयसीं, क्रोधादहङ्कारपरो महासुरः।
प्रकम्पिताशेषजगत्रयोऽपि स-न्नाकम्पतोच्चैर्दिवमभ्यधाच्च सः ॥

[कु० सं० १५।३९]

उभयोः पक्षयोः सेनासु परस्परं सन्नद्धासु देव कृते भर्त्सने तदुत्तरदानाय तारकस्योद्यतस्यावस्थावर्णनम्। वियतः– आकाशात्, इति– पूर्वोक्तां वाचं श्रुत्वा, क्रोधात्– कोपात्, अहङ्कारपरः– गर्वोन्मुखः, महासुरः– तारकः, प्रकाम्पिताशेषजगत्रयः– प्रकम्पितं भीषितम्, अशेषं– सम्पूर्णं, जगत्रयं येन तथाभूतः सन्नपि, उच्चैः– अतिशयम्, आकम्पत– अभैषीत्, दिवम्– आकाशं प्रति, अभ्यधात् च– अब्रवीच्चेत्यर्थः। अत्र प्रथम-तृतीय-चतुर्थेषु पादेषु इन्द्रवंशायाः, तृतीये वंशस्थस्य च लक्षणमिति तयोः सङ्करः ॥ जगत्युपजातिः–११ ॥

द्वादशो भेदः '।।ऽऽ' इत्येवं स्थापितश्चेत् तस्योदाहरणं यथा–

कटुस्वरैः प्रालपताम्बरस्थिताः, शिशोर्बलात् षड्दिनजातकस्य किम्।
श्वानः प्रमत्ता इव कार्तिके निशि, स्वैरं वनान्ते मृगधूर्तका इव ॥

[कु० सं० १५।४५]

देवानां वचनं श्रुत्वा तारक उवाच– हे अम्बरस्थिताः– आकाशवर्तिनः, षड्दिनजातकस्य– षड् दिनानि जातस्य यस्य स षड्दिनजातः, स एव षड्दिनजातकः, तस्य, शिशोः– कार्तिकेयस्य, बलात्, कार्तिके निशि– कार्तिकमासीयरात्रौ प्रमत्ताः– श्वानः– कुक्कुरा इव, वनान्ते– वनमध्ये, मृगधूर्तकाः– शृगाला इव, स्वैरं– यथेच्छं, कटुस्वरैः किं प्रालपथ– प्रलापं कुरुथेत्यर्थः।

अत्र प्रथमार्धे वंशस्थलक्षणमुत्तरार्धे इन्द्रवंशालक्षणमिति तयोः सङ्करः ॥ जगत्युपजातिः–१२ ॥

त्रयोदशः प्रकारः 'ऽ।ऽऽ' इत्येवं स्थापितश्चेत् तस्योदाहरणम्–

पद्मैरनन्वीतवधूमुखद्युतो, गता न हंसैः श्रियमातपत्रजाम् ।
दूरेऽभवन् भोजबलस्य गच्छतः, शैलोपमातीतगजस्य निम्नगाः ॥ शिशुपालवध–१२–६१ ॥

शैलोपमातीतगजस्य– पर्वत सादृश्यातिक्रान्तहस्तिनः, गच्छतः– चलतः, भोजबलस्य– भोजराजसैन्यस्य, पद्मैः,– स्वीयकमलैः, अनन्वीत– वधूमुखद्युतः– अननुगतबलान्तर्गतवनिताकान्तस्यः, हंसैः– स्वचारिभिः कलहंसैः, आतपत्र जां– छत्रसम्बन्धिनीं, श्रियं– शोभां, न गताः– न प्राप्ताः, निम्नगाः– नद्यः, दूरेऽभवन्–दूरं प्रसृताः । अयं भावः– भोजराजबले याः भद्दानां स्त्रियस्तासां मुखेन नद्याः पद्मानि निर्जितानि, छत्रैर्हंसा निर्जिताः, गजैः शैला निर्जिता इति भीत्या नद्यः पलायिता इति सैन्यानि सुखेन पारं गतानीति । अत्र प्रथम-तृतीय-चतुर्थेषु पादेषु इन्द्रवंशालक्षणाम्, द्वितीये च वंशस्थलक्षणमिति तयोः सङ्करः ॥ जगत्युपजातिः–१३ ॥

चर्तुदशप्रकारस्य 'ऽ।ऽऽ' इत्येवं स्थापितस्योदाहरणं यथा–

महाचमूनामधिपाः समन्नतः, सन्नह्य सद्यः सुतरामुदायुधाः ।
तस्थुर्विनम्रक्षितिपालसङ्कुले तस्याङ्गणद्वारि बहिः प्रकोष्ठके ॥
[कु० सं० १५।६]

तारकस्य प्रमाणसमये सुतराम्– अत्यन्तम्, उदायुधाः– उद्यतशस्त्राः, महाचमूनामधिपाः– महासेनापतयः, समन्ततः– सर्वतः, संनहय– सज्जीभूय, विनम्रक्षितिपालसङ्कुले– नम्रीभूतै राजभिर्व्याप्ते, तस्य– तारकस्य, अङ्गणद्वारि– अजिरद्वारभूमौ, बहिःप्रकोष्ठके– बाह्यालिन्दे, तस्थुः– स्थिता इत्यर्थः । अत्र प्रथमे पादे वंशस्थम्, द्वितियादिषु इन्द्रवंशेति तयोः सङ्करः ॥ जगत्युपजातिः–१४ ॥

अत्र समवृत्तप्रकरणे विषमवृत्तस्योपजातेश्चर्चा किमर्थमित्याशङ्कायामाह– **समवृत्तप्रस्तावेऽप्युपजातीनामुपन्यासो लाघवार्थः** इति । अयमाशयः– नेयमुपजातिः सर्वथा विषमवृत्तं, किन्तु समाक्षराणां सजातीयातामेव सङ्कररूपेति

समवृत्तत्वमप्यत्रास्त्येव, तथापि यद्यस्या विषमवृत्तत्वापृहस्तर्हि लाघवार्थः- लघुनोपायेन तदुपदेशार्थं एवेह समवृत्तप्रस्तावे तदीयविचारोऽवसेयः, पृथगीदृशच्छन्दसो विचारे हि प्रकरणान्तरनिर्माणगौरवं स्यात्, भवेच्च प्रयत्नाधिक्यमिति तत्परिहारायैवात्र तदुपन्यास इत्यर्थः ॥ अ० २, सू०-१५६ ॥

सर्वजातीनामपीति वृद्धाः ॥१५७॥

सर्वजातीनांमुक्तादीनां प्रायो गायत्र्यादीनां मितः परासां जगत्यादीनां कृतनाकृतनामविसदृशप्रस्तारारूपस्वस्वपादानां स्वल्पभेदानां सङ्कर उपजातिरिति बहुश्रुताः प्राहुः । यथा त्रिष्टुभः स्वप्रस्तारेण-

कामे कमाहि कमियं खु दुक्खं, छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं ॥ १५७.१ ॥ तथा-सक्कारए सिरसा पंजलीओ, कायग्गिरा मो मणसा य निच्चं ॥१५७.२॥ परजातिप्रसारेण यथा- युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः, स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखा । मद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे, मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च ॥ १५७.३ ॥ जे आवि मंदेत्ति गुरुं विइत्ता, डहरे इमे अप्पसुएत्ति नच्चा ॥ १५७.४ ॥ ११।३० ॥

इत्थं सजातीयानामेव सङ्करस्योपजातित्वं स्वमेतनोक्त्वा विजातीयवृत्तानामपि संकर उपजातिरिति केषांचित्- प्राचां मतमुपन्यस्यति- **सर्वजातीनामपीति वृद्धाः** इति । सूत्रं विवृणोति- **सर्वजातीनामित्यादिना** । सर्वजातीनामित्यस्यैव व्याख्यानम्- **उक्तादीनामिति** । उक्तादयः सुप्रतिष्ठान्ता जातयो न विशेषतो व्यवहारगोचरा इति मनसिकृत्याह- **प्रायो गायत्र्यादीनामिति**- ततः प्रारभ्यैव छन्दसां काव्यादिषु व्यवहारस्य दर्शनादिति भावः । मध्येऽस्य विचारस्य प्रस्तुतत्वात् किं गायत्र्या आरभ्य त्रिष्टुप्पर्यन्तानामेव सङ्करविषयेऽयं विचार उत परतो वर्णितानामपीति शङ्कामपनुदन्नाह- **इतः परासां जगत्यादीनामिति**- इतः परासामपि जगतीमारभ्य उत्कृतिपर्यन्तानां जातीनामिह सर्वजातीनामित्यनेन सङ्ग्रह इति भावः । ननु सर्वजातीनां प्रस्तारप्राप्ताः सर्वे भेदा नात्र नामधारं कथिता इति कथितानामेवेह ग्रहणमुताकथितानामपीत्याकाङ्क्षायामाह- **कृतनामाकृतनामविसदृशप्रस्तारारूपस्व-स्वपादानामिति**- कृतं निर्धारितं नाम येषां ते कृतनामानः, न कृतं नाम येषां तेऽकृतना-

मानः, एवं- विसदृशप्रस्तारूपाः परस्परभिन्नस्थापनाक्रमरूपाः स्वस्वपादा येषां तेषामित्यर्थः। किं गायत्र्या सह उत्कृत्या अपि सङ्करोऽभिमत इत्याशङ्क्यायामाह- **स्वल्पभेदानामिति**- नहि षडक्षरपादया गायत्र्या सह षड्विंशत्यक्षरपादाया उत्कृतेस्तत्सदृशाया वा अन्यस्या बहुभेदवत्या जातेः सङ्कर इह ग्राह्योऽपि तु स्वल्पभेदानामेवेति, तथा चैकैकाक्षरैर्न्यूनाधिकानामेव सङ्करो ग्राह्यो न तु बहुभिरक्षरैर्न्यूनाधिकानामिति पर्यवसितम्। वृद्धा इत्यस्यार्थमाह- **बहुश्रुता** इति- तथा च नात्र वयसा वृद्धत्वं ममामिप्रेतं, नवीना अपि श्रुतानेकपूर्वाचार्यव्यवहारा इह वृद्धा इत्युक्ता इति भावः।

अथ समजातेर्विसदृशस्वप्रस्तारस्योपजातिमुदाहरति- **यथा- त्रिष्टुभः स्वप्रस्तारेणेति**- एकादशाक्षरवृत्तजातेरेकादशाक्षरेणान्येनाकृतनाम्ना सह संकरो यथेत्यर्थः। **कामे कमाहिं** इति दशवैकालिकसूत्रस्य द्वितीयाध्ययनगतपञ्चमगाथायाश्चरणद्वयमिदम्, सम्पूर्णगाथा चेत्थम्- आयावयाहि चय सोगमल्लं, कामे कमाहि कमियं खु दुक्खं।

छिंदाहि दोसं विणइज्जरागं, एवं सुही होहिसि संपराए॥

ग्रीष्मे आतपनां गृहाण, त्यज सुकुमारताम्, कामान् अतिक्राम, क्रमितं खलु दुःखम्, एवं सुखी भविष्यसि सम्पराये, इति भावः। अत्र प्रथमः पादस्त्रिष्टुब्जातीयोऽप्यकृतनामा, द्वितीयस्तु इन्द्रवज्राया इति विज्ञेयम्॥ १५७।१॥

एवमुदाहरणान्तरमप्याह- **सक्कारए सिरसेति**- सत्कारय शिरसा प्राञ्जलिकः कायेन गिरा भो मनसा च नित्यमितिच्छाया। अत्रापि प्रथमः पादोऽकृतनामा, द्वितीयश्च-इन्द्रवज्राया इति त्रिष्टुभ एवात्र सङ्करः॥ १५७।२॥

इत्थं सजातीयप्रस्तारेण सङ्करमुदाहृत्य विजातीयप्रस्तारेण सङ्करमाह- **परजातिप्रस्तारेण यथेति। युधिष्ठिर** इति-युधिष्ठिरः- प्रथमः पाण्डवः, धर्ममयः- धर्मप्रचुरः, धर्मस्वरूपो वा, महाद्रुमः, अर्जुनः- मध्यमपाण्डवः, अस्य- वृक्षस्य, स्कन्धः- मूलशाखा, भीमसेनः- द्वितीयः पाण्डवः, अस्य वृक्षस्य शाखा- अचान्तरविटपः, माद्रीसुतौ- नकुल-सहदेवौ [अस्य] समृद्धे पुष्पफले, कृष्णः, ब्रह्म, ब्राह्मणाश्च [अस्य] मूलमित्यन्वयः। अत्र प्रथमे पादे व'शस्थम्, स्कन्ध इति द्वितीये पादे लयग्राही, तृतीये इन्द्रवज्रा, चतुर्थे च शालिनीति छन्दश्चतुष्टयस्य सङ्करः॥ १५७-३॥

प्राकृतेऽपि परजातिप्रस्तारेण सङ्करं दर्शयति– जे आवि मंदेत्ति– 'यश्चापि मन्देति गुरुं विदित्वा बाला इमे अल्पश्रुता इति ज्ञात्वा' इतिच्छाया। अत्र च प्रथमे पादे इन्द्रवज्रायाः, द्वितीये च वक्ष्यमाणंकेकिरवच्छन्दः। इत्थं च प्राचां मतेन परजातीयसङ्करेणापि उपजातिप्रयोगः आगमपुराणादिप्रसिद्ध इति दर्शितम्। भट्ट हलायुधस्तु पिङ्गलच्छन्दः– शास्त्रवृत्तौ स्वल्पभेदानामेकजातीयच्छन्दसामेव सङ्करस्योपजातित्वमिति षष्ठेऽध्याये प्रतिपादितवान्। तट्टिपणीकृता च भिन्नजातीनामपि सङ्कर इति नव्यमतत्वेन प्रतिषाद्य– "वस्तुतस्तु सर्वैरपिच्छन्दः– शास्त्रकारैरुपजातेः समवृत्ताधिकार एवाम्नानात् विषमाक्षरवृत्तमिश्रणस्याप्युपजातित्वेऽर्धसमविषमवृत्तेष्वतिव्याप्तेः "अत्रानुक्तं गाथा" [पिङ्गलसूत्र० ८।१] इति सूत्रवैयर्थ्यप्रसङ्गात्, छन्दोभङ्गदोषस्य निर्विषयत्वापत्तेश्च समाक्षरयोर्द्वयोर्मिश्रणमेवोपजातित्वमिति युक्तम्। तथा च रत्नाकरे– "इत्थं किलात्यास्वपि मिश्रितासु स्मरन्ति जातिष्विदमेव नाम।" इति तल्लक्षणे इत्थं पदप्रयोगोऽपि स्वरसतः सङ्गच्छते। + + + + अत एव माण्डूक्योपनिषद्भाष्ये–

"यो विश्वात्मा। विधिजविषयान् प्राश्य भौगान् स्थविष्ठान्,
पश्चाच्चान्यान् स्वमतिविभवान् ज्योतिषा स्वेन सूक्ष्मान्।
सर्वानेतान् पुनरपि शनैः; स्वात्मनि स्थापयित्वा,
हित्वा सर्वान् विशेषान् विगतगुणगणः पात्वसौ नस्तुरीयः॥"

इति शङ्करभगवत्पादीयश्लोके "न च चतुर्थपादे वृत्तलक्षणाभावादासाङ्गत्यमाशङ्कनीयं गाथालक्षणस्य तत्र सुसंपादत्वात्" इत्यानन्दज्ञानोक्तिः। + + + + भागवताद्युदाहरणानि त्वार्षत्वाल्लौकिके नातीवोपयुज्यन्ते। क्वचिल्लौकिके तथा दर्शनं तु दोष एवेति समाक्षरजाति[वृत्त?]द्वयमिश्रणमेवोपजातिरिति प्राचां मतमेव निर्बाधमिति प्रतिपादितम्॥ इत्थमेकादशाक्षरपादायास्त्रिष्टुब्जातेस्त्रिशद् भेदा उक्ताः। प्रस्तारगत्या तु २०२८ भेदा भवन्ति। तदुक्तं भरतेन– "त्रैष्टुभे द्वे सहस्त्रे च चत्वारिंशत् तथाष्ट च।" इति [भ.ना. शा. १४।५६.]॥

जगत्यां तौ ग्राविन्द्रवंशा ॥१५८॥

ततजराः। यथा– दारेषु सुग्रीवकपीश्वरस्य यद्, रागानुबन्धं सहसा व्यप-

श्चयः । तत् ते प्लवंगाधिपते ! किमुच्यते, हन्तेन्द्रवंशानुगुणं त्वया कृतम् ॥ १५८.१ ॥

अथ जगतीजातिच्छन्दसां लक्षणान्युपक्रमते– **जगत्यां तौ ज्राविन्द्रवंशेति,** **तौज्राविति** विशदयति– **ततजरा** इति– तगणद्वयं जगण-रगणौ च 'ऽऽ।ऽऽ।।ऽ।।ऽ।' इत्येवंरूपैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् इन्द्रवंशानामकं जगतीजाति-छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– दारेष्विति**– हे प्लवंगाधिपते!– वानेश्वर-बालिन् ! यत् सुग्रीवकपीश्वरस्य सुग्रीवनाम्नः स्वानुजस्य वानराधिपतेः, दारेषु– स्त्रियां, सहसा– हठात्, रागानुबन्धं– प्रणयसम्बन्धं, व्यपश्चयः– व्यतनोः, तत् ते– तुभ्यं, किमुच्यते– किं साधुतयाऽसाधुतया वा वर्ण्यते, हन्त– इति खेदे, त्वया इन्द्रवंशानुगुणम्-इन्द्रपुत्रत्वात् तदीयचरितानुरूपं, कृतं– विहितम् । त्वत्पि-तापि परदाररतत्वेन ख्यात इति तद्वंश्यस्त्वं तदनुरूपमेवाचरितवानसीति भावः । 'दा[ऽ]रे[ऽ]षु[।], सु[ऽ]ग्री[ऽ]व[।]क[।]पी[ऽ]श्व[।]र[ऽ]स्य[।], यत्[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–१५८ ॥

जतज्रा वंशस्थम् ॥१५९॥

यथा–पुरूरवो-नाहुषि-पूरवः पुरा, दधुर्धरां धारयतेऽधुना भवान् । अपूर्वमे-तच्चरितं न तावकं, वदन्ति वंशस्थमिदं महोपते! ॥ १५९.१ ॥ वसन्तमञ्जरी, अभ्रवंशा चेत्यन्ये ॥ १५९.१ ॥

द्वितीयं प्रभेदमाह– **जतज्रा वंशस्थमिति** । **जतज्रे**ति– जगण-तगण-जगण-रगणाः '।ऽ।, ऽऽ।, ।ऽ।, ऽ।ऽ' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् वंशस्थं नाम जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरतति– **यथा– पुरूरवो-नाहुषि-पूरवः** इति, पुरा– त्वत्तः पूर्वस्मिन् काले, पुरूखो- नाहुषि-पूरवः– पुरुरवाश्च, नहुष-स्यापत्यं पुमान्– नाहुषिश्च, पुरुश्चेति ते, एते चन्द्रवंशीयाः पुराणप्रसिद्धा राजानः, धरां– पृथ्वीं, दधुः– धारयामासुः, अधुना– सम्प्रति भवान् धारयते। एतत्– तावकं– तव चरित्तम्, अपूर्वमद्भुतं न, इदं वंशस्थं– वंशक्रमागतं, वदन्ति– कथयन्ति । तव वंश्याः पूर्वे राजानो यथा अनायासेन पृथिवीं पाल-यामासुस्तथा त्वमपि पालयसि, तदिदमन्येषां कृते यथा तथा वाऽस्तु, भवतः कृते तु कौलिको धर्म एष इति भावः । पु[।]रू[ऽ]र[।]वो[ऽ]ना[ऽ]हु[।]षि

[।]पू[ऽ]र[।]वः[ऽ], पु[।]रा[ऽ]' इति लक्षण संगतिः। अस्यैव च्छन्दसो नामान्तरमाह- **वसन्तमञ्जरी अभ्रवंशा चेत्यन्ये** इति ॥ अ० २, सू०-१५९ ॥

नभज्याः कलहंसा ॥१६०॥

यथा- गुणलवेऽपि सुभग! प्रियसख्या, गुणिकथाक्रमवशात् प्रकृते ते । घटयते किमपि नाटितलज्जा-, कृतकमाशु सुतनुः कलहं सा ॥ १६०.१ ॥ द्रुतपदा, मुखरं चेत्यन्ये ॥ १६०.१ ॥

तृतीयं प्रभेदमाह- **नभज्याः कलहंसे**ति- नगण-भगण-जगण-यगणाः 'III, SII, ISI, ISS,' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् कलहंसानाम जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- गुणलवेऽपी**ति- हे सुभग !- सौभाग्यशालिन् !, प्रियसख्या- स्वप्रियवयस्यया, गुणिकथाक्रमवशात्- गुणिनां चर्चाप्रसङ्गेन, ते-तव, गुणलवेऽपि- सुचरितांशेऽपि, प्रकृते- प्रस्तुते सति, सा- पूर्वोक्ता, सुतनुः- अङ्गना, नाहितलज्जा- प्रदर्शितत्रपा यथा स्यात् तथा, आशु- शीघ्रं, किमपि- अनिर्वचनीयं, कृतकं- कृतिमं, कलहं- विग्रहं, घटयते- प्रपञ्चयति । तथा सा त्वयि अनुरक्ता यथा पुनः पुनस्तव कथाविस्ताराय व्याजेन तव चर्चाप्रसंङ्गे कलहं करोति यथा त्वं कथयसि नासावेवमिति कथिते हि तत्सखी स्वमतसाधनाय यथा भूयो भूयस्तव गुणानावर्त्तयेदित्याशया । अस्यापि नामान्तरे आह- **द्रुतपदा मुखरं चेत्यन्ये** इति- अन्येऽद्रुच्छन्दः द्रुतपदेति मुखरं चेति यथारुचि कथयन्तीत्यर्थः । गु[।]ण[।]ल[।]वे-[ऽ]पि[।], सु[।]भ[।]ग ![ऽ]प्रि[।]य[।]स[ऽ]ख्या[ऽ]' इति लक्षणसंगतिः ॥ अ० २, सू०-१६० ॥

र्नभसाश्चन्द्रवर्त्म ॥१६१॥

र्नभसाः । यथा- सैंहिकेयभयविह्वलमनसः स्वप्रमाभिरिह दक्षमुनिसुताः। नाममात्रमपि सोढुमपटवश्, चन्द्रवर्त्म रचयन्ति हततमः ॥ १६१.१ ॥

चतुर्थं प्रकारमाह- **र्नभसाश्चन्द्रवर्त्मे**ति- रगण-नगण-भगण-सगणाः 'ISI. S. III. SII. IIS.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् चन्द्रवर्त्मनामकं जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- सैंहिकेये**ति, सैंहिकेयभयविह्वल-

मनसः–सैंहिकेयात्–राहोः, यद् भयं तेन, विह्वलमनसः– व्याकुलीकृतचित्ताः, दक्षमुनिसुताः– दक्षप्रजाप्रतिकन्याः सप्तविंशतितारकाः, नाममात्रमपि– राहोः नाम 'तमः' तन्मात्रमपि सोढुं– क्षन्तुम्, अपटवः– असमर्थाः सत्यः, चन्द्रवर्त्म– आकाशम्, स्वप्रभाभिः– स्वीयप्रकाशैः, हततमः– नष्टान्धकारं, रचयन्ति– विदधति । तमसि नष्टे राहुरेव नष्ट इति ताराणां ज्ञानमिति भावः । 'सैं[ऽ]हि[।]के[ऽ]य[।]भ[।]य[।]वि[ऽ]ह्व[।]ल[।]म[।]न[।]सः[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–१६१ ॥

सीस्तोटकम् ॥१६२॥

सीरिति चत्वारः सगणाः । यथा– परलोकविरुद्धकुकर्मरतं, बहिरार्जवमादधतं कुटिलम् । विषकुम्भमिवेद्धसुधापिहितं, त्यज मित्रमतोटकतैकगुणम् ॥ १६२.१ ॥ मात्रासमकमिदम् ॥ १६२.१ ॥

पंञ्चमं प्रकारमाह– **सीस्तोटकमिति** । "समानेनैकादिः" [१–४] इति नियमादीकारस्य चतुः संख्यापरत्वेनाह– **सीरिति चत्वारः सगणाः** इति, तचा च '॥ऽ.॥ऽ.॥ऽ.॥ऽ.॥ऽ.' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः कृताः पादा यस्य तत् तोटकं नाम जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा–परलोकेति** । अत्र पद्ये त्यजमित्रमिति तुरीये पादे पाठोऽस्ति, क्वचिच्च त्यज भृत्यमिति पाठः, स ए व च समीचीनः प्रतिभाति, मित्रशब्दस्य क्लीबत्वेन तद्विशेषणतया द्वितीये पादे 'आर्जवमादधतम्' इति पाठासङ्गतिः स्यात्, तथा च भृत्यमिति पाठमवलम्ब्यैव व्याख्यायते । परलोकविरुद्धकुकर्मरतं– परलोकः– स्वर्गादिः, तद्विरुद्धं– तत्र हितानाधायकं, यत् कुकर्म– कुत्सिताचरणं, तत्र रतं– लग्नं, बहिः– प्रत्यक्षम्, आर्जवम्–सरलत्वम्, आदधतं– धारयन्तं, [किन्तु अन्तः] कुटिलं– वक्रम, इद्धसुधापिहितं– प्रदीप्ता– मृताच्छन्नं, विषकुम्भमिव– विषपूर्णघटमिव, अतोटेकतैकगुणं– कलहे सत्यपि कार्याच्छेदः– अतोहकता सेवाया अत्याग एव एकः– केवलो गुणो यस्य तादृशं मृत्यं त्यजवर्जयेत्यन्वयः । 'प[।]र[।]लो[ऽ]क[।]वि[।]रु[ऽ]ध[।]कु[।]क[ऽ]र्म[।]र[।]तम्[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः । सगणस्य चर्तुमात्रत्वेन चतुर्भिश्चतुर्मात्रिगणैर्निर्मित्ते मात्रासमकवृत्तेऽप्यस्यान्तर्भावः कर्तुं शक्यत इत्याह– **मात्रासम-**

कमिदमिति– तृतीयाध्याये– "अजमुखश्चीर्गन्तो नवमे ले मात्रासमकम्" [६५] इति सूत्रेण मात्रासमकं वर्णितम्, अत्रापि जगणो मुखे नास्त्येव, नवनमात्राया लघुत्वमप्यस्ति, चत्वारश्चतुर्मात्रगणा अपि सन्त्येवेति तत्रान्तर्भावः सुशकः। नामान्तरस्यापि संभवादिह वर्णवृत्ते प्रकरणेऽपितदुक्तिः ॥ अ० २, सू०–१६२ ॥

नभभ्रा द्रुतविलम्बितम् ॥१६३॥

यथा– परुषसान्द्रवचोरचनाञ्चिता, रुदितहासविलोलविलोचना। अवचनं कथयत्यतिरागितां, द्रुतविलम्बितचित्रगतैरियम् ॥ १६३.१ ॥ हरिणप्लुतमिति भरतः ॥ १६३.१ ॥

षष्ठं प्रभेदमाह– **नभभ्रा द्रुतविलम्बितमिति**– नगण– भगण– भगण– रगणाः 'III, SII, SII, SIS' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् द्रुतविलम्बितं नाम जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– परुषसान्द्रेति**, परुषसान्द्रवचोरचनाञ्चिता– [अत्र सान्द्रेत्यस्य स्थाने साद्रेति पाठः स्यात्, तर्हि अर्थप्रतीतौ सामञ्जस्य मधिकं भवेत्, तथापि प्रकृतपाठमवलम्ब्यैव व्याख्यायते] परुषाणि– रूक्षाणि, सान्द्राणि– श्लक्ष्णानि च, वचांसि तेषां रचनया– प्रयोगेण, अञ्चिता– पूजिता, रुदितहासविलोलविलोचना– रुदितं च हासश्च [कदाचित् रोदनम्, परतश्च झहित्येव हसनमिति भावः] ताभ्यां विलोले– चञ्चले, विलोचने– विशाले लोचने यस्याः सा इयम्, द्रुतविलम्बितचित्रगतैः– द्रुतानि– झटिति विलम्बितानि– मन्दानि चेति द्रुतविलम्बितानि, तानि च चित्राणि गतानि द्रुतविलम्बितचित्रगतानि, तैः, अवचनं– कथनं विनैव यथा स्यात् तथा, अतिरागिताम्– अतिशयमनुरक्तात्वम्, कथयति– प्रकटयति। परस्परविरुद्धयोः परुषसान्द्रवचसोः, रुदितहासयोः, द्रुतगत– मन्दगतयोश्च प्रयोगेण नायके स्वकीयोऽनुराग एव दृढीक्रियतेऽनयेति भावः। 'प[।]रु[।]ष[।]सा[ऽ]न्द्र[।]व[।]चो[ऽ]र[।]च[।]ना[ऽ]श्चि[।]ता[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः। अस्यनामान्तरमाह– **'हरिणप्लुतमितिभरतः'** इति, तथाहि–

चतुर्थमन्त्यं दशमं सप्तमं च यदा गुरु।
भवेद्धि जागते पादे तदा स्याद्धरिणप्लुता ॥" इति भ० ना० शा० १५।६८

॥ अ० २, सू०–१६३ ॥

नौ म्यौ पुटो जैः ॥१६४॥

ननमयाः। जैरित्यष्टभिर्यतिः। यथा- तरललवणिमाम्भःपूर्णकुम्मी, सुचरितफलपाकोल्लासवल्ली। सुतनु! तव विराजत्यङ्गसंगा- नयनपुटनिपेया यौवनश्रीः॥ १६४.१॥

सप्तमं प्रकारमाह- **नौ म्यौ पुटो जैरिति**। **नौ म्याविति** व्याख्याति- **ननमया** इति, **जैरित्यस्यार्थमाह- जैरित्यष्टभिर्यतिरिति**। "त्र्यादिर्गादिः" [१-१७] इति सूत्रणात् गादयो वर्णाः क्रम शस्त्र्यादीनां संख्यानां बोधका इत्युक्तनयेन जकारास्याष्टसंख्यावाचकत्वादयमर्थः। तथा च नगणद्वयं मगण-यगणौ च '।।।,।।।,ऽऽऽ,।ऽऽ' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य, अष्टभिश्च वर्णैः प्रतिपादमध्ये विरामो यत्र तत् पुटो नाम जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- तरल लवणिमेति**- हे सुतनु!- शोभनाङ्गि!, तरलं- चञ्चलं, यल्लवणिमाम्भः- लावण्यरूपं जलं, तेन पूर्णा कुम्मीव- घटीव, सुचरितफलपाकोल्लासवल्ली- सुचरितस्य- पुण्यस्य यत् फलं, तस्य पाकः- परिपक्वत्वम्, उल्लासः- विकासश्चेति तयोः, वल्लीव- लतेव, नयनपुटनिपेया- नेत्राञ्जलिभिर्निःशेषेण पातुं योग्या, यौवनश्रीः- तारुण्यशोभा, तव- भवत्याः, अङ्गसङ्गात्- गात्रसम्पर्कात्, विराजति- विशेषेण शोभत इत्यर्थः। त[।]र[।]ल[।]ल[।]व[।]णि[।]मा[ऽ]म्भः[ऽ]पू[ऽ]र्ण[।]कु[ऽ]म्मी[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः॥ अ० २, सू०-१६४॥

नौ म्रौ ततम्॥१६५॥

ननमराः। यथा- नववयसि वियुक्तानां योषितां, प्रिय! कथय निराशानां का गतिः। त्वमपि सुभग! गन्ता देशान्तरं, गगनमपि च मेघव्यूहैस्ततम्॥ १६५.१॥

अष्टमं प्रभेदमाह- **नौ म्रौ ततमिति**। **नौ म्राविति** विवृणोति- **ननमराः** इति- नगणद्वयं मगण-रगणौ च '।।।, ।।।, ऽऽऽ, ऽ।ऽ' इत्येवंरूपैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् ततं नाम जगत्यां जातौ छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- नववयसि** इति- हे सुभाग!- सौभाग्यशालिन्! [एतेन संबोधनेन त्वं तु सर्वत्रापि स्वानुकूलान् भोगान् प्राप्स्यस्यैवैकाहमेव शोचनीयेति ध्वनयति

'क्व भोगमाप्नोति न भाग्य भाग् जनः' इत्युक्तेः प्रिय ! न तु स्वामिन् ! इति, [तेन च न केवलं तवाहमिति, त्वमपि मे प्रिय इति स्वस्यानन्याभिलाषिणीत्वं ध्वनयति] नववयसि– नूतने तारुण्ये, वियुक्तानां– पतिविरहितानां, निराशानां– समये प्रियसंयोगाशारहितानां, योषितां– स्त्रीणां, [सर्वासामेव स्त्रीणां कृतेऽयं प्रश्नो न तु केवलं ममैवेति योषितामिति बहुवचनेन ध्वनितम्, किञ्च न पुरुषाणां कृते ईदृशः प्रश्नः, तेषां सर्वत्र सर्वदा स्वातन्त्र्यात्] का गतिः– कः प्राणरक्षोपायः [इति] कथम । कुत इयं विचारणा समुपास्थितेति चेदत्राह– त्वमपि देशान्तरं– दूरप्रदेशं, न तु ग्रामान्तरं यतो झटिति प्रत्याववर्तनाशा स्यात्, गन्ता– कश्चिद् दिनैर्भविष्यद्गमनः, [न तु साम्प्रतमेव, तेन च विचारावसरो व्यक्तः] मेघव्यूहैः– मेघसमूहैः, गगनमपि ततं– व्याप्तम्, मेघेनैकेन गगनाच्छादनेऽपि कदाचित् तस्य [मेघस्य] गमनं सम्भाव्यते, यदा तु तेषां समूह एव व्यापकरूपेणागतस्तदा नास्ति झटित्यस्य दुःखकरस्य गमनमिति महानयं संकट उपस्थितः, अस्मात् रक्षोपायमवधार्यं ततस्त्वया गन्तव्यमिति ध्वनिः ॥ 'न[।]व[।]य[।]सि[।], वि[।]युक्ता[s]नां[s], यो[s]षि[।]तां[s]' इति लक्षणसंङ्गतिः ॥ अ० २, सू०–१६५. ॥

नौ भ्रावुज्ज्वला ॥१६६॥

ननभराः । यथा– विनयितमनसोऽपि निरन्तरं, बत विदधतु किं नु विवेकिनः । नयनगतिरियं हि सुदुःसहा, चकितमृगदृशामहहोज्ज्वला ॥ १६६.१ ॥ चलनेत्रेत्येके ॥ १६६.१ ॥

नवमं प्रभेदमाह– **नौ भ्रावुज्ज्वलेति** । **नौ भ्राविति** व्याख्याति– **न-न-भ-राः** इति– नगणद्वयं भगण-रगणौ च '।।।, ।।।, ऽ।, ऽ।ऽ, इत्येवंप्रकारैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् उज्ज्वलानामकं जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– विनयितमनसोऽपीति**– निरन्तरं– सततं, विनयितमनसः– विनम्रीकृतं– सन्मार्गे स्थिरीकृतं, वशीकृतं वा, मनः– चेतो येषां तादृशा अपि, विवेकिनः– युक्तायुक्तविवेकनिपुणाः, किं नु विदधतु– इतोऽधिकं किमेभिः कर्तुं शक्यम्, तथापि यदि तेषां चेतोऽवशं भवति तत्रास्ति कारणान्तरमित्याह– हि– यतः, चकितमृगदृशां– चकितानां– कुतोऽपि कारणाज्जाताशङ्कानां, मृगाणां

दृशाविव दृशौ यासां तासां स्त्रीणाम्, उज्ज्वला– प्रदीप्ता, इयं– प्रत्यक्षदृश्यमाना, नयनगतिः– नेत्रचमत्कृतिः, सुदुःसहा– सोढुमशक्या, अइह– इति दुःखे । विविधोपायैर्वशीकृत चेतसामपि मृगनयनानां सुदुःसह– कटाक्षपानानन्तरं न स्ववशे मनस्तिष्ठतीति तत्र तेषां कोऽपराध इति भावः । 'वि[।]न[।]यि[।]त[।]म[।]न[।]सो[ऽ]पि[।],नि[।]र[ऽ]न्त[।]रं[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः । अस्य नामान्तरमाह– **चलनेत्रेत्येके** इति– केचिदिदं छन्दः चलनेत्रानाम्ना व्यवहरन्तीति भावः ॥ अ० २, सू०–१६६ ॥

तीः कामावतारः ॥१६७॥

तीरिति चत्वारस्तगणाः । यथा– मध्ये नताङ्ग्या नवा रोमराजीति, यन्मन्यते मुग्धलोको न तत् किं तु । तुङ्गस्तनास्थानिकाकुट्टिमारूढ–, कामावताराय निःश्रेणिकां विद्धि ॥ १६७.१ ॥

दशमं प्रभेदमाह– **तीः कामावतार** इति । "समानेनैकादिः" [१–४] इति नियमादाह– **तीरिति तगणाः चत्वारः** इति– चतुर्भिः तगणैः 'ऽऽ।. ऽऽ।. ऽऽ।. ऽऽ।' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् कामावतारो नाम जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– मध्ये नताङ्ग्याः** इति– मुग्धलोकः– ऋजुबुद्धिर्जनः, नताङ्ग्याः– कुचयुगभरेण मध्यस्य भुग्नत्वान्नम्रगात्रायाः, मध्ये– उदरप्रदेशे, नवा– नूतना, रोमराजी– लोमपङ्क्तिरिति यत् मन्यते तत् न, इयं रोमराजी नेत्यर्थः । तर्हि किं तदित्यत आह– तुङ्गस्तनास्थानिकाकुट्टिमारूढकामावतारायं– तुङ्गौ– अत्युन्नतौ, स्तनावेव आस्थानिका– कामस्य सभा, तस्याः कुट्टिमे– दृढीकृतोपरितनभूमौ, आरूढो यः कामः, तस्यावतारग– नीचैर्गतागतं कर्तुं, निःश्रेणिकां– सोपानपङ्क्तिं, विद्धि– जानीहि । उपर्यास्थानिका नीचैश्च तस्य [कामस्य] मन्दिरमिति उभयत्र गतागताय निःश्रेणिकाऽवश्यकीति हृदयम् । 'म[ऽ]ध्ये[ऽ], न[।]ता[ऽ]ङ्ग्या[ऽ], न[।]वा[ऽ], रो[ऽ]म[।]रा[।]जी[।]ति[।]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–१६७ ॥

न्यौ न्यौ कुसुमविचित्रा ॥१६८॥

नयनयाः । यथा– सरसिजवक्त्रा कुवलयनेत्रा, विकचजपोष्ठी विचकिलदन्ता।

इयमनुरूपा ननु कुसुमेषो-र्जयति धनुःश्रीः कुसुमविचित्रा ॥ १६८.१ ॥ इयं मदनविकारा गजलुलितं वा अन्येषाम् ॥ १६८.१ ॥

एकादशं [लक्ष्यमाणभेदेषु] प्रभेदमाह– **न्यौ न्यौ कुसुमविचित्रेति । न्यौ न्याविति** व्याख्याति–**नयनयाः** इति– नगण-यगण-नगण-यगणाः '।।।. ।ऽऽ. ।।।. ।ऽऽ' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् कुसुमविचित्रा नाम जगतीजातीच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– सरसिजवक्त्रेति**, सरसिजवक्त्रा– सरसिजं– कमलमेव वक्त्रं यस्याः सा, पक्षान्तरे– सरसिजमिव वक्त्रं यस्याः सेति, कुवलयनेत्रा कुवलयं– नीलकमलमेव नेत्रं यस्याः सा, पक्षान्तरे– कुवलयमिव नेत्रं यस्याः सेति, विकचजयोष्ठी– विकचा– विकसिता जपा– अतिरिक्तकुसुमविशेष एव ओष्ठो यस्याः सा, पक्षान्तरे जपेव ओष्ठो यस्याः सा, विचकिलदन्ता– विचकिलानि– कुन्द कुसुमान्येव दन्ता यस्याः सा, पक्षान्तरे– विचकिलानीव दन्ता यस्या सेति, कुसुमविचित्रा– कुसुमैरन्यैर्नानाविधैः पुष्पैर्विचित्रा– अद्भुता, [उभयत्र] इयं– प्रत्यक्षदृश्यमाना, कुसुमेषोः– पुष्पबाणस्य, धनुःश्रीः– धनुषः शोभाभूता, धनुः– श्रीखि ज्ञायमाना काचित्, कामिनी वा, जयति– सर्वोत्कर्षेण वर्तते, ननु– निश्चितमित्यर्थः । अत्रेयमिति प्रत्यक्षवाचकेन निर्देशात् काञ्चिदङ्गनामाश्रित्य कथने तस्या एव कामधनुषः शोभारूपताकथनेन सर्वेषां विशेषणानां पक्षान्तरे व्याख्यानम् । मुख्यवृत्त्या तु कामस्य पुष्पवाणत्वेन पुष्पैर्विरचितावयवा वसन्त शोभैव कामस्य धनुःश्रीरिति समायाति । 'स[।]र[।]सि[।]ज[।]व[ऽ]क्त्रा[ऽ], कु[।]व[।]ल[ऽ]य[ऽ]ने[ऽ]त्रा[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः । अस्या आचार्यान्तराभिमते नामान्तरे आह– **इयं मदनविकारा गजलुलितं वाऽन्येषामिति**– यथारुचि नाम्ना व्यवहार इति भावः ॥ अ० २, सू०–१६८ ॥

ज्सज्सा जलोद्धतगतिश्चैः ॥१६९॥

जसजसाः । चैरिति षड्भिर्यतिः । यथा– विकासिकुसुमं सदाफलयुतं, निसर्गशिशिरं तटे विटपिनम् । निपातितवती हहा सरिदियं, निकामकलुषा जलोद्धतगतिः ॥ १६९.१ ॥

लक्षितक्रमेण द्वादशं प्रकारमाह– **ज्सज्सा जलोद्धतगतिश्चैरिति** । व्याख्याति– **जसजसाः । चैरिति षड्भिर्यतिरिति**– जगण-सगण-जगण-सगणाः

'।ऽ।.।।ऽ.।ऽ।.।।ऽ' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य, षड्भिश्च यतिर्यत्र तत् जलोद्धतगतिनामकं जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– विकासिकुसुममिति**– विकासिकुसुमं– प्रफुल्लपुष्पं, सदाफलयुतं– सर्वदा फलैर्युक्तं, निसर्गशिशिरं– स्वभावतः शीतलं, तटे– तीरे, विटपिनं– वृक्षम्; निकामकलुषा– अत्यन्त पङ्किला, जलोद्धतगतिः– जलेन उद्धता– सदर्पा गतिर्यस्याः सा, इयं सरित्– नदी, निपातितवती– अपातयत् हहा ? दुःखे । नदीवृक्षान्योक्तया कयाचन दुश्चरित्रया कलङ्कितः सत्पुरुषः शोच्यते । 'वि[।]का[ऽ]सि-[।]कु[।]सु[।]मं[ऽ], स[।]दा[।]फ[।]ल[।]यु[।]तं[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ।। अ० २, सू०–१६९ ।।

यीर्भुजंगप्रयातम् ॥१७०॥

यीरिति चत्वारो यगणाः । यथा– न सूरिः सुराणां गुरुर्नासुराणां, पुराणां निपुर्नापि नापि स्वयंभूः । खला एव विज्ञाश्चरित्रे खलानां, भुजंगप्रयातं भुजगा विदन्ति ।। १७०.१ ।। अप्रमेयेति भरतः ।। १७०.१ ।।

लक्षितवृत्तानां क्रमसंख्यया त्रयोदशं प्रभेदमाह– **यीर्भुजङ्गप्रयातमिति** । "समानेनैकादिः" [१–४] इति न्यायेनाह– **यीरिति चत्वारो यगणाः** इति, यथा च– 'ISS. ISS. ISS. ISS.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् भुजङ्गप्रयातं नाम जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– न सूरिरिति**– सुराणां– देवानां मध्ये, सूरिः– विद्वत्त्वेन ख्यातो गुरुः, न असुराणां– दैत्यानां, गुरुः शुक्रः, न पुराणां– त्रिपुरस्य, रिपुः– शत्रुः शिवोऽपि, न स्वयंभूः– ब्रह्मा अपि न, [किन्तु] खलानां– कुटिलमतीनां चरित्रे– व्यवहारे, खलाः– कुटिलमतय एव, विज्ञाः– विशेषेण ज्ञातारः, [यथा–] भुजङ्गप्रयातं– भुजङ्गानां गतिं, भुजङ्गाः– सर्पाः [एव], विदन्ति– जानन्ति । 'न[।], सू-[ऽ]रिः[ऽ], सु[।]रा[ऽ]णां[ऽ], गु[।]रु[ऽ]र्ना[ऽ]सु[ऽ]रा[ऽ]णां[ऽ]' इति लक्षणसङ्गतिः । अस्य नामान्तरमाह– **अप्रमेयेति भरतः** इति– तथाहि

"आद्यं चतुर्थं दशमं सप्तमं च यदा लघु । पादे तु जागते यस्या अप्रमेया तु सा मता ।।" भ० ना० शा० १५।७२ ।। अ० २, सू०–१७० ।।

रीः स्रग्विणी ॥१७१॥

रीरिति रगणाश्चत्वारः । यथा- तारकामल्लिकामालिकामालिनी, चारुचन्द्रप्रभाकेतकीशालिनी । भोगभाजां भुजंगेश्वराणां प्रिया, सेयमुज्जृम्भते शर्वरी स्रग्विणी ॥ १७१.१ ॥ पद्मिनीति भरतः ॥ १७१.१ ॥

लक्षितवृत्तानां क्रमेण चतुर्दशं वृत्तमाह- **रीः स्रग्विणी**ति । अर्थमाह- **रीरिति चत्वारो रगणाः** इति, तथा च 'ऽ।ऽ. ऽ।ऽ. ऽ।ऽ. ऽ।ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् स्रग्विणी नाम जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- तारके**ति- तारकामल्लिकामालिकामालिनी- तारकाः- नक्षत्राण्येव, मल्लिकाः- कुसुमविशेषाः, तासां मालिका- पङ्क्तिः, सैव माला यस्याः सा, चारुचन्द्रप्रभाकेतकीशालिनी- चारुः- शोभना, चन्द्रप्रभैव केतकी- पुष्पविशेषः, तया शालते- शोभते तच्छीला, भोगभाजां- वनितासंभोगयुक्तानां, भोगिनां- फणावतां वा, भुजंगेश्वराणां- महाविटानां महानागानां वा, प्रिया- प्रेमास्पदम्, स्रग्विणी- माल्ययुक्ता, सा इयं शर्वरी- रात्रिः, उज्जृम्भते- विकासं प्राप्नोति । 'ता[ऽ]र[।]का[ऽ]म[ऽ]ल्लि[।]का[ऽ]मा[ऽ]लि[।]का[ऽ]मा[ऽ]लि[।]नी[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अस्या नामान्तरमाह-पद्मिनीति भरतः इति, तथाहि-

द्वितीयं पञ्चमं चैव ह्यष्टमैकादशे तथा ।
"पादे यत्र लघूनि स्युः पद्मिनी नाम सा मता ॥" इति [भ० ना० शा० १५।७४] ॥ अ० २, सू०-१७१ ॥

जौर्मौक्तिकदाम ॥१७२॥

जौरिति जगणाश्चत्वारः । यथा- समाधिपयोधिनिमग्नमदीन-मनीहमकाममवाममनाधि । जिनेन्द्र मनो मम वाञ्छति नाम, न विभ्रमधाम न मौक्तिकदाम ॥ १७२.१ ॥

लक्षितक्रमेण पञ्चदशं वृत्तमाह- **जौर्मौक्तिकदामे**ति । **जौरि**त्यस्यार्थमाह- **जगणाश्चत्वारः** इति, तथा च '।ऽ।. ।ऽ।. ।ऽ।. ।ऽ।.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् मौक्तिकदामनामकं जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- समाधिपयोधी**ति- समाधिपयोधिनिमग्नं- समाधिः- मनस

एकाग्रता, स एव पयोधिः– समुद्रः, तत्र निमग्नम्, अदीनम्– अकृपणम्, अनीहं– निरभिलाषम्, अकामं– कामवर्जितम्, अवामं– निष्कपटम्, अनाधि– मानसदुःखहीनं, मम मनः, हे जिनेन्द्र !, विभ्रमधाम– विलासावासं, न वाञ्छति, मौक्तिकदाम– मुक्ताहारं च न वाञ्छति, नामेति कोमलालापे। 'स[।]मा[ऽ]धि[।]प[।]यो[ऽ]धि[।]नि[।]म[ऽ]ग्न[।]म[।]दी[ऽ]न[।]' [मकारस्याग्रिमपादस्थाकाराश्रितत्वान्नकारस्य न गुरुत्वम्] इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–१७२ ॥

मीः कल्याणम् ॥१७३॥

मीरिति मगणाश्चत्वारः। यथा– आदिस्रष्टा यः सर्वेषां सन्मार्गाणां, प्रत्यादेष्टा यः पापानां त्रैलोक्येऽस्मिन्। तत्त्वज्ञानात् संसाराब्धेः प्राप्तः पारं, दिश्याद् देवः श्रीनाभेयः कल्याणं सः ॥ १७३.१ ॥ काञ्चनमिदमिति कश्चित् ॥ १७३.१ ॥

जगत्यां लक्षितक्रमेण षोडशं प्रभेदमाह– **मीः कल्याणमिति**। **मीरित्यस्यार्थमाह– मगणाश्चत्वारः** इति, तथा च 'sss.sss.sss.sss.' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् कल्याणं नाम जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– आदिस्रष्टेति**– यः सर्वेषां सन्मार्गाणां– सत्पथानाम्, आदिस्रष्टा– प्रथमप्रवर्तकः, यः, अस्मिन् त्रैलोक्ये पापानां– दुष्कर्मणां पापाचारिणां च, प्रत्यादेष्टा– वारकः, तत्त्वज्ञानात् संसाराब्धेः पारं प्राप्तः सः श्रीनाभेयो देवः कल्याणं दिश्यात्– दद्यात्, इत्यन्वयः। 'आ[ऽ]दि[ऽ]स्र[ऽ]ष्टा[ऽ], यः[ऽ], स[ऽ]र्वे[ऽ]षां[ऽ] स[ऽ]न्मा[ऽ]र्गा[ऽ]णां[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अस्य नामान्तरमाह– **काञ्चनमिदमिति कश्चिदिति** ॥ अ० २, सू०–१७३ ॥

नाद् भज्राः प्रियंवदा ॥१७४॥

नगणात् परे भजराः। यथा– प्रणयतत्परमिमं सखि ! प्रियं, मधुरमालप मयैव शिक्षिता। विधुरिता समदकोकिलारवैर्, यदि भविष्यसि मधौ प्रियंवदा ॥ १७४.१ ॥ मत्तकोकिलमित्यन्ये ॥ १७४.१ ॥

लक्षितक्रमेण सप्तदशं प्रकारमाह– **नाद् भज्राः प्रियंवदेति**। व्याख्याति–

नगणात् परे भजराः इति, तथा च नगण-भगण-जगण-रगणाः '।।।. ऽ।. ।ऽ।. ऽ।ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् प्रियंवदानामकं जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– प्रणयतत्परमिति**– हे सखिन !, प्रणयतत्परं– कुतोऽपि कारणात् त्वया सह कलहे सत्यपि मदीयसत्प्रेरणया पुनः प्रणये तत्परं– पादपतनादिना तव परितोषाय उद्यतम्, इमं– पुरोवर्त्तिनं, प्रियं प्रति मधुरं– प्रियवचनम्, आलप– कथय [इति] मयैव शिक्षिता– उपदिष्टा, असि, [तथापि तदनादृत्य प्रतिकूलभाषिणीत्वम्] यदि– चेत्, मधौ– वसन्ते, विधुरिता– तेन वियुक्ता सती, समदकोकिलारवैः– मत्तकोकिलालापैः, प्रियंवदा– अनुकूलभाषिणी भविष्यसि ? इत्येका व्याख्या, परा च– यदि विधुरिता अनेन प्रियेण विरहिता मधौ वसन्ते समदकोकिलालापैः– उन्मत्तपरभृतिकाशब्दैः प्रियंवदा भविष्यसि तर्हि [साम्प्रतमेव] मयैव शिक्षिता प्रणयतत्परमिमं प्रियं मधुरमालप। सखीति सम्बोधनेन हितोपदेशपात्रत्वम् व्यजयते। अयमाशयः– अग्रे वसन्ते समागते कोकिलशब्दं श्रुत्वा विप्रयोगदुःसहात्वं स्वयमेवैनं प्रति प्रियभाषिणी भविष्यसीति निश्चितम्, तथा च तव मानस्य किमपि मूल्यं न भविष्यति, साम्प्रतं च मदुपदेशानुल्लङ्घनीयताव्याजेन स्वयं पादप्रणतस्य प्रियस्योपरि कृपाविधानव्याजेन च यदि अनुकूलवादिनी भवसि तदा सर्वथा ते मानरक्षा जायत इति। नामान्तरमाह– **मत्तकोकिलमित्यन्ये** इति-केचिदन्ये इदमेवच्छन्दो मत्तकोकिलमिति व्यवहरन्तीत्यर्थः। प्र[।]ण[।]य[।]त[ऽ]त्प[।]र[।]मि[।]मं[ऽ], स[।]खि![ऽ]प्रि[।]यं[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–१७४ ॥

ताल्ललिता ॥१७५॥

तगणात् परे भजराश्चेत् तदा ललिता। यथा– ग्रामेऽत्र पाप ! कलहंसतां बधद्, बत्से त्रपां नहि किमन्ध ! भाव्यताम्। रम्यं वपुर्न मधुरं न ते रुतं, रे काकपाक ! ललिता न वा गतिः ॥ १७५.१ ॥

लक्षितक्रमेणाष्टादशं भेदमाह– **ताल्ललितेति। तगणात्परे भजराश्चेत्**

तदा ललितेति– 'ऽऽ। ऽ।। ।ऽ। ऽ।ऽ' इतीदृशैरक्षरैः पादविन्यासश्चेत् तदा ललितानामकं जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– ग्रामेऽत्रेति**– हे पाप !– दुराचारिन् !, अत्र ग्रामे– विज्ञजनविरहिते प्रदेशे, कलहंसतां– मरालतां [सतां कलहं च], दधत्– धारयन्, त्रपां– लज्जां, किं– कुतो, न धत्से– नानुभवसि ? हे अन्ध !– एकाक्षतया काणत्वसत्त्वेन एकत एव दर्शनात् परतोऽन्धत्वं, तव स्पष्टमिति भावः, भाव्यतां– विचार्यताम्, [यत्] रम्यं– [हंसवत्] सुन्दरं, वपुः– शरीरं, ते– तव, नास्ति। मधुरं– कोमलं, श्रुतिसुखं वा, ते रुतं– शब्दः, नास्ति, किंच रे काकपाक !– वायसपोत !, वा– अथवा, ते ललिता– मञ्जुला, गतिः– पादविक्षेपरीति, न अस्ति। काकपाकाऽन्योक्त्या कश्चिद् धूर्तस्वस्वरूपानभिज्ञ इव मूर्खसमाजे आत्मानं विज्ञं ख्यापयन् विज्ञता-परिचायकगुणहीनतां स्वस्य स्मार्यते। 'ग्रा[ऽ]मे[ऽ]त्र[।], पा[ऽ]प! [।], क[।] ल[।]हं[ऽ]स[।]तां[ऽ], द[।]धत्[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–१७५ ॥

स्जौ सौ प्रमिताक्षरा ॥१७६॥

सजौ सद्वयं च। यथा– बहुभिः किमाललपितैः कुधियां, सरसाभिधेय-घटनारहितैः। रसभावभावितधियां हि वरं, प्रमिताक्षराऽपि रचनाऽर्थवती ॥ १७६.१ ॥ चित्रेयम् ॥ १७६.१ ॥

लक्षितक्रमाद् ऊनविंशं प्रभेदमाह– **स्जौ सौ प्रमिताक्षरेति**। अर्थमाह– **सजौ सद्वयं चेति**– सगण-जगणौ सगणद्वयं च '।।ऽ।ऽ।।ऽ।।ऽ' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा अस्य तत् प्रमिताक्षरानामकं जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदा-हरति– **यथा– बहुभिरिति**। अत्र प्रकृतमुद्रितमुस्तके किमाललपि तैरिति मुख्यःपाठः, पाठभेदश्च– आलिलपितैरिति दृश्यते, सोऽपि नाधिकं सामञ्जस्यं वहति, नायं सख्योः परस्परालापविषयः, अपि तु विचारकगोष्ठीविषय एवेति प्रकृतमेव पाठमादृत्य व्याख्यायते, कुधियां– कुमतीनां जनानां, सरसाभिधेय-घटनारहितैः– सरसाः– रससहिता ये, अभिधेयाः– वाच्यार्थाः, तेषां घटना– विन्यासः, तेनरहितैः, आलैः– अलन्ति अर्थतो व्यभिचरन्तीति अलाः, त एव आलाः, आलानि च तानि लपितानि– भाषितानि, तैः, किम् ?– किमपि न

प्रयोजनम् [किन्तु] रसभावभावितधियां– रसाश्च– भावाश्चेति तैः, भाविता– संस्कृता धीर्येषां तथाविधानम्, अर्थवती– सार्थिका– प्रमिताक्षरा– स्वल्पाक्षराऽपि, रचना– कृतिः, वरं– प्रियाभवतीत्यर्थः । अस्य च्छन्दसो मात्रासमकवृत्तावन्तर्भावमाह– **चित्रेयमिति**– तृतीयाध्याये मात्रासमकप्रकरणे "नवमश्चित्रा" । [६८] इति सूत्रम् । तदर्थः– नवमो लघुश्चकारात् पञ्चमाष्टमौ च [लघू] यत्र भवतः सा [चतुर्भिः– चतुर्मात्रगणैः कृता] चित्रेति, प्रमिताक्षराऽपि चतुर्भिश्चतुर्मात्रगणैर्विहिता– नवमपञ्चमाश्च लघवः सन्त्येवेति तत्राऽप्यस्यान्तर्भावः सुशकः, वर्णवृत्तेऽपि प्रस्तारान्तर्भूतत्वात् इहोक्त इति भावः । 'ब[।]हु[।]भिः[ऽ], कि[ऽ]मा[ऽ]ल[।]ल[।]पि[।]तैः[ऽ], कु[।]धि[।]यां[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः, मात्रासमकलक्षणसमन्वयश्च तत्प्रकरण एव विज्ञेयः ॥ अ० २, सू०–१७६ ॥

मौ यौ वैश्वदेवी ङैः ॥१७७॥

ङैरिति पञ्चभिर्यतिः । यथा– जिष्णुर्वित्तेशो धर्मराजः प्रचेताः, ईशः श्रीनाथस्तेजसां धाम चेति ॥ यत् त्वं प्रख्यातः श्रीचुलुक्यक्षितीश !, ब्रूमस्तेनेयं वैश्वदेवी तनुस्ते ॥ १७७.१ ॥ चन्द्रकान्तेत्यन्ये ॥ १७७.१ ॥

लक्षितेषु विंशं प्रकारमाह– **मौ यौ वैश्वदेवी ङैः** इति । **ङैरित्यस्य** सम्बन्धमाह– **ङैरिति पञ्चभिर्यति रिति**, तथा च मगणद्वयं यगणद्वयं च 'sss.sss.iss.iss.' इत्येवं विन्यस्तैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् जगतीजातौ वैश्वदेवीनामकं वृत्तमित्यर्थः । उदाहरति– **यथा– जिष्णुर्वित्तेश** इति– श्रीचुलुक्यक्षितीश !– चुलुक्यवंशीयराजन् !, यत्– यस्मात्, त्वं जिष्णुः– विजयशीलः [इन्द्रश्च], वित्तेशः– धनस्वामी [कुबेरश्च], धर्मराजः– चर्तुविधस्य धर्मस्याधिष्ठाता शासको वा [यमश्च], प्रचेताः– प्रकृष्टचेतोयुक्तः [वरुणश्च], ईशः– ऐश्वर्यवान् [शम्भुश्च], श्रीनाथः– लक्ष्मीपतिः [विष्णुश्च] तेजसां धाम– गृहम्[सूर्यश्च], इति प्रख्यातः– एभिर्नामभिः प्रसिद्धः, तेन कारणेन, ते– तव, इयं तनुः– इदं शरीरम्, वैश्वदेवी– विश्वेषां देवानां सम्बन्धिनी इति [वयं], ब्रूमः– कथयाम इत्यन्वयः । त्वं सर्वदेवमय इति भावः । अस्यनामान्तरमाह– **चन्द्रकान्तेत्यन्ये** इति । जि[ऽ]ष्णुः[ऽ], वि[ऽ]त्ते[ऽ]-

शो[ऽ], ध[ऽ]र्म[।]रा[ऽ]जः[ऽ], प्र[ऽ]चे[ऽ]ताः[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–१७७ ॥

म्भौ स्मौ जलधरमाला द्यौः ॥१७८॥

मभसमाः । द्यैरिति चतुर्भिर्यतिः । यथा– त्वत्सेनाभिः कृतरिपुधामप्लोषे, दृष्ट्वा व्योम्नि स्फुरदुरुधूमस्तोमम् । ग्रीष्मेऽप्युत्काः सपदि मयूरा राजन्, शब्दायन्ते जलधरमालाभ्रान्त्या ॥ १७८.१ ॥ कान्तोत्पीडेत्यन्ये ॥ १७८.१ ॥

लक्षितेष्वेकविंशं प्रकारमाह– **म्भौ स्मौ जलधरमाला द्यौरिति** । अर्थमाह– **मभमसाः । द्यैरिति चतुर्भिर्यतिरिति**– मगण-भगण-मगण-सगणाः 'sss.s।।.sss.Is' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य, चतुर्भिश्च यतिर्यत्र तत् जलधरमालानामकं जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– त्वत्सेनाभिरिति**– हे राजन् ! त्वत्सेनाभिः– तव बलैः, कृतरिपुधामप्लोषे– विहितशत्रुगृहदाहे सति, व्योम्नि– आकाशे, उरुधूमस्तोमं– बहलधूमसमूहम्, स्फुरत्– प्रकाशमानं, दृष्ट्वा– अवलोक्य, ग्रीष्मेऽपि– तपर्तावपि, मयूराः– बर्हिणः, जलधरमालाभ्रान्त्या– मेघपङ्क्तिभ्रमेण, उत्काः– उत्कण्ठिताः सन्तः, सपदि– शीघ्रं, शब्दायन्ते– केकारावं विदधति, इत्यर्थः । अस्य नामान्तरमपीत्याह– **कान्तोत्पीडेत्यन्ये** इति । 'त्व[ऽ]त्से[ऽ]ना[ऽ]भिः[ऽ], कृ[।]त[।]रि[।]-यु[।]धा[ऽ]म[ऽ]प्लो[ऽ]षे[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–१७८ ॥

न्जौ भ्यौ नवमालिनी जैः ॥१७९॥

नजभयाः । जैरित्यष्टभिर्यतिः । यथा– कलयति वैरिभूमिपतिलक्ष्मीं, परिमलहारिकीर्तिकुसुमौघम् । सपदि ददाति तुभ्यमनवद्यं, नृप ! नवमालिनीयमसिलेखा ॥ १७९.१ ॥

लक्षितक्रमेण द्वाविंशं प्रकारमाह– **न्जौ भ्यौ नवमालिनी जैः** इति । अर्थमाह– **नजभयाः । जैरिति अष्टभिर्यतिरिति** । 'नगण-जगण-भगण-यगणाः '।।।.Is।.s।।.Iss' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत्, अष्टभिश्च यतिर्यत्र तत् नवमालिनी नाम जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा–**

कलयतीति– हे नृप !– राजन् !, इयं– तव हस्ते विद्यमाना, असिलेखा– करबालयष्टिः, सैव नवमालिनी– नवीनस्वभावा मालाकारपत्नी, वैरिभूमिपति-लक्ष्मीं– शत्रुराजलक्ष्मीं, [कुसुमौघमूल्यत्वेन], कलयति– स्वीकरोति, तुभ्यं– भवते, अनवद्यम्– निर्मलम् परिमलहारिकीर्तिकुसुमौघं– परिमलेन– सौरभेन, हारि– मनोहरं, कीर्तिकुसुमौघं– यशःपुष्पसमूहं, सपदि– शीघ्रमेव, ददाति– वितरति । मालिन्या अयं स्वभावो यत्– यस्मात्, मूल्यं गृह्णाति तस्मै कुसुमानि ददाति, इयं च तेऽसिलेखारूपा काचित् नवीनैव मालिनी या रिपुनृपान्मूल्य-रूपेण तदीयधनं गृह्णाति कीर्तिकुसुमसमूहं च तुभ्यं ददातीति भावः । 'क[।]-ल[।]य[।]ति[।], वै[ऽ]रि[।]भू[ऽ]मि[।]प[।]ति[।]ल[ऽ]क्ष्मीम्[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–१७९ ॥

न्जौ ज्रौ मालती ॥१८०॥

नजजराः । यथा– भ्रमर ! सखे ! व्रज यत्र सा प्रिया, कथय दशामिति मे तदग्रतः । अभिनवपुष्पितरम्यमालती–, परिमलमुल्लसितं पिबाथवा ॥ १८०.१ ॥ वरतनुरित्यन्ये ॥ १८०.१ ॥

लक्षितवृत्तक्रमेण त्रयोविंशं प्रकारमाह– **न्जौ ज्रौ मालनीति** । अर्थमाह– **नजजराः इति**– नगण-जगण-जगण-रगणाः 'III.ISI.ISI.SIS' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् मालतीनामकं जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– भ्रमरेति** हे सखे !– मित्र !, भ्रमर !– मधुप !, यत्र सा– प्रसिद्धा, प्रिया– मम दयिता, [तत्र] व्रज– गच्छ, तदग्रतः– तस्याः समीपे, मे– मम, इति– यथा त्वया दृष्टा तथा दशाम्– अवस्थां, कथय– ब्रूहि, अथवा [यदि त्वमपि स्वप्रियाविरहमसहिष्णुस्तर्हि] अभिनवपुष्पितरम्यमालतीपरिमलम्– अभिनवा– नूतना, पुष्पिता– पुष्पसमये [ऋतौ] स्थिता, कुसुमिता या मालती– स्वनामख्यातपुष्पजातिः, तस्याः परिमलं– सौरभम्, उल्लसितं– सोल्लासं यथा स्यात् तथा, पिब– आस्वादय, ईदृशे हि समये प्रियां त्यक्त्वा गमनमनु-चितमिति विचार्य पक्षान्तरमयमुपस्थापितवान् "आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः" इति नीत्या यथाऽहं प्रियावियोगखेदमनुभवामि तथा अयमपि गमने खेदमनुभविष्यतीति विचार्य वा पक्षान्तरमिदमुपन्यस्तवान् ।

'भ्र[।]म[।]र[।], स[।]खे[ऽ]!, व्र[।]ज[।], य[ऽ]त्र[।], सा[ऽ], प्रि[।]या[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः। अस्य नामान्तरमाह- **वरतनुरित्यन्ये** इति- अन्ये आचार्या इदं छन्दो वरतनुरित्याहुरित्यर्थः ॥ अ० २, सू०-१८०.१ ॥

नौ रौ प्रमुदितवदना ॥१८१॥

यथा- स्खलितवचसि भर्तरि भ्रूकुटिं, प्रियसखि ! घटयेत्यपि प्रेरिता। अविदितरसविभ्रमा बालिका, प्रमुदितवदना भवत्युन्मुखी ॥ १८१.१ ॥ चञ्चलाक्षीत्यन्ये। गौरीत्यपरे ॥ १८१.१ ॥

लक्षितक्रमेण चतुर्विंशं प्रकारमाह- **नौ रौ प्रमुदितवदने**ति- नगणद्वयं रगणद्वयं च '।।।.।।।.ऽ।ऽ.ऽ।ऽ.' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् प्रमुदितवदनानामकं जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- स्खलितवचसी**ति- प्रियसखि !, भर्तरि- स्वामिनि, स्खलितवचसि- प्रमादात् तवाह्यानेऽन्यनायिकाया नामप्रयोगं कुर्वाणे सति, भ्रूकुटिं- कटाक्षभङ्गं रचयविधेहि, इति शिक्षिता- उपदिष्टा अपि, अविदितरसविभ्रमा- अज्ञातरसविलासा, प्रमुदितवदना- प्रसन्नानना सती बालिका उन्मुखी भवति- उपर्यवलोकिनी भवति। अयमर्थः- बाला प्रथमं मया 'भर्ता यदि नामस्खलनं कुर्यात् तर्हि त्वं कोपप्रकाशनार्थं भ्रूकुटिं रचये:' इति शिक्षिताऽपि अज्ञातप्रणयकोपरसास्वादतया, सति तथावसरे, हसन्ती प्रत्युर्मुखमवलोकते, न तु कोपप्रदर्शकं किमपि करोतीति। स्ख[।]लि[।]त[।]व[।]च[।]सि[।], भ[ऽ]र्त[।]रि[।], भ्रू[ऽ]कु[।]टिं[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अस्य नामान्तरे अपीत्याह- **चञ्चलाक्षीत्यन्ये, गौरीत्यपरे** इति ॥ अ० २, सू०-१८१ ॥

सा प्रभा छैः ॥१८२॥

सा- प्रमुदितवदना, छैः- सप्तभिर्यतिश्चेत् प्रभा नाम। यथा- प्रचुरविभवता नवं यौवनं, विमललवणिमा समग्राः कलाः। सकलमपि सखे ! तदेतन्मुधा, यदि मृगनयना न हेमप्रभा ॥ १८२.१ ॥

लक्षितेषु पञ्चविंशं प्रकारमाह- **सा प्रभा छैरिति**। सूत्रं व्याख्याति- **सा- प्रमुदितवदना, छैः- सप्तभिर्यतिश्चेत् प्रभा नामेति**- गणविन्यासे यथा-

स्थितेऽपि सप्तभिर्वर्णैर्यतिनियममात्रस्याश्रयणात् प्रमुदितवदनैव प्रभेत्याख्यायत इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– प्रचुरविभवते**ति– प्रचुरं– प्रभूतं, विभवं– वित्तं यस्य सः प्रचुरविभवः, तस्य भावस्तत्ता, नवं– नूतनं, यौवनं– तारुण्यं, विमललवणिमा– निर्मलं लावण्यं, समग्राः– पूर्णाः, कलाः– शिल्पादिविद्याः, हे सखे !– मित्र !, सकलमपि तत् एतत् मुधा– मिथ्या, यदि चेत् हेमप्रभा– कनककान्तिः, मृगनयना– हरिणनेत्रा, अङ्गना न [अस्ति], विभवादेस्तदैव साफल्यं यदि तेन सह सुन्दरी कान्ताऽपि भवेत्, न चेत् साऽस्ति सर्वमेव तद् विफलमिति भावः । 'प्र[।]चु[।]र[।]वि[।]भ[।]व[।]ता[ऽ], न[।]वं[ऽ], यौ-[ऽ]वं[।]नं[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–१८२ ॥

न्जज्यास्तामरसम् ॥१८३॥

नजजयाः । यथा– सततविकाससमुद्धुरशोभं, सकलकलङ्ककलापरिमुक्तम् । तव वदनं मदिराक्षि ! किमेतद्, भवति न तामरसं न च चन्द्रः ॥ १८३.१ ॥ कमलविलासिनीत्यन्ये ॥ १८३.१ ॥

लक्षितक्रमेण षड्विंशं प्रकारमाह– **न्जज्यास्तामरसमि**ति । व्याख्याति– **नजजया** इति– नगण-जगण-जगण यगणाः 'III.ISI.ISI.ISऽ' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् तामरसं नाम जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– सततविकासे**ति– हे मदिराक्षि !– मदिरे– मदशीले अक्षिणी– नेत्रे यस्यास्तत्सम्बोधने हे मदिराक्षि !, सततविकाससमुद्धुरशोभं– सततं– रात्रि-न्दिवं यो विकासः– प्रफुल्लता, तेन समुद्धुरा– उत्कटा शोभा यस्य तादृशं, तथा सकलकलङ्ककलापरिमुक्तं– सकलं– सम्पूर्णं, कलङ्ककलाभिः– लाञ्छनांशैः, परिमुक्तं– शून्यम्, एतत् तव वदनं किम् ?– कस्मिन् वस्तुनि अन्तर्भूतम्, ता-मरसं– पद्मं न भवति, चन्द्रश्च न भवति, पद्मस्य दिवैव विकासः, तवमुखस्य रात्रिन्दिवमिति पद्माद् भेदः, चन्द्रो न सर्वदा पूर्णः, नवा कलङ्कपरिमुक्त इत्येतयोर्नास्यान्तर्भावः, वस्त्वन्तरं चैतत्सदृशं दृष्टमेव नेति किमेतदिति शङ्को-त्पन्नेति भावः । 'स[।]त[।]त[।]वि[।]का[ऽ]स[ऽ]स[।]मु[ऽ]द्धु[।]र[।]शो[ऽ]-भं[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः । अस्य नामान्तरमपीत्याह– **कमलविलासिनी-त्यन्ये** इति ॥ अ० २, सू०–१८३ ॥

ज्रज्रा विभावरी ॥१८४॥

जरजराः । यथा- पयोनिधेरवाप्य तोयसंपदं, मदाद् बलाहकेन पश्य यत् कृतम् । य एष तस्य हर्षकारणं सुतः, स एव संवृतो विभावरीपतिः ॥ १८४.१ ॥ वसन्तचत्वरमित्यन्ये ॥ १८४.१ ॥

लक्षितक्रमेण सप्तविंशं प्रकारमाह- **ज्रज्रा विभावरी**ति । **ज्रज्रा**विति विवृणोति- **जरजराः** इति- जगण-रगण-जगण-रगणाः 'ISI.SIS.ISI.SIS' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् विभावरीनामकं जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- पयोनिधेरि**ति- पयोनिधेः- समुद्रात्, तोयसम्पदं- जलसम्पत्तिम्, अवाप्य- प्राप्य, बलाहकेन- मेघेन, यत् कृतम्- आचरितं [तत्] पश्य- अवलोकय, [किं तदित्याह-] तस्य समुद्रस्य हर्षकारणं- सुखसाधनभूतः [जलवृद्धिकरः], सुतः- पुत्रः, स एव विभावरीपतिः- निशानाथश्चन्द्रः, आच्छादितः । पयोनिधिमेघान्योक्त्या कश्चित्स्वोपजीव्यस्य प्रतिकूलाचारी वर्ण्यते । प[।]यो[ऽ]नि[।]धे[ऽ]र[।]वा[ऽ]प्य[।],तो[ऽ]य[।]सं[ऽ]प[।]दं[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः । नामान्तरमाह- **वसन्तचत्वरमित्यन्ये** इति ॥ अ० २, सू०-१८४ ॥

र्‌यन्याः कुमुदिनी ॥१८५॥

रयनयाः । यथा- बोधितापि रम्यैः करनिकरैस्ते, हासलेशमासादयति न यस्मात् । मुञ्च मुञ्च तस्मादिह नलिनीयं, रोहिणीपते ! हन्त कुमुदिनीतः ॥ १८५.१ ॥

लक्षितेष्वष्टाविंशं प्रकारमाह- **र्‌यन्याः कुमुदिनी**ति । **र्‌यन्या** इति विवृणोति- **रयनयाः** इति- रगण-यगण-नगण-यगणाः 'SIS.ISS.III.ISS.' इत्येवंप्रकारैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् कुमुदिनीनामकं जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- बोधितापी**ति- हे रोहिणीपते !- चन्द्र !, इयं नलिनी- कमलिनी, ते- तव, रम्यैः- मनोहरैः, करनिकरैः- किरणसमूहैः, बोधिता- कृतप्रबोधा अपि, यस्मात्- यतो हेतोः, हासलेशमपि- विकासमात्रमपि, [कापुनरत्यानुकूलाचरणस्य प्रत्याशा] न आसादयति तस्मात् [इमां] मुञ्च मुञ्च- परिहर परिहर, तर्हि क्व मे गतिरिति चेत् ? इतः- अस्मिन् प्रदेशे, कुमुदिनी-

कुमुद्वती [त्वया सह बद्धभावा] वर्तत इति भावः । चन्द्रनलिन्याद्यन्योक्त्या काचिद् दूती नायकस्य अन्यासङ्गपरिहारपूर्वकं स्वपक्षनायिकायां प्रसक्तिं प्रस्तौति । 'बो[ऽ]धि[।]ता[ऽ]पि[।], र[ऽ]म्यैः[ऽ], क[।]र[।]नि[।]क[।]रैः[ऽ], ते[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-१८५ ॥

म्तौ न्सौ ललना ङैः ॥१८६॥

मतनसाः । ङैरिति पञ्चभिर्यतिः । यथा- रम्यनितम्बां नवतनुलतिकां, संभृततृष्णां गजगतिरुचिराम् । विन्ध्यधरित्रीं तव नृप ! रिपवः, संप्रति भेजुर्न तु निजललनाम् ॥ १८६.१ ॥

लक्षितक्रमेण ऊनविंशं प्रभेदमाह- **म्तौ न्सौ ललना ङैरिति** । अर्थमाह- **मतनसाः । ङैरिति पञ्चभिर्यतिरिति**- भगण-तगण-नगण-सगणाः 'ऽ।ऽ. ऽऽ।.।।।.।।ऽ' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् ललनानामकं जगतीजाति-छन्दः, यत्र च पञ्चभिर्यतिरित्यर्थः । उदाहरति- यथा- **रम्यनितम्बा-मिति**- हे नृप ! सम्प्रति त्वया आक्रमणे कृते सति तव रिपवः- शत्रवः, रम्यनितम्बां- रम्यः- रमणयोग्यः, नितम्बः- कटिपश्चाद्भागः, पक्षे प्रान्त-भागो यस्याः, तां नवतनुलतिकां- नवा- नूतना, तनुलता- देहवल्ली, यस्यास्तां, पक्षान्तरे- नवा तनुः- कोमला लतावल्ली यस्यां ताम्, संभृततृष्णां- संभृता- पोषिता, तृष्णा- प्रियप्राप्त्यभिलाषा, पक्षान्तरे दुर्लङ्घ्यगहनप्रदेशतया पिपासा च यस्यां तां, गजगतिरुचिरां- गजस्येव गतिः- पादन्यासः, तेन रुचिरां- शोभनां, पक्षान्तरे- गजानां गतिः- प्रचारस्तेन रुचिरां, विन्ध्यधरित्रीं- विन्ध्य-पर्वतभूमिं, [पक्षान्तरेण व्याख्यातविशेषणां], भेजुः- शिश्रियुः, निजललनां- स्वकान्तां, [प्रथमपक्षतया व्याख्यातविशेषणैर्युक्ताम्] न भेजुः । तव भयेन पलायितास्ते स्वप्रियाविशेषणोपलक्षिततया विन्ध्यभूमिमेव भेजुः, प्रियां च स्वपुर एव परित्यजुरिति भावः । 'र[ऽ]म्य[।]नि[।]त[ऽ]म्बां[ऽ], न[।]व-[।]त[।]नु[।]ल[।]ति[।]कां[ऽ] इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-१८६ ॥

नौ र्यौ कामदत्ता ॥१८७॥

ननरयाः । यथा- निकृतिकलुषया धिया वितीर्णं, बहुतरमपि निष्फलत्व-मेति । सुकृतममृतकारणं प्रसूते, ध्रुवमिह कणिकापि कामदत्ता ॥ १८७.१ ॥

लक्षितक्रमेण त्रिंशं प्रभेदमाह– **नौ र्यौ कामदत्तेति** । **'नौ र्यौ'** इति पदद्वयं व्याख्याति– **न-न-र-याः** इति– नगणद्वयं रगण-यगणौ '।।।.।।।.ऽऽ. ।ऽऽ' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् कामदत्तानामकं जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– यथा– **निकृतिकलुषयेति**, निकृतिकलुषया– अनादरदृष्टिदूषितया, धिया– बुद्धया, वितीर्णं– दत्तं, बहुतरमपि– अत्यधिकमपि, निष्फलत्वं– कालान्तरभाविफलशून्यत्वम्, एति– प्राप्नोति, कामदत्ता– कामं– स्वेच्छानुसारं, सम्प्रदानप्रीतिपूर्वं दत्ता– वितीर्णा, कणिकापि– क्षुद्रांशोऽपि, इह– संसारे, अमृतकारणं– मोक्षप्राप्तिसाधनं, सुकृतं– पुण्यं, प्रसूते– जनयतीत्यर्थः ।.कस्मैचिदनादरेणाधिकमपि दत्तं दातुः कृते न सफलं, संपूज्य दत्तं स्वल्पमपि बहुफलमिति भावः । 'नि[।]कृ[।]ति[।]क[।]लु[।]ष[।]या[ऽ], धि[।]या[ऽ], वि[ऽ]ती[ऽ]र्णं[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ।। अ० २, सू०–१८७ ।।

नो रिर्मेघावली ।।१८८।।

रिरिति रगणत्रयम् । यथा– स्तनितघोरघोषाट्टहासाकुला, तरलतारविद्युच्छटालोचना । विरहिणीजनप्राणघातोद्यता, नभसि राक्षसीयं न मेघावली ।। १८८.१ ।। वसन्तेति कश्चित् ।। १८८.१ ।।

लक्षितक्रमेण एकत्रिंशं प्रकारमाह– **नो रिर्मेघावलीति । रिरिति रगणत्रयमिति**– "समानेनैकादिः" [१.४] इति नियमात्, इकारस्य त्रित्वाबोधकत्वादिति भावः । तथा च नगणः रगणत्रयं च '।।।.ऽ।ऽ.ऽ।ऽ.ऽ।ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् मेघावलीनामकं जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति–, **यथा– स्तनिघोरेति**, स्तनितघोरघोषाट्टहासाकुला– स्तनितस्य– गर्जितस्य, घोरः, घोष एव अट्टहासः– उच्चैर्हास्यं, तेन आकुला, तरलतारविद्युच्छट्टालोचना– तरला– चञ्चला, तारा– कनीनिका, सैव विद्युच्छट्टा– सौदामिनीमाला, लोचनं यस्याः सा, विरहिणीजनप्राणघातोद्यता– विरहिणीजनानां– पतिवियुक्तानां कामिनीनां, प्राणघाताय, उद्यता– तत्परा, नभसि– आकाशे, इयं– दृश्यमाना, मेघावली न– मेघमाला न, किन्तु राक्षसी । उभयोर्विशेषणसाम्येन विरहिणीप्राणघातकत्वेन राक्षसीत्वमेवास्यां युज्यत इति इति भावः । 'स्त[।]नि[।]त[।]घो[ऽ]र[।]घो[ऽ]षा[ऽ]ट्ट[।]हा[ऽ]सा[ऽ]कु-

[।]ला[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः। नामान्तरमाह– **वसन्तेति कश्चिदिति** ॥ अ० २, सू०–१८८ ॥

त्यौ त्यौ पुष्पविचित्रा ॥१८९॥

तयतयाः। यथा– भ्राम्यद्भ्रमरव्याकीर्णोद्धुरगन्धा, मन्दारवती सन्तानप्रसवाढ्या। नाभेयजिनस्योद्दामा सुरनाथैर,-दिष्टया रचिता पूजा पुष्पविचित्रा ॥ १८९.१ ॥

लक्षितक्रमेण द्वात्रिंशं प्रभेदमाह– **त्यौ त्यौ पुष्पविचित्रे**ति। **त्यौ त्याविति** व्याख्याति– **तयतया**ः इति– तगण-यगण-तगण-यगणाः 'ऽऽ।।ऽऽ.ऽऽ।।ऽऽ' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् कुसुमविचित्रानामकं जगतिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– भ्राम्यद्भ्रमरे**ति, सुरनाथैः– देवेशैः, भ्राम्यद्भ्रमरव्याकीर्णोद्धुरगन्धा– भ्राम्यद्भिः– इतस्ततश्चलद्भिः, भ्रमरैः– रोलम्बैः, व्याकीर्णः– सर्वतः प्रसारितः, उद्धुरः– उत्कटो गन्धो यस्याः सा, मन्दारवती– देवतरुविशेषपुष्पयुक्ता, सन्तानप्रसवाढ्या–सन्तानस्य– देवतरुविशेषस्य, प्रसवैः– पुष्पैः, पल्लवैश्च, आढ्या– पूर्णा, उद्दामा– सूत्ररहिता निर्बन्धा वा, कुसुमविचित्रा– कुसुमैः– पुष्पैः, विचित्रा– विलक्षणा, नाभेयजिनस्य-आदिनाथतीर्थंकरस्य, पूजा, दिष्ट्या– भाग्येन, रचिता–कृता। 'भ्रा[ऽ]म्य[ऽ]द्भ्र[।]म[।]र[ऽ]व्या[ऽ]की[ऽ]र्णो[ऽ]द्धु[।]र[।]ग[ऽ]न्धा' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–१८९ ॥

सा मणिमाला चैः ॥१९०॥

सा– पुष्पविचित्रा, चैः– षड्भिर्यतिश्चेन्मणिमाला। यथा– सन्तोषधनानां का नाम समृद्धि-श्चारित्रसुधाप्तौ धिक्कामपिपासाम्। निर्बीजसमाधावास्तां सुरसौख्यं, जैनी यदि कण्ठे वाक् किं मणिमाला ॥ १९०.१ ॥

त्रयस्त्रिंशं प्रकारमाह– **सा मणिमाला चैरि**ति। व्याख्याति– **सा– पुष्पविचित्रा चैः– षड्भिर्यतिश्चेन्मणिमाला**। पुष्पविचित्रा पूर्वलक्षिता सा यथोक्तगणैरेव विन्यस्ता यदि प्रतिपादं षष्ठेऽक्षरे यत्या युता स्यात् तर्हि मणिमालानामकं जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– सन्तोषधनाना**

मिति– सन्तोषधनानां– सन्तोषः– आत्मतृप्तिः, स एव धनं येषां तेषां कृते, समृद्धिः– हिरण्यधान्यादिसम्पतिः, का नाम– किमर्थसाधिका ?, चारित्रसुधातौ– सुचरितामृतलाभे सति, कामपियासां– विषयाभिलाषां, धिक्– सा निन्दनीयेत्यर्थः । निर्बीजसमाधौ– निर्विल्पकध्याने सति, सुरसौख्यं– देवानामपि सौख्यम्– आस्ताम्, न तदभिलाष इति भावः, यदि कण्ठे जैनी– जिनोपदिष्टा, वाक् अस्ति तर्हि, मणिमाला– रत्नस्रक्, किं– कस्मै प्रयोजनायेति भावः । अत्र सन्तोषधनानां; का नाम समृद्धिः चारित्रसुधातौ; धिक् कामपिपासाम्, 'निर्बीजसमाधावास्तां सुरसौख्यं जैनी यदि कण्ठे वाक्, किं मणिमाला ।।' इत्येवं विरामचिह्नस्थाने यतिः कार्या, एतावन्मात्रेण च पूर्वलक्षिताद् विशेषः ।। अ० २, सू०–१९० ।।

स्यौ स्यौ केकिरवम् ॥१९१॥

सयसयाः । यथा– पथिक ! प्रयाहि त्वरयैव नो चेत्, पुरतः समुज्जृम्भिणि मेघकाले । भवतो द्विजिह्वस्य हरिष्यतेऽसून्, समदध्वनत्केकिरवः प्रचण्डः ॥ १९१.१ ॥

चतुस्त्रिंशं प्रकारमाह– **स्यौ स्यौ केकिरवमिति** । **स्यौ स्याविति** व्याख्याति– **सयसयाः** इति– सगण-यगण-सगण-यगणाः 'ा।ऽ.।ऽऽ.।।ऽ.।ऽऽ' इतीदशैरक्षरैः कृताः पादा यत्र तत् केकिरवं नाम जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– पथिक ! प्रयाहीति**– हे पथिक !– अध्वनीन !, त्वरयैव– शीघ्रमेव, गृहं गच्छ, नो– न गमिष्यसि, चेत्– यदि [तर्हि] पुरतः– अग्रे, मेघकाले– वर्षर्त्तौ, समुज्जृम्भिणि– सम्यग् वृद्धिं गते सति, प्रचण्डः– भयङ्करः, समदध्वनत् केकिरवः– समदः– मत्तः, अत एव ध्वनन्– शब्दं कुर्वाणः, यः केकी– मयूरः, तस्य रवः– शब्दः, द्विजिह्वस्य– सर्पतुल्यस्य द्वे मिथ्यासत्यभाषिणी, जिह्वे यस्येति व्युत्पत्त्या, आगमनसमयमसत्यं कथितवतस्तवाऽपि सर्पवत् द्विजिह्वत्वमिति भावः, असून्– प्राणान्, हरिष्यते– नाशयिष्यति । केकिरवं श्रुत्वा सर्पा अपि भीता भवन्ति त्वमपि तादृश इति वर्षार्तोः पूर्वमेव गृहं याहि यदि नो चेत् केकिरवं श्रुत्वा त्वं न जीविष्यसीति भावः । 'प[।]

थि[।]क![ऽ], प्र[।]या[ऽ]हि[ऽ], त्व[।]र[।]यै[ऽ]व[।], नो[ऽ]चेत्[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–१९१ ॥

निसौ ह्रीः ॥१९२॥

निरिति नगणत्रयं सश्च । यथा– सितमहसि धवलयति धरां, सुभग ! कुरु यविह समुचितम् । तव विशदगुणहृतहृदया, ह्रियमपि परिहरति सुतनुः ॥ १९२.१ ॥

लक्षितेषु पञ्चत्रिंशं प्रकारमाह– **निसौ ह्रीरिति** । व्याख्याति– **निरिति नगणत्रयं सश्चेति**– नगणत्रयं सगणश्च '।।।.।।।.।।।.।।ऽ' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् ह्रीनामकं जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– यथा– **सितमहसि** इति– हे सुभग !– सौभाग्यशालिन् ! सितमहसि– श्वेतांशौ चन्द्रे, धरां– पृथ्वीं, धवलयति– उज्ज्वलयति सति, इह– समये स्थाने च, यत् समुचितं– तव तस्याश्रयोग्यं, तत् कुरु– विधेहि, [यतः] तव– भवतो गुण-हृतहृदया– गुणैः– दाक्षिण्यदिभिः, हृतं– वशीकृतं, हृदयं यस्याः सा, सुतनुः– शोभनाङ्गी सा ह्रियमपि– परमधनरूपां लज्जामपि, परिहरति– त्यजति, किमुतान्यदिति शेषः । अयमाशयः– इयं शुभाङ्गी लज्जामपि परिहृत्य तद्गुणवशीकृता कौमुदीसनाथेऽत्र समये ईदृशे स्थाने चागतेति त्वमपि तत्सदृशमाचरेति । 'सि[।]त[।]म[।]ह[।]सि[।], ध[।]व[।]ल[।]य[।]ति[।], ध[।]रां[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–१९२ ॥

ज्सौ स्यौ कोलः ॥१९३॥

जससयाः । यथा– चुलुक्यनृपते ! त्वयि बिभ्रति क्ष्मां, विहाय धरणीधरण-प्रयासम् । पयोधिपुलिने रमतां यथेच्छं, स संप्रति चिराय पुराणकोलः ॥ १९३.१ ॥ १२।३६ ॥

लक्षितक्रमेण षट्त्रिंशं प्रकारमाह– ज्सौ स्यौ कोल इति । **ज्सौ स्याविति** । विवृणोति– **जससयाः** इतिः– जगण-सगण-सगण-यगणाः '।ऽ।.।।ऽ.।।ऽ.।ऽऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् कोलनामकं जगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **चुलुक्यनृपते** ! इति, हे चुलुक्यनृपते ! त्वयि– भवति, क्ष्मां–

पृथ्वीं, बिभ्रति– धारयति सति, स पुराणकोलः– पुरातनवराहः [आदिवराहः], धरणीधरणप्रयासं– पृथ्वीभारोद्वहनपरिश्रमं, विहाय– त्यक्त्वा, पयोधिपुलिने– समुद्रतीरे, चिराय– बहुकालं यावत्, यथेच्छं– कामानुकुलं, रमतां– कीडामनुभवतु, तत्कार्यस्य त्वयैव कृतत्वेन स निश्चिन्त इति भावः। 'चु[।]लु[ऽ]क्य[।]नृप[।]प[।]ते[ऽ], त्व[।]यि, [।]बि[ऽ]भ्र[।]ति[ऽ], क्षां-[ऽ]' इति लक्षणसंगतिः ॥ अ० २, सू०–१९३ ॥

अतिजगत्यां नतिगा उर्वशी ॥१९४॥

नगणः तगणत्रयं गुरुश्च । यथा– अजननियोषितामस्तु वंशे सतां, मलिनिमानं स्वशीलेन यास्तन्वते । भगवतो वासुदेवात् प्रसूतापि हि, त्रिदशवेश्यात्वमङ्गीचकारोर्वशी ॥ १९४.१ ॥

इत्थं जगतीजातेः प्रसिद्धा भेदा लक्षितास्ते च षट्त्रिंशत्, तथा च द्वादशाक्षरपादस्य षट्त्रिंशदिति सूचितम् ॥ १२।३६ ॥ इति। प्रस्तारगत्यातु ४०९६ भेदा भवन्ति। तथा च

"सहस्राण्यथ, चत्वारि नवतिश्च षडुत्तरा।
जगत्यां सर्ववर्णानां वृत्तानामिह सर्वशः ॥"
इति भरतनाट्यशास्त्रे १५ शेऽध्याये ५८॥ इति जगती ॥

अतिजगतीजातिं ॥ अथ अतिजगती ॥ वर्णयितुमुपक्रमते– **अतिजगत्यां नतिगा उर्वशितीति**। **नतिगा** इत्यस्यार्थमाह– **नगणः, तगणत्रयं, गुरुश्चेति**, तथा च '।।।.ऽऽ।.ऽऽ।.ऽऽ।.ऽ' इत्येवं त्रयोदशभिरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् उर्वशीनामकमतिजगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **अजननिरिति**– सतां– सज्जनानां, वंशे– कुले, योषितां– स्त्रीणाम्, अजननिः– अनुत्पत्तिः, अस्तु– भवतु, याः, योषितः स्वशीलेन– स्वचरितेन [कुले] मलिनिमानं– कलङ्कं, तन्वते– विस्तारयन्ति। हि– यतः, भगवतः– सर्वैश्वर्यनिधेः, वासुदेवात्– विष्णोः, प्रसूता– लब्धोत्पत्तिः, अपि, उर्वशी– स्वनामख्याता अप्सराः, त्रिदशवेश्यात्वं– देववाराङ्गनात्वम्, अङ्गीचकार– स्वीकृतवती। 'उर्वशी हि वासुदेवस्य उरोजाता' इति श्रुतिः, यदि च तादृशोच्चकुलप्रसुतायास्तस्या इत्थं शीलं तर्हि सामान्यकुलजानां का कथेति कवेरभिप्रायः। 'अ[।]ज[।]न[।]नि-

[ऽ]र्यो[ऽ]षि[।]ता[ऽ]म[ऽ]स्तु[।], वं[ऽ]शे[ऽ]स[।]तां[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-१९४ ॥

न्जौ ज्रौ गः सुवक्त्रा ॥१९५॥

नजजरगाः । यथा- हृतहृदयः खलु यद्विलासलक्ष्म्या, रतिमपि पुष्पशरस्तृणाय मेने । लवणिमवारितरंगिणी किलैषा, हरति न साऽपि मुनेर्मनः सुवक्त्रा ॥ १९५.१ ॥ अचलेत्यन्ये ॥ १९५.१ ॥

लक्षणीयेषु द्वितीयं प्रभेदमाह- **न्जौ ज्रौ गः सुवक्त्रे**ति । विवृणोति- **नजजरगाः** इति- नगणो जगणद्वयं रगणो गुरुश्च 'ा॥.ाऽ। ।ऽ।.ऽ।ऽ.ऽ' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् सुवक्त्रानामकम् अतिजगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- यथा- **हृतहृदय** इति- यद्विलासलक्ष्म्या- यस्याः- सुवक्त्रायाः, विभ्रमशोभया, हृतहृदयः- वशीकृतचेताः, पुष्पशरः- कुसुमेषुः, रतिं- रमणीषूपमानभूतां स्वपत्नीमपि, तृणाय मेने- खलु तिरश्चकार खलु । एषा- सुवक्त्रा, लवणिमवारितरङ्गिणी- लावण्यजलप्रवाहिणी, किलेति प्रसिद्धौ, लावण्यनदीत्वेनैषा विश्रुतेति भावः, साऽपि सुवक्त्रा- सुमुखी, मुनेः- वशीकृतमनसो यतेः, मनः- हृदयं न हरति- न वशीकरोति ॥ 'ह[।]द[।]ह्[।]त[।]ह्[।]द[।]यः [ऽ], ख[।]लु[।] यद्[ऽ]वि[।]ला[ऽ]स[।]ल[।]क्ष्म्या[ऽ]' इति लक्षणसंगतिः । नामान्तरमस्याह- **अचलेत्यन्ये** इति ॥ अ० २, सू०-१९५ ॥

भीगावङ्गरुचिः ॥१९६॥

भचतुष्टयं गुरुश्च । यथा- येन विधिप्रतिपक्षतयेव सदाऽकारि कृतार्थक एव दरिद्रजनः । कस्य मुदं न ददाति नृपो भरतः, सोऽङ्गरुचिप्रतिषिद्धसहस्रकरः ॥ १९६.१ ॥

तृतीयं प्रकारमाह- **भीगावङ्गरुचिरि**ति । विवृणोति- **भचतुष्टयं गुरुश्चे**ति- "समानेनैकादिः" [१.४.] इति नयमात् **भीत्यस्यार्थः- भगणचतुष्टयं, ग** इत्यस्य- **गुहरि**ति च, तथा च 'ऽ।।.ऽ।।.ऽ।।.ऽ।।.ऽ' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् अङ्गरुचिनामकमतिजगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- येने**ति- येन- भरतेन राज्ञा, विधिप्रतिपक्षतया इव- विधेः-

ब्रह्मण:, प्रतिपक्षः– प्रतिकूलाचारी, तस्य भावस्तया इव, दरिद्रजनः– अर्थहीनो लोकः, सदा– सर्वदा, कृतार्थक एव– कृतः– सम्पन्नः, अर्थः– धनमभिलाश्च यस्य तादृश एव, अकारि– कृतः, अङ्गरुचिप्रतिषिद्धसहस्रकरः– अङ्गरुच्या– शरीरशोभया, प्रतिसिद्धः– तिरस्कृतः, सहस्रकरः– सूर्यश्चन्द्रश्च येन सः, स– प्रसिद्धः, भरतनृपः कस्य जनस्य, मुदं– हर्षं, न ददाति– अपि तु सर्वस्यापि ददात्येति भावः। विधिना 'अयं निश्चितं दरिद्रो भविता' इति भाले विलिख्योत्पादितस्य जनस्य कृतार्थतासम्पादनेन विधिप्रातिकूल्यमस्मिन् नृपे स्पष्टम्, स्वकान्त्या च सूर्याचन्द्रमसोरपि प्रतिनिधिरयं सर्वजनकरञ्जक इति भावः। 'ये[ऽ]न[।], वि[।]धि[ऽ]प्र[।]ति[।]प[ऽ]क्ष[।]त[।]ये[ऽ]व[।], स[।]दा[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–१९६ ॥

म्नौ ज्रौ गः प्रहर्षिणी गैः ॥१९७॥

मनजरगाः। गैरिति त्रिभिर्यतिः। यथा– उत्प्रेङ्खत्त्रिदशधनुश्छलेन वर्षा-, लक्ष्म्योद्यन्मणिरुचिचित्रतोरणस्रक्। पञ्चेषोर्भुवनजयोत्सवैकचिह्नमाबद्धा सपदि मनःप्रहर्षिणीयम् ॥ १९७.१ ॥

लक्षितक्रमेण चतुर्थप्रकारमाह– **म्नौ ज्रौ गः प्रहर्षिणी गैरिति**। 'विवृणोति– **मनजरगाः**। **गैरिति त्रिभिर्यतिरिति**– मगण-नगण-जगण-रगणा गुरुश्च 'ऽऽऽ.।।।.।ऽ।.ऽ।ऽ.ऽ' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् तथा, त्रिभिर्वर्णैर्यतिश्च यत्र तत् प्रहर्षिणीनामकमतिजगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा–उत्प्रेङ्खदिति**– वर्षालक्ष्म्या– वर्षर्तुशोभया, उत्प्रेङ्खन्त्रिदशधनुश्छलेन– उत्प्रेङ्खतः– उपरिचलतः, त्रिदशधनुषः– देवेन्द्रबाणासनस्य, छलेन– व्याजेन, आबद्धा– ग्रथिता, पञ्चेषोः– पञ्चबाणस्य कामस्य, भुवनजयोत्सवैकचिह्नं– भुवनजयः– सर्वलोकविजय एव उत्सवः– आमोदावसरः, तस्य एकं– प्रधानं, चिह्नं लक्षणम्, इयं– प्रत्यक्षदृश्यमाना, मणिचित्रतोरणस्रक्– मणिभिः– नानारत्नैः, चित्रा– अनेकवर्णा, तोरणस्रक्– द्वारमाला, सपदि– शीघ्रं, मनःप्रहर्षिणी– चेतोमोदजननीत्यर्थः। अत्र प्रतिपादं प्रभाक्षरत्रये यतिः। 'उत्[ऽ]प्रे[ऽ]ङ्खत्[ऽ]त्रि[।]द[।]श[।]ध[।]नुश्[ऽ]छ[।]ले[ऽ]न[।], व[ऽ]र्षा[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–१९७ ॥

जभौ स्जौ गो रुचिरा घैः ॥१९८॥

जभसजगाः । घैरिति चतुर्भिर्यतिः । यथा– समुल्लसद्दशनमयूखचन्द्रिकातरङ्गिते तव वदनेन्दुमण्डले । सुलोचने कलयति लाञ्छनच्छविं, घनाञ्जनद्रवरुचिरालकावली ॥ १९८.१ ॥

पञ्चमं प्रभेदमाह– **जभौ स्जौ गो रुचिरा घैरिति** । विवृणोति– **जभसजगा इति । घैरिति चतुर्भिर्यतिरिति**– जगण-भगण-सगण-जगणा गुरुश्च 'ISI.SII.IIS.ISI.' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत्, चतुर्भिश्च वर्णैर्यतिर्यत्र तत् रुचिरानामकमतिजगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– समुल्लसदिति**– हे सुलोचने !– सुनयने !, समुल्लसद्दशनमयूखचन्द्रिकातरङ्गिते– समुल्लसतां– प्रकाशमानानां, दशनानां– दन्तानां, मयूखचन्द्रिकया– कान्तिकौमुद्या, चरङ्गिते– कृतप्रवाहे, तव– भवत्याः, वदनेन्दुमण्डले– मुखशशिबिम्बे, घनाञ्जनद्रवरुचिरा– गाढकज्जलरससुन्दरा, अलकावली– केशमाला, लाञ्छनच्छविं– कलङ्कशोभां, कलयति– धारयतीत्यर्थः । स[।]मु[ऽ]ल्ल[।]सद्[ऽ]द[।]श[।]न[।]म[।]यू[ऽ]ख[।]च[ऽ]न्द्रि[।]का[ऽ]' सर्वत्र पादे चतुर्भिर्यतिः, इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–१९८ ॥

म्तौ य्सौ गो मत्तमयूरम् ॥१९९॥

मतयसगाः । घैरिति वर्तते । यथा– प्रावृट्लक्ष्म्या निश्चितमत्रावतरन्त्याः, संभूयाग्रे कल्पितकोलाहलमुच्चैः । जल्पन्तोऽमी हन्त निदाघापसरेति, प्रातीहार्यं मत्तमयूराः कलयन्ति ॥ १९९.१ ॥

षष्ठं प्रभेदमाह– **म्तौ य्सौ गो मत्तमयूरमिति** । विवृणोति– **मतयसगाः । घैरिति वर्तते** इति– मगण-तगण-यगण-सगणा गुरुश्च 'SSS.SSI.ISS.IIS.S.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत्, तथा पूर्वसूत्राद् घैरित्यस्यानुवृत्त्या चतुर्भिश्च यतिर्यत्र तत् मत्तमयूरनामकमतिजगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– प्रावृट्लक्ष्म्या** इति– संभूय– एकीभूय, उच्चैः– तारस्वरेण, कल्पितकोलाहलं– कृतमहानादं यथा स्यात् तथा, अमी– दूराद् दृष्टिगोचराः, मत्तमयूराः– उन्मत्तर्बर्हिणः, अत्र– भूतले, निश्चतं– निर्णीतरूपेण, अवतरन्त्याः– आगच्छन्त्याः, प्रावृट्लक्ष्म्याः– वर्षर्तुशोभायाः, अग्रे–

आगमनात् पूर्वमेव, निदाघ!– ग्रीष्मर्त्तो !, अपसर– दूरं गच्छ, इति जलपन्तः– कथयन्तः, प्रातीहार्यं– प्रतीहारस्य कर्म, कलयन्ति– धारयन्तीत्यर्थः । 'प्रा[ऽ]-वृट्[ऽ]ल[ऽ]क्ष्म्या[ऽ], नि[ऽ]श्चि[।]त[।]म[ऽ]त्रा[ऽ]व[।]त[।]र[ऽ]न्त्या' इति लक्षणसंगतिश्चतुर्भिश्च यतिरिति ।। अ० २, सू०–१९९ ।।

नौ त्रौ गः क्षमा ॥२००॥

ननतरगाः । धैरिति वर्तते । यथा– अयि!जड!यतिबन्धो!किमङ्गशौचैः, क्वचिदपि सुकृतं स्यान्मुधासि मूढः । यदिह च परलोके च साधु तत्त्वं, शृणु कुरु हृदयस्थां क्षमामजस्रम् ॥ २००.१ ॥

सप्तमं प्रभेदमाह– **नौ त्रौ गः क्षमे**ति । विवृणोति– **ननतरगाः । धै-रिति वर्तते** इति– नगणद्वयं तगण-रगणौ गुरुश्च '।।।.।।।.ऽऽ।.ऽ।ऽ.ऽ.' इती-दृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य, धैरित्यनुवृत्त्या चतुर्भिश्च यतिर्यत्र तत् क्षमा-नामकमतिजगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– अयि जडे**ति– अयि ! इति कोमलामन्त्रणे, हे जडं !– मूर्ख !, यतिबन्धो !– क्षुद्रयते !, अङ्गशौचैः– शरीरशुद्धिभिः, क्वचिदपि– क्वापि काले देशे वा, सुकृतं– पुण्यं, स्यात्– भवेत्, किम् ? मुधाव्यर्थमेव, मूढः– मूर्खः, असि, यत् इह– अत्र लोके, परलोके च– परस्मिन् स्वर्गादिरूपे लोके– स्थाने च, साधु– कार्य-साधकं, तत्त्वं [स्यात् तत्], शृणु– आकर्णय, अजस्रं– सततं, क्षमां– शान्तिं, हृदयस्थां अन्तःकरणप्रतिष्ठितां, कुरु– विधेहि । 'अ[।]यि[।], ज[।]ड[।], य[।]ति[।]ब[ऽ]न्धो[ऽ], कि[ऽ]म[ऽ]ङ्ग[।]शो[ऽ]चैः[ऽ]' इति लक्षण-समन्वयः, श्चतुर्भिश्च यतिरिति ।। अ० २, सू०– २०० ।।

मौ जौ गः श्रेयोमाला ॥२०१॥

धैरिति वर्तते । यथा– लक्ष्मीलीलागारं विनम्रपुरंदरभ्राम्यद्भृङ्गश्रेणी-कृतस्तवनध्वनिं । नेत्रानन्दं ताम्राङ्गुलीदलबन्धुरं श्रेयोमालां दद्याज्जिनेन्द्र-पदाम्बुजम् ॥ २०१.१ ॥

अष्टमं प्रभेदमाह– **मौ जौ गः श्रेयोमाले**ति । सूत्रं पूरयति– **धैरिति वर्तते** इति । मगणद्वयं जगणद्वयं गुरुश्च 'ऽऽऽ.ऽऽऽ.।ऽ।.।ऽ।.ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य, चतुर्भिश्च यतिर्यत्र तत् श्रेयोमालानामकमतिजगतीजाति-

च्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- लक्ष्मीलीलागारमिति**- लक्ष्मीलीलागारं- लक्ष्म्याः- सर्वसम्पदः, लीलागारं- क्रीडास्थानं, विनम्रपुरन्दरभ्राम्यद्भृङ्गश्रेणीकृतस्तवनध्वनि- विनम्रे- प्रणामार्थं प्रणते, पुरन्दरे- इन्द्रे, [सति तच्छिरोमाल्यानुगताः] भ्राम्यन्ती- चलन्ती या, भृङ्गश्रेणी- मधुकरमाला, तया कृतः- विहितः, स्तवनध्वनिः- स्तुतिशब्दो यस्य तत्, नेत्रान्दनं- नेत्रयोः- नयनयोः कृते, आनन्दं- सुखस्वरूपं, यद्वा नेत्राणि आनन्दयतीति नेत्रानन्दम्, ताम्राङ्गुलीदलबन्धुरं- ताम्रैः- रक्तवर्णैः, अङ्गुलीदलैः, बन्धुरम्- उन्नतानतम्, जिनेन्द्रपदाम्बुजं- जिनेन्द्रस्य पदाम्बुजं- चरणकमलं, श्रेयोमालां- कल्याणपरम्परां, दद्यात्- वितरेत्, इत्याशीःप्रार्थना। 'ल[ऽ]क्ष्मी[ऽ]ली[ऽ]ला[ऽ]गा[ऽ]रं[ऽ], वि[।]न[ऽ]म्र[।]पु[।]र[ऽ]न्द[।]र[ऽ]' [संयोगे गुरुत्वात्] इति लक्षणसमन्वयः, चतुर्भियतेः सत्त्वात् ॥ अ० २, सू० २०१ ॥

नौ तौ गः कुटिलगतिश्छैः ॥२०२॥

छैरिति सप्तभिर्यतिः। यथा- यदसरलतरभ्रूविभुग्नालका, कुटिलगतिरतिप्रौढवाग्विक्रमा। तदियमघटि भोः कौतुकात् कामिनी, नियतमनृजुना केनचिद् वेधसा ॥ २०२.१ ॥ नर्तकीत्यन्ये ॥ २०२.१ ॥

लक्ष्यमाणक्रमेण नवमं प्रकारमाह- **नौ तौ गः कुटिलगतिश्छैरिति**। **छैरिति सप्तभिर्यतिरिति**- नगणद्वयं तगणद्वयं च गुरुश्च '।।।.।।।.ऽऽ।.ऽऽ।.ऽ.' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य, सप्तभिश्च यतिर्यत्र तत् कुटिलगतिनामकमतिजगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- यदसरलेति**- यत्- यस्मात्, इयं- वर्ण्यमाना, कामिनी, असरलतरभ्रूः- कुटिलतरकटाक्षा, विभुग्नालका- भङ्गुरललाटकेशा, कुटिलगतिः- वक्रगमना, अतिप्रौढवाग्विक्रमा- अतिप्रौढः- परमोद्धतः, वाचो विक्रमः- वचनविन्यासो यस्यास्तादृशी [अस्ति], तत्- तस्मात् कारणात्, अनृजुना- कुटिलेन, केनचित्- अज्ञातेन, वेधसा- ब्रह्मणा, कौतुकात्- लीलया, अघटि- निर्मिता भोः। नहि सर्वसामान्यसृष्टिकर्तुर्विधातुरीदृशस्त्रीनिर्माणकर्तृत्वं सम्भवति, तस्मादन्य एव कश्चिद् विधातास्या इति भावः। सर्वत्र पादे सप्तभिर्यतिः। 'य[।]द[।]स[।]र[।]ल[।]त[।]र[ऽ]भ्रू[ऽ]वि[।]भु[ऽ]ग्ना[ऽ]ल[।]का[ऽ] इति लक्षणसंगतिः ॥ अ० २, सू०-२०२ ॥

नौ भ्रौ गः क्ष्मा ॥२०३॥

ननमरगाः । छैरिति वर्तते । यथा- त्वदरिमृगदृशामावासप्रदानाद्, भयमिव परमं राजन् ! धारयन्तः । प्रचलति भवतः सैन्ये दिग्जयार्थं, प्रतिदिशमगमन् कम्पं क्ष्माभृतोऽमी ॥ २०३.१ ॥

दशमं प्रकारमाह- **नौ भ्रौ गः क्ष्मेति** । विवृणोति- **ननमरगाः । छैरिति वर्तते** इति- नगणद्वयं मगण-रगणौ गुरुश्च '।।।.।।।.sss.sIs.s' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत्, सप्तभिश्च यतिर्यत्र तत् क्ष्मानामकमतिजगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- त्वदरी**ति- हे राजन् ! त्वदरिमृगदृशां- त्वच्छत्रुरमणीनाम्, आवासप्रदानात्- निवासस्थानदानात् हेतोः परमम्- अत्यन्तं, भयं, धारयन्तः- बिभ्राणा इव प्रतिदिशं- सर्वासु दिक्षु अमी क्ष्माभृतः- पर्वताः, भवतः- तव, सैन्ये- बले, दिग्जयार्थं- दिशो विजेतुं, प्रस्थिते- चलिते सति, कम्पं- चलनम्, अगमन्- प्रापुः । अन्योऽप्यपरसंधी राजानमागच्छन्तं वीक्ष्य भयात् कम्पते, एते च साक्षादेव राजापराधिनः राज्ञः शत्रूणां पक्षपातित्वादिति ससैन्यं राजानभागच्छन्तं विचार्य कम्पन्ते । अत्र दिग्विजययात्रार्थं त्वयि प्रस्थिते त्वदरिमृगदृशः पलाय्य पर्वतगृहासु निलीनाः, बलभरेण मेदिनी कम्पितेति तत्रस्थाः पर्वता अपि कम्पिता इत्येष वाच्योऽर्थो भङ्गचन्तरेण प्रतिपादितः । भयमिव धारयन्त इति कम्पस्य हेतुत्वेन कथितमिति हेतूत्प्रेक्षेयम् । त्वदरिमृगदृशामिति सप्तमेऽक्षरे यतिः । एवं सर्वत्र पादेऽवसेयम् । 'त्व[।]द[।]रि[।]मृ[।]ग[।]दृ[।]शा[ऽ]मा[ऽ]वा[ऽ]स[।]दा[ऽ]नात्[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-२०३ ॥

य्मौ रौ गश्चन्द्रिणी चैः ॥२०४॥

यमररगाः । चैरिति षड्भिर्यतिः । यथा- धरामारं बिभ्रल्लीलया बाहुदण्डे, जयत्येष श्रीमानूर्जितः क्षोणिनाथः । भुजंगीभिर्गीतैरुज्ज्वलैर्यद्यशोभिर्भुवं प्रोद्दामैश्चन्द्रिणी नागभूमिः ॥ २०४.१ ॥

एकादशं प्रकारमाह- **य्मौ रौ गश्चन्द्रिणी चैरिती** । विवृणोति- **यमररगाः । चैरिति षड्भिर्यतिरिति**- यगण-मगणौ रगणद्वयं गुरुश्च 'Iss.sss.sIs.Iss.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य, षड्भिरक्षरैश्च यतिर्यत्र तत्

चन्द्रिणीनामकमतिजगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- धराभारमिति**- बाहुदण्डे- भुजोपरि, धराभारं- पृथ्वीभरं, लीलया- अनायासेन, बिभ्रत्- धारयन्, श्रीमान्- लक्ष्मीपात्रम्, ऊर्जितः- बलवान्, एष- वर्ण्यमानः, क्षोणीनाथः- पृथ्वीपतिः, जयति- सर्वोत्कर्षेण वर्तते । भुजङ्गीभिः- नागीभिः, गीतैः- गानविषयीकृतैः, प्रोद्दामैः- उत्कटैः, यद्यशोभिः- यत्कीर्तिभिः, नागभूमिः- पातालं, चन्द्रिणी- चन्द्रयुक्ता बभूव । आकाशे चन्द्र इति प्रसिद्धिः परं त्वद्यशोगानैस्तत्रापि चन्द्रवत् प्रकाशस्य सत्त्वेन चन्द्रिणीव नागभूमिर्जातेति भावः । 'धराभारं बिभ्रत्' इत्येवं षड्भिर्यतिः सर्वत्र पादेषु । ध[।]रा[ऽ]-भा[ऽ]रं[ऽ]बि[ऽ]भ्र[ऽ]त्श्री[ऽ]ल[।]या[ऽ], बा[ऽ]हु[ऽ]ण्डे[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-२०४ ॥

नौ यौ गश्चन्द्रिका ॥२०५॥

ननरयगाः । यथा- निखिलकुवलयप्रपञ्चितानन्दा, परिणतशरकाण्डपाण्डुरच्छाया । इह जगति चुलुक्यचन्द्र ! निस्तन्द्रा, प्रसरति तव कीर्तिचन्द्रिका नित्यम् ॥ २०५.१ ॥

लक्षितेषु द्वादशं प्रकारमाह- **नौ यौ गश्चन्द्रिकेति** । विवृणोति- **ननरयगा** इति- नगणद्वयं रगण-यगणौ गुरुश्च '।।।.।।।.ऽ।ऽ.।ऽऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् चन्द्रिकानामकमतिजगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- निखिलेति**- हे चुलुक्यचन्द्र !- चुलुक्यवंशोद्यततक !, निखिलकुवलयप्रपञ्चितानन्दा- निखिले- सम्पूर्णे, कुवलये- पृथ्वीमण्डले, चन्द्रविकाशिकमले च, प्रपञ्चितो- विस्तृत आनन्दो यया सा, परिणत- शरकाण्डपाण्डुरच्छाया- परिणतशरकाण्डवत्- पक्वशरयष्टिवत्, पाण्डुरा- श्वेता, छाया- कान्तिर्यस्याः सा, निस्तन्द्रा- अमन्दा, सोल्लासा च, तव- भवतः, कीर्तिचन्द्रिका- प्रशस्तिकौमुदी, इह जगति- अस्मिन् संसारे, नित्यं- सततं, प्रसरति- परितो व्याप्नोति । नि[।]खि[।]ल[।]कु[।]व[।]ल[।]य[ऽ]प्र[।]-प[ऽ]ञ्चि[।]ता[ऽ]न[ऽ]न्दा[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-२०५ ॥

ज्तौ स्जौ गो मञ्जुभाषिणी ॥२०६॥

जतसजगाः । यथा- नरेन्द्र ! रुष्टे त्वयि महीभुजां मतिर्नवे पृषच्चर्मणि न

चित्रवर्मणि । कटु क्वणन्ती लुठति भ्रूङ्ग्ला पदद्वये न कान्तानुशयमञ्जुभाषिणी ॥ २०६.१ ॥

त्रयोदशं प्रकारमाह- **ज्तौ स्जौ गो मञ्जुभाषिणीति** । विवृणोति- **जतसजगाः** इति- जगण-तगणौ सगण-जगणौ गुरुश्च '।ऽ।.ऽऽ।.।।ऽ.।ऽ।.ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् मञ्जुभाषिणीनामकमतिजगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- नरेन्द्रेति**- हे नरेन्द्र !- राजन् !, त्वयि- भवति, रुष्टे- क्रुद्धे सति, भूभुजाम्- अन्यनृपाणाम्, मतिः- बुद्धिः, नवे- **सद्यः** समुत्पाटिते, पृषच्चर्मणि- मृगचर्मणि भवति, [व्रतग्रहणेच्छेति भावः] चित्रवर्मणि- विचित्रे कवचे न, तथा पदद्वये- चरणयुगले, कटु- श्रुतिकठिनं **यथा** स्यात् तथा, क्वणन्ती- शब्दं कुर्वाणा, शृङ्ग्ला- वेणी, लुठति- पतति, अनुशयमञ्जुभाषिणी- पश्चात्तापेन मधुरं जलपन्ती कान्ता न लुठति । त्वयि रुष्टे रिपवो मृगचर्म-परिधाना भवन्ति, कवचं जहति, तत्पदयोश्च शृङ्ग्ला पतति- बद्धा भवन्ति, अनुनयवचना कान्ता न पततीत्यर्थः । 'न[।]रे[ऽ]न्द्र[।], रु[ऽ]ष्टे[ऽ], त्व[।]यि[।], भू[ऽ]भु[।]जां[ऽ], म[।]तिः[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-२०६ ॥

न्सौ रौ गश्चन्द्रलेखा ॥२०७॥

नसररगाः । यथा- सुभग ! सुखदं मोहजालं जनानां, हृदयहरणं बन्धनं लोचनानाम् । सुललितवपुः सा सखे ! पीयते ते, विरहतमसा चन्द्रलेखेव तन्वी ॥ २०७.१ ॥

चतुर्दशं प्रभेदमाह- **न्सौ रौ गश्चन्द्रलेखेति** । विवृणोति- **नसररगाः** इति- नगणः सगणो रगणद्वयं गुरुश्च '।।।.।।ऽ.ऽ।ऽ.ऽ।ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् चन्द्रलेखानामकमतिजगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- सुभगेति**- अत्र सुभगसुखदमिति समस्तः पाठो दृश्यते, किन्तु सुभगेति सम्बोधनपदं पृथगेव स्वीक्रियते चेत् अर्थयोजनायां सामञ्जस्यमधिकं भवतीति तथैव स्वीकृत्य व्याख्यायते । हे सुभग !- सौभाग्यशालिन् !, जनानां सुखदं मोहजालं- सुखकरं मोहबन्धनं, हृदयहरणं- चेतोवशीकरणम्, लोचनानां- नेत्राणां, बन्धनम्- आकर्षकं, सुललितवपुः- सुन्दरशरीरा, सा तन्वी- पूर्व-

वर्णिता कोमलाङ्गी, हे सखे !– मित्र !, चन्द्रलेखा– शशीकला इव, ते– तव, विरहतमसा– वियोगान्धकारेण, राहुरूपेण, पीयते– निगीर्यते । काचित् दूती नायकं प्रति नायिकाया विरहदुःखं निवेदयन्ती कथयति– तव विरहेण सा तथा क्षीयते यथा राहुणा कृष्णपक्षान्धकारेण वा चन्द्रलेखेति त्वरितं तां सम्भावयेति । सु[।]भ[।]ग[।]सु[।]ख[।]दं[ऽ]बं[ऽ]ध[।]नं[ऽ]लो[ऽ]च[।]ना[ऽ]नां[ऽ] इति लक्षणसंगति ॥ अ० २, सू०–२०७ ॥

न्सौ जौ गो लयः ॥२०८॥

नसजजगाः । यथा– त्वमसि शरणं प्रसीद जगत्पते ! वितर सुतरां ममेह समीहितम् । चरणकमले जिनेश्वर ! तावके, भवतु मनसश्चिरं परमो लयः ॥ २०८.१ ॥

पञ्चदशं प्रभेदमाह– **न्सौ जौ गो लयः** इति । विवृणोति– **नसजजगाः** इति । नगणः सगणो जगणद्वयं गुरुश्च '।।।.।।ऽ.।ऽ।.।ऽ।.ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् लयनामकमतिजगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– त्वमसी**ति– हे जगत्पते !– लोकेश !, जिनेश्वर !– जिनप्रधान !, त्वं शरणं– रक्षास्थानम्, असि– भवसि, इह– संसारे, मम– तव भक्तस्य, समीहितं– वाञ्छितं फलं, सुतरां– सम्यक्प्रकारेण, वितर– देहि, तावके– भवदीये, चरणकमले– पादपद्मे, चिरं– बहुकालं यथा स्यात् तथा, मनसः– मम चित्तस्य, परमः– आत्यन्तिकः, लयः– अन्तर्भावः, भवतु– जायताम् । तव चरणकमले लीनमनसो मम सर्वदुःखनिवृत्तिः समीहितप्राप्तिश्च सुतरां भविष्यत्येवेति भावः । 'त्व[।]म[।]सि[।], श[।]र[।]णं[ऽ], प्र[।]सी[ऽ]द[।], ज[।]गत्[ऽ]प[।]ते[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–२०८ ॥

न्सौ तौ गो विद्युन्मालिका ॥२०९॥

नसततगाः । यथा– घनतमसि नष्टान् द्रष्टुमत्र क्षणे, निखिलपथिकान् संहारबुद्धया ध्रुवम् । बत परिगृहीताः प्रावृषा दीपिकाः, स्फुरितरुचिविद्युन्मालिकाव्याजतः ॥ २०९.१ ॥

षोडशं प्रभेदमाह– **न्सौ तौ गो विद्युन्मालिके**ति । विवृणोति– **नसततगा** इति– नगण-सगणौ तगणद्वयं गुरुश्च '।।।.।।ऽ.ऽऽ।.ऽऽ।.ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् विद्युन्माला नामकमतिजगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– घनतमसी**ति– प्रावृषा– वर्षतुना, घनतमसि– मेघकृतेऽन्धकारे निबिडेऽन्धकारे वा, नष्टान्– पलायितान्, निखिलपथिकान्– सर्वान् पान्थान्, संहारबुद्धया– मारणेच्छया, अत्र क्षणे– अस्मिन् समये, द्रष्टुम्– अवलोकयितुम्, स्फुरितरुचिविद्युन्मालिकाव्याजतः– स्फुरिता– परितः चञ्चूर्यमाणा, रुचिः– कान्तिर्यस्यास्तादृश्याः, विद्युन्मालिकायाः–तडित्पङ्क्तेः, व्याजतः– छलेन, दीपिकाः– प्रकाशज्वालाः, परिगृहीताः– संचिताः, बत इति खेदे, 'सर्वे यूयं गृहं गच्छत' इति प्रावृष आज्ञामवधीय इतस्ततः प्रवास एव छद्मान् पथिकानपराधिनो मारयितुमन्धकारबहुले घनसमये स्फुरत्सौदामिनीमिषेण दीपिकाः प्रसार्य सर्वान् पान्थानन्वेषयितुं प्रवृत्ता प्रावृडिति भावः । 'घ[।]न-[।]त[।]म[।]सि[।], न[ऽ]ष्टान्[ऽ], द्र[ऽ]ष्टु[ऽ]म[ऽ]त्र[ऽ]क्ष[ऽ]पो[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–२०६ ॥

स्जौ स्जौ गो नन्दिनी ॥२१०॥

सजसजगाः यथा– वसुधाधिपत्यमिह देव! नार्थये, जिननाथ! नापि पुरुहूतसंपदम् । वरदोऽसि चेन्मम तदा सदा मतिर्भवताद् भवद्गुणगणाभिनन्दिनी ॥ २१०.१. ॥ कनकप्रभा, जया, सुमङ्गलीति च केचिदाहुः । मनोवतीति भरतः ॥ २१०.१ ॥

लक्षितक्रमेण सप्तदशं प्रभेदमाह– **स्जौ स्जौ गो नन्दिनी**ति । विवृणोति– **सजसजगाः** इति– सगण-जगण-सगण-जगणा गुरुश्च '॥ऽ.।ऽ।.॥ऽ.।ऽ।.ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् नन्दिनीनामकमतिजगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– वसुधाधिपत्यमि**ति, हे जिननाथ!– **देव** !, इह–लोके, वसुधाधिपत्यं– भूमीश्वरत्वं, न अर्थये– न याचे, पुरुहूतसम्पदं– देवेन्द्रसम्बन्धिनीं तत्सदृशीं वा, सम्पदं– सम्पत्तिमपि, न अर्थये, चेत्– यदि, वरदः– समीहितप्रदाता, असि, तदा मम– तव सेवकस्य, मतिः– बुद्धिः, सदा– सर्वस्मिन् काले, भवद्गुणगणाभिनन्दिनी– श्रीमद्गुणगणस्तविका, भवतात्–

भूयात्, [इति वरं देहीति शेषः] नाहमौहिकं राज्यं नापि स्वाराज्यमिच्छामि, केवलं भवदीगुणानुवादेन समयं या पायितुमिच्छामिति भावः । 'व[।]सु[।]धा [ऽ]धि[।]प[ऽ]त्य[।]मि[।]ह[।], दे[ऽ]व[ऽ], ना[ऽ]र्थ[।]ये[ऽ]' इति लक्षणसङ्गतिः ।। अस्य नामान्तरण्याह– **कनकप्रभा, जया, सुमङ्गलीति केचिदाहरिति । मनोवतीति भरत** इति च ।। अ० २, सू०–२१० ।।

न्जौ न्सौ गो मदललिता ।।२११।।

नजनसगाः । यथा– कलितकलङ्कशितिसिचयसंपत्, करदलितेद्धतिमिरयमुनाम्बुः । प्रथयति गौरवपुरमृतरश्मिर्मुशलधरस्य समदललितानि ।। २११.१. ।।

अष्टादशं प्रकारमाह– **न्जौ न्सौ गो मदललितेति** । विवृणोति– **नजनसगाः** इति– नगण-जगण-नगण-सगणा गुरुश्च '।।।.ऽऽ।.।।।.।।ऽ.ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य, तत् मदललितानामकमतिजगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– कलितेति**– कलितकलङ्कशितिसिचयसम्पत्– कलिता– स्वीकृता, कलङ्कमिव शितिसिचयस्य– नीलवरस्त्रस्य, सम्पत्– लक्ष्मीर्येन, करदलितेद्धतिमिरयमुनाम्बुः– करैः– किरणैः [हस्तैश्च], दलितं– दूरीकृतम्, इद्धतिमिरमिव– घोरान्धकार इव, यमुनाम्बु– कालिन्दी [नील] जलं येन सः, मुसलधरस्य– बलभद्रस्य, गौरवपुरमृतराशिमः– धवलशरीराभिन्नश्चन्द्रः, समदललितानि– मत्तक्रीडितानि, प्रथयति– प्रख्यापयति । अत्र बलदेवस्य गौरवपुषः चन्द्रत्वेन रूपणं प्रदर्शितम्, चन्द्रे कलङ्कमिव तस्य शरीरे नीलबस्त्रमस्ति, चन्द्रोऽन्धकारं दूरीकरोति एतद्वपुरपि नीलं यमुनाजलं दूरीकरोतीति कथा पुराणेषु प्रसिद्धा, तथा च चन्द्रं दृष्ट्वा बलभद्रस्य मत्तक्रीडितानि स्मृतिपथमवतरन्तीति चन्द्रस्तत्प्रथने कतृत्वं प्रप्त इवेति रूपकगर्भोत्प्रेक्षा । 'क[।]लि[।]त[।]क[।]लं[ऽ]क[।]शि[।]ति[।]सि[।]च[।]य[।]सं[ऽ]पत्[ऽ]' इति लक्षणसङ्गति ।। अ० २, सू० २११ ।।

स्जौ सौ गः कुटजम् ।।२१२।।

सजससगाः । यथा– परमं प्रकर्षमधिरुह्य विद्ध्यात्, किमिव प्रवासविष-

मस्थितिभाजाम् । कुरुते यतः प्रथमतोऽपि घनर्तुः कुटजप्रसूनरजसा जगदन्धम् ॥ २१२.१ ॥ भ्रमर इत्यन्यः ॥ २१२.१ ॥

ऊनविंशं प्रकारमाह- **स्जौ सौ गः कुजटमिति** । विवृणोति- **सजसगाः** इति- सगण-जगणौ सगणद्वयं गुरुश्च '।।ऽ.।ऽ।.।।ऽ.।।ऽ.।।ऽ.ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् कुटजनामकमतिजगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । **यथा परममिति**, घनर्तुः- मेघसमयः, परमं- चरमं, प्रकर्षम्- उत्कर्षम्, अधिरुह्य- सम्प्राप्य, प्रवासविषमस्थिति भाजां- प्रवासे- गृहाद् दूरस्थाने निवासे, विषमां- कठिनां, स्थितिम्-अवस्थां भजन्तीति तादृशानां जनानां, किमिव- अवर्णनीयं तत्तदुःखं, विदध्यात्- कुर्यात्, यतः- यस्मात् कारणात्, प्रथमतः- प्रारम्भसमये अपि, कुटजप्रसूनरजसा- कुटनानां- नीपानां, प्रसूनरजसा- पुष्परागेण, जगत्- संसारम्, अन्धं- दृष्टिविकलं, कुरुते- विदधाति । येनादावेव सर्वं जगदन्धीकृतं स स्वप्रकर्षसमये स्वत एव विषमस्थितौ पतितानां पान्थानां कृते कानि कानि दुःखानि दद्यादिति कथं वर्णयितुं शक्यत इति भावः । प[।]र[।]मं[ऽ], प्र[।]का[ऽ]र्ष[।]म[।]धि[।]रु[ऽ]ह्य[।]वि[।]द[ऽ]ध्यात्[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः । २१२।११ अस्य नामान्तरमाह- **भ्रमर इत्यन्य** इति ॥ अ० २, सू० २१२ ॥

नौ त्सौ गो गौरी ॥२१३॥

ननतसगाः । यथा- ननु भव कुसुमेषो !निशितशस्त्रस्तृणमसि यतिनोऽस्य प्रशमवृत्तेः । क्वचिदपि खलु तेऽन्ये मनसि येषां निवसति मृगनेत्रा कनकगौरी ॥ २१३.१ ॥

विंशं प्रभेदमाह- **नौ त्सौ गो गौरीति** । विवृणोति- **न-न-त-स-गा** इति- नगणद्वयं तगण-सगणौ गुरुश्च '।।।.।।।.ऽऽ।.।।ऽ.ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् गौरीनामकमतिजगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- ननु भवेति**- हे कुसुमेषो !- पुष्पबाण !, निशितशस्त्रः- तीक्ष्णायुधः, भवभूयाः, ननु इति कोमलामन्त्रणे, प्रशमवृत्ते- अन्तरिन्द्रियनिग्रहशीलस्य, अस्य यतिनः- जिते-

न्द्रियस्य साधोः, [कृते], तृणम्– अतिदुर्बलः, असि– भवसि, अयं त्वां तृणमिव मन्यत इति भावः । ते अन्ये– तथा भूताः परे जनाः, क्वचिदपि– क्वापि भवेयुः, येषां मनसि– चित्ते, कनकगौरी– काञ्चनधवला, मृगनेत्रा– हरिणनयना [कामिनी], निवसति खलु– निश्चितं वासं विदधाति । अयमाशयः– कामः– कुसुमबाण इति प्रसिद्धः, स यदि तीक्ष्णशस्त्रोऽपि स्यात् तथापि निगृहीतेन्द्रियाणां यतिनां किमपि कर्तुं न शक्नोति किमत कुसुमबाणतादशायाम् । ये च केचन कनकगौरीं कामिनीमेव हृदये कुर्वन्तस्तिष्ठन्ति ते यत्र क्वचन भवेयुः, तल्लक्ष्यतां– कामबाणवेध्यतां यास्यन्ति, न यतिन इति । 'यति' शब्द इकारान्तो मुन्यादिषु प्रसिद्धः, 'यतिन्' इति च इन्नन्तः, यमनं– यतमिति भावक्तान्तान्मत्वर्थीयेनेना सिद्धोऽन्य एवेन्द्रियनिग्रहशालिवाचक इति तस्यैवेह प्रयोगः । 'न[।]नु[।], भ[।]व[।], कु[।]सु[।]मे[ऽ]षो[ऽ], नि[।]शि[।]त[।]श[ऽ]स्त्रः [ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ।। अ० २, सू०–२१३ ।।

त्मौ स्जौ गो लक्ष्मीः ।।२१४।।

नभसजगाः । यथा– विद्वद्गणैरुचितमुदीर्यते सदा सिद्धेशनन्दन! पुरुषोत्तमो भवान् । य त्वां स्वयंवरविधिनाभ्युपेयुषी लक्ष्मीरियं रणमकराकरोत्थिता ।। २१४.१. ।।

लक्षितक्रमेण एकविंशं प्रकारमाह– **त्मौ स्जौ गो लक्ष्मीरिति** । विवृणोति– **तमसजगाः** इति– तगण-भगण-सगण-जगणा गुरुश्च 'ऽऽ।.ऽ।.।।ऽ. ।ऽ।.ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् लक्ष्मीनामकमतिजगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– विद्वद्गणैरिति**, हे सिद्धेशनन्दन !– सिद्धराजसूनो !, भवान् पुरुषोत्तमः– पुरुषेषु, उत्तमः– श्रेष्ठः, अथ च विष्णुः [इति], विद्वद्गणैः– विदुषां समूहैः, सदा– सर्वदा, उचितं– योग्यम्, उदीर्यते– कथ्यते, यत्– यस्मात्, रणमकराकरोत्थितारणः– संग्राम एव मकराकरः– समुद्रः, तस्मादुत्थिता– निर्गता, इयं– प्रत्यक्षमवलोक्यमाना, लक्ष्मीः– [राजलक्ष्मीः], स्वयंवरविधिना– स्वेच्छास्वीकारप्रकारेण, त्वां– भवन्तम्, अभ्युपेयुषी– समुपगता । समुद्रादुत्थिता लक्ष्मीः पुरुषोत्तमं [विष्णुं] स्वयं वृतवतीति पुराण-

प्रसिद्धिमनुरुध्य रणसमुद्रोत्थितया लक्ष्म्या स्वयं वृतं त्वां विद्वज्जना यत् पुरुषोत्तमं कथयन्ति तदुचितमेवेति भावः। 'वि[ऽ]द्व[ऽ]द्व[।]णै[ऽ]रु[।]चि[।]त[।]मु[।]दी[ऽ]र्य[।]ते[ऽ], स[।]दा[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–२१४ ॥

त्मौ जौ गो अभ्रकम् ॥२१५॥

तमजजगाः। यथा– अभ्यस्यतीव रसवादकलामयं सान्ध्यः क्षणोऽभिमतचन्द्रमहोदयः। तारौषधिप्रकटनाभिरतः सखे ! प्रोद्दीपयन् विविधवर्णमिहाभ्रकम् ॥ २१५.१ ॥

द्वाविंशं प्रभेदमाह– **त्मौ जौ गो अभ्रकमिति**। विवृणोति– **तमजजगाः** इति। तगण-भगणौ जगणद्वयं गुरुश्च 'ऽऽ।.ऽ।।.।ऽ।.ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् अभ्रकं नाम अतिजगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– अभ्यस्यति वेति**, हे सखे !– मित्र !, इह– **अस्मिन् समये, अभिमतचन्द्रमहोदयः**– अभितः– इष्टः, चन्द्रस्य– शशिनः, महोदयो यस्य, पक्षे– **अभिमतः**– इष्टः, चन्द्रस्य– सुवर्णसम्बन्धी, महोदयः– महाचन्द्रोदयनामा रसो **यस्य** सः, **तारौषधिप्रकटनाभिरतः**– ताराः– नक्षत्राण्येव ओषधयः, तेषां **प्रकटने**– प्रकाशने, अभिरतः– लग्नः पक्षे तारं– रुप्यमेव, **ओषधिः**– भैषेज्यं, **तस्य प्रकटने**– प्रकाशने, **अभिरतः**– लग्नः, **विविधवर्णम्**– **अनेकरूपम्, अभ्रकं**– मेघं, पक्षे रसविशेषं स्वनाम्ना प्रसिद्धम्, **प्रोद्दीपयन्**– प्रकाशयन्, पक्षे वह्निना संस्कुर्वन्, **अयं**– दृश्यमानः, **सांध्यः**– सायंकालिकः, **क्षणः**– कालकला, **रसवादकलां**– रसायनप्रक्रियाम्, **अभ्यस्यतीव**– शीलयतीवेत्युत्प्रेक्षा। यथा रासायनिकज्ञानाभिलाषी महाचन्द्रोदय निर्माणेच्छु रूप्यादिसंस्कारं करोति तथा सान्ध्यक्षणस्य चन्द्रमहोदयः, ताराप्रकाशश्रेष्ट इति तदर्थं रसवैद्यः **अभ्रकं** भस्मीकर्तुं प्रोज्वालयति, सान्ध्यक्षणोऽपि नानावर्णमेघं प्रकाशयति, इत्युभयोः साधर्म्यदृष्टेः सान्धयक्षणस्य रसवाद कलशिक्षणमुत्प्रेक्ष्यते। 'अ[ऽ]भ्य[ऽ]स्य[।]ती[ऽ]व[।], र[।]स[।]वा[ऽ]द[।]क[।]ला[ऽ]मयं[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–२१५ ॥

म्तौ स्रौ गः कोद्दुम्भो ङैः ॥२१६॥

मतसरगाः । ङैरिति पञ्चभिर्यतिः । यथा– लक्ष्मीः कान्ताभिर्विकचनेत्रोत्पलाभिस्ताम्बूलं पत्रैः परिणतैर्वानवासैः । काव्यं कोद्दुम्भाभिधनवच्छन्दसेदं चेतोहारित्वं भजति वैदग्धभाजाम् ॥ २१६.१ ॥

लक्षितवृत्तानां क्रमानुसारं त्रयोविंशं प्रकारमाह– **म्तौ स्रौ गः कोद्दुम्भो ङैरिति** । विवृणोति– **मतसरगाः । ङैरिति पञ्चभिर्यतिरिति**– मगण-तगण-सगण-रगणा गुरुश्च ऽऽऽ.ऽऽ।.।।ऽ.ऽ।ऽ.ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य-तत्, पञ्चभिश्च यतिर्यत्र कोट्टुम्भनामकमतिजगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– लक्ष्मीः कान्ताभिरिति**, लक्ष्मीः– धनधान्यादिसम्पत्, विकचनेत्रोत्पलाभिः– विकचे– विकसिते, नेत्रोत्पले– नयनकुवलये यासां ताभिः कान्ताभिः, चेतोहारित्वं– हृदयहारिणीत्वं, भजते– प्राप्नोति, ताम्बूलं– चूर्ण-पूगादिसहितं नागवल्लीपुटकं, परिणतैः– परिपक्वैः, वानवासैः– वनवासदेशोद्भवैः, कोङ्कणदेशात् पूर्वो भागो वनवासदेशः, तथा च रतिरहस्ये– "सर्वंसहा मध्यमवेगभाजस्त्रियो रमन्ते वनवासदेश्याः" [५।१८], पत्रैः– दलैः, चेतोहारित्वं भजति, वैदग्ध्यभाजां– काव्यकरणचातुरीमताम्, इदं– काव्यं, कोदुम्भाभिधनवच्छन्दसा– कोद्दुम्भनामकनूतनवृत्तेन, चेतोहारित्वं भजत इत्यन्वयः । 'ल[ऽ]क्ष्मीः[ऽ], का[ऽ]न्ता[ऽ]भिः[ऽ], वि[।]क[।]च[।]ने[ऽ]त्रो[ऽ]त्प[ऽ]ला[ऽ]भिः[ऽ]' इति लक्षणसंगतिः ॥ अ० २, सू०– २१६।१ ॥

स्यौ स्जौ गः सुदन्तम् ॥ २१७ ॥

सयसजगाः । यथा– त्रिदिवं व्रजद्भिर्दिविषत्पतेः पुरः सुभटैर्जवान्निर्दलिता इवार्गलाः । करवालघातैस्त्रुटितास्तदा समिद्वसुधासु दन्ताः करिणां चकाशिरे ॥ २१७.१ ॥

चतुर्विंशं प्रकारमाह– **स्यौ स्जौ गः सुदन्तम्** इति । विवृणोति– **सयसजगाः** इति– सगण-मगण-सगण-जगणा गुरुश्च '।।ऽ.ऽऽ.।।ऽ.ऽ।.ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् सुदन्तनामकमतिजगतिजातिच्छन्द इत्यर्थः ।

उदाहरति– **यथा– त्रिदिवमिति**, तदा– तस्मिन् समये, सुभटैः– वीरैः, समिद्वसुधासु– युद्धभूमिषु, करवालघातैः– खड्गप्रहारैः, त्रुहिताः– छिन्नाः, करिणां– हस्तिनां, दन्ताः, त्रिदिवं– स्वर्गं, व्रजद्भिः– गच्छद्भिः [सुभटैः], जवाद्– वेगात्, निर्दलिताः– भग्नाः, दिविषत्पतेः– इन्द्रस्य, पुरः– नगर्याः, अर्गला इव– कपाटपिधानदण्डा इव, चकाशिरे– शुशुभुः । संग्रामे रिपुसैन्यं निहत्य तद्दन्तानां च दन्तांरिछत्वा स्वर्गं प्रति वेगाद्गच्छद्भिर्वीरैर्भग्नाः स्वर्गस्यार्गला इवेह करिदत्ताः प्रतिभान्तीत्यर्थः । 'त्रि[।]दि[।]वं[ऽ], व्र[।]ज[ऽ]द्भिः[ऽ], दि[।]वि[।]ष[ऽ]त्प[।]तेः[ऽ], पु[।]रः[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥अ० २, सू०–२१७॥

नौ सौ गः कमलाक्षी ॥२१८॥

यथा– विरचितनिबिडतरोत्कलिकाभिः, कमिव नवमदजुषं न विदध्युः ।
सपदि शरदि सरितः कलहंसप्रकटितगतिललिताः कमलाक्ष्यः ॥ २१८.१ ॥

लक्षितेष्वस्य भेदेषु पञ्चविंशं प्रकारमाह– **नौ सौ गः कमलाक्षी**ति– नगणद्वयं सगणद्वयं गुरुश्च '।।।.।।।.।।ऽ.।।ऽ.ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् कमलाक्षीनामकमतिजगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– विरचितेति**, शरदि– शरद्दतौ, कलहंसप्रकटितगतिललिताः– कलहंसैः– मरालैः, प्रकटितानि गतिललितानि– गमनक्रीडितानि यासु ताः, कमलाक्ष्यः– कमलान्येवाक्षीणि यासां तथाभूताश्च सरितः– नद्यः, विरचितनिबिडतरोत्कलिकाभिः– निर्मितसघनवीचिभिः, कमिव– जनं, सपदि-शीघ्रं, नवमदजुषं– नूतनमत्तभावभाजिनं, न विदध्युः– न कुर्युः, अपि तु सर्वमेवजनं तथाविधं कुर्युरिति । कमलाक्षीति विशेषणमहिम्नाऽक्षिप्ताः कामिन्योऽपि कलहंसवत् प्रकटितानि गतिललितानि याभिस्तथाभूता भवन्ति, ताश्च विरचितनिबिडतरोत्कलिकाभिः– कृतघनरणरणकैः, कमिव जनं शरदि सपदि नवमदजुषं न विदध्युरिति कवेराकूतम् ॥ 'वि[।]र[।]चि[।]त[।]नि[।]बि[।]ड[।]त[।]रो[ऽ]त्क[।]लि[।]का[ऽ]भिः[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–२१८ ॥

नीगौ त्वरितगतिः ॥२१६॥

नगणचतुष्टयं गुरुश्च । यथा- नृवर ! तव धनुरधिगतगुणं, ध्वनति च युधि भयवशतरला । कलयति च पिचुनिचयतुलनां त्वरितगतिररिनृपतिपृतना ॥ २१६.१ ॥ लघुगतिश्चपला वेत्यन्ये ॥ २१६.१ ॥ १३।२६ ॥

लक्षितेषु षड्विंशं प्रकारमाह- **नीगौ त्वरितगतिरिति** । विवृणोति- **नगणचतुष्टयं गुरुश्चेति**- "समानेनैकादिः" [१-४] इति नियमेन नीत्यस्य नगणचतुष्टयवाचकत्वादिति भावः, तथा च '।।।.।।।.।।।.।।।.ऽ.' इत्येवं रूपैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् त्वरितगतिनामकमतिजगतीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- नृवरेति**, हे नृवर !- मनुजश्रेष्ठ !, अधिगतगुणम्- आरूढज्यं, तव- भवतः, धनुः- कोदण्डं, युधि- सङ्ग्रामे, ध्वनित च- शब्दं करोति, किंच, अरिनृपतिपृतना- शत्रुराजबलं, भयवशतरला- दरेण चञ्चला, त्वरितगतिः- शीघ्रगमना सती, पिचुनिचयतुलनां- तूलसमूहसमतां, कलयति च- धारयति च, तव धनुषि अधिज्ये सत्येव [तत्समकालमेव] तव रिपवस्तूलानीव यतस्ततः पलायन्ते इति भावः । अस्य नामान्तरे आह- **लघुगतिश्चपला वेत्यन्य** इति । 'नृ[।]व[।]र[।], त[।]व[।], ध[।]नु[।]र[।]धि[।]ग[।]त[।]गु[।]णं[s]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-२१६ ॥

इत्थमतिजगतीजातेः प्रसिद्धतराः षड्विंशतिभेदा लक्षिताः, प्रस्तारगत्या तु त्रयोदशाक्षरपादस्य वृत्तस्य ८१६२ भेदा भवन्ति । तदुक्तं भरतेन-

"शतमष्टौ सहस्राणि द्व्यधिका नवतिः पुनः ।
जगत्यामतिपूर्वायां वृत्तानां सर्वशो भवेत् ॥" इति [भ० ना० शा० १५।५६]
॥ १३-२६ ॥

॥ इत्यतिजगती ॥

शकर्यौ नौ सौ लगावपराजिता छैः ॥२२०॥

ननरसलगाः । छैरिति सप्तभिर्यतिः । यथा- शशधरवदनं कुशेशयलोचनं, शुचिरुचिरुचिरं ललाटतटस्थितम् । विशदकरुणयाधिवासितमृद्धयो, जिनमनुसरतां भवन्त्यपराजिताः ॥ २२०.१ ॥

अतः परं चतुर्दशाक्षरपादां शक्करीजातिं वर्णयितुमुपक्रमते– **शक्र्यां नौ सौ म्गावपराजिता छैरिति** । विवृणोति– **ननरसलगाः । छैरिति सप्तभिर्यतिरिति**– नगणद्वयं रगण-सगणौ लघुगुरु च '।।।.।।।.ऽ।ऽ.।।ऽ.।ऽ.' इत्येवंरूपैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत्, सप्तभिश्च यतिर्यत्र तत् अपराजितानामकं शक्करीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– शशधरवदनमिति**, शशधरवदनं– चन्द्राननं, कुशेशयलोचनं– शतपत्रसमाननेत्रं, शुचिरुचिरुचिरम्– उज्जवलकान्तिभासितम्, ललाटतटस्थितं– स्वस्य सदा तं प्रति प्रह्वत्वेन स्वललाटप्रान्ते वर्तमानमिव, विशदकरुणया अधिवासितं– निर्मलदयया भावितं, जिनं– देवम्, अनुसरताम्– आनुकूल्येन सेवमानानां जनानाम्, ऋद्धयः– सम्पदः, अपराजिताः– परानभिभवनीयाः, भवन्ति– जायन्त इत्यर्थः । श[।]श[।]ध[।]र[।]व[।]द[।]नं[।], कु[।]शे[ऽ]श[।]य[।]लो[ऽ]च[ऽ]नं[ऽ]' [सप्तभिश्च यतिः] इति लक्षणसमन्वयः ।। अ० २, सू०–२२० ।।

म्सौ म्भौ गावलोला ॥२२१॥

मसमभगगाः । छैरिति वर्तते । यथा– आत्मारामपदैकव्यापाराभिरतानां, संसाराब्धिरगाधस्तेषां गोष्पदमात्रम् । अन्तस्तत्त्वसमाधेः प्राणायामनिरोधात्, नासावंशनिषण्णा येषां दृष्टिरलोला ॥ २२१.१ ॥

द्वितीयं प्रभेदमाह– **म्सौ म्भौ गावलोले**ति । विवृणोति– **मसमभगगाः । छैरिति वर्तते** इति– मगण-सगण-मगण-भगणा गुरुद्वयं च 'ऽऽऽ.।।ऽ.ऽऽऽ.ऽ।।.ऽऽ' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत्, सप्तभिश्च यतिर्यत्र तत् अलोलानामकं शक्करीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– आत्मारामे**ति, आत्मारामपदैकव्यापाराभिरतानाम्– आत्मनि– स्वस्वरूप एव, आ-समन्ताद् रमणम्– आत्मारामः, तत् च पदं– स्थानं, तत्र मनसः स्थितिविशेषः, तस्य य एको– मुख्यो व्यापारः, तत्राभिरतानां लग्नानां, तेषां– मनुजधुरीणानां कृते, अगाधः– दुस्तरः, संसाराब्धिः– जगत्समुद्रः, गोष्पदमात्रं– गवां पदचिह्नमिव सुतरम्, तेषां केषां ? येषां– जनानाम्, अन्तस्तत्त्वसमाधेः– अन्तस्तत्त्वे– आभ्यन्तररहस्ये वस्तुनि, समाधेः– चितैकाग्र्यात्, प्राणायामनिरोधात्– निरोधाख्यकुम्भकप्राणायामात्, नासावंशनिषण्णा– नासिकाग्रभागस्थिता, दृष्टिः,

अलोला- स्थिरा भवति । ये समाधौ स्थिराः सन्त आत्मतत्त्वं चिन्तयन्ति ते सुखेन संसारसागरं तरन्तीति भावः । आ[ऽ]त्मा[ऽ]रा[ऽ]म[।]प[।]दै[ऽ]क[।]व्या[ऽ]पा[ऽ]रा[ऽ]भि[।]र[।]ता[ऽ]नां[ऽ]' [सप्तभिश्च यतिः] इति लक्षणसंगतिः ॥ अ० २, सू०-२२१ ॥

नौ म्नौ ल्गौ प्रहरणकलिता ॥२२२॥

ननमनलगाः । छैरिति वर्तते । यथा- तव गुणनिकरैरपि दृढविपुलैः, रहितसमुदयः सपदि नियमितः । नरपतितिलक त्वमिह भुजलतां, प्रथयसि किमसिप्रहरणकलिताम् ॥ २२२.१ ॥

तृतीयं प्रकारमाह- **नौ म्नौ ल्गौ प्रहरणकलितेति** । विवृणोति- **नन-भ-न-लगाः । छैरिति वर्तते** इति- नगणद्वयात् परतो भगणनगणौ लघुर्गुरुश्च '।।।.।।।.ऽ।।.।।।.।ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत्, सप्तभिश्च वर्णैर्यतिर्यत्र तत्, प्रहरणकलितेतिनामकं शक्करीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- तव गुणनिकरैरिति**, हे नरपतितिलक !- राजश्रेष्ठ !, दृढविपुलैः- दृढैः- स्थास्नुभिः, विपुलैः- आयामवद्भिश्च, तव- भवतो, गुणनिकरैः- गुणाः- शौर्यादयः, गुणाः- रज्जव इव, तेषां समूहैः, अहितसमुदयः- शत्रुसमूहः, सपदि- शीघ्रं, नियमितः- नियन्त्रितः, [ततः] त्वं असिप्रहरणकलितां- खड्गप्रहारशालिनीं, भुजलतां- बाहुवल्लीम्, इह- जगति, किं- कस्मै प्रयोजनाय प्रथयसि- प्रख्यापयसि । यदि असि प्रहारिण्या भुजलतायाः कार्यं रिपुनियनं गुणैरेव कृतं तर्हि भुजलताख्यातिर्व्यर्थेवेति भावः । त[ऽ]व[।], गु[।]ण[।]नि[।]क[।]रै[ऽ]र[।]पि[।], दृ[।]ढ[।]वि[।]पु[।]लै:[ऽ]' इति सप्तमिश्च यतेः सत्त्वादपि लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-२२२ ॥

नौ म्यौ ल्गौ करिमकरभुजा ॥२२३॥

ननमयलगाः । छैरिति वर्तते । यथा- रणभुवि नृपते ! निशितदण्डेन ते, रिपुभटकरटिप्रोन्माथिना जृम्भितम् । जलनिधिजठरे पाठीनकूर्मावली करिमकरभुजौर्वेणेव तेजस्विना ॥ २२३.१ ॥

चतुर्थं प्रभेदमाह- **नौ म्यौ ल्गौ करिमकरभुजेति** । विवृणोति- **ननमय-**

लगा इति । छैरिति वर्तते इति च, नगणद्वयात् परतो मगण-यगणौ लघुर्गुरुश्च '।।।.।।।.ऽऽऽ.।ऽऽ.।ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत्, सप्तभिश्च यतिर्यत्र तत् करिमकरभुजानामकं शक्करीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- रणभुवी**ति, हे नृपते !- राजन् !, रणभुवि- संग्रामाङ्गणे, रिपुमट-करटिप्रोन्माथिना- शत्रुसैन्यस्थगजमर्दकेन, ते- तव, निस्त्रिंशदण्डेन- खड्ग-यष्टया, जलनिधिजठरे- समुद्रोदरे, पाठीनकूर्मावलीकरिमकरभुजा- पाठीनो- मत्स्यविशेषः, कूर्मः- कमठश्च, तयोरावली- समूहः, करिणो- गजाः, मकरा- यादोविशेषाश्च, तान् भुङ्क्ते इति तेन, तेजस्विना- दीप्तिमता, और्वेण- वड-वानलेनेव, जृम्भितं- स्वोत्कर्षः प्रकाशितः । समुद्रे वडवानल इव समराङ्गणे तव निस्त्रिंशश्चकासांचक्रे इति भावः । 'र[।]ण[।]भु[।]वि[।], नृ[।]प[।]-ते[ऽ], नि[ऽ]स्त्रिं[ऽ]श[।]दं[ऽ]ण्डे[ऽ]न[।]ते[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० २२३. ॥

नौ तौ गौ वसन्तः ॥२२४॥

ननततगगाः । छैरिति वर्तते । यथा- सखि ! भवति भवच्छ्लेषगण्डूषपाद-तहतिभिरियं यत्प्रसूनप्रसूतिः । कुरबकबकुलाशोकमुख्यद्रुमाणां, तदिह ननु तवायत्तसंपद् वसन्तः ॥ २२४.१ ॥ नन्दीमुखीत्येके ॥ २२४.१ ॥

पञ्चमं प्रकारमाह- **नौ तौ गौ वसन्तः** इति । विवृणोति- **नन-तत-गगाः इति । छैरिति वर्तते** इति च । नगणद्वयात्परतस्तगणद्वयं लघुगुरू च '।।।.।।।.ऽऽ।.ऽऽ।.।ऽ.' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य, सप्तभिश्च यतिर्यत्र तत् वसन्तनामकं शक्करीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- सखि ! भव-तीति**- हे सखि ! यत्- यस्मात् भवच्छ्लेष-गण्डूष-पादप्रतिहृतिभिः- भव-त्याः श्लेषः- आलिङ्गनं, गण्डूषः- निष्ठीवनं, पादप्रतिहृतिः- चरणप्रहारः, तैः कुरबकबकुलाशोकमुख्यद्रुमाणां- कुरबकश्च बकुलश्च अशोक ? चेति ते मुख्याः प्रधानानि येषां तेषां द्रुमाणां- वृक्षाणाम्, इयं- दृश्यमाना, प्रसून-प्रसूतिः- पुष्पोद्गमः, भवति- जायते, तत्- तस्मात् कारणात्, इह- जगति, वसन्तः, तवायत्तसंपत्- त्वदधीनलक्ष्मीकः, ननु निश्चितम् । अयमाशयः-

"पादाघातादशोको विकसति बकुलो योषितामास्यमद्यैः" इत्यादिकविसमय-प्रसिद्धचा सुन्दर्या आलिङ्गन-मद्यगण्डूष-पादाघातैः कुरबकादिषु वासन्तपुष्पवृक्षेषु पुष्पोद्गमो भवतीति स्थितौ वसन्तस्त्वदधीनसम्पदेवेति काचिच्चाटुकारिणी नायिकामाहेति। 'स[।]खि[।], भ[।]व[।]ति,भ[।] व[ऽ]च्छ्ले[ऽ]ष[ऽ]ग[ऽ]ण्डू[ऽ]ष[।]पा[ऽ]दा[ऽ]' इति लक्षणसङ्गतिः। अस्य नामान्तरमाह– **नन्दीमुखीत्येके** इति ॥ अ० २, सू०–२२४ ॥

म्रौ तौ गौ लक्ष्मीः ॥२२५॥

मरततगगाः। छैरिति वर्तते। यथा– मामद्वैतानुरागां मान्यतेऽसौ तृणाये त्येवं दौर्भाग्यदुःखोन्मूलनं चिन्तयंती। मन्ये त्वत्खड्गधारां तव्व्रतं कर्तुकामा, कामं सिद्धेन्द्रसूनो सेवते राजलक्ष्मीः ॥ २२५.१ ॥

षष्ठं प्रकारमाह– **म्रौ तौ गौ लक्ष्मीरिति**। विवृणोति– **मरततगगाः। छैरिति वर्तते** इति– मगण-रगणौ तगणद्वयं गुरुद्वयं च 'sss.sIs.ssI.sSI.ss.' इत्येवंरूपैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य सप्तभिश्च यतिर्यत्र तत् लक्ष्मीनामकं शक्करीजातिच्छन्द इत्यर्थः॥ उदाहरति– **यथा– मामद्वैतेति**, हे सिद्धेन्द्रसूनो !–कुमारपाल !, राजलक्ष्मीः– राज्ञां लक्ष्मीः– श्रीः, 'असौ– कुमारपालः, अद्वैतानुरागाम्– अनन्यानुरक्तां मां, तृणाय– तुच्छां, मन्यते– जानाति', इत्येवं चिन्तयन्ती– ध्यायन्ती, दौर्भाग्यदुःखोन्मूलनं–दौर्भाग्येन यद् दुःखं–कुमारपालकृतावहेलनोत्थं कष्टं, तस्य उन्मूलनं– नाशसाधनम्। अत्र सप्तमो वर्णो यतिस्थानं, तत् परपदेन संहितमिति यतिभङ्ग इव भाति, तद्व्रतम्– असिधाराव्रतं, कर्तुकामा– आचरितुमिच्छन्ती, त्वत्खड्गधारां– तवासिधारां, कामम्– अत्यन्तं, सेवते– भजते इति मन्ये। तव खड्गेन राज्ञां लक्ष्मीः स्ववशमानीयत इति दृष्टम्, तत्र हेतुश्चायमेव यत् सा त्वत्कृतां निजावहेलनां दृष्ट्वा कठिनतरमसिधाराव्रतं कर्तुकामेव तवासिधारां सेवत इत्युत्प्रेक्षे, इति भावः। 'मा[ऽ]म[ऽ]द्वै[ऽ]ता[ऽ]नु[।]रा[ऽ]गां[ऽ], म[ऽ]न्य[।]ते[ऽ]सौ[ऽ], तृ[।]णा[ऽ]ये[ऽ]इति लक्षणसंगतिः॥ अ० २, सू०–२२५ ॥

मो रौ सो ल्गौ जया ॥२२६॥

मररसलगाः । छैरिति वर्तते । यथा– माद्यद्गन्धद्विपानां लसद्दशनाशनि–क्रीडाघातैः समन्ताद् विदारितसानवः । यस्योच्चैः सह्यविन्ध्योज्जयन्तहिमालयाः, शैलाः शंसन्ति संप्रत्यपीह दिशां जयान् ॥ २२६.१ ॥

सप्तमं प्रकारमाह– **मो रौ सो ल्गौ जये**ति । विवृणोति– **मररसलगाः । छैरिति वर्तते** इति– मगणो रगणद्वयं सगणोलघुर्गुरुश्च '।।।.ऽ।ऽ.ऽ।ऽ.।।ऽ.।ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य, सप्तभिश्च यतिर्यत्र तत् जयानामकं शक्करीजातिच्छन्द इत्यर्थः ।। उदाहरति– **माद्यद्गन्धे**ति, माद्यद्गन्धद्विपानां– माद्यन्तो ये गन्धद्विपाः– महाकरिणस्तेषां, लसद्दशनाशनिक्रीडाघातैः– लसन्ति– भासमानानि, दशनानि– दन्ता एव, अशनयः– वज्राणि, तेषां क्रीडाघातैः– लीलाप्रताडनैः, समन्तात्– सर्वतः, विदारितसानवः– दलितकूटाः, सह्यविन्ध्योज्जयन्तहिमालयाः– सह्यः, विन्ध्यः, उज्जन्तः, हिमालयेश्चेति स्वस्वनाम्ना ख्याताः, शैलाः– पर्वताः, यस्य– राज्ञः, दिशां जयान्– दिग्विजयान्, सम्प्रत्यपि– बहुतरे काले व्यतीतेऽद्यापि, उच्चैः– उन्नतस्थानात्, शंसन्ति– कथयन्ति एतद्गजैर्भिन्नानि सर्वदिशां शैलाग्राणि अद्याप्यस्य सर्वदिग्विजयस्मारकाणीति भाव । 'मा[ऽ]द्य[ऽ]द्ग[ऽ]न्ध[ऽ]द्वि[।]पा[ऽ]नां[ऽ],ल[।]स[ऽ]द्द[।]श[ऽ]ना[ऽ]श[।]नि[ऽ]' इति लक्षणसङ्गतिः ।। अ० २, सू०–२२६ ॥

म्रम्यलगा ज्योत्स्ना ॥२२७॥

मरमयलगाः । छैरिति वर्तते । यथा – दृप्यत् पातालकुक्षौ स्फूर्जद्गुहायां गिरेर्मूर्च्छत् कान्तारमध्ये भूपाल ! घोरं तमः । नागीनां किंनरीणां पौलिन्दवामभ्रुवां, क्रीडागानेषु कीर्तिज्योत्स्नाऽधुना हन्ति ते ॥ २२७.१ ॥

अष्टमं प्रकारमाह– **म्रम्यल्गा ज्योत्स्ने**ति । विवृणोति– **मरमयलगाः । छैरिति वर्तते** इति– मगण-रगण-मगण-यगणा लघुगुरू च 'sss.ऽ।ऽ.sss.।ऽऽ.।ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य, सप्तभिश्चाक्षरैर्यतिर्यत्र तत् ज्योत्स्नानामकं शक्करीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– दृप्यत्पाता-**

लकुक्षौ इति, नागीनां– पातालनिवासिनीनां नागस्त्रीणां, किन्नरीणां, गिरिगुहावासिनीनां किंपुरुषाङ्गनानां, पौलिन्दवामभ्रुवां– कान्तारवासिनीनां पुलिन्दजातिस्त्रीणां, क्रीडागानेषु– लीलागीतेषु, ते कीर्तिज्योत्स्ना– यशःकौमुदी, पातालकुक्षौ– पातालतले, दृप्यत्– गर्वं वहत्, गिरेः– पर्वतस्य गुहायां– कन्दरायां, स्फूर्जत्– स्फुरत्, कान्तारमध्ये– वने, मूर्च्छत्– परिभ्रमत्, घोरं तमः– गाढमन्धकारं, हन्ति– नाशयति । द[ऽ]प्य[ऽ]त्पा[ऽ]ता[ऽ]ल[।]कु[ऽ]क्षौ[ऽ], स्फू[ऽ]र्जद्[ऽ]गु[।]हा[ऽ]यां[ऽ],गि[।]रेः[ऽ]' सप्तभिश्चयतिरिति लक्षणसंगतिः ॥ अ० २, सू० २२७ ॥

नम्रसलगाः सिंहः ॥२२८॥

नमरसलगाः । छैरिति वर्तते । यथा– समदनागेन्द्राणां कपोलविपाटने, स किल सद्योऽजिघ्रत् प्रियवदनाम्बुजम् । तदिति शक्यं चित्रं चरित्रमहाद्भुतं, हरिणपोतैर्द्रष्टुं न सिंहविजृम्भितम् ॥ २२८.१ ॥

लक्षितक्रमेण नवमं प्रकारमाह– **नम्रसलगाः सिंहः** इति । विवृणोति– **नमरसलगाः** इति । **छैरिति वर्तते** इति– नगण-मगण-सगण-रगण-सगणा लघुर्गुरुश्च '।।।.ऽऽऽ.।।ऽ.ऽ।ऽ.।।ऽ.।ऽ.' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य, सप्तभिश्च यतियंत्र तत् सिंहनामकं शक्करीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– समदे**ति, सः– सिंहः, समदनागेन्द्राणां– मत्तमहागजानां, कपोलविपाटने– गण्डस्थलविदारणसमये, सद्यः– तत्समकालमेव, प्रियावदनाम्बुजं– स्वदयिता [सिंही]मुखपङ्कजम्– अजिघ्रत्– अचुम्बत्, किलेति प्रसिद्धौ । तत् इति– तदेवंप्रकारं, चित्रं– विलक्षणं, चरित्रमहाद्भुतम्– आचरणरूपमाश्चर्यं, सिंहविजृम्भितं– सिंहपराक्रान्तं, हरिणपोतैः– मृगशावकैः, द्रष्टुम्– अवलोकयितुम्[अपि], न शक्यं– न योग्यम् । सिंहो हि तथा विक्रमशाली धीरश्च भवति– यथा स एकतो मत्तगजस्य कपोलं भेदयति परतश्च स्वप्रियामुखं चुम्बति, वीर शृङ्गाररसयोरीदृशं यौगपद्यं कर्तुं का कथा मृगपोतैः [साधारणजनैः] ईदृशमाश्चर्यपूर्णं वस्तु द्रष्टुमपि न शक्यत इति भावः । अत्र सर्वत्र

पादेषु सप्तभिर्यतिः स्पष्टैव । 'स[।]म[।]द[।]ना[ऽ]गे[ऽ]न्द्रा[ऽ]णां[।], क[।]पो[ऽ]ल[।]वि[।]पा[ट][।]ने[ऽ]' इति लक्षणसङ्गति ॥ अ० २, सू०-२२८ ॥

ज्सौ र्नौ गौ राजरमणीयम् ॥२२९॥

जसरनगगाः । छैरिति वर्तते । यथा- समुद्धृतधरित्रीतलः प्रमुदितार्यो, विनम्रतरधाराधरानुसृतपादः । चुलुक्यनृप ! कीर्तिदधत् त्रिपथगां त्वं, विभासि खलु शैलाधिराजरमणीयः ॥ २२९.१ ॥

दशमं प्रकारमाह- **ज्सौ नौं गौ राजरमणीय**मिति । विवृणोति- **जसनरगगाः । छैरिति वर्तते** इति- जगण-सगण-रगण-नगणाः गुरू च 'ा।ऽ।.।।ऽ. ऽ।ऽ.।।।.ऽऽ.' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य, सप्तभिश्च यतिर्यत्र तत् राजरमणीयं नाम शक्करीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- समुद्धृतधरित्रीति**, हे चुलुक्यनृप ! समुद्धृतधरित्रीतलः- समुद्धृतं- प्रचलनाद् रक्षितं धरित्रीतलं- भूतलं येन सः, प्रमुदितार्यः- प्रमुदिता आर्याः- श्रेष्ठा येन [पक्षान्तरे- आर्यागौरी], विनम्रतरधाराधरानुसृतपादः- विनम्रतरैः, धाराधरैः- धाराऽधिपतिभिर्नरवर्मराजादिभिः पर्वतैश्च, अनुसृताः- अनुगताः, पादाः- चरणाः प्रत्यन्त पर्वताश्च यस्य सः, त्रिपथगां कीर्तिं- स्वर्गमर्त्यपातालगामिनीं कीर्तिं, पक्षान्तरे कीर्त्तिमिव त्रिपथगां- गङ्गां, दधत्- धारयन्, त्वं शैलाधिराजरमणीयः- हिमालयवन्मनोहरः, विभासि- शोभसे । चुलुक्यनृपतेः शैलाधिराजस्य च समानैर्विशेषणैर्युक्तत्वेनोपमानोपमेयभावः प्रतिपादितः । विशेषणानां साम्यं च पूर्वप्रतिपादितदिशा स्पष्टमेव । सप्तभिश्च यतिः सर्वत्र, चतुर्थपादे च यद्यपि सप्तमाक्षरस्य पदद्वयसन्धिस्थलत्वं तथापि बहुतरकविप्रयोगानुसारमियान् दोषः सोढव्यः । 'स[।]मु[ऽ]द्धृ[।]त[।]ध[।]रि[ऽ]त्री[ऽ]त[।]लः[ऽ], प्र[।]मु[।]दि[।]ता[।]र्यैः[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-२२९ ॥

म्तौ न्सौ गावसंबाधा ङैः ॥२३०॥

मतनसगगाः । ङैरिति पञ्चभिर्यतिः । यथा- नैतल्लक्ष्माङ्के किमुत कटुरसं बाधा-, हेतुः संलीनं विषमिह सहजप्रीत्या । तेनायं मूर्च्छां विरचयति सुधारश्मिः, शङ्के निःशङ्कः सपदि विरहिलोकानाम् ॥ २३०.१ ॥

एकादशं प्रकारमाह– **म्तौ न्सौ गावसम्बाधा ङैरिति** । विवृणोति– **मतनसगगाः** । **ङैरिति पञ्चभिर्यतिरिति**– मगण-तगण-नगण-सगणा गुरू च 'sss.ssı.ııı.ıs.ss.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य, पञ्चभिश्च यतिर्यत्र तत् असम्बाधानामकं शक्करीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– नैतल्लक्ष्माङ्के** इति, अङ्के– चन्द्रस्य मध्ये, एतत्– परिदृश्यमानं, लक्ष्म– लाञ्छनं, न, उत– तर्हि, किम् ?, कटुरसं– कटुरसयुक्तं, बाधाहेतुः– सर्वस्य, स्वास्थ्य– बाधनकारणं– विषं– गरलं [समुद्रोत्थितम्], सहजप्रित्या– सहजात– बन्धुप्रेम्णा, इह– चन्द्रमसि, संलीनं– श्लिष्टं, तेन– हेतुना, अयं– प्रत्यक्षदृश्यः, सुधाराश्मिः– अमृतदीधितिः [अपि] चन्द्रः, निःशङ्कः सत् विरहिलोकानां– वियोगिजनानां, सपदि– स्वोदयसमकालमेव, मूर्छां– संमोहं, विरचयति– करोति, [इत्यहं] **मन्ये**– उत्प्रेक्षे । सुधाकरस्य मूर्छाकारणत्वमसंभवीति वियोगिमूर्छाकरत्वं तस्यानुपपन्नमिति लाञ्छनस्य विषश्लेषत्वोत्प्रेक्षणेन मूर्छाहेतुत्वं साधितमिति हेतूत्प्रेक्षेयम् । नै[ऽ]त[ऽ]ल्ल[ऽ]क्ष्मा[ऽ]ङ्के[ऽ], कि[।]मु[।]त[।],क[।]टु[।]र[।]सं[ऽ], बा[ऽ]धा[ऽ]' इति पञ्चभिश्च यतिरिति च लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–२३० ॥

त्भौ जौ गौ वसन्ततिलका ॥३१॥

भजजगगाः । यथा– सत्कर्णिकारचितविभ्रमभासमानां, नव्यस्फुरद्रुचिरपत्रलतावलीकाम् । दिष्ट्या वसन्त ! तिलकाञ्चितचारुशोभां, कान्तां वनश्रियमिमां त्वमुपागतोऽसि ॥ २३१.१ ॥ उद्धर्षिणी सैतवस्य । सिंहोन्नता काश्यपस्य ॥२३१.१॥

द्वादशं प्रकारमाह– **त्भौ जौ गौ वसन्ततिलकेति** । विवृणोति– **तभजजगगाः** इति । तगण-भगणौ जगणद्वयं गुरुद्वयं च 'ssı.sıı.ısı.ısı.ss.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् बसन्ततिलकानामकं शक्करीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– सत्कर्णिकारचित्तेति**, हे वसन्त ! सत्कर्णिकारचितविभ्रमभासमानां– सद्भिः, कर्णिकारैः– वृक्षविशेषैः, चितां, वीनां– पक्षिणां, भ्रमः– सर्वतः परिभ्रमणं, तेन भासमानां, पक्षान्तरे च सत्या कर्णिकया– कर्णाभरणविशेषेण, रचितः– कृतो यो विभ्रमः– विलासस्तेन भासमानां, नव्यस्फु-

रद्रुचिरपत्रलतावलीकां– नव्यानूतना, स्फुरन्ती– संचलन्ती, पत्राणां लतानां चावली यस्यास्तां, पक्षे नव्या स्फुरन्ती– प्रकाशमाना पत्रलता– पत्राकाररचनाविशेषः, वली– उदरस्था त्रिवली च यस्यास्तां, तिलकाञ्चितचारुशोभां– तिलकैः– वृक्षविशेषैः, अञ्चिता– पूजिता, चारुशोभा यस्यास्तां, पक्षान्तरे तिलकेन– भालबिन्दुना, अञ्चिता– चारुशोभा यस्यास्तां, कान्तां– कमनीयाम्, इमां– प्रत्यक्षदृश्यमानां, वनश्रियं– वासन्तिकीं वनलक्ष्मीं, त्वम्, दिष्ट्या– भाग्येन, उपागतः– प्राप्तवान् असि । वनश्रियो विशेषणैः काञ्चित् तादृशीं कामिनीमाक्षिपद्भिर्वसन्तान्योक्त्या कस्यचन नायकस्य तादृग्गुणोपेताया नायिकायाः प्राप्तिः सम्भाव्यते– प्रशस्यते । भाग्यादेव तादृशकान्ताया लाभ इति तस्याकूतम् । अत्र समासोक्तिरलङ्कारः । 'सत्[ऽ]क[ऽ]र्णि[।]का[ऽ]र[।]चि[।]त[।]वि[ऽ]भ्र[ऽ]म[।]चा[ऽ]रु[।]शो[ऽ]भां[ऽ]' इति लक्षणसङ्गतिः । अस्य नामान्तरमाह– **उद्धर्षिणी सैतवस्य, सिंहोन्नता काश्यपस्येति**– सैतवनामा आचार्य इदं छन्द उद्धर्षिणीति नाम्ना, काश्यपश्च सिंहोन्नतानाम्ना व्यवहरतीत्यर्थः ॥ अ० २, सू०–२३१ ॥

र्नौ भौ गौ वलना ॥२३२॥

रनभमगगाः । यथा– नव्ययौवननटस्य तनोति नियोगं, निश्चितं वरतनुर्विकसन्मुखरागा । हस्तकैरभिनयं कुरुते ब्रुवती यद्, व्यतेश्नुऽङ्गवलनादि पदे पद एषा ॥ २३२.१ ॥ लतेत्यन्यः ॥ २३२.१ ॥

त्रयोदशं प्रकारमाह– **र्नौ भौ गौ वलने**ति । विवृणोति– **रनभमगगाः** इति– रगण-नगण-भगणद्वय-गुरुद्वयानि 'ऽ।ऽ.।।।.ऽ।।.ऽ।।.ऽऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् वलनानामकं शक्करीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– नव्ययौवने**ति, विकसन्मुखरागा– विकसन्– विकासमधिगच्छन्, मुखरागः– वदनशोभा यस्याः सा, एषा– प्रत्यक्षदृष्टा, वरतनुः– शुभाङ्गी, नव्ययौवननटस्य– नव्यं– सद्यः प्रारब्धं यौवनमेव नटः– नाट्यशिक्षकस्तस्य, नियोगं– व्यापृतिं, निश्चितं– निशङ्कं, तनोति– अनुवर्तनेन विस्तारयति, यत्– यस्मात्, ब्रुवती– किञ्चिदालपन्ती, हस्तकैः– कोमलैः करैः, अभिनयं–

वाच्यार्थनाटनं, कुरुते, पदे पदे- प्रतिपदम्, अङ्गबलनादि- शरीरमोटनादि, व्यश्नुते- घटयति [च] । यदियं वाच्यार्थं हस्तविभ्रमादिभिर्नाटयति, यच्च प्रतिपदं गात्रभङ्गादि करोति तेन विज्ञायते सद्यः समागतेन यौवनेन समुपदिष्टं व्यापारं विस्तारयतीति भावः ॥ अस्य नामान्तरमाह- **लतेत्यन्य** इति- अन्य आचार्य इदं छन्दो लतेति नाम्ना व्यवहरतीति भावः । 'न[ऽ]व्य[।] यौ[ऽ]व[।]न[।]न[।]ट[ऽ]स्य[।], त[।]नो[ऽ]ति[।], नि[।]यो[ऽ]गं[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-२३२ ॥

त्रत्रल्गाः सुकेसरम् ॥२३३॥

नरनरलगाः । यथा- घटयसे ज्यया किमिति काम ! कार्मुकं, यदभवत् पुरस्तव जगद् वशंवदम् ॥ मधुकरीनिनादमयमन्त्रमन्त्रितैर्, जलरुहां सुकेसरपरागचूर्णकैः ॥ २३३.१ ॥

चतुर्दशं प्रकारमाह- **नत्रल्गाः सुकेसरमिति** । विवृणोति- **नरनरलगा** इति- नगण-रगण-नगण-रगणाः लघुगुरू च '।।। ऽ।ऽ.।।। ऽ।ऽ.।ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् सुकेसरं नाम शक्करीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- घटयसे ज्ययेति**, हे काम !, कार्मुकं- धनुः, ज्यया- मौर्व्या, किमिति- कस्मै प्रयोजनाय, घटयसे- योजयसि, यत्- यस्माद्धेतोः, पुरः- कार्मुकेज्यायोजनात् पूर्वमेव, मधुकरीनिनादमयमन्त्रमन्त्रितैः- मधुकरीणां- भ्रमरीणां, निनादमयैः- शब्दपूर्णैः, मन्त्रैः, मन्त्रितैः- कृतसंस्कारैः, जलरुहां- कमलानां, सुकेसरपरागचूर्णकैः- सुन्दरकेसरोद्भतैः परागचूर्णकैः पुष्परजोभिः, जगत्- विश्वम्, तव- भवतो, वशंवदम्- आयत्तम्, अभवत्- अजायत । जगद्वशीकरणायैव त्वया धनुषि मौर्वी नियोज्यते, तच्चेत् पूर्वमेव मधुकरीशब्दसहकृतैः कमलपरागैः कृतं तर्हि ते व्यर्थोऽयं परिश्रम इति भावः । कारणात् पूर्वमेव कार्यसिद्धिरूपातीशयोक्तिः । घ[।]ट[।]य[।]से[ऽ], ज्य[।]या[ऽ],कि[।]मि[।]ति[।],का[।]म[।], का[ऽ]र्मु[।]कं[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०-२३३ ॥

नीर्गावुपचित्रम् ॥२३४॥

नीरिति नगणाश्चत्वारो गद्वयं च । यथा- अनुसर हिमकरकिरणसमूहं,

भज नवकिसलयमृदुशयनीयम् । प्रियसखि ! ननु शरदियमुपतस्थे, यदभिसरति दिनपतिरुपचित्रम् ॥ २३४.१ ॥

पञ्चदशं प्रकारमाह– **नौर्गावुपचित्रम्** इति । विवृणोति– **नौरिति नगणाश्चत्वारो गद्वयं चे**ति, तथा च '।।।.।।।.।।।.।।।.ऽऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् उपचित्रं नाम शक्करीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– अनुसरे**ति, हे प्रियसखि ! हिमकरकिरणसमूहं– चन्द्रकरनिकरम्, अनुसर–आनुकुल्येन भज, नवकिसलयमृदुशयनीयं– नूतनपत्ररचितकोमलशय्यां, भज– आश्रय, इयं शरत्– ऋतुः, उपतस्थे– समागता, ननु इति निश्चये, यत्– यस्मात्, दिनपतिः– सूर्यः, उपचित्रं– चित्रायाः समीपम्, अभिसरति– गच्छति । चित्रामुपगते भानौ शरत् प्रवृत्ता भवतीति तत्र यदाचरितुमुचितं तत् कुर्वेति भावः । 'अ[।]नु[।]स[।]र[।], हि[।]म[।]क[।]र[।]कि[।]र[।]ण[।]स[।]मू[ऽ]हं[ऽ]' इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–२३४ ॥

न्जभ्जलगा धृतिः ॥२३५॥

नजभजलगाः । यथा– विहर नितम्बबिम्बफलिके सुहृशां, गतनिघनानि संचिनु धनानि भृशम् । रचय चिरं च सुन्दरनराधिपतां, तदपि न किंचनास्ति तव चेन्न धृतिः ॥ २३५.१ ॥ मणिकटकमित्यन्ये ॥ २३५.१ ॥

लक्षितक्रमेण षोडशं प्रभेदमाह– **न्जभ्जलगा धृतिरि**ति । विवृणोति– **नजभजलगाः** इति– नगण-जगण-भगण-जगणा लघुगुरू च '।।।.।ऽ।.ऽ।।.।ऽ।.।ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् धृतिनामकं शक्करीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– विहरे**ति, [रे जीव !] सुहृशां– सुनयनानां, नितम्बबिम्बफलके– कटिपश्चान्मण्डलाकारपट्टके, विहर– विहरणं विवेहि, भृशम्– अत्यर्थं, गतनिघनानि– अक्षयतया मतानि, धनानि– वित्तानि, संचीतु– अर्जय, चिरं– बहुकालपर्यन्तम् [आत्मनः] सुन्दरनराधिपतां– शोभननृपत्वं च, रचय– साधय, तदपि– तथापि, किञ्चन– किमपि फलं, न अस्ति, चेत्– यदि, तव– भवतः, धृतिः– सन्तोषः, न [अस्ति] धृतिं विना सर्वे कामाः प्राप्ता अपि नान्तस्तोषाय भवन्तीति सर्वतः प्राथम्येन तदर्थमेव यत्नो विवेय इति भावः । अस्य नामान्तरमाह– **मणिकटकमित्यन्ये** इति । अन्ये केचन इदं छन्दो मणि-

कटक नाम्ना व्यवहरन्तीत्यर्थः । वि[।]ह[।]र[।]नि[।]त[ऽ]म्ब[।]वि[ऽ]फ[ऽ] लब[।]ल[।]के[ऽ]सु[।]द[।]शां[ऽ] इति लक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू०–२३५ ॥

भौ रसलगा दर्दुरकः ॥२३६॥

भभरसलगाः । यथा– मृत्युमुपैति यदा कणशो दल–, त्येष तदापि न हन्त विश्वसनोचितः । कालमवाप्य पुनर्जनश्रवणज्वरं, दुर्जनदर्दुरकः करोति कटूक्तिभिः ॥ २३६. १ ॥

सप्तदशं प्रकारमाह– **भौ रसलगा दर्दुरकः** इति । विवृणोति– भभरसलगा इति । भगणद्वयं रगणः सगणः लघुगुरू च 'ऽ।।.ऽ।।.ऽ।ऽ.।।ऽ.।ऽ' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् दर्दुरकनामकं शक्करी जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– मृत्युमुपैतीति** । **एषः**– बुद्धिस्थः **दुर्जनदर्दुरकः**– दुर्जन इव दर्दुरकः, दुर्जनो दर्दुरक इवेति च, **यदा मृत्युम्**– प्राण वियोगम्, **उपैति**– गच्छति, यदा(च) **कणशः**– कणेन– कणेन वा **दलति**– विदीर्यते, **तदपि न विश्वसनोचितः**– विश्वास पात्रता– योग्यः, **कुत इत्याह कालं**– स्वानुकूलसमयं [वर्षाकालं च] **अवाप्य**– लब्ध्वा **कटूक्तिभिः**– स्वीकटु रटनैः **पुनः**– भूयः **जनश्रवणज्वरं**– लोककर्णपीडां करोति विधत्ते । दर्दूरो [भेकः] वर्षाक्षये मृतोऽपि मृत्सुलीनोऽपि पुनर्वर्षागमे जीवति कटु रटति चेति प्रसिद्धिः, तदुपमया दुर्जनोऽपि जनैर्मृत प्रायतां नीतोऽपि दण्डयातनैर्दलितोऽपि पुनः स्वानुकुलं समयमधिगम्य कटुप्रलापादिभिः सज्जनान्वेदयत्येवेति भावः । मृ[ऽ]त्यु[।]मु[।]पै[ऽ]ति[।]य[।]दा[ऽ]य[।]दा[ऽ]क[।]ण[।]शो[ऽ]द[।]ल[ऽ] त्येषेत्यग्रिमपादे संयोग सत्त्वादस्य गुरुत्वम्, यद्यपि–पादान्ते इत्थं पद विच्छेदोऽनुचितः, तथापि यतिविचारप्रसङ्गे– "द्रष्टव्यो यति चिन्तायां पाद्यादेशः परादिवात्" इत्युक्ततया एवं प्रयोगस्य साधुत्वमनुज्ञातम्] इति लक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू० २३६ ॥

भ्जस्नाद्गौ स्खलितम् ॥२३७॥

भजसनेभ्यः परौ गौ । यथा– पुष्पशररम्यतनुता सलवणत्वं, वाङ्मधुरता चतुरता बहुकलत्वम् । सर्वमपि चास्य सुभगस्य रतये मे, केवलमिदं व्यथयति स्खलितगोत्रम् ॥ २३७. १ ॥ महिता, कान्ता, वनमयूरश्चेत्यन्ये ॥२३७.१॥

अष्टादशं प्रकारमाह– **भ्भस्नाद्रौ स्खलितम्** इति । विवृणोति– **भजसनेम्यः परौगाविति** । भगण-जगण-सगण-नगणेभ्यः परौ गुरू 'ऽ।।.।ऽ।.।।ऽ.।।।.ऽऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् स्खलितं नाम शक्करी जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– पुष्पशरेति** । **अस्य–** पूर्वप्रकान्त नाम्नः **सुभगस्य–** सौभाग्य शालिनः, **पुष्पशररम्यतनुता–** कामदेव सदृशं शरीर-सौन्दर्यम्, **सलवणत्वं–** लावण्यसाहित्यम्, **वाङ्मधुरता–** वचसि माधुर्यम्, **चतुरता–** व्यवहारनैपुण्यम्, **बहुकलत्वम्–** बह्वीभिः कलाभिः शिल्पादिभिः सहितत्वम्; सर्वमपि च अन्यदप्येतद्सम्बन्धि सकलं वस्तु **मे–** मनःस्मिन् अनुरक्तायाः **रतये–** तोषाय, **केवलम्–** एकम् **इदं–** बहुशोऽनुभूतम्, **स्खलित गोत्रम्–** नाम्नि स्वलनम्– प्रमनाम्नः प्रयोगे कर्तव्ये परस्त्रीनाम प्रयोगः व्यथयति पीडयति । सर्वथा समादरणीय गुणोऽप्ययं नाम स्खलेना न्यस्यामनुरक्ततया प्रतीयमानो मां दुःखाकरोतीत्यर्थः । 'पु[ऽ]ष्प[।]श[।]र[।]र[ऽ]म्य[।]त[।]नु[।]ता[ऽ]ता[ऽ]स[।]ल[।]व[।]ण[ऽ]त्वं[ऽ]' इति लक्षण संङ्गतिः ।। अ० २, सू० २३७ ।।

ल्गौ चेदिन्दुवदना ।।२३८।।

भजसनेम्यः परौ लघुगुरू चेदिन्दुवदना । यथा– सस्पृह इव त्वयि रतेरपि दयितस्, त्वद्वदनवीक्षणवशाद् गलितधनुः । ताडयति नैष भवतीं शरनिकरैर्–, इन्दुवदने न रमणे तदसि रता ।। २३८.१. ।।

ऊनविंशं प्रकारमाह– **ल्गौचेदिन्दु वदनेति** । सूत्रान्तरात्पदाध्याहारेण सूत्रं व्याख्याति– **भजसनेभ्यः परौ लघुगुरूचेदिन्दु वदनेति** । पूर्वसूत्रोक्त– भगण-जगण-सगण-नगणेभ्यः परौलघुगुरू 'ऽ।.।ऽ।.।।ऽ.।।।.।ऽ.' इत्येव **यदि पाद** विन्यासः स्यात्– **तर्हि** तत् इन्दुवदना नामकं शक्करीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– सस्पृहइवेति** । हे इन्दुवदने ! चन्द्रानने ! **त्वद्वदनवीक्षणवशात्–** त्वन्मुखाव लोकनात् हेतोः **गलितधनुः** हस्तादभ्रष्ट-चापः **रतेः–** प्रसिद्धायाः कामपत्न्या **दमितः–** पतिः कामः **त्वयि–** भवत्यां **सस्पृहः–** साभिलाषः **इव एष** कामः **भवतीं शरनिकरैः–** बाण-समूहैः **न ताडयति–** न पीडयति **तत्–** तस्मात् कारणात् **रमणे–** स्वपतौ **न**

रता– अनुरक्ता असि । अयमाशयः तव पतिः कामेन भृशं शरैस्ताड्यते- इति सभवत्यां, भृशमनुरक्तः, त्वां तु कामोऽपि स्पृहयत इति त्वयि स न प्रहरति– त्वदा लोकनादेव गलितचापो भवति– इति कामपीडया रहितात्वं स्वपतौ नानुरज्यस इति । 'स[ऽ]स्पृ[।]ह[।]इ[।]व[ऽ]त्व[।]यि[।]र[।]ते[ऽ]र[।]पि[।]द[।]पि[।]तः[ऽ]' इति लक्षणसंङ्गतिः ॥ अ० २, सू०–२३८ ॥

न्भन्ता गौ शरभललितम् ॥२३९॥

नभनतगगाः । यथा– वहसि गन्धकरटिघटां पृष्टदेशे, कररदैः प्रहरसि च मत्ताम्बुवाहे । दलयसि क्षितिधरशिरः पादपातैर्, इदमहो शरभ ललितं ते न यत्नः ॥ २३९. १ ॥

विंशं प्रकारमाह– **न्भन्ता गौशरमललितमिति** । विवृणोति– **नभनतगगा** इति । नगण-भगण-नगण तगणाः गुरू च '।।।.ऽ।।.।।।.ऽऽ।.ऽऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् शरभललितं नाम शक्करीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– वहसि गन्ध करटि धटामिति** । हे **शरभ** ! पक्षिराज ! [अष्टपादूर्ध्वनयन ऊर्ध्वपाद चतुष्टयः ॥ इति लक्षणलक्षितो महा विहगः शरभः] पृष्ठदेशे स्वपृष्ठभागे **गन्धकरटिघटां**– गन्धगजसमूहं **वहसि**– धारयसि, **कररदैः**– हस्तसहितदन्तैः **मत्ताम्बुवाहे** मदयुक्ते मेघे [अथवा मत्त इति सम्बोधनम्] **प्रहरसि च**– प्रहारं च करोषि, **क्षितिधरशिरः**– पर्वत शिखरं **पादपातैः**– चरणनिक्षेपैः **दलयसि**– मर्दयसि **इदं** पूर्वोक्तं सर्वमाश्चर्यकारि कर्म **ते**– तव **ललितं**– क्रीडितं **न यत्नः**– नायास [इति] **अहो**– आश्चर्यम् । करिघटायाः पृष्ठेनोद्वहनम्, जलधरे दन्तैः हस्ताभ्यां च प्रहारः सहैव च गिरिशिखर दलनमित्येतावत्सर्वमाश्चर्यं यौगपद्येन कुर्वन्नपित्वं न परिश्रममनुभवसि– इति अहो तव बलमिति भावः । व[।]ह[।]सि[।]गं[ऽ]ध[।]क[।]र[।]टि[।]ध[।]टां[ऽ]पृ[ऽ]ष्ठ[।]दे[ऽ]शे[ऽ] इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २ सू०–२३९ ॥

तच्छरभा घचैः ॥२४०॥

तच्छरभललितं घचैश्चतुर्भिः षड्भिश्च यतिः शरभासंज्ञम् । यथा– मृगरिपुः

शशकतुलनां यत्पुरस्तात्, कलयति द्विरददलनव्यक्तकेलिः । तव सुतः स इह शरभोऽनन्यवीरः, सुतवती ननु शरभिके त्वं तदेका ॥ २४०.१ ॥

एकविंशं प्रभेदमाह- **तच्छरभा घचैरिति** । विवृणोति- **तच्छरभललितं घचैश्चतुर्भिः षड्भिश्चेद्यतिः, शरभासंज्ञम्** इति । पूर्वोक्तं शरमललितं छन्दः चतुर्भिरक्षरैः षड्भिश्चाक्षरैर्यति युक्तं चेत् शरमासंज्ञं भवतीत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- मृगरिपुरिति** । **द्विरददलन व्यक्तकेलिः**- द्विरदानां गजानां दलने मर्दने व्यक्ता स्पष्टा केलिः क्रीडा यस्य स **मृगरिपुः**- सिंहः **यत्पुरस्तात्**- यदग्रे **शशकतुलनां**- तुच्छमृगविशेषसादृश्यं कलयति धारयति **स तादृशः तव** भवत्याः **सुतः**- पुत्रः **शरभः अनन्यवीरः**- असमशूरः, **तत्**- तस्मात् हे शरभिके ! **त्वम् एका**- अद्वितिया **सुतवती**- पुत्रिणी ननु निश्चितम् । यः किल गजानपि क्रीडया दलयति स सिंहोपि, तव पुत्रस्याग्रे शश इव नीचैः स्थितो भीत इव भवतीति तव पुत्रोऽसौ शरभो वीरेषु मुख्यं इति तन्मात्रत्वं, पुत्रिणीणां धुरि गणनीयेति भावः । वर्णविन्यासः शरभललितवत् मृगरिपुः शशकतुलनां, इत्येवंरूपेण चतुर्भिः षड्भिश्च यतिरपि ॥ अ० २, सू०-२४० ॥

म्भन्या गौ कुटिलम् ॥२४१॥

मभनयगगाः । घचैरिति वर्तते । यथा- श्रीचौलुक्यक्षितिपतिलक दिग्यात्रार्थं, त्वत्सैन्येऽस्मिन् प्रसरति किल पातालेन्द्रः । न्यञ्चद्भूमीभरकुटिलितमूर्ध्नां मन्ये, साहाय्यार्थं रचयति भुजदण्डानुच्चैः ॥ २४१.१ ॥ हंसश्येनीत्येके ॥२४१.॥१४।२२॥

द्वाविंशं प्रभेदमाह- **म्भन्या गौ कुटिलमिति** । विवृणोति- **मभनयगगाः घचैरिति वर्तन** इति । मगण-भगण-नगण-यगणाः गुरूचेति 'sss.s॥.।s।.।ss. ss.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य चतुर्भिः षड्भिश्च यतिर्यत्र तत् कुटिलं नाम शक्करी जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- श्रीचौलुक्येति** । हे श्री चौलुक्यक्षितिप-तिलक ! श्रिया युक्तः चुलुक्यवंशोद्भव एव क्षितिपानां तिलकः श्रेष्ठः तत्सम्बोधनम्, **अस्मिन्**- अग्रतः स्थिते **त्वत्सैन्ये**- तव बले दिग्यात्रार्थं दिशां जयाय यात्रा दिग्यात्रा तदर्थं **प्रसरति सति**- प्रचलति

सति **पातालेन्द्रः**– शेषनागः न्यञ्चद्भूभीभर **कुटिलितमूर्ध्नां** न्यञ्चन्ती नीचैगच्छन्ती या भूमी-पृथ्वी तस्या भरेण भारेण कुटिलितानां वक्रीभूतानां मूर्ध्नां शिरसां साराह्यार्थं=साहायकाय, **भुजदण्डान्**– बाहुस्तम्भान् **उच्चैः**– उपरिभाग स्यात् **रचयति**– विदधाति किल निश्चयेन [इत्यहं] **मन्ये** तर्कयामि । तथा तव बलं विशालं यत् तच्चलने पृथ्वी तथा भारिणी भवति– येन तद्वहने शेषशिरांसि न क्षमाणीति स शिरः साहाय्याम हस्तानपि तत्र योजयतितिभावः । अस्य नामान्तर माह हंसश्येनीत्येक इति । श्री[ऽ]चौ[ऽ]लु[ऽ]क्य[ऽ]क्षि[।]ति[।]प[।]ति[।]ल[।]क[।]दिग्[ऽ]या[ऽ]त्रा[ऽ]र्थं[ऽ] इति लक्षण समन्वयः ॥ अ० २, सू० २४१ ॥ इत्येवं शक्करी जातिच्छन्दसां द्वाविंशती भेदा लक्षिताः प्रस्तारीत्या त्वस्य चतुर्दशाक्षरच्छन्दसः १६३८४ भेदाः भवन्ति । तदुक्तं भरतेन– "शतानि त्रीण्यशीतिश्च सहस्राण्यपि षोडश । वृत्तानि चैव चत्वारि शक्र्याः परिसंख्यया" इति [भ० ना० शा० १४।६०] ॥ २४१ ॥ इति शक्करी जातिच्छन्दः ॥ अ० २, सू०–२४१ ॥

अतिशक्वर्यां स्जसस्या ऋषभः ॥२४२॥

सजससयाः । यथा– जगतां विभुः पृथुजटापिहितांसदेशः, सततं महर्षिगणसेवितपादपद्मः । मकरध्वजप्रमथनप्रथितप्रभावः, ऋषभध्वजः स भगवान् भवतोऽस्तु मूत्यै ॥ २४२.१ ॥

अथातः पञ्चदशाक्षर पादामति शक्करीजातिं वर्णयितुमुपक्रमते– **अति शक्वर्यां स्ज सस्या ऋषभ** इति । विवृणोति– **सजससया** इति । सगणजगणाभ्यां परतः सगणद्वयं जगणश्च 'ा।ऽ.।ऽ।.।।ऽ.।।ऽ.।ऽऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् ऋषभनामकमति शक्करी जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– जगतामिति** । **जगतां**– भुवनानां **विभुः**– व्यापकः स्वामीच **पृथुजटापिहितं प्रदेशः**– पृथ्वीभिरायामिनीभिर्जटाभिः असंस्कृतकेशैः पिहितः छन्नः अंसदेशः स्कन्धप्रान्तो यस्य सः, **सततं**– सर्वदा **महर्षि गणन्**– जितपाद पद्मः सप्तमहर्षिभिः, महर्षिभिः गणैः प्रथामदिभिश्चेति वा पूजितं पादपद्मं यस्य सः, **मकरध्वजप्रमथन प्रथित प्रभावः**– मकरध्वजस्य कामस्य प्रमथने दलने प्रथितः प्रसिद्धः प्रभावो यस्यः सः, **स प्रसिद्धः** भग-

वान् सर्वैश्वर्य सम्पन्नः **ऋषभध्वजः**– ऋषभः वृषोध्वजश्चिन्हं यस्य सः वृषाङ्कः आदिदेव ईश्वरस्य **भवतः**– भूत्यै कल्याणाय **अस्तु**– भूयात् । ज[।]ग[।]तां[ऽ]वि[।]भुः[ऽ]पृ[।]थु[।]ज[।]हा[ऽ]पि[।]हि[।]तां[ऽ] स[।]दे[ऽ] शः[ऽ] इति लक्षण संङ्गतिः ॥ अ० २, सू०–२४२ ॥

नीसौ शशिकला ॥२४३॥

नीरिति नगणाश्चत्वारः सश्च । यथा– अरतिमति हि मम वपुषि विदधतीं, तिरयसि यदि नवजलद शशिकलाम् । स्वयमपि किमिति न कलयसि करुणां, यदिह विरचयसि कटु रसितमहो ॥ २४३.१ ॥ अत्र सप्तभिर्यतिरित्येके । चन्द्रावर्तेति पिङ्गलः ॥ २४३.१ ॥

द्वितीयं प्रकारमाह– **नी सौ शशिकले**ति । विवृणोति **नीरिति नगणाश्चत्वार सश्चे**ति । तथा च '।।।.।।।.।।।.।।।.ऽ' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् शशिकला नामकमति शक्करीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– अरतिमतीति** । हे नवजलद ! नूतन वारिद ! **मम वपुषि**– शरीरे **अति**– अत्यन्तम् **अरतिं** तापं **विदधतीं**– कुर्वतीं **शशिकलां**– चन्द्रलेखां यदि **तिरयसि**– अन्तर्दधासि [तर्हि] **स्वयमपि**– स्वविषयेऽपि करुणां दयां **किमिति**– कस्माद्धेतोः **न कलयसि**– न करोषि, **यत् इह**– भम समीपे **कटु**– दुःसहं **रसितं**– गर्जितं **विचयसि**– करोषि **इत्यहो**– आश्चर्यम् । काचिद्विरहिणी रात्रौ शशिकलया तप्यमाना तस्मिन्क्षणे तदाच्छादकं मेघमागतं विलोक्य तस्य स्तुतिपूर्वकं दुःखान्तरदायित्वमाह । यदित्वया शशिकला जनितं दुःखंदृतं, तर्हि शनैस्तूष्णीमेव तिष्ठ, गर्जितं वर्जयेति भावः । अ[।]र[।]ति[।]म[।]ति[।]हि[।]म[।]म[।]व[।]पु[।]षि[।]वि[।]द[।]ध[ऽ]तीं[ऽ] इति लक्षणसमन्वयः । अस्य लक्षणे भेदमाह– **अत्र सप्तभिर्यतिरित्येक इति । चन्द्रावर्त्तेति पिङ्गल** इति च । पीङ्गल छन्दः शास्त्रे चन्द्रावर्ता नौ नौ स्' [७।११] इति सूत्रेणास्यैवच्छन्दसः 'चन्द्रवर्ता' इति नाम कृतम् । तस्य व्याख्यायां च भट्टहलायुधेनोक्तम्– अत्रस्वरैर्वसुभिश्च यति रित्याम्नाय इति । तत्र स्वराः सप्त वासवोऽष्टौ, सप्तभिर्यतिरित्युक्तेऽपि पारिशेष्याद्दृष्टभिरपि यतिः सिद्धैव, तावता पाद पूर्तौ 'यतिः सर्वत्र पादान्ते' इति नियमात् । तथा च तेनोक्ते उदाहरणे तथा

यति रपि दृश्यते । स्वकीये चोदाहरणे [प्रकृते पद्ये] न तथा यति र्दृश्यते– इति नासौ नियम आश्रित इत्यायाति । प्राकृत पिङ्गले चास्यैवच्छन्दसः 'शरभ' इति नाम कृतम् ॥ अ० २, सू०–२४३ ॥

सा स्रक् चैः ॥२४४॥

सा शशिकला चैः षड्भिर्यतिश्चेत् स्रक्संज्ञा । यथा– प्रसरति तव सुभग विरहदहने, शृणु यदजनि किमपि कुबलयदृशः । सरसिजमपि तपति नवविचकिल-, स्रगपि सपदि जनयति भृशमरतिम् ॥ २४४.१ ॥ मालेति पिङ्गलः ॥ २४४.१ ॥

तृतीयं प्रभेदमाह– **सा स्रक् चैरिति** । विवृणोति– **सा शशिकला चैरिति षड्भिर्यतिश्चेत् स्रक् संज्ञेति** । पूर्वोक्तं शशिकलानामकमेवच्छन्दः षड्भिर्यतौ सत्यां स्रक्नाम्ना प्रसिद्ध मति शक्करी जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– प्रसरति तवेति । हे सुभग !**– सौभाग्यशालिन् **तव**– भवतो **विरहदहने** वियोगवह्नौ **प्रसरति**– विस्तृते सति **कुवलयदृशः**– उत्पलाक्ष्याः यत् **किमपि** अनिर्वचनीयं [दुःखम्] **अजनि**– अभूत् [तत्] शृणु [आकर्णय] **सरसिजम्**– कमलम् अपि [किमुतान्यत्] **तपति**– सन्तापं जनयति **नवविचकिलस्रक्**– नूतनमदनपुष्पमालापि **सपदि**– अटिति भृशमत्यन्तम् **अरतिम्**– अशान्तिं **जनयति**– उत्पादयति । तथा च यथा त्वद्विरहोनस्यात्तथा विधेहिति भावः । गण विन्यासः पूर्ववदेव, केवलं षड्भिर्यतिर्विशेषः तथा च प्रसरति तव, शृणु यदजनि, इत्येवं रूपेण षष्ठेऽक्षरे विरम्य पठनीयमिति । अस्यापि नामान्तरमित्याह– **मालेतिपिङ्गल** इति । तथा च पिङ्गलछन्दः शास्त्रे सूत्र-मालर्तुनवकौ चेत् [७।१२] इति 'सैव चन्द्रावर्ता माला' नाम भवेद् यदि षष्ठे नवमे च यतिः, इति तद्वचाख्यायां भट्टहलायुधः । षड्भिर्यति रिति स्वमते-ऽपि पारिशेष्यान्नवभिर्द्वितीया यति रायात्येवेति साम्यम् ॥ अ० २, सू०–२४४ ॥

मणिगुणनिकरो जैः ॥२४५॥

शशिकलैव जैरष्टभिश्चेद्यतिर्मणिगुणनिकरः । यथा– नृवर यशसि मतिरविकलकलता, भुजबलमनुपममतिनयपरता । नतिरनुगुरुजनमुचितचतुरता, त्वयि जयति नृपतिमणिगुणनिकरः ॥ २४५.१ ॥

चतुर्थं प्रकारमाह– **मणिगुणनिकरो जैरिति** । विवृणोति– **शशिकलैव-जैरष्टभिश्चेद्यतिर्मणिगुण निकर** इति । चतुर्भिर्नगणैः सगणेन च या शशिकला लक्षिता पूर्वतर सूत्रे सैवाष्टभिरक्षरैर्यतौ सत्यां मणिगुणनिकर इति ख्यातमति शक्करी जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा-नृवर यशसीती** । **नृवर !**– हे पुरुष श्रेष्ठ ! **यशसि**– कीर्तिविस्तारे **मतिः**– बुद्धिः, **अविकल कलता** अविकलाः अशेषाः कला यस्य सोऽविकलकलस्तस्य भावः, **अनुपमं**– अतुलनीयं **भुजबलं**– बाहुवीर्यम्, **अतिनयपरता**– अतिशयिताऽन्य नृपापेक्षया समधिका नयपरता नीतिमार्गनिष्ठा, **अनुगुरूजनम्**– गुरुजनसमीपे **नतिः**– नम्रता, **उचित चतुरता**– उचिते कर्तुं योग्ये कर्मणि चतुरता कौशलम् [इति] **नृपतिमणिगुणनिकरः नृपति मणीणां**– राजश्रेष्ठानां **गुणनिकरः**– गुणसमूहः **त्वयि**– भवति **जयति**– सर्वोत्कर्षेण वर्तते । नृवर यशसि मनि, इत्येवं प्रतिपादमष्टमे विरामः इति ॥ अ० २, सू०–२४५ ॥

नौ म्यौ यो मालिनी ॥२४६॥

ननमययाः । जैरिति वर्तते । यथा– प्रतिमुहुरिह दोलान्दोलनव्यापृतानां, कुवलयनयनानामाननैरुल्लसद्भिः । विमललवणिमाम्भश्चन्द्रिकां द्राक् किरद्भिर्, नवशशधरमालामालिनीवाभवद् द्यौः ॥ २४६.१ ॥ नान्दीमुखीति भरतः ॥ २४६.१ ॥

पञ्चमं प्रकारमाह–**नौ म्यौ यो मालिनिति** । विवृणोति–**न न मययाः । जैरिति वर्तते** इति । नगणद्वयात्परतः भगणः ततो यगणद्वयम् '।।।.।।।.sss. ।ss.।ss.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य अष्टभिर्यतिश्च यत्र तत्मालिनी-नामकमति शक्करी जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा प्रतिमुहुरिति** । **इह**–वसन्ते प्रतिमुहुः वारं वारं **दोलान्दोलनव्यापृतानाम्**–दोलायाम् आन्दोलिकायां यत् आन्दोलनं तस्मिन् व्यापृतानां संलग्नानां **कुवलयनयनानम्**–उत्पलनेत्राणां कामिनीनाम् उल्लसद्भिः प्रकाशमानैः **द्राक्**– झटिति **विमल लवणिमाम्भचन्द्रिकां**– निर्मललावण्यरसज्योत्सां **किरद्भिः**– विक्षिपद्भिः **आननैः**– मुखैः **द्यौः** आकाशतलम् **नवशशधरमालामालिनी**– नूतनचन्द्र पङ्क्तिशालिनी **इव** अभवत्– जाता । दोलारूढानामङ्गनानामाननान्याकाशे

यतस्ततः सञ्चरन्ति स्वप्रकाशं च परितः किरन्तीति तेषां चन्द्रसादृश्यस्य स्पष्टतया चन्द्रसमूहव्याप्तमिव नभोऽभवदिति भावः । अस्य नामान्तरमाह– **नन्दी मुखीति भरत** इति । तथाहि "आदौ षड् दशमं चैव लघु चैवत्रयोदशम् । यत्रातिशाकरे पादे ज्ञेया नान्दीमुखी तु सा" इति [भ.ना.शा. १५।९३] तथा च लक्षणसमन्वयः 'प्र[।]ति[।]मु[।]हु[।]रि[।]ह[।]दो[ऽ]ला[ऽ]न्दो[ऽ]ल[।]न[।]व्या[ऽ]पृ[।]ता[ऽ]नां[ऽ]' इति ॥ आ० २, सू०–२४६ ॥

नौ मो रौ चन्द्रोद्योतः ॥२४७॥

ननमररराः । जैरिति वर्तते । यथा– ज्वलति सुभग तस्यास्त्वद्विप्रयोगानले, भवति न खलु किंचित् प्रीत्यै कुरङ्गीदृशः । सपदि दहति देहं यच्चान्दनोऽपि द्रवः, प्रथयति नवचन्द्रोद्द्योतोऽपि नेत्रव्यथाः ॥ २४७.१ ॥

षष्ठं प्रकारमाह– **नौ मो रौ चन्द्रोद्योत** इति । विवृणोति– **नन-म-र रा:-जैरिति वर्तत** इति । तथा च नगणद्वयात्परतः मगणो रगण द्वयम् '।।।. ।।।.ऽऽऽ.ऽ।ऽ.ऽ।ऽ.' इतीदृशै रक्षरैः कृताः पादा यस्य, अष्टमिश्च यतिर्यत्र तत् चन्द्रोद्योत इति नामकमति शक्करी जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा-ज्वलति सुभगेति । हे सुभग** !– सर्व सौभाग्यशालिन् **तस्याः**– बुद्धिस्थायाः पूर्वप्रकान्तायाः वाऽङ्गनायाः **त्वद्विप्रयोगानले**– त्वया सह विरहरूपेऽग्नौ **ज्वलति**– दीप्यमाने सति **कुरङ्गीदृशः**– मृगनयनायाः **किञ्चित्**– किमपि वस्तु **प्रीत्यै**– मनस्तोषाय **न भवति**– न जायते । **यत्**– यस्मात् **चान्दनः**– चन्दन निःसृतः **द्रवः**– रसः **अपि देहं**– शरीरं **सपदि**– शीघ्रमेव **दहति**– तापयति, **नवचन्द्रोद्योतः**– सद्यः समुदितस्य चन्द्रमसः प्रकाशः **अपि नेत्रव्यथाः** अक्षिपीडाः **प्रथयति**– विस्तारयति । त्वदीय– विरहोत्थितस्तापश्चन्दन रसेन– चन्द्रिकास्पर्शेण वा न विरमति प्रत्युत वर्धत एवेति यथा त्वदीयो विरह एव नस्या स्तथा यतेथा इति नायिका दूत्याः संख्या वा अभिप्रायः । 'ज्व[।]ल[।]ति[।]सु[।]भ[।]ग[।]त[ऽ]स्या[ऽ]स्त्व[ऽ]द्वि[ऽ]प्र[।]यो[ऽ]गा[ऽ]न[ऽ]ले[ऽ]' इति लक्षण संगतिः ॥ अ० २, सू०–२४७ ॥

नौ तभ्रा उपमालिनी ॥२४८॥

ननतभराः । जैरिति वर्तते । यथा– नृपवर रिपवस्ते विहाय पुरस्थिति,

नवनवमुनिमुद्राजुषः खलु संप्रति । विदधति तृणपर्णोटजान्यभिजाह्नवी–, यमुनमनु च चर्मण्वतीमुपमालिनि ॥ २४८.१ ॥

सप्तमं प्रकारमाह– **नौ तभा उपमालिनी**ति । विवृणोति **न-न-त-भ-राः-जै-रिति वर्तते** इति । तथा च नगणद्वयात्परतः तगण भगण रगणाः '।।।.।।।. ऽऽ।.ऽ।।.ऽ।ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य अष्टभिश्च यतिर्यत्र तत् उपमालिनीनामकमनुष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– नृपवरेति नृपवर** !– हे राजश्रेष्ठ ! **ते**– तव **रिपवः**– शत्रवः– **पुरस्थिति**– नगरनिवासं **विहाय** परित्यज्य **सम्प्रति**– इदानीं **नवनवमुनिमुद्राजुष**– नूतनातिनूतनयति चेष्टा सेविनः **खलु**– निश्चितम् **अभिजाह्नवीमुनम्**– भागीरथीकालिन्द्योः समीपे, **चर्मण्वतीम्– अनुच** चर्मण्वत्या नद्याः समीपे च **उपमालिनि च** मालिन्याः समीपे च **तृणपर्णोटजानि**– शाद्वलपल्लवाच्छादितानि गृहाणि [कुटीः] **विदधाति**– विरचयन्ति । त्वयापराजितास्ते पुरे निवासायाक्षमा यत्र तत्र नदी समीपेऽरण्ये वा कुटीर्निर्माय मुनिवृत्तिभाज इव जाता इति भावः । नृ[।]प[।]व[।]र[।]रि[।]प[।]व[ऽ]स्ते[ऽ], वि[।]हा[ऽ]च[।]पु[।]र[ऽ]स्थि[।]ति-[ऽ]' इति लक्षण समन्वयः ॥ अ० २, सू० २४८ ॥

मिर् यौ चित्रा ॥२४९॥

मिरिति मगणत्रयं यगणद्वयं च । जैरिति वर्तते । यथा– शत्रौ मित्रे हर्म्येऽरण्ये संमदे वा गदे वा, राज्ये भैक्षे रत्ने लोष्ठे काञ्चने वा तृणे वा । स्रोतस्विन्यां कामिन्यां वा निन्दने वा स्तुतौ वा, चित्रां चित्तावस्थां हित्वा संश्रयेथाः समाधिम् ॥ २४९.१ ॥ मण्डूकी, चञ्चला वेत्यन्ये ॥ २४९.१ ॥

अष्टमं प्रभेदमाह **मिर् यौ चित्रे**ति । विवृणोति– **मिरिति मगणत्रयं यगणद्वयं च जैरिति वर्तते** इति । उदाहरति– **यथा-शत्रौ मित्रे** इति । **शत्रौ**– रिपौ, मित्रे सुहृदि[वा], **हर्म्ये**– प्राकारे, **अरण्ये**– वने [वा], **संमदे** हर्षे, गदे रोगे वा, **राज्ये**– राजकर्मणि **भैक्षे**– भिक्षुवृत्तौ वा **रत्ने**– मणौ **लोष्ठे** मृत्पिण्डे वा, **काञ्चने**– सुवर्णे तृणे[वा], **स्रोतस्विन्यां**– नद्यां **कामिन्यां**– कान्तायां वा, **निन्दने**– निन्दायां स्तुतौ प्रशंसायां वा, **चित्रां**– भिन्नां **चित्तावस्थां**– चेतोवृत्तिं **हित्वा**– विहाय **समाधिम्**– तत्त्व चिन्तनार्थं

मेकाग्र्यम् संश्रयेथाः, अवलम्बस्व । कश्चित कारुणिकः संसारदुःखोद्धारोपायं पृष्ट एवमाह– शत्रुमित्रादिषु परस्परविरुद्धेषु सांसारिक पदार्थेषु मे चेतसो निः स्पृहत्वं यथा स्यात्तथा सर्वं समं पश्यन् चित्तैकाग्र्यं साधयेति । 'श[ऽ]त्रौ[ऽ]मि[ऽ]त्रे[ऽ]ह[ऽ]र्म्ये[ऽ]र[ऽ]ण्ये[ऽ], सं[ऽ]म[।]दे[ऽ]वा[ऽ]ग[।]दे[ऽ]वा[ऽ]' इति लक्षण समन्वयः ।। अस्यानामान्तरमाह– **मण्डूकी चञ्चला वेतन्ये इति** । इदमेव चन्दोऽन्ये मण्डूकीनाम्ना चञ्चलानाम्नात्राहुरिति ।। अ० २, सू० २४९ ।।

माद्रम्ययाश्चन्द्रलेखा छैः ।।२५०।।

मगणात्परे रमययाः । छैरिति सप्तभिर्यतिः । यथा– राजन् सत्यं तदेतद् ब्रूमोऽद्भुतं वर्णनं ते, दोर्दण्डस्थामभिः स स्पर्धां करोतु त्वदीयाम् । आच्छिन्द्याद्यो मुरारेर्वक्षःस्थलात् कौस्तुभं वा, यः कर्षेच्चन्द्रलेखां शंभोर्जटामण्डलाद्वा ।। २५०.१ ।।

लक्षितक्रमेण नवमं प्रभेदमाह– **माद्रम्ययाश्चन्द्रलेखा– छैरिति** । विवृणोति– मगणात्परे रमययाः । छैरिति सप्तभिर्यति रिति । मगण रगण मगणेभ्यः परतो यगण द्वयम् 'ऽऽऽ.ऽ।ऽ.ऽऽऽ.।ऽऽ.।ऽऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् चन्द्रलेखा नामकमतिशक्करी जातिच्छन्दः सप्तभिर्यतियुक्तमित्यर्थः । उदाहरति– **यथा– राजन् सत्यमिति** । हे राजन् ! **तत् एतत्** सम्प्रत्येव वक्ष्यमाणं **ते–** तव **अद्भुत**माश्चर्यभूतं **वर्णनं** स्वरूपाख्यानं **ब्रूमः**– कथयामः **सः**– जनः **भवतः**– तव **दोर्दण्डस्थामभिः**– बाहुदण्डदार्ढ्यैः सह **त्वदीयां**– त्वया सह **स्पर्द्धां**– प्रतिप्रक्षतां **करोतु**– विदध्यात् **यः मुरारेः**– विष्णोः **वक्षः स्थलात्**– उरोभूमेः **कौस्तुभं**– मणिश्रेष्ठं स्वनाम्नाख्यातम् **आच्छिन्द्यात्**– प्रसह्य हरेत् **वा**– अथवा शम्भोः शिवस्य **जटामण्डलात्**– शिरःस्थितजटीभूतकेशकलापात् **चन्द्रलेखां**– शशिलेखां **कर्षयेत्**– बलाद् गृण्हीयात् । यथा विष्णोर्वक्षः स्थलात् कौस्तुभग्रहणं यथा वा शिवशिरतो निशाकरकलाकर्षणमसम्भवि, तथैव त्वया सह बाहुबले स्पर्द्धाऽपि न सम्भवतीतिभावः । रा[ऽ]जन्[ऽ]स[ऽ]त्यं[ऽ]त[।]दे[ऽ]तत्[ऽ]ब्रू[ऽ]मो[ऽ]द्भु[ऽ]तं[ऽ]व[ऽ]र्ण[।]नं[ऽ]ते[ऽ] इति लक्षण सङ्गतिः ।। अ० २, सू० २५० ।।

राद्धा ॥२५१॥

रगणात्परे यदि रम्ययास्तदा वा चन्द्रलेखा । ररमययाः । छैरिति वर्तते । यथा- एक एव क्षणोऽसावानन्दनिष्यन्दहेतुः, सत्कृतैः प्राक्तनैर्मे कैश्चित् सखेऽद्य प्रबुद्धम् । नेत्रनीलोत्पलानां पीयूषवृष्टिं किरन्ती, यत्पुरः कम्बुकण्ठी सा चन्द्रलेखेव दृष्टा ॥ २५१.१ ॥

लक्षितेषु दशमं प्रकारमाह राद्धेति । विवृणोति- **रगणात्परे यदि रम्भयास्तदा वा चन्द्रलेखा । ररमययाः । छैरिति वर्तते** इति । तथा चायमर्थः- रगणद्वयं मगणः यगणद्वयं च 'ऽ।ऽ.ऽ।ऽ.ऽऽऽ.।ऽऽ.।ऽऽ' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य सप्तमिश्च यतिर्यत्र तत् प्रकारान्तेण चन्द्रलेखानामकमतिशकरीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा एक एव क्षणोऽसाविति** । हे **सखे** ? मित्र ? **मे**- मम **असौ**- अनिर्वाच्यः **एक एव**- अद्वितीयः **क्षणः** कालांशः **आनन्दनिःष्यन्द हेतुः**- सुखप्रसरकारणम्, [किञ्च] प्राक्नैः पुराचीर्णैः **सत्कृतै पुण्यैः अद्य** अस्मिन् क्षणे **प्रबुद्धम्** फलोन्मुखीभूतम् **यत्**- यस्मात् **नेत्रनीलोत्पलानां**- नयननीलकमलानाम् [स्वकीयानाम सम्बन्धिनीं] **पीयूष वृष्टि**- अमृतवर्षां **किरन्ती** क्षिपन्ती **सा**- पूर्ववर्णिता **कम्बुकण्ठी** शङ्खसदृश वाऽङ्गना **चन्द्रलेखा इव**- शशिकला इव **पुरः**- अग्रतः **दृष्टा**- दृष्टिविषयी कृता । अद्य यस्मिन् क्षणे सा मया ऽवलोकिता स क्षणः पुराकृतसुकृतफलोन्मुखी भावादागतो मम परमानन्द प्रसर कारणं जात इति भावः । ए[ऽ]क-[।]ए[ऽ]व[ऽ]क्ष[।]णो[ऽ]सा[ऽ], वा[ऽ]न[ऽ]न्द[।]निः[ऽ]ष्य[ऽ]न्द[।]हे[ऽ]तुः[ऽ] इति लक्षण सङ्गतिः ॥ अ० २, सू०-२५१ ॥

स्जनन्या एला ङैः ॥२५२॥

सजननयाः । ङैरिति पञ्चभिर्यतिः । यथा- चलितैर्घटोद्भवमुनिविशमभि यस्य, प्रबलैर्बलैर्बलमथनसदृशमूर्तेः । निषिषेविरे चिरमुदधितटवनान्ताः, परितो लसद्बहललवलिबकुलैलाः ॥ २५२.१ ॥

एकादशं प्रकारमाह- **स्जनन्या एलाङैरिति** । विवृणोति- **सजननयाः । ङैरिति पञ्चभिर्यतिरिति** । सगण-जगणौ नगणद्वयं यगणश्च '।।ऽ.

।ऽ।.।।।.।।।.।ऽऽ.' इतिदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य पञ्चभिश्चयतिर्यत्र तत् एलानामकमतिशक्करी जातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– चलितैरिति**। **बलमथनसदृशमूर्तेः–** बलस्य तन्नामकस्यासुरस्य मथनः मर्दनः इन्द्रः तस्य, बलस्य ओजसो मथनः– कामः– तस्य वा सदृशी मूर्तिर्यस्य तस्य, **यस्य–** प्रकृतवर्णनीयस्य राज्ञः **घटोद्भवमुनिदिशम्–** कुम्भोद्भवस्य मुनेरगस्तस्य दिशं दक्षिणाम् **अभि–** अभिमुखं **चलितैः–** प्रस्थितैः **प्रबलैः–** दुर्धर्षैः **बलैः** सैन्यैः **परितः** सर्वतः **लसद्बहल लवलिबकुलैलाः–** लसन्त्यः शोभमानाः **बहलाः–** समधिकाः लव लयश्च बकुलाश्च एलाश्च–येषु ते उदधि तट वनान्ताः समुद्रतटवनप्रान्त भागाः **निषिषेविरे** परिमुक्ताः। यस्य बलानि समुद्रपर्यन्तमनिवारितं गत्वा सुखेन तत्र यथा कामं निर्विशन्तीति न कोऽपि मध्ये तन्निवारक इति भावः। च[।]लि[।]तै[ऽ]र्घ[।]टो[ऽ]द्भ[।]व[।]दि[।]शं-[ऽ]म[।]भि[।]य[ऽ]स्य[ऽ] [प्रबलैरिति संयुक्तादि पदे परतो गुरुत्वम्] इति लक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू०–२५२ ॥

न्जभज्राः प्रभद्रकम् ॥२५३॥

नजभजराः। यथा– जयति जगत्त्रयोपकृतिकारणोदयो, जिनपतिभानुमान् परमधाम तेजसाम्। भविकसरोरुहां गलितमोहनिद्रकं, भवति यदीयपादलुठनात् प्रभद्रकम् ॥ २५३.१ ॥

लक्षित क्रमेण द्वादशं प्रकारमाह– **न्जज्राः प्रभद्रकमिति**। विवृणोति– **नजभजराः** इति। नगण-जगण-भगण-जगण-रगणाः '।।।.।ऽ।.ऽ।।.।ऽ।.ऽ।ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् प्रभद्रकं नामतिशक्करी जातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा–** जयति जगत्त्रयेति। **जगत्त्रयोपकृति कारणोदयः–** जगत्त्रयस्य त्रिलोक्याः **उपकृतिकारणम्–** उपकारहेतुभूतः **उदयः–** प्राकट्यं यस्य सः, **तेजसाम्–** महसाम् **परमधाम–** प्रधानं स्थानम् **जिनपतिभानुमान–** जिनपतिरेव भानुमान सूर्यः जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते, **यदीयपादलुठनात्** यस्य पादयोः चरणयोः लुठनात् साष्टाङ्गं पतनात् **भविकसरोरुहां–** भक्तकमलानां **गलितमोहनिद्रकं–** गलिता मोहरूपा निद्रा यस्मिन्– तथा भूतं **प्रभद्रकं–** प्रकृष्टं कल्याणं भवति जायते। अत्र जिनपतेः सूर्यस्य च

साम्यं रूपकेण निरूपितम्। सूर्योऽपि त्रिलोक्या उपकारायोदेति तेजसां च धाम भूतः, सरोरुहां निद्राभङ्गकारणञ्चेत्ययमपि; तथा भूतोदयः, तेजसां धाम, भक्तानां मोहनिद्राक्षयकरश्चेति सुसङ्गतं साम्यम्। ज[।]य[।]ति[।]ज[।]ग[ऽ]त्र[।]यो[ऽ]प[।]कृ[।]ति[।]का[ऽ]र[।]णो[ऽ]द[।]यः[ऽ] इति लक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू०–२५३ ॥

रजर्जरास्तूणकम् ॥२५४॥

रजरजराः। यथा– स्फीतनव्यगन्धलुब्धषट्पदौघसेविताश्-, चैत्रमासि पश्य भान्ति चूतमञ्जरीशिखाः। ऊर्ध्वदृश्यमानकङ्कपत्रकृष्णपक्षकास्, तूणका इवेह वीरमन्मथेन लम्बिताः ॥ २५४.१ ॥

त्रयोदशं प्रकारमाह– **रजर्जरास्तूकणकम्** इति। विवृणोति– रजरजरा इति। रगण-जगण-रगण-जगण-रगणाः 'ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् तूणकं नामाति शक्करी जातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– स्फीतेति स्फीतगन्धलुब्धषट्पदौघसेविताः–** स्फीतेन वृद्धिगतेन गन्धेन सौरभेण, **लुब्धैः–** आकृष्टैः **षट्पदौघैः–** भ्रमरसमूहैः सेविताः जुष्टाः **चूतमञ्जरीशिखाः–** आम्रमञ्जर्यग्रभागाः **ऊर्ध्वदृश्यमानकङ्कपत्रकृष्णपक्षकाः–** ऊर्ध्वमुपरि दृश्यमानाः **कङ्कपत्रस्य–** कङ्कनामक पक्षि– पक्ष निर्मितपुंखस्य शरस्य कृष्णपक्षाः कृष्णवर्णाः पक्षा येषुते **वीरमन्मथेन–** शूरकन्दर्पेण **लम्बिताः** उध्वार्धः स्थापिताः **तूणकाः** शरधय इव **भान्तिः–** शोभन्ते इति **पश्य–** अवलोकय। आम मञ्जर्या अग्रभागेषु कृष्णवर्णाः भ्रमराः उपविष्टा इति तत्सहिताः मञ्जर्यः कामदेवस्य कङ्ककृष्णपक्षयुक्तबाणसहित तूणीरा इव शोभन्ते इति भावः। स्की[ऽ]त[।]न[ऽ]ब्य[।]ग[ऽ]न्ध[।]लु[ऽ]ब्धा[।]षट्[ऽ]प[।]दौ[ऽ]घ[।]से[ऽ]वि[।]ताः इति लक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू०–२५४ ॥

नो जौ भ्रौ कलभाषिणी ॥२५५॥

नजजभराः। यथा– स्फुरति च दक्षिणमारुतो मृदुशीतलः, प्रतिदिशमुल्लसितं च केसररेणुभिः। पिकयुवतेः प्रसृताश्च पञ्चमगीतयस्, तदपि सखे मयि न प्रिया कलभाषिणी ॥ २५५.१ ॥ अरविन्दमित्येके ॥ २५५.१ ॥

चतुर्दशं प्रभेदमाह– **नो जौ भ्रौ कल भाषणिती ।** नगणः–जगणद्वयम् भगण-रगणौ '।।।.ऽऽ।.ऽऽ।.ऽ।।.ऽ।ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् कल भाषिणीतिनामकमतिशक्करीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– स्फुरति चेति ।** हे सखे ! **मृदुशीतलः** मन्दः शैत्ययुक्तश्च **दक्षिणवायुः–** दक्षिण दिग्पवनः **स्फुरति** प्रवहति **च–** किञ्च **प्रतिदिशं** सर्वासु दिक्षु **केसररेणुभिः–** पुष्परागैः **उल्लसितम्–** प्रसृतम् **चिकयुवतेः–** कोकिलायाः **पञ्चमगीतयः–** पञ्चमस्वरेण गानाति **प्रसूताश्च–** उद्भूताश्च, **तदपि** एतावति दुर्विषह्यसंयोगे सत्यपि प्रिया दयिता मयि मद्विषये कलभाषिणी मञ्जुवचना न अपि तु कठोर वचनैव वर्तत इति दुःखमिति भावः अस्य नामान्तरमपीत्याह अरविन्दमित्येक इति । एके आचार्या छन्दोऽरविन्दमिति व्यवहरन्तीत्यर्थः । स्फु[।]र[।]ति[।]च[।]द[ऽ]क्षि[।]णा[।]मा[ऽ]रु[।]तो[ऽ]मृ[।]दु[।]शी[ऽ]त[।]लः[ऽ] इति लक्षण संगतिः ॥ अ० २, सू०– २५५ ॥

रात्रमभ्राः सुन्दरम् ॥२५६॥

रगणात्परे नमभराः । यथा– निर्ममे सपदि पत्रलता न कपोलयोर्, नापि यावकरसो निहितोऽधरपल्लवे । वल्लभाभिसरणोत्सुकया सुदृशानया, सुन्दरत्वमधिकं तदपि प्रतिपद्यते ॥ २५६.१ ॥ मणिभूषणं, रमणीयं चेत्येके ॥ २५६.१ ॥

लक्षितक्रमेण पञ्चदशं प्रभेदमाह– **रात्रमभ्राः सुन्दरमिति ।** विवृणोति– **रगणात् परे न-भ-भ-राः ।** रगण नगणौ भगणद्वयं रगणश्च 'ऽ।ऽ.।।।.ऽ।।.ऽ।।.ऽ।ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् सुन्दरं नामातिशक्करीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– निर्ममे सपदीति । वल्लभाभिसरणोत्सुकया–** वल्लभं प्रियं प्रति अभिसरणे रमणार्थमभिमुखगमने उत्सुकया उत्कण्ठितया **अनया** प्रत्यक्षगोचरया **सुदृशा–** सुनेत्रयाऽङ्गनया **सपदि–** झटिति **कपोलयोः–** गण्डस्थलयोः **पत्रलता** कस्तूर्यादिद्रव्यनिर्मितो रचना विशेषः **न निर्ममे** न रचितः, **अधरपल्लवे–** स्वत एव नूतनपत्रवर्णेऽधरे **यावकरसः–** अलक्तकद्रवः **अपि न निहितः–** न स्थापितः **तदपि** सौन्दर्यं

साधनोपयोगाभावेऽपि अधिकं तदुपयोगापेक्षा बहुतरं **सुन्दरत्वम्**– रमणीयत्वं **प्रतिपद्यते**– प्राप्यते। यद्यपि कृत्रिमसौन्दर्यसाधनानामुपयोगः त्वराहेतोर्न विहितस्तथापि स्वाभाविकमेव सौन्दर्यमौत्सुक्येन सम्पन्नमिति भावः। नि-[ऽ]र्म[।]मे[ऽ]स[।]प[।]दि[।]प[ऽ]त्र[।]ल[।]ता[ऽ]न[।]क[।]पो[ऽ]ल[।]योः[ऽ] इति लक्षण समन्वयः। अस्य नामान्तरे आह **मणिभूषणं रमणीयं चेत्येक** इति। केचिदिदं छन्दो मणिभूषणनाम्नाऽपरे च रमणीयमिति नाम्ना व्यवहरन्तीति भावः॥ अ० २, सू०-२५६॥

नादुगौः ॥२५७॥

नगणात्परे नभभ्राश्चेत्तदा गौर्नाम। ननभभराः। यथा– अनुदिनमपि हन्त दुहन्ति कवीश्वराम्, त्रुटति न च यदीयसदुक्तिपयः शुचि। हृदयमुकुरमध्यमधिश्रयतां सदा, निरुपमचरितप्रथिता मम सैव गौः॥ २५७.१॥

षोडशं प्रकारमाह– **नौ द्गौ रिति**। विवृणोति– **नगणात्परे नभभ्राश्चेत् तदा गौर्नाम**। न-न-भ-भ-राः इति। पूर्ववर्णितलक्षणे प्रथमं न्यसनीय रगण स्थाने नगणस्य विन्यासश्चेत्तदा गौर्नामातिशक्करीजातिच्छन्द इत्यर्थः। तथा च '।।।.।।।.ऽ।।.ऽ।।.ऽ।ऽ.' इतीदृशोन्यासक्रमः सिद्धयति। उदाहरति– **यथा– अनुदिन मपीति**। हन्त इत्याश्चर्ये, **कवीश्वराः**– महाकवयः **अनुदिनमपि**– प्रतिदिवसमपि दुहन्ति सदुक्तिरूपं दुग्धं निः सारयन्ति, [तथापि] **शुचि** पवित्रं **यदीयसदुक्तिपयः**– यस्याः सद्वचनरूपं दुग्धं **न त्रुटति न विच्छिद्यते, निरुपमचरितप्रथिता**– असामान्य चरित्रेण प्रख्याता **सैव गौः** वाक् [वागधिष्ठात्री देवता] **मम**– भक्तस्य **हृदयमुकुरमध्यम्**– अन्तःकरणादर्शान्तः प्रदेशे **सदा**-सर्वदा **अधिश्रयताम्**– प्रतिष्ठिता भवतु। प्रसिद्धा गौर्दुह्यमानाऽल्पकालेनैव पयसा विच्छिद्यते, इयं च सर्वदा नवनवं सदुक्तिपयः प्रस्नुत इति तामहं स्वहृदय एव स्थापयितुमिच्छामिति भावः। अ[।]नु[।]दि[।]न[।]म[।]पि[।]ह[ऽ]न्त[।]दु[।]ह[ऽ]न्ति[।]क[।]वी[ऽ]श्व[।]राः[ऽ] इति लक्षण समन्वयः॥ अ० २, सू०-२५७॥

नौ रो यौ भोगिनी ॥२५८॥

यथा– दधति तव चुलुक्यचन्द्र धात्रीं भुजेऽस्मिन्, भजतु जलनिधौ चिराय

निद्रामुपेन्द्रः । विदधतु दिगिभाः करेणुकाभिर्विलासं, सममभिरमतां च वासुकिर्भोगिनीभिः ॥ २५८.१ ॥

सप्तदशं प्रकारमाह– **नौ रो यौ भोगनीति** । नगणद्वयं रगणः यगणद्वयं च '।।।.।।।.ऽ।ऽ.।ऽऽ.।ऽऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् भोगिनीनामक मतिशक्करीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– दधति तवेति** । हे चुलुक्य चन्द्र ! चुलुक्य वंश प्रदीप । **अम्मिन्** विश्रुते **तव भुजे**– बाहौ **धात्रीं**– पृथ्वीं **दधति**– धारयति सति **उपेन्द्रः**– विष्णुः **जलनिधौ**– समुद्रे **चिराय**– बहुकालं **निद्रां**– स्वापं **भजतु**– सेवताम्, **दिगिभाः** दिग्गजाः **करेणुभिः**– हस्तिनीभिः सह **विलासं**– रतिक्रीडां **विदधतु**– कुर्वन्तु, वासुकिः– नागराजश्च **भोगिनीभिः**– नागीभिः **समं**– सह **अभिरमताम्**– रतिक्रीडामनुभवतु । अयमाशयः विष्णुः, दिग्गजाः नागराजश्च पृथ्वीपालने तदुद्वहने च लग्नाः भवन्ति, किन्तु तेषां सर्वेषामेव कार्यं त्वदीय बाहुनैव सम्पादितमिति ते सर्वे निर्भराः सुखं तिष्ठन्त्विति । द[।]घ[।]ति[।] त[।]व[।]च्चु[।]लु[ऽ]क्य[।]चं[ऽ]द्र[ऽ]घा[ऽ]त्रीं[ऽ]भु[।]जे[ऽ]स्मिन्[ऽ] इति लक्षण समन्वयः ॥ अ० २, सू०–२५८ ॥

त्जसस्याः शिशुः ॥२५९॥

तजससयाः । यथा– त्वं नासि दृशोः पथि विमुक्त तथापि नाथ, पापं भुवने तव गिरो जिन नाशयन्ति । त्रस्यन्ति हि शैलशिखरान्तरितस्य दूराल् लीलाध्वनितेन मृगराजशिशोर्गजेन्द्राः ॥ २५९.१ ॥

अष्टादशं प्रकारमाह– **त्जसस्याः शिशुरिति** । विवृणोति– **तजससयाः** इति । तगण जगणौ सगणद्वयं मगणश्च 'ऽऽ।.।ऽ।.।।ऽ.।।ऽ.।ऽऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् शिशुनामकं जगतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– त्वं नासीति** । हे **नाथ** स्वामिन्– ! **जिन** ! **विमुक्त** ! कर्म– रागादिबन्धन– रहित ! **त्वं** दृशोः **पथि** नेत्रद्वयविषयः **न– असि** न भवसि, **तथापि** तव **गिरः**– उपदेशवचनानि **भुवने**– संसारे **पापं**– कल्मषं **नाशयन्ति** घ्नन्ति । **हि** यतः **गजेन्द्राः**– महागजाः **शैलशिखरान्तरितस्य**– पर्वतकूटव्यवहितस्य [अपि] **मृगराजशिशोः** सिंह– शावकस्य

दूरात्– बहुव्यहितस्थानादपि **लीलाध्वनितेन**– क्रीडाप्रसङ्गकृतगर्जनेन त्रस्यन्ति बिभ्यति। यथा सिंहशिशुमपश्यन्तोऽपि तच्छब्दश्रवणेनैव गजेन्द्रा अपि त्रासंलभन्ते तथा तवादर्शनेऽपि तव वचसैव लोकानां पापं नश्यतीति भावः। त्वं[ऽ]ना[ऽ]सि[।]इ[।]शो[ऽ]प[।]थि[।]वि[।]मु[ऽ]क्त[।]त[।]था[ऽ]पि[।]ना[ऽ]थ[।] इति लक्षणसमन्वयः॥ अ० २, सू०–२५९॥

भ्यसस्याः केतनम् ॥२६०॥

भयससयाः। यथा– कोकिलवधूनां कलपञ्चमरागगीतिश्, चूतविटपानां नवपल्लवसंपदश्च। दक्षिणसमीरो मृगशावदृशां कटाक्षाः, बिभ्रति हि जैत्रायुधतां झषकेतनस्य॥ २६०.१॥

ऊनविंशं प्रकारमाह– **भ्यसस्याः केतनमिति**। विवृणोति भय ससया इति। भगण-यगणौ सगणद्वयं यगणश्चेति 'ऽ।।.।ऽऽ.।।ऽ.।।ऽ.।ऽऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृता पादा यस्य तत् केतनं नाम अतिशक्करी जातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– यथा– **कोकिल वधूनामिति। कोकिलवधूनां**– पिकीनां **कल पञ्चम-रागगीतिः** कला अव्यक्तमधुरा पञ्चमरागस्य स्वनामप्रसिद्धस्य गीतिः गानम्, **चूतविटपानाम्**– आम्रशाखानाम् **नवपल्लव सम्पदः**– नूतनपत्र सम्पत्तयः, **दक्षिणसमीरः**– दक्षिणदिग्भवो मलयवायुः, **मृगशावदृशां** मृगशावस्य हरिणपोतस्य दृक् इव दृक् यासाँ तासामङ्गनानां **कटाक्षाः**– साकुतविलोकनानि **च झषकेतनस्य** मीनध्वजस्य कामस्य जैत्रायुधतां विजयिशस्त्रतां **बिभ्रति**– धारयन्ति **हि** इति निश्चये। कामः पुष्प बाणतया केवलं प्रसिद्ध एव, अस्यायुधकृत्यं तु कोकिल गीतादिभिरेव सम्पाद्यत इति भावः। को[ऽ]कि[।]ल[।]व[।]धू[ऽ]नां[ऽ]क[।]ल[।]पं[ऽ]च[।]म[।]रा[ऽ]ग[।]गी[ऽ]तिः[ऽ] इति लक्षण समन्वयः॥ अ० २, सू०–२६०॥

त्मौ जौ रौ मृदङ्गः ॥२६१॥

तमजजराः। यथा– कृत्वा जगत्त्रयजयं मकरध्वजप्रभुः, संगीतकं सपदि कारयते रतेः पुरः। आकाशरङ्गभवने नरिनर्ति नर्तकी, विद्युद्, घनर्तुरपि मेघमृदङ्गवादकः॥ २६१.१॥

विंशं प्रकारमाह– **त्मौ जौ रो मृदङ्ग** इति । विवृणोति– **तभजजरा इति** । नगण-भगणौ जगणद्वयं रगणश्च 'ऽऽ।.ऽ।.।ऽ।.।ऽ।.ऽ।ऽ' इतीदृशैर क्षरैः कृताः पादा यस्य तत् मृदङ्गनामकमतिशक्करीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– कृत्वा जगत्त्रयजयमिति । मकरध्वजप्रभुः** मकरध्वजः काम एव प्रभुः राजा **जगत्त्रयजयं**– त्रिभुवनविजयं **कृत्वा**– विधाय, **सपदि**– शीघ्रं **रतेः**– स्वपत्न्याः पुरः अग्रे **संगीतकं**– गानवाद्यादि युक्तं महोत्सवं कारयते विदधाति । तदित्थम्– **आकाश रङ्गः भवने**– आकाशरूपे प्रेक्षागृहे **विद्युत्** सौदामिनी (एव) नर्तकी नृत्यशिल्पिनी **नरिर्नाति** भृशं नृत्यति, **घनर्तुः** मेघकालः अपि– **मेघमृदङ्गवादकः**– मेघा एव मृदङ्गास्तेषां वादकः अस्ति । अयमर्थः मेघर्तोः प्रारम्भ एव सर्वं जगत्काम वशंबदं भवति, ततश्च कामोदिग्विजयोत्सवे सौदामिनीं नर्तकीं मेघरूपमृदङ्गावादकं च वर्षर्तुं विधाय प्रीणयतीति । कृ[ऽ]त्वा[ऽ]ज[।]गत्[ऽ]त्र[।]य[।]ज[।]यं[ऽ]म[।]क[।]र[ऽ]ध्व[।]ज[ऽ]प्र[ऽ]भुः[ऽ] इति लक्षणसङ्गतिः ।। अ० २, सू०–२६१. ।।

मुः कामक्रीडा ।।२६२।।

मुरिति पञ्च मगणाः । यथा– उक्ता वाचं नो दत्ते तल्पे शेते व्यावृत्ताङ्गी, पर्याक्षिप्तक्षौमप्रान्ता प्रस्थातुं काङ्क्षत्याशु । कामक्रीडावार्तागोष्ठीप्रारम्भेऽप्युच्चैर्व्रीडां, धत्ते पत्युः प्रीत्यै वामारम्भाप्येवं सा बाला ।। २६२.१ ।। १५।२१ ।।

एकविंशं प्रकारमाह– **मुः काम क्रीडेति** । विवृणोति– मुरिति पञ्चमगणाः इति । तथा च 'sss.sss.sss.sss.sss.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् कामक्रीडानामकमतिशक्करीजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– उक्ता वाचमिति । उक्ता** किञ्चित्पृष्टाऽपि **वाचं**– प्रत्युत्तरवाक्यं **नो दत्ते**– नैव वितरति, **तल्पे**– शय्यायां **व्यावृताङ्गी**– पराङ्गमुखशरीरा **शेते**– शयनक्रियां नाटयति, **पर्याक्षिप्तक्षौमप्रान्ता पर्याक्षिप्तः** शरीरात्पृथक् विकीर्णः क्षौमप्रान्तः– **वस्त्राग्रभागः** यस्याः तथा सती **आशु**– शीघ्रं **प्रस्थातुं**– बहिर्गन्तुं **कांक्षति**– इच्छति– [नतु गच्छति] **कामक्रीडा वार्ता गोष्ठी प्रारम्भे अपि** कामक्रीडावार्तार्थं इति विलासचर्चायै गोष्ठ्याः सखीभिः सहालापप्रसङ्गस्य प्रारम्भेऽपि प्राथमिकस्थिता वपि **उच्चैः**– अत्यन्तं **व्रीडां**– लज्जां

धत्ते– धारयति, **एवम्** उक्त प्रकारेण **वामारम्भा** प्रतिकूलाचरणाऽपि सा बाला **पत्युः**– प्रीत्यै प्रियस्यानन्दाय भवतीतिशेषः। उ[ऽ]क्त[ऽ]वा[ऽ]चं[ऽ]नो[ऽ]द[ऽ]त्ते[ऽ]त[ऽ]ल्पे[ऽ]शे[ऽ]ते[।]व्या[ऽ]वृ[ऽ]त्ता[ऽ]ङ्गी [ऽ] इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–२६२ ॥

ञ्रष्टौ नज्रा भौ गो मणिकल्पलता ॥२६३॥

नजरभभगाः। यथा– उपलतृणस्वरूपचिन्तामणिकल्पलता-, व्यतिकरतो मुधैव मेरुर्मदमुद्वहति। जयति यदुज्जयन्त एकोऽयमचिन्त्यफलं, प्रददल्लंकरोति नेमिः स्वयमेष जिनः ॥ २६३.१ ॥

इत्थं पञ्चदशाक्षरजातेरतिशक्र्या एकविंशतिप्रभेदा वर्णिताः। प्रस्तारगत्या तु अस्याः ३२७६८ भेदाः भवन्ति। तदुक्तम्– "द्वात्रिंशत्तु सहस्राणि, सप्तचैव शतानि च। अष्टौ षष्टिश्च वृत्तानि, ह्याश्रयन्त्यति शक्रीम्॥ "इति [भ० ना० शा० १४।६१] इत्यतिशक्री" ॥ अथ षोडशाक्षरपादाया अष्टिजातेर्भेदावर्णयितुमुपक्रमते– **अष्टौ नज्रा भौ गो मणिकल्पलतेति**। विवृणोति– नजर भभगाः इति। नगणभगणरगणाः भगणद्वयं गुरुश्च '।।।.ऽऽ।.ऽ।ऽ.ऽ।।.ऽ।।.ऽ.' इतीदृशैर्वर्णैः कृता पादा यस्य तत् मणिकल्पलतानामकमष्टिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– उपलतृणेति**। अत्र पद्ये तृतीयपादे एकोऽयमचिन्त्यफलमिति पाठः समुपलभ्यते, तत्र–एकः अयम्– अचिन्त्य फलम्– एवं पदच्छेदो लभ्यते, स च नार्थं दृष्टया सामञ्जस्यं याति, "एको, यमचिन्त्यफलं" इत्थं पाठे स्वीकृते तु– यमिति द्वितीयान्तं पृथक्कर्तुं शक्यत इति मवत्यर्थसङ्गतिरिति तथैव पाठं परिकल्प्य व्याख्यायते। **मेरुः**– सुमेरु पर्वतः **उपतृणस्वरूपचिन्तामणिकल्पलताव्यतिकरतः** उपलंच तृणं चेति उपलतृणे ते स्वरूपं ययोः ते च– चिन्तामणि कल्पलते तयोः व्यतिकरतः सम्बन्धात् मुधैव व्यर्थमेव **गर्वम्**– अहङ्कारम् **उद्वहति**– धारयति, **यत्**– यस्मात् **एकः**– अद्वितीयः **उज्जयन्तः** एतन्नाम्नाख्यातः पर्वतः **जयति**– सर्वोत्कर्षेण वर्तते, **यम्** उज्जयन्तम् अचिन्त्यफलं प्रददत् अचिन्त्यं मनसाऽप्यगम्यं फलमभीष्टं वितरन् **एष** प्रसिद्धः **नेमिः**– एतनाम्ना प्रसिद्धः **जिनः**– रागादिजय शीलोदेवः **स्वयम्**– आत्मनैव **अलङ्करोति**– शोभयति। अय-

माशयः चिन्तामणि- कल्पलतयो धारणात्- सुमेरुपर्वतः स्वात्मानं सर्वतः श्रेष्ठं मन्यते तन्नोचितम् यतः चिन्तामणिः उपल एव [प्रस्तरविशेष एष] कल्पलतापि तृणमेव, तयोश्च यथा कथंचित् मनसाभीष्टस्य फलस्य प्रदातृत्वम् यत्र च मनसोऽप्यगम्यस्य फलस्य प्रदाता भगवान् नेमिजिनः स्वयमेव वसति स उज्जयन्त एव सर्वेभ्यः पर्वतेभ्यः श्रेष्ठ इति । उ[।]प[।]ल[।]तृ[।]ण[ऽ]स्व[।]रु[ऽ]प[।]चि[ऽ]न्ता[ऽ]म[।]णि[।]क[।]ल्प[।]ल[।]ता[ऽ] इति लक्षण समन्वयः ॥ अ० २, सू०-२६३. ॥

भीः स्गौ शरमाला ॥२६४॥

भीरिति भचतुष्टयं सगौ च । यथा- ऐक्षवकार्मुक कौसुमसायक मटमानिन्, मुञ्च चतुर्मुखशंभुचतुर्भुजजयगर्वम् । उत्तमसंयमवर्मवृतात्मनि जिननाथे, संप्रति शम्बरसूदन संहर शरमालाम् ॥ २६४.१ ॥

द्वितीयं प्रभेदमाह- **भीः स्गौ शरमालेति ।** विवृणोति- भीरिती भगण चतुष्टय सगौ चेति । भगणचतुष्टयात्परतः सगणो गुरुश्च 'ऽ।।.ऽ।।.ऽ।।.ऽ।।.।ऽ।.ऽ' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् शरमालेति नामकमष्टिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- ऐक्षव कार्मुकेति !** हे ऐक्षवकार्मुक ! इक्षोरिदमैक्षवं कार्मुकं धनुः यस्य तत्सम्बोधनम् **भटमानिन् !** आत्मानं भटं मन्यते इति सः तत्सम्बोधनम्, **कौसुमसायक !**- कुसुमैः कृता कौसुमा सायका यस्यः सः तत्सम्बोधनम्, हे काम, **चतुर्मुखशम्भुचतुर्भुजजयगर्वम्-** ब्रह्मविष्णुमहेशवशीकरणाभिमानं मुञ्च- त्यज, हे शम्बर सूदन ! शम्बरारे काम, **उत्तम संयम वर्मवृतात्मनि-** उत्तमः श्रेष्ठः संयमः बाह्यान्तरिन्द्रियनिग्रह एव वर्म कवचं तेन वृतः पिहित आत्मा स्वरूपं यस्य तादृशे जिननाथे जिनपंतौ **सम्प्रति** सद्यः **शरमालाम्** बाणपङ्क्तिम् **संहर** सङ्कोचय निवारयेति वा । ब्रह्मादिनपि स्ववशे कुर्वाण स्तवमस्मिन् संयमशीलेऽपि चेत्प्रहरिष्यसि तर्हि ते सर्वमद्यपर्यन्तं प्राप्तं यशः क्षयं गमिष्यतीति, नात्रत्वया प्रहर्तव्यमिति भावः । ऐ[ऽ]क्ष[।]व[।]का[ऽ]र्मु[।]क[ऽ]कौ[ऽ]सु[।]म[।]सा[ऽ]य[।]क[।]भ[।]ट[।]मा[ऽ]निन्[ऽ] इति लक्षण समन्वयः ॥ अ० २, सू०-२६४ ॥

भुगौ संगतम् ॥२६५॥

भुरिति पञ्चभगणा गुरुश्च । यथा- वीर तवासिपथेन गतैररिभिस्त्रिदिवं, तत्र दिवस्पतिमानिभिराकुलितः प्रबलैः । अद्य हरिर्विमृशन् सचिवैः सह तद्विजये, त्वन्नवसंगतकल्पनमौपयिकं मनुते ॥ २६५.१ ॥ पद्ममुखी, सुरतावसथं, उद्धरणं, सोपानकं चान्येषाम् ॥ २६५.१ ॥

तृतीयं प्रकारमाह- **भुगौ संगतमिति** । विवृणोति- भुरिति पञ्च भगणा गुरुश्चेति । एवञ्च 'ऽ।।.ऽ।।.ऽ।।.ऽ।।.ऽ।।.ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् संगतं नामार्ष्टिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरणम्- **यथा- वीर तवासिपथेनेति** । हे वीर ! **तव-** भवतः **असिपथेन** खड्गमार्गेण **त्रिदिवं-** स्वर्गं गतैः प्राप्तैः, **तत्र** स्वर्गे **दिवस्पतिमानिभिः** आत्मानं दिवस्पतिं स्वर्गलोकनाथं मन्यन्ते इति तादृशैः **प्रबलैः-** बलशालिभिः **अरिभिः-** शत्रुभिः **आकुलितः-** त्रस्तः **हरिः-** इन्द्रः **तद्विजये** तस्यारेः विजयविषये **सचिवैः-** मन्त्रिभिः सह **विमृशन्-** विचारयन् **त्वन्नवसंगतकल्पनम्-** तव भवतः नवं नूतनं संगतम् मित्रत्वम् तस्य कल्पनम् **औपयिकम्-** उपायभूतं **मनुते-** स्वीकरोति । त्वदरयस्त्वया खड्गेन च्छिन्नाः स्वर्गं प्राप्य तत्रात्मानमेव तत्रत्यं नाथं मन्यमानाः इन्द्रमपि व्याकुलयन्ति । तद्विजयश्च कथंस्यादिति विचारप्रसङ्गे इन्द्र स्तेषां विजयिनं त्वामेव सख्येन संग्रहीतुमिच्छतीतिभावः वी[।]र[।]त[।]वा[ऽ]सि[।]प[।]थे[ऽ]न[।]ग[।]तै[ऽ]र[।]रि[।] मि[ऽ]स्त्रि[।]दि[।]वं[ऽ] इति लक्षण समन्वयः ॥ अस्यनामान्तराण्याह- पद्ममुखी, सुरतावसथं उद्धरणम् सोपानकं चान्येषामिति । तथा च यथारुचि भिन्नैर्नाममिरिदं व्यवहरन्तीति भावः ॥ अ० २, सू०-२६५. ॥

मुगौ कामुकी ॥ २६६ ॥

मुरिति मगणपञ्चकं गुरुश्च । यथा- संवृत्तोऽयं सन्ध्याकालः प्राप्तोऽस्ताद्रेः शृङ्गं भानुर्, विस्फूर्जद्भिर्ध्वान्तस्तोमैरेकीभूतं काष्ठाचक्रम् । चापाकृष्टिं व्यातन्वानः कन्दर्पोऽपि क्रीडत्युच्चैर्, गच्छन्त्येतास्त्यक्ताशङ्कं क्रीडास्थानं कामुक्योऽपि ॥ २६६.१ ॥

चतुर्थप्रकारमाह– मु गौ कामुकीति । विवृणोति– मुरिति मगणपञ्चंगुरुश्चेति । तथा च 'sss.sss.sss sss.sss.s.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् कामुकीनामकमष्टिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– संवृत्तोऽयमिति । अयं संध्याकालः**– सायं समयः संवृत्तः– अभूत् । **भानुः**– सूर्यः **अस्ताद्रेः**– अस्ताचलस्य **शृङ्गं**– शिखरं प्राप्तः, **विस्फूर्जद्भिः**– प्रसरद्भिः **ध्वान्तस्तोमैः**– अन्धकार समूहैः **काष्ठाचक्रम्**– दिशामण्डलम्, एकीभूतम् ऐक्यंगतम्, **चापाकृष्टि**– धनुर्ज्याकर्षणं **व्यातन्वानः**– विस्तारयन् **कन्दर्पः**– कामः अपि **उच्चैः** अतिशयं **क्रीडति**– रमते **एताः** दृश्यमानाः **कामुक्यः**– कामिन्य अपि **त्यक्ताशङ्कां** निःसन्देहं यथा स्यात् तथा **क्रीडास्थानं**– रतिगृहं **गच्छन्ति**– व्रजन्ति । सन्ध्यासमये तमसि सर्वतो व्याप्ते कामशरमीताः कामुक्यः परैर्दर्शनस्य सन्देहान्निवृत्ताः पत्या सहरन्तुं क्रीडागृहं यान्तीतिभावः । सं[s]वृ[s]त्तो[s]यं[s]सं[s]ध्या[s]का[s]लः[s]प्रा[s]प्तो[s]स्ता[s]द्रेः[s]शृ[s]ङ्गं[s]भा[s]नुः[s] इति लक्षण समन्वयः ।। अ० २, सू०–२६६ ।।

सुगौ वा ।। २६७ ।।

सुरिति सगणपञ्चकं गुरुश्चेदियमपि कामुकी । यथा– अपयाहि पितामहः चित्तविलोभिनि धिक् त्वाम्, अपि कौशिककामुकि न त्वमपि त्रपसे किम् । असि हास्यपदं नलकूबरकामिनि यद्वः, कुलिशातिदृढेऽत्र जिनेन्द्रहृदि प्रविविक्षा ।। २६७.१ ।। सोमडकमित्यन्ये ।। २६५.१ ।।

पञ्चमं प्रकारमाह– **सु गौवा इति** । विवृणोति– **सुरिति सगणपञ्चकं गुरुश्चेदियमपि कामुकीति** । तथा च '।।s.।।s.।।s.।।s.।।s.s.' इतीदृशैर्वर्णैर्विन्यासश्चेत्प्रतिपादं तर्हि तदपि कामुकीनामकमष्टिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– अपयाहीति । हे पितामह चित्तविलोमिनि !** पितामहस्य ब्रह्मणः चित्तं विलोमयति तच्छीला तस्याः सम्बोधनम् तिलोत्तमे, **त्वां धिक्** ईदृशमनुचितं कर्मकरोषीत्यतस्त्वं निन्दा पात्रमसि, **अपयाहि**– दूरंगच्छ । **अयि कौशिककामुकि !**– कौशिकस्य इन्द्रस्य विश्वामित्रस्य वा (व्यञ्जनया–उलूकस्येति–गम्यते) कामुकि– उर्वशि ! **त्वमपि न त्रपसे किम्** त्वया स्वतएवात्र विषये लज्जा कार्येति भावः, **हे नलकूबर कामिनि !**– नल-

कूवरस्य तन्नाम्नाख्यातस्य कुबेरपुत्रस्य कामिनि रम्भे। **हास्यपदं**– हास्यस्थान**मसि**– भवसि, **यत्**– यस्मात् **वः** तिलोतमाप्रभृतीनाम् **कुलिशातिदृढे**– वज्रादप्यधिककठोरे **अत्र**– अस्मिन् **जिनेन्द्र हृदि**– जिनपते हृदये **प्रविविक्षा**– प्रवेष्टुमिच्छा अस्ति। स्वकीयं स्वकीयं कुत्सितं कर्मजानन्त्योऽपि भवत्यः साधारण जनवदत्रापि जिनपतौ स्वाधिकारं वाञ्छन्ति तत्केवलं भवतीनां हास्यायैवेति भावः। अ[।]प[।]या[ऽ]हि[।]पि[।]ता[ऽ]म[।]ह[।]चि[ऽ]त्त[।]वि[।]लो[ऽ]मि[।]धिक्[ऽ]त्वाम्[ऽ]इति लक्षण समन्वयः। अस्यनामान्तरमाह **सोमडकमित्यन्ये** इति ॥ अ० २, सू०–२६७ ॥

नुगौ चलधृतिः ॥२६८॥

नुरिति नगणपञ्चकं गुरुश्च। यथा– प्रणमदखिलसुरपतिकनकमुकुट–, स्फुटरुचिनिचितनखमणिकिरणचये। कुरु जिनचरणजलरुहि नमनरुचिं, चलधृतिमपजहि च विषयसुखधियम् ॥ २६८.१ ॥

षष्ठं प्रभेदमाह– **नु गौ चलधृति**रिति। विवृणोति– नुरिति। नगण पञ्चकं गुरुश्चेति। तथा च '।।।.।।।.।।।.।।।.।।।.ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः, पादा यस्य तत् चलधृतिनामकंष्ट्रिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– प्रणमदिति। प्रणमदाखिलसुरपतिकनक-मुकुटस्फुटरुचिनिचितनखमणिकिरणचये** प्रणमन्– नम्रीभवन्– यः अखिलसुरपतिः– सर्वदेवेन्द्रः तस्य कनकमुकुटस्य स्वर्णकिरीटस्य स्फुटरुचिभिः प्रकटकान्तिभिः निचिताः मिश्रिताः नखमणीनां नखरत्नानां किरणचयाः रश्मिसमूहा यस्य तस्मिन्, **जिनचरणजलरुहि** जिनपादपद्मे **अचलधृतिं**– निश्चलसमाधिं **नमनरुचिं**– प्रणतिकामनां **कुरु**– विधेहि **विषयसुखधियम्**– विषयेषु सुख बुद्धिम् **अपजहि**– त्यज। प्र[।]ण[।]म[।]द[।]खि[।]ल[।]सु[।]प[।]ति[।]क[।]न[।]क[।]मु[।]कु[।]ट[ऽ] [संयोगादौ द्वितीयपादे परतोऽस्य गुरुत्वम्] इति लक्षण समन्वयः ॥ अ० २, सू०–२६८ ॥

नुलावचलधृतिः ॥२६९॥

नुरिति नगणपञ्चकं लघुश्च। यथा– विलुलितचिकुरमधरनिहितदशनम्,

अविरलपुलकनिचितकुचयुगमयि । रतिरसरभसमणितमुखरितमिह, विलसति तव सखि सुरतमचलधृति ॥ २६९.१ ॥

सप्तमं प्रभेदमाह– नुलावचलधृतिरिति । विवृणोति– नुरिति नगणपञ्चकं लघुश्चेति । तथा च '।।।.।।।.।।।.।।।.।।।.।.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् अचलधृतिनामकमष्टिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– यथा– **विलुलितेति** । अयि सखि ! **विलुलितचिकुरम्**– विकीर्णकेशम् **अधरनिहितदशनम्**– अधरोष्ठस्थापितदन्तम् **अविरलपुलकनिचितकुचयुगम्**– अविरलैः घनैः पुलकैः रोमाञ्चैर्निचितं व्याप्तं कुचयुगम्– स्तनयुगलं यस्मिन् तत्, **रतिरसरभसमणितमुखरितम्**– रतिरसस्य मैथुनान्दस्य रभसेन औद्धत्येन यत् मणितं रतिकूजितम् तेन मुखरितम्– वाचालम् **इह**– अत्रस्थाने **अचलधृति** निश्चलधैर्यम् **तव**– भवत्याः सुरतम्– रति विलसितं **विलसति**– शोभते । वि[।]लु[।]लि[।]त[।]चि[।]कु[।]र[।]म[।]ध[।]र[।] नि[।]हि[।]त[।]द[।]श[।]न[।]म् [अचलेत्यादि द्वितियपादादिस्वर भक्तो मकार इति न पूर्वपादान्तनस्य गुरुत्वकृत्] इति लक्षण समन्वयः ॥ अ० २, सू०–२६९ ॥

न्भौ जिगौ मङ्गलमङ्गना द्यैः ॥२७०॥

नभौ जिरिति जगणत्रयं गुरुश्च । द्यैरिति चतुर्भिर्यतिः ॥ यथा– कुटिलतां धृतवती गुरुभोगमदोद्धता, विदधती प्रलयवेपथुसादपरंपराम् । विषधरीव पुरतः स्फुरिता यतिनामहो, विचरतां सुगतिमार्गममङ्गलमङ्गना ॥ २७०.१ ॥

अष्टमं प्रभेदमाह– न्भौ जिगौ मङ्गलमङ्गनाद्यैरिति । विवृणोति– न भौजिरिति जगणत्रयं गुरुश्च । द्यैरिति चतुर्भिर्यतिरिति । नगण-भगणौ-जगणत्रयं गुरुश्च '।।।.ऽ।।.ऽ।.ऽ।.ऽ।.ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृता पादा यस्य तत् मङ्गलमङ्गनानामकमष्टिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– यथा– कुटिलतामिति । **कुटिलतां**– वक्रगतिं धृतवती स्वीकृतवती **गुरुभोगमदोद्धता**– गुरुणा भोगभदेन विलासदर्पेण फणादर्पेण वा उद्वता उच्छृङ्खला **प्रलयवेपथु साद परम्परा**म्– प्रलयो मूर्च्छा, वेपथुः कम्पः, सादः स्तम्भः तस्य परम्परां श्रेणिं **विदधती**– कुर्वती **विषधरी**– सर्पिणी **इव** अङ्गना स्त्री; **सुगतिमार्गं**– मोक्षपथं **विचरतां** तत्र गच्छतां **यतिनाम् अमङ्गलम्** अपशकुनस्वरूपा **पुरतः**–

अग्रतः स्फुरिता प्राप्ता । यथा क्वापि सत्कार्याय गच्छतामग्रे समायाता सर्पिणी अमङ्गलसूचिका तथा मोक्षमार्गे गच्छतां यतिनामपि– अग्रतः समागता अङ्गना अमङ्गलसू चिकेति-द्वयोः साधर्म्यं विशेषणैरुक्त्वा साधितम् । कु[।]टि[।]ल[।]तां[ऽ]धू[।]त[।] व[।]ती[ऽ]गु[।]रु[।]भो[ऽ]ग[।]म[।]दो[ऽ]द्ध[।]ता[ऽ] इति लक्षण समन्वयः ॥ २७१।१ ॥ अ० २, सू०–२७० ॥

भ्रनिगा ऋषभगजविलसित छैः ॥२७१॥

भरौ नगणत्रयं गुरुश्च । छैरिति सप्तभिर्यतिः । यथा– अद्भुततुङ्गमूर्तिरतिशयललितगतिर्, देव समग्रकर्मवनविदलनरसिकः । निर्भरमन्तरङ्गरिपुबलविजयपटुर्, नाथ दधासि तत् त्वमृषभगजविलसितम् ॥ २७१.१ ॥ मत्तगजविलसितमिति भरतः ॥ २७१.१ ॥

नवमं प्रभेदमाह– **भ्रनिगा ऋषभगज विलसितं छै** रिति । विवृणोति– **भरौ– नगणत्रयं गुरुश्च । छैरिति** सप्तभिर्यतिः । भगण-रगणौ नगणत्रयं गुरुश्च 'ऽ।।.ऽ।ऽ.।।।.।।।.।।।.ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् सप्तभिश्चयति युक्तम्– ऋषभगजविलसितं नामाष्टिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– अद्भुततुङ्गेति** । हे नाथ ! हे देव ! **अद्भुततुङ्गमूर्तिः–** अद्भुता आश्चर्यविषया तुङ्गा उन्नतामू मुर्तिर्यस्य सः, **अतिशयललितगतिः–** अतिशयललिता अत्यन्तमनोहरा गतिर्यस्य सः, **समग्रकर्मवनविदलनरसिकः–** समग्रस्य अशेषस्य **कर्मवनस्य–** कर्माण्येव वनं तस्य, कर्माणीव वनन्तस्येति वा, विदलने प्रमर्दने रसिकः उत्कण्ठितः **अन्तरङ्गरिपुबलविजयपटुः–** अन्तरङ्गानां आभ्यन्तराणां रिपूणां शत्रूणां कामादीनां बलस्य; अन्तः स्वस्वामिविषयमध्ये अङ्गति गच्छति इति– अन्तरङ्गं मद्रिपुबलं तस्य वा विजये पटुः कुशलः **त्वं निर्भरं** स्वच्छन्दं **ऋषभगजविलसितम्** श्रेष्ठकरिक्रीडां **दधासि–** धारयसि । अत्र देवे जिने श्रेष्ठ गजे च समानानां विशेषणानां प्रयोगेण साम्यं प्रतिपादितम् । अ[ऽ]द्भु[।]त[।]तु[ऽ]ङ्ग[।]मू[ऽ]र्ति,[।]र[।]ति[।]श[।]य[।]ल[।]लि[।]त[।]ग[।]तिः[ऽ] इतिलक्षण सङ्गतिः । **अस्य** नामान्तरमाह– **मत्तगजविलसितमिति भरत** इति । भरत आचार्यं इदं छन्दो मत्तगज विलसित नाम्ना प्राहेत्यर्थः । सम्प्रति समुपलभ्यमाने [वडोदरा]

संस्करणे तु 'अग्रवृषभगजविलसितम् इभविलसितम्- इति च पाठ समुपलभ्यते । क्वचिन्मत्तगजविलसितमित्यपि पाठः इति पाद टिप्पण्यां निर्दिष्ठम् । तथा च तत्रापि यथारुच्येव पाठः स्वीकृतः ॥ अ० २, सू०-२७१ ॥

निजस्गा ललितपदं ङैः ॥२७२॥

निरिति नगणत्रयं जसगाश्च । ङैरिति पञ्चभिर्यतिः । यथा- चुलुककुल-जलनिधिशशाङ्क तव दीनं, रिपुनिवहमतितरलकातरमुपेक्ष्य । त्वदसिरुचि-तमसि विततेयुधि भवन्तं, ललितपदमभिसरति वीर जयलक्ष्मीः ॥२७२.१॥

दशमंप्रकारमाह- **निजस्गा ललितपदं ङैरिति** । विवृणोति- **निरिति नगणत्रयं जसगाश्च । ङैरिति पञ्चभिर्यतिरिति** । नगणत्रयात्परतो जगण सगणौ गुरुश्च '।।।.।।।.।।।.।ऽ।.।।ऽ.ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य पञ्चमिश्च यतिर्यत्र तत् ललितपदं नाम अष्टिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- चुलुककुलेति !** हे चुलुककुलजलनिधिशशाङ्क ! चुलुककुलमेव जलनिधिः समुद्रः तस्य (वृद्धयं) शशाङ्कः चन्द्रः स इव तत्सम्बोधनम्, हे वीर ! **युधि-** संग्रामे **त्वदसिरुचितमसि-** त्वत्खड्ग-कान्तिरूपे ध्वान्ते विततेविस्तृते सति **जयलक्ष्मीः-** विजयश्रीः **दीनं-** कृपणं **अतितरलकातरं-** अतिचञ्चलमति भीरुं च **तव-** भवतो **रिपुनिवहं** शत्रुसमूहम् **उपेक्ष्य अनादृत्य ललितपदं** चित्रपदविन्यासपूर्वं यथास्यात्तथा, **भवन्तं-** त्वाम् **अभिसरति-** समुपैति । अन्यापि कामिनी कातरं दीनं च पतिमुपेक्ष्य तमसि वीरं सुन्दरं चान्यं पुरुषमुपैति तथा तवारिं त्यक्त्वा जयलक्ष्मीस्त्वामायातीति भावः । चु[।]लु[।]क[।]कु[।]ल[।]ज[।]ल[।]नि[।]धि[।]शा[ऽ]ङ्क[।]त[।]व[।]दी[ऽ]नं[ऽ] इति लक्षण समन्वयः ॥ अ० २, सू०-२७२ ॥

यमन्सर्गाः जयानन्दं चैः ॥२७३॥

यमनसरगाः । चैरिति षड्भिर्यतिः । यथा- नमच्छक्रश्रेणीमणिमुकुटकोटी-विटङ्कैर्, निघृष्टाङ्घ्रे देव प्रबलजडताचण्डमानो । सुधाधारासारैरिव सदसि वाचां प्रपञ्चैर्, जयानन्दस्यन्दं सपदि जगतामादधानः ॥ २७३.१ ॥ प्रवरललितमित्येके ॥ २७३.१ ॥

एकादशं प्रभेदमाह–य्मन्सर्गाः **जयानन्दं** चैरिति । विवृणोति– **यमन सरगाः । चैरिति षड्भिर्यतिरिति** । यगण-मगण-नगण-सगण-रगणाः गुरुश्च 'ISS.SSS.III.IIS.SIS.S.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य षडभिश्च यतिर्यत्र तत् जयानन्दं नामाष्टिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– नमच्छक्रेति । नमच्छक्रश्रेणीमणिमुकुट कोटी विटङ्कैः**– नमतां प्रणमतां शक्राणा मिन्द्राणां श्रेण्याः पङ्क्तेः मणिनिर्मितानां मुकुटानां कोट्याः शतलक्षाणां ये विटङ्का अग्रभागाः तैः **निघृष्टाङ्घ्रे**– घर्षित चरण ! **प्रबलजडताचण्डभानो** प्रबलाया जडताया जाड्यस्य मौर्ख्यस्य शैत्यस्य च (कृत) चण्डभानो सूर्य ! हे देव ! **सदसि**– सभायां **सुधाधारासारैः**– अमृतप्रवाह वर्षाभिः इव **वाचां**– वाणीनां प्रपञ्चैः विस्तारैः **सपदि**– तत्कालमेव **जगतां**– सर्वेषां लोकानाम् **जयानन्दस्यन्दं**– जयानन्दयोः विजयप्रीत्योः स्यन्दं द्रवम् आदधानः, 'असि' इति शेषः । अथवा- आनन्द स्पन्दं आदधानः (त्वं) जय सर्वोत्कर्षेण वर्तस्वेति पदविच्छेदेन व्याख्यायां न क्रियापदानिर्देश रूपात्रुटिः । न[।]म[ऽ]च्छ[ऽ]क्र[ऽ]श्रे[ऽ]णी[ऽ], म[।]णि[।]मु[।]कु[।]ट[।]को[ऽ]टी[ऽ]वि[।]ट[ऽ]ङ्कैः इति लक्षण समन्वयः । **अस्य** नामान्तरमाह– **प्रवरललितमित्येके** इति । तथा च मंदार मकरन्दे 'य– मौ– नः स्त्रौगश्च प्रवरललितं नाम वृत्तम्' इति । भरतनाट्यशास्त्रेऽप्यस्य 'ललितप्रवरं' प्रवरललितमिति द्विधानाम निर्दिष्टं पाठ भेदेन । तथाहि– आद्यात्पराणि वै पञ्च द्वादशं सत्रयोदशम् । अन्त्योपान्त्ये च दीर्घाणि ललितप्रवरं हितत् ॥ इति १५।९८ ॥ यदा य्मौ पादस्थौ भवत इह चेत् न्सौ तथा र्गौ, तथा षड्भिश्चान्यैर्यतिरपि च वर्णैर्यथा स्यात् । तदप्यष्टौ नित्यं समनुगतमेवोक्तमन्यैः, प्रयोगज्ञैर्वृत्तं प्रवरललितं नामतस्तु । इति [१५।९९] ॥ अ० २, सू०–२७३ ॥

भ्रौ त्रौ न्गौ महिषी त्रैः ॥२७४॥

भरनरनगाः । त्रैरिति दशभिर्यतिः । यथा– सिद्धनरेन्द्रनन्दन भवद्विपक्षनगरे, संप्रति सौधभित्तिलिखितास्तुरंगमचमूः । वीक्ष्य नितान्तकोपकुटिलेक्षणा प्रति मुहुः, शृङ्गविघट्टनैर्विघटयत्यरण्यमहिषी ॥ २७४.१ ॥

लक्षितक्रमेण [न तु प्रस्तारक्रमेण] द्वादशं प्रकारमाह– **भ्रौ भ्रौ न्गौ महिषीजैरिति** । विवृणोति– **भरनररगाः । जैरिति दशभिर्यतिरिति** । भगण-रगण-नगण-रगण-नगणा गुरुश्च 'ऽ।।.ऽ।ऽ.।।।.ऽ।ऽ.।।।.ऽ.' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य, दशभिश्च वर्णैर्यतिर्यत्र तत् महिषीनामकमष्टिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– सिद्धनरेन्द्रेति** । **हे सिद्धनरेन्द्रनन्दन !** सिद्धराज सुत ! **सम्प्रति** तवाक्रमणानन्तरं **भवद्विपक्षनगरे–** त्वदीयशत्रु-पुरे **अरण्यमहिषी–** वनजामहिषजातिस्त्री **सौधमित्ति लिखिताः** प्रासाद-कुड्योत्कीर्णाः **तुरङ्गमचमूः–** अश्वसेनाः **वीक्ष्य–** अवलोक्य **नितान्त कोप कुटिलेक्षणा–** अत्यन्तक्रोधवक्रीकृतलोचना सती **प्रतिमुहुः–** प्रत्येकं वारं वारं **शृङ्गविघट्टनैः–** विषाणघर्षणैः विघटयति– त्रोटयति । भवदाक्रमणेन रिपुषु पुरं त्यक्त्वा पलायितेषु तत्रारण्यजन्तूनां निवासात्– प्रासादेषु सञ्चारेण तत्रोल्लिखिता अश्वसेनाः समवलोक्य जातिसिद्धिवैरेण महिष्यस्ताः शृङ्गै-र्विघटयन्तीति भावः । सि[ऽ]द्ध[।]न[।]रे[ऽ]न्द्र[।]नं[ऽ]द[।]न[।]भ[।]व[ऽ] द्वि[।]प[ऽ]क्ष[।]न[।]ग[।]रे[ऽ] इति लक्षणसमन्वयः । प्रतिपादं च दशमाक्षरे विरम्य पाठे सुश्रवत्वमिति ॥ अ० २, सू०–२७४ ॥

म्भौ न्भौ न्गौ मदनललिता घचैः ॥२७५॥

मभनमनगाः । घचैरिति चतुर्भिः षड्भिश्च यतिः । यथा– गाढाक्रान्ता कुचयुगभरेणार्ता च विरहे, नित्योद्विग्नातिघनजघनप्राग्भारधरणे । सध्रीचीभि-र्धृतकरतला कान्ते कृतरतिर्, मन्द मन्दं मदनललिता याति प्रियगृहम् ॥ २७५.१ ॥

त्रयोदशं प्रकारमाह– **म्भौ न्भौ न्गौ मदनललिता** घचैरिति । विवृणोति– **मभनमनगाः । घचैरिति चतुर्भिः षड्भिश्च यतिरिति** । मगण-भगण-नगण-मगण-नगणा गुरुश्च 'sss.ऽ।।.।।।.sss.।।।.ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य चतुर्भिः षड्भिश्च यतिर्यत्र तत् मदनललिता नामकमष्टि जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– गाढाक्रान्तेति** । **कुचयुगभरेण–** स्तनद्वन्द्व-भारेण **गाढाक्रान्ता–** अत्यर्दिता, **विरहे** प्रिय वियोगे च **आर्त्ता–** पिडिता, **अतिघन जघन प्राग्भारधरणे–** अतिनिबड नितम्बभारोद्वहने **नित्योद्विग्ना**

सततभीता [अतएव] **सध्रीचीभिः**– सहगमनशीलाभिः सखीभिः **धृतकर-तला**– अवलम्बितहस्ता **कान्ते कृतरतिः** प्रियविषये कृतप्रीतिः **मदनललिता** कामावस्थया– मनोहराङ्गना **मन्दं मन्दं प्रियगृहं याति** शनैः शनैः वल्लभागारं प्रविशति । गा[ऽ]ढा[ऽ]क्रा[ऽ]न्ता[ऽ], कु[।]च[।]यु[।]ग[।]भ[।]रे[ऽ], णा[ऽ]र्ता[ऽ]च[।]वि[।]र[।]हे[।] इति चतुर्भिः षड्भिश्च विच्छिद्यपठनात् श्रव्यत्वम् । यद्यपि प्रथमे पादे षष्ठेऽक्षरे या द्वितीया यतिः 'रे' इत्यत्र प्राप्ता सा च पदमध्ये पततीति नोचिता– पदमध्ये यतेः क्वाचित्कत्वेन स्वीकारेऽपि पूर्वापरभागयोरेकाक्षरत्वे तद्वर्जनात् । तथाहि– प्रोक्तम् "क्वचित्तु पदमध्येऽपि गकारादौ यति र्भवेत् । यदि पूर्वापरौ भागौ न स्यातामेकवर्णकौ ॥" इति तथापि पूर्वभागस्य वर्णद्वयात्मकत्वसत्वात्कथंचित्सन्तोष्टव्यम् ॥ अ० २, सू०–२७५ ॥

न्जम्जर्गा वाणिनी ॥२७६॥

नजभजरगाः । यथा– अविरलपुष्पबाणललितानि दर्शयन्ती, परिमलहारि-तामरसवक्त्रमुद्वहन्ती । मदकलराजहंसगमनानि भावयन्ती, शरदिह मानसं हरति हन्त वाणिनीव ॥ २७६.१ ॥

चतुर्दशं प्रभेदमाह– न्जम्जर्गा वाणिनीति । विवृणोति नजमजरगा इति । नगण-जगण-भगण-जगण-रगणाः गुरुश्च '।।।.।ऽ।.ऽ।।.।ऽ।.ऽ।ऽ.ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् वाणिनीनामकमष्टिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– अविरलेति । अविरलपुष्प बाणललितानि** अविरलानि घनानि पुष्पाणि येषु ते च बाणा वृक्ष विशेषाः तेषां ललितानि विलासानि, पक्षे अविरलानि– निबिडानि पुष्पबाणस्य कामस्य ललितानि विलासानि दर्शयन्ती प्रकटयन्ती, **परिमलहारितामरसवक्त्रम्** परिमलेन सौरभेण हारि मनोहरं तामरसं कमलमेव वक्त्रम्– मुखम्, पक्षे तादृशं तामरसमिववक्त्रम् **उद्वहन्ती**– धारयन्ती **मदकलराजहंसगमनानि**– मदेन समयप्राप्तेन विकार विशेषेण कला अव्यक्तमधुरभाषिणो ये राजहंसा मरालाः तेषां गमनानि गतीः, पक्षे तादृशराजहंसानाम् गमनानीव गमनानि **भावयन्ती** प्रकट्यन्ती **शरद्** ऋतुविशेषः **वाणिनी** विदग्धमत्तनायिका **इव मानसं** चेतः **हरति** स्ववशं

नयति । अत्र शरदा सह बाणिन्याः साधारणविशेषणैः सादृश्यं व्यक्तम् । अ[।]वि[।]र[।]ल[।]पु[।]ष्प[।]बा[ऽ]ण[।]ल[।]लि[।]ता[ऽ]नि[।]द[ऽ]र्श[।]य[ऽ]न्ती[ऽ] इति लक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू०–२७६ ॥

नजिर्गा वा ॥२७७॥

नगणो जत्रयं रगणो गुरुश्च यदा तदापि वाणिनी । यथा– कुरु करुणां वितर प्रतिवाचमत्र कां वा, हृदि दयितां निदधासि निमीलिताक्षियुग्मम् । अयमपि ते ननु दासजनोऽनुकम्प्य एव, जयति स वीरजिनो गदितो द्यु-वाणिनीभिः ॥ २७७.१ ॥

पञ्चदशं प्रभेदमाह– **न जिर्गा वेति** । विवृणोति– **नगणोजत्रयं रगणो-गुरुश्च यदा तदापि वाणिनीति** । पूर्ववर्णिताया वाणिन्या एव प्रकारान्तरेणापि विन्यासः, स यथा नगणः जगणत्रयं रगणः गुरुश्च '।।।.ISI.ISI.ISI.SIS.S.' इतीदृशैरक्षरैः । उदाहरति– **यथा– कुरुकरुणामिति** । **करुणां** अस्माकमुपरि दयां **कुरु** विधेहि, **अत्र प्रतिवाचं**– प्रत्युत्तरं **वितर**– देहि, **कां वा दयितां** प्रियां **हृदि**– स्वान्तःकरणे **निमीलिताक्षियुग्मम्**– निमिलितं पिहितं अक्षियुग्मम् नेत्रद्वयं यत्र तद्यथा स्यात्तथा **निदधासि**– धारयसि । **अयमपि** अस्मद्पोपि **दासजनः**– भक्तलोकः **ते**– तव **अनुकम्प्यः**– अनुग्राह्य एव, [इति] द्यु **वाणिनीभिः** संगमदेवेन मायया निर्मिताभिः स्वर्लोकीय विदग्धमत्तकामिनीभिः **गदितः**– उक्तः **स** प्रसिद्धः **वीरजिनः**– महावीरेति प्रसिद्धोऽर्हन् जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । कु[।]रु[।]क[।]रु[।]णां[ऽ]वि[।]त[।]र[ऽ]प्र[ऽ]ति[।]वा[ऽ]च[।]म[ऽ]त्र[।]कां[ऽ] वा [ऽ] इति लक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू०–२७७ ॥

ज्रज्रजगाः पञ्चचामरम् ॥२७८॥

जरजरजगाः । यथा– त्वदीयपादपङ्कजे निधाय भक्तिमुज्ज्वलां, मनुष्यकोटका वयं विदध्महे किमद्भुतम् । यदीयजन्मनो महोत्सवं तथा प्रचक्रिरे, जिनेन्द्र सप्तविंशतिश्च पञ्च चामराधिपाः ॥ २७८.१ ॥

लक्षितक्रमेण षोडशं प्रकारमाह– **ज्रज्रजगाः पञ्चचामरमिति** । विवृणोति– **जरजरजगाः** इति । जगण-रगण-जगण-रगण-जगणाः गुरुश्च

'ISI.ISI.ISI.SIS.ISI.S.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् पञ्चचामरं नामाष्टिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– त्वदीयपादपङ्कज** इति । हे जिनेन्द्र ! **त्वदीयपादपङ्कजे–** भवदीय चरणकमले **उज्ज्वलाम्–** सुप्रकाशाम् **भक्तिं–** श्रद्धां **निधाय–** संस्थाप्य **मनुष्यकीटकाः–** क्षुद्रमानवाः **वयं किम् अद्भुतं–** आश्चर्यं **विदध्महे–** कुर्महे, न किमप्यद्भुतमाचराम इति भावः, कुत इत्याह– **यदीयजन्मनः–** यत्प्राकट्यस्य **महोत्सवं–** महान्तमुत्सवं **सप्तविंशतिश्च पञ्च च** द्वात्रिंशत्संख्याकाः **अमराधिपाः–** देवेन्द्राः तथा अनिर्वचनीयेन प्रकारेण **प्रचक्रिरे** विहितवन्तः । यदीयाराधनाममराधिपाअपि कृतवन्तस्तदीयभक्तिप्रकटनं क्षुद्रमानवानां कृते साधारण एव धर्म न किमप्यत्राश्चर्यमिति भावः । त्व[।]दी[ऽ]य[।]पा[ऽ]द[ऽ]पं[।]क[।]जे[ऽ]नि[।]धा[ऽ]य[।]भ[ऽ]क्ति[।]मु[ऽ]ज्जव[।]लां[।] इति लक्षण समन्वयः ॥ अ० २, सू०–२७८ ॥

रजर्जर्गाश्चित्रम् ॥२७९॥

रजरजरगाः । यथा– कान्तिरिन्दुकौमुदीसहोदरा वचोविलासः, सर्वदा सुधोज्ज्वलो यशश्च दुग्धसिन्धुबन्धुः । क्षुण्णशङ्खसोदरा गुणास्तवामलं चरित्रं, चित्रमेतदेभिरीश मे मनस्तथापि रक्तम् ॥ २७९.१ ॥

सप्तदशं प्रभेदमाह– **र्ज र्ज र्गाश्चित्रभू–** इति । विवृणोति– रजरजरगा इति रगण जगण-रगण-जगण-रगणा-गुरुश्च 'SIS.ISI.SIS.ISI.ISI.SIS.S.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् चित्रं नामाष्टिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– यथा– कान्तिरिन्दु कौमुदी सहोदरेति । हे **ईश तव–** भवतः कान्तिः– द्युतिः **इन्दुकौमुदीसहोदरा–** चन्द्रज्योत्सना सदृशी, **वचोविलासः** वाग्विभ्रमः **सर्वदा–** सदा **सुधोज्वलः–** सुधावत्– चूर्णवत् शुक्लः **यशः** कीर्तिश्च **दुग्धसिन्धुबन्धुः–** क्षीरसागर समानः गुणाः दयादाक्षिण्यादयो धर्माः **क्षुण्णशङ्खसोदराः** क्षुण्णाः कृतक्षोदः शङ्खः कम्बुः तस्य सोदराः सदृशाः **चरित्रम्–** व्यवहारः **अमलं–** निर्मलम् तथापि एवं सर्वेषां श्वेतत्वेऽपि **मे–** तव भक्तस्य **मनः** चेतः एमिः तव कान्त्यादिभिरेव **रक्तम्–** रक्तवर्णम्– अथ च अनुरक्तमिति **चित्रम्–** आश्चर्यम् । स्वयं श्वेतैस्तैर्ममनसो रक्ती-

करणमवश्यनाश्चर्यं प्रदमिति भावः। का[ऽ]न्ति[।]रि[ऽ]दु[।]कौ[ऽ]मु[।]दी[ऽ]स[।]हो[ऽ]द[।]रा[ऽ]व[।]चो[ऽ]वि[।]ला[ऽ]सः[ऽ] इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–२७९ ॥

भ्रस्तर्गाः सुरतललिता ॥२८०॥

मनसतरगाः। यथा– संप्राप्ते मधुसमयसाम्राज्ये पिकीसमूहाः, शंसन्ति प्रतिदिशमिदं मन्ये नितम्बिनीनाम्। मानित्वं त्यजत सुभगंमन्यत्वमस्तु दूरे, कन्दर्पः सुरतललितौपाध्यायकं प्रपेदे ॥ २८०.१ ॥

अष्टादशं प्रकारमाह– **भ्रस्तर्गाः सुरतललितेति**। विवृणोति– **मनसतरगा** इति मगण-नगण-सगण-तगण-रगणा गुरुश्च 'ऽऽऽ.।।।.ऽ।।.ऽ।।.ऽ।ऽ.ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृता पादा यस्य तत् सुरतललितानामकमष्टिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– सम्प्राप्ते मधुसमयेति। मधुसमयसाम्राज्ये–** वसन्तर्तुशासनाधिकारे **सम्प्राप्ते–** प्रारब्धे **पिकीसमूहाः–** कोकिलापङ्क्तयः **प्रतिदिशं–** सर्वासु दिक्षु **नितम्बिनीनाम्–** स्त्रीणां कृते **इदं** वक्ष्यमाणं वस्तु **शंसन्ति–** कथयन्ति [इत्यहं] मन्ये तर्कयामि। किं तदित्याह– **मानित्वं** मानवतीत्वं **त्यजत–** परिहरत **सुभगंमन्यत्वं–** आत्मानं सुभगं मन्यते इति सः, तस्य भावः तत्– **दूरे अस्तु** तदपि मनसोऽपसारणीयम् कुत इत्याह– **कन्दर्पः–** कामः **सुरतललितौपाध्यायकं–** सुरतललितस्य कामक्रीडा विलसितस्य औपाध्यायकं उपाध्यायोऽध्यापयिता तस्य भावं प्रपेदे प्राप्तः। कन्दर्पो यत्र स्वयमेव सुरतललितमुपदिशति तत्र का वः शक्तिस्तत्प्रतिकूला चरण इति पश्चादव श्यं परिहर्त्तव्ये प्रणयमाने सौभाग्याभिमाने च वरमादावेव तत्परित्याग इति भावः। सं[ऽ]प्रा[ऽ]प्ते[ऽ]म[।]धु[।]स[।]म[।]य[।]सा[ऽ]म्रा[ऽ]ज्ये[ऽ]य[ऽ]पि[।]की[ऽ]स[।]मू[ऽ]हाः[ऽ] इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–२८० ॥

म्रौ न्भौ भ्गौ शैलशिखा ॥२८१॥

भरनभभगाः। यथा– शीतरुजा विधुतचिबुकैः कृतदन्तरवो, गाढतरप्रयुक्तगजदन्तकराभिनयः। शैलशिखाप्रदेशमधिरुह्य तुषारऋतौ, पश्यति भास्करोदयपथंतव वै रिजिनः ॥ २८१.१ ॥

ऊनविंशं प्रकारमाह– **भ्रौ न्मौ भ्गौ शैलशिखेति** । विवृणोति– भरनभमगा इति । भगण-रगण-नगणाः भगणद्वयं गुरुश्च 'ऽ।।.ऽऽ.।।।.ऽ।।.ऽ।।.ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् शैलशिखानामकमष्टिजातिच्छन्द इत्यर्थः । **यथा– शीतरुजेति शीतरुजा** जाड्यक्लेशेन **विधूतचिबुकैः** कम्पितहनुभिः **कृतदन्तरवः** विहित दशनकटाकटाशब्दः, **गाढतरप्रयुक्तगजदन्त कराभिनयः**– गाढतरमत्यन्तं प्रयुक्तः कृतः **गजदन्तयोः**– करिदशनयोः **कराभ्याम्** सूर्याभिमुखं प्रसारिताभ्याम् अभिनयः अनुकरणं [प्रायो-वा करीबन्धनाम्ना प्रसिद्धः] येन तादृशः तव वैरिजनः शत्रुवर्गः, **तुषारऋतौ**– हेमन्ते **शैलशिखाप्रदेशम्** पर्वताग्रभागम् **अधिरुह्य**– आरुह्य **भास्करोदयपथं पश्यति** सूर्योदयमार्गमवलोकयति । त्वयापहृतसर्वस्वः भयात्वलाप्य गिरिगृहासु लीनः, तत्र शीतत्राणयोग्यवस्त्राभावात् कथं चिदपनीतरात्रिः सूर्योदयात् प्रागेव गिरिशिखरमधिरुह्य स्थित स्तवरिपुः आतपतापाय सूर्योदयं प्रतीक्षमाण स्तिष्ठतीति भावः । शी[ऽ]त[।]रु[।] जा[ऽ]वि[।]धू[ऽ]त[।]चि[।]बु[।]कैः[ऽ]कृ[।]त[।]द[ऽ]न्त[।]र[।]वः[ऽ] इति लक्षणसमन्वयः । अत्र प्रथमपादे 'विधुत' इति ह्रस्वो धू धातुः पठ्यते परं तथा सति रगणस्वरूप हानिरिति छन्दो भङ्गः स्यादिति दीर्घपाठः कल्पनीयः ॥ अ० २, सू०–२८१ ॥

भ्रौ य्नौ न्गौ वरयुवतिः ॥२८२॥

भरयननगाः । यथा– स्फूर्जति संगरप्रदोषे तुरगखरखुर-, क्षुण्णरजोन्धकार-घोरे विलसति नृपते । वैरिमहीभुजां समन्तात्सुरवरयुवती-, संगमहेतुरेकदूती भवदसिलतिका ॥ २८२.१ ॥

विंशं प्रकारमाह– **भ्रौ य्नौ न्गौ वरयुवतिरिति** । विवृणोति– **भरयननगा** इति । भगण-रगण-यगणा नगणद्वयं गुरुश्च 'ऽ।।.ऽऽ.।ऽऽ.।।।.।।।.ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् वरयुवतिनामकमष्टिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– स्फूर्जति संगरेति** । **तुरगखरखुरक्षुण्णरजोऽन्धकारघोरे** तुरगानामश्वानां खरैस्तीव्रैः खुरैः पादैः क्षुण्णानां मर्दितानां रजसाम् धूलीनाम्

अन्धकारेण घोरे भयङ्करे **संगरप्रदोषे** संग्रामसन्ध्यासमये **स्फूर्जति** विलसति सति, हे नृपते ! **वैरिमहीभुजां** शत्रु भूतानां नृपाणां समन्तात् सर्वतः **सुरवरयुवती** सुराणां सम्बन्धिन्यः सजातीया वा वरभुवत्यः सुरवरभुवत्यः ताभिः **संगमहेतुः** संमेलनकारणं **एकदूती** प्रधानदूतिका **भवदसिलतिका**, त्वदीयकृपाणवल्ली **विलसति** शोभते । अयमाशयः, भवदसिलतया संग्रामे हता भवद्रिपवः सुरयुवतीभिः सह संगच्छन्तीति वस्तुतत्त्वम् । तत् च संध्यारूपकेण–असिलतायाः दूतीत्व कल्पनया शोभनतां नीतम् । प्रदोषसमये दूत्यः नायकान् नायिकाभिः सह संगमयन्तीति प्रसिद्धम् । इहापि तुरगखुरजोमिरन्धकारे जाते संग्रामः सन्ध्यासमयतां प्रतिपद्यते, तत्रच रिपवः [मृताः] सुर भुवतीभिः सह सङ्गच्छन्ते । तत्र संगमहेतु रसिलतिका दूतीवेत्याकूतम् । स्फू[ऽ]र्ज[।]ति[।] सं[ऽ]ग[।] र[ऽ] प्र[।] दो[ऽ]षे[ऽ] तु[।] र[।] ग[।] ख[।] र[।] खु[।] र[ऽ] [संयोगे गुरुत्वात्] इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–२८२ ॥

र्नीगा ललना ॥२८३॥

रगणो नगणचतुष्टयं गुरुश्च । यथा– दिक्षु चक्षुरनिलहतकुवलयतरलं, प्रक्षिपत्यतनुमृगपतिनिनदचकिता । सिद्धराजसुत भजति मृगयुवतितुलां, सांप्रतं वनभुवि तव रिपुनृपललना ॥ २८३.१ ॥

एकविंशं प्रकारमाह– र्नीगा ललनेति । विवृणोति रगणो नगणचतुष्टयं गुरुश्चेति । 'ऽ।ऽ.।।।.।।।.।।।.।।।.ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् ललनानामकमष्टिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– दिक्षु चक्षुरिति** । हे सिद्धराजसुत ! सिद्धराजपुत्र ! **साम्प्रतं** त्वयारिषु हनेषु विद्राव्य यतस्ततः प्रहितेषु वा **रिपुनृपललना** शत्रुराजवनिता **अनिलहतकुवलयतरलं** वायुकम्पित नीलकमलवच्चपलं चक्षुः नेत्रं **दिक्षु** सर्वासु आशासु **प्रक्षिपति** पातयति, **वनभुविअतनुमृगपतिनिनदचकिका** अतनुः महान्–यो मृगपतिः सिंहः तस्य **निनदेन** गर्जितेन चकिता भीता सती **मृगयुवतितुलां** हरिणतरुणीसादृश्यं **भजति** प्राप्नोति । पतिविहीना भवद्रिपुकामिनी नगरात्पलाय्य वनंगता तत्र च स्वभावभीताऽपि–सिंहनादं श्रुत्वाऽतितरां भीतासती यतस्ततातरलं नेत्रं

क्षिपन्ती परिभाणमपश्यन्ती मृगीव शोभत इति भावः । दि[ऽ]क्षु[।]च[।]क्षु-[।]र[।]नि[।]ल[।]ह[।]त[।]कु[।]व[।]ल[।]य[।]त[।]र[।]लं[ऽ] इति लक्षण समन्वयः ॥ अ० २, सू०–२८३ ॥

सौ नौ मो गो वेल्लिता ॥२८४॥

यथा– सरितां कमितुः स्तबकितघनफेनव्याजाद्–, विततेषु तटेषु बहललवलीच्छायेषु । श्रममाप्तवती त्रिजगति संचारैर्, नियतं नृप वेल्लितसुखमभजत् त्वत्कीर्तिः ॥ २८४.१ ॥

द्वाविंशं प्रकारमाह– **सौ नौ मो गो वेल्लिते**ति । सगणद्वयात्परतो नगणद्वयं मगणो गुरुश्च [।।ऽ.।।ऽ.।।।.।।।.ऽऽऽ.ऽ.] इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् वेल्लिता नामक मष्टि जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– सरितामिति । हे नृप ! बहललवलीच्छायेषु** बहलाभिः बहुतराभिः **लवलीभिः** लताविशेषैः छाया अनातपो येषु तेषु **सरितां** नदीनां कमितुः प्रियस्य सागरस्य **विततेषु** विस्तृतेषु **तटेषु** पुलिनेषु **त्रिजगति** त्रिलोक्यां **सञ्चारैः** सततं गतागतैः **श्रमम्**– खेदम्– आप्तवती प्राप्ता **त्वत्कीर्त्तिः** तव प्रशास्ति गाथा, **स्तवकितघनफेनव्याजात् स्तवकितानां** गुच्छाकारं प्राप्तानां घनानां निबिडानां फेनानां व्याजात् कपटात् **वेल्लित सुखम्** आन्दोलनानन्दम् **नियतं** निश्चितं यथास्यात् तथा अभजत् प्रापत् । अयमाशयः– स्वल्प दूरगमन श्रान्तापि ललना छायाप्रदेशं प्राप्य विश्राम्यति तत्र का कथा त्रिलोकी भ्रमणश्रान्ताया भवत्कीर्त्ति कामिन्या इति सापि मार्गप्राप्तं लवलीच्छायावत्समुद्र प्रदेशमागत्य– तरङ्गान्दोलित फेनमिषेण– आन्दोलन सुखमपि प्राप्ता– तवकीर्त्तिरेव फेनरूपेण परिणतीति । स[।]रि[।]तां[ऽ]क[।]मि[।]तुः[ऽ]स्त-[।]व[।]कि[।]त[।]घ[।]न[।]के[ऽ]न[ऽ]व्या[ऽ]जा[ऽ]त्– इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–२८४.१ ॥

म्तौ स्तौ त्गौ कोमललता घडैः ॥२८५॥

मतसततगाः । घडैरिति चतुर्भिः पञ्चमिर्यतिः । यथा– मत्तालीनां स्निग्ध-

मधुरोद्गारैर्मुहुर्गीतकैर्, अक्षिप्तोऽस्यारोहणमृगः स्वच्छन्दचारी यतः। मन्दं मन्दं दक्षिणमरुद्वात्येष तेनाधुना, सद्यः पुष्यत्कोमललतालास्यैकशिक्षागुरुः ॥ २८५.१ ॥

त्रयोविंशं प्रकारमाह– **स्तौ स्तौ त्गौ कोमललता धडैरिति**। विवृणोति– **मतसततगाः। धडैरिति चतुर्भिः पञ्चभिर्यतिरिति**। मगणनगण-सगणास्तगणद्वयं गुरुश्च [ऽऽऽ.।।।.ऽ।। ऽऽ। ऽऽ।.ऽ] इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत्, चतुर्भिः पञ्चभिश्च यतिर्यत्र तत् कोमललता नामकमष्टिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– मत्तालीनामिति**। अत्र चतुर्थचरणे पुष्यत्कोमल० इत्यस्य स्थाने पुष्यत्कोमलेति पाठोऽर्थं दृष्ट्या साधीयान् प्रतिभाति स एव स्थिरीकृत्य व्याख्यायते। **यतः** यस्माद्धेतोः **अस्य** वायोः **आरोहणमृगः** वाहन हरिणः **मत्तालीनां** उन्मत्तमधुकराणां **मुहुः** वारं वारं **स्निग्धमधुरोद्गारैः** कोमलमिष्टप्रवाहिभिः **गीतकैः** गानैः **आक्षिप्तः** आकृष्टः **सन्– स्वच्छन्दचारी** स्वैरितां गतः तेन हेतुना **सद्यः पुष्यत्कोमललतालास्यैकदीक्षागुरुः** सद्यः तत्कालमेव पुष्प्यन्तीनां पुष्पोत्पत्तिमतीनां कोमललतानां मृदुवल्लीनां लास्यस्य नृत्यस्य एक मुख्यः दीक्षा गुरुः शिक्षकः **एष** सद्योऽनुभूयमानः **दक्षिणमरुत्** दाक्षिणात्यवायुः **अधुना** सम्प्रति मन्दं मन्दं शनैः शनैः वाति गच्छति। वसन्ते वायुर्मन्दगतिर्भवतीति प्रसिद्धम्। तत्र **हेतुरुत्प्रेक्ष्यते– यतो** वायो र्वाहनभूतो मृगः मधुनामत्तानां भ्रमराणां गीतैराकृष्टः सन् स्वेच्छयैव गच्छति न वायुप्रेरणामनुवर्त्ततेऽत एवैष मन्दं मन्दं वातीति। म[ऽ]त्ता[ऽ]ली[ऽ]नां[ऽ], स्नि[ऽ]ग्ध[।]म[।]धु[।]रो[ऽ], द्गा[ऽ]रै[ऽ]र्मु[।]हु[ऽ]र्गी[ऽ]त[।]कै:[ऽ] इत्येवं चतुर्भिः पञ्चभिश्च यत्या सह लक्षण समन्वयः। २८५.१ ॥ इत्थं षोडशाक्षर पादाभा अष्टिजातेर्यथा प्रयोगं त्रयस्त्रिंशद्भेदा उक्ताः। प्रस्तारगत्या तु अस्या ६५५३६ संख्यका भेदा भवन्ति। तदुक्तं भरतेन–"पञ्चषष्टिसहस्राणि सहस्रार्धं तु संख्यया। षड्विंशच्चैव वृत्तानि तथा षष्ट्यांगदितानि तु ॥" [भ० ना० शा० १४.६२] १६–२२ ॥ इत्यष्टिः ॥

अत्यष्टौ यमनसभलगाः शिखरिणी चैः ॥२८६॥

यमनसभलगाः । चैरिति षड्भिर्यतिः । यथा– हरन् सर्वाम्भोजश्रियमविरतं सिन्धुपतिना, कृतार्थस्तन्वानो निशितमसि विद्योतमसमम् । सुधांशुस्तद्वंशे त्वमिव जयसिंहक्षितिपते, कलापूर्णः पश्योदयशिखरिणीहाभ्युदयते ॥ २८६.१ ॥

अथात्यष्टिजातिं सप्तदशाक्षरपादां वर्णयितुमुपक्रमते–अत्यष्टौ यमनसभलगाः शिखरिणी चैरिति । विवृणोति–यमनसभलगाः । चैरिति षड्भिर्यतिरिति । यगण-मगण-नगण-सगण-भगणाः लघुगुरू च [।ऽऽ.ऽऽऽ.।।।.।।ऽ.ऽ।।.।ऽ.] इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य षड्भिश्च यतिर्यत्र तत् शिखरिणी नामकमत्यष्टि जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– यथा– **हरन् सर्वाम्भोजेति** । हे जयसिंह क्षितिपते ! जयसिंह–नाम्नाख्यातः क्षितिपतिः पृथ्वीशः तस्य सम्बोधनम्, **अविरतं** सततम् **सर्वाम्भोजश्रियम्** सर्वेषामम्भोजानां कमलानां श्रियम् शोभाम् [राजपक्षे] सर्वां सम्पूर्णां भोजश्रियं धाराधिपतेः भोजस्य सप्ताङ्गराज्यलक्ष्मीं [सम्प्रति नहिर वर्माधीनाम्] **हरन्** नाशयन् पक्षे– आत्माधीनां कुर्वन् **सिन्धुपतिना** समुद्रेण **कृतार्थः** कृतप्रयोजनः, पक्षे सिन्धुपतिना सिन्धुदेशराजेन कृतार्थः सत्कृतः **निशि** रात्रौ **तमसि** अन्धकारे सति **असमम्** निरुपमं **विद्योतम्** प्रकाशं तन्वानः विस्तारयन्– पक्षे **निशितम्** तीक्ष्णम् असभम् **असिविद्योतम्** खड्गप्रभां तन्वानः, **सुधांशुः** चन्द्रः, तद्वंशे तस्य चन्द्रस्य कुले **त्वमिव** तत्सदृशः **कलापूर्णः** सकलकलाभिः सम्पन्नः चन्द्रः **इह उदयशिखरिणि** उदयाचले **अभ्युदयते** अभिमुखमुदयं गच्छति इति पश्य । गुणैस्त्वंच चन्द्रश्च पूर्वोक्तरीत्या समानौ, यथा च चन्द्रपरम्परायां पूर्णकलोऽयं चन्द्र उदेति, तथैव चन्द्रवंशीयराजानां परम्परायाम् त्वमपि कलापूर्णः समुदयं गच्छसीति भावः । ह[।]रन्[ऽ]स[ऽ]र्वा[ऽ]म्भो[ऽ]ज[ऽ], श्रि[।]य[।]म[।] वि[।]र[।]तं[ऽ]सिं[ऽ]धु[।]प[।]ति[।]ना[ऽ] इति षड्भिर्यत्या सह लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–२८६.१ ॥

ज्सजस्यलगाः पृथ्वी जैः ॥ २८७ ॥

जसजसयलगाः । जैरित्यष्टभिर्यतिः । यथा– त्वदीयरिपुभूभुजां पुरि पुरा-

रिवेश्माग्रतो, निरीक्ष्य चमरी वृषं सपदि मन्मथव्याकुला । परिस्पृशति जिह्वया ककुदकेन कण्डूयते, निमीलितविलोचना किल चुलुक्यपृथ्वीपते विलम्बितगतिरिति भरतः ॥ २८७.१॥

द्वितीयं प्रकारमाह– **ज्सजस्थल्गाः पृथ्वी जैरिति** । विवृणोति जसजस-यलगाः । जैरित्यष्टभिर्यतिरिति । जगण-सगण-जगण-सगण-यगणाः लघुगुरू च [।ऽ।.।।ऽ.।ऽ।.।।ऽ.।ऽऽ.।ऽ.] इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादायस्य, अष्टभिश्च यतिर्यत्र तत् पृथ्वीनामक मत्यष्टि जातिच्छन्द इत्यर्थः उदाहरति– **यथा– त्वदीयरिपु-भूभुजा**मिति । **हे चुलुक्यपृथ्वीपते ! त्वदीयरिपुभूभुजां** तव शत्रुभूतानां राज्ञां **पुरि** नगरे **पुरारिवेश्माग्रतः** शिवमन्दिर मुखे **वृषं** अश्ममय शिव-वाहनभूतं वृषभं **निरीक्ष्य** दृष्ट्वा सपदि तत्कालमेव **मन्मथव्याकुला** काम-पीड़िता **चमरी** वनगौः **जिह्वया** रसनया **परिस्पृशति** लेटि **निमीलित-विलोचना** स्पर्शसुखेन मुद्रितनयना सती **ककुदकेन** स्कन्धोपरिस्थ मांसपिण्डेन **कण्डूयते** गात्रविघर्षणं करोति किलेत्यैतिह्ये । अयमाशयः त्वयोरिपुषु निहतेषु तदावासनगरं शून्यमिति तत्र वनपशव एव यतस्ततः संचरन्तीति वनगौरपि तत्र संचरन्ती पुराण पुरारिमन्दिराग्रतस्तदीय वाहनवृषमूर्त्तिं दृष्ट्वा वास्तविक वृषबुद्धया स्वकामचेष्टाभिस्तमनुरञ्जयितुं यतत इति । त्व[।]दी[ऽ]य[।] रि[।]पु[।]भू[ऽ]भु[।]जा[ऽ], पु[।]रि[।]पु[।]रा[ऽ]रि[।]वे[ऽ]श्मा[ऽ]ग्र[।] तः[ऽ] अष्टमेऽक्षरे यत्या, च लक्षण समन्वयः । अस्यनामान्तरमाह विलम्बित गतिरिति भरत इति, तथाहि "यदा द्विरुदितौ हि पादमभिसंश्रितौ ज्सौ भिकौ तथैव च पुनस्तयोर्मिथनमाश्रितो यो लगौ । तदष्टिरति पूर्विका यतिरपि स्वभावाद्यथा, विलम्बितगतिस्तदा निगदिता द्विजै नामतः । [भ. ना. शा. १५–११४] ॥ अ० २, सू०–२८७ १ ॥

भ्रौ न्भौ न्लौ गो वंशपत्रपतितं जैः ॥२८८॥

भरननलगाः । जैरिति दशभिर्यतिः । यथा– जर्जरसारिमध्यलुटिताः क्वचिदपि गजिनो, भङ्गुरवंशपत्रपतिताः क्वचिदपि रथिनः । क्वापि च सादिनो हततुरंगमबलपिहिताः, शत्रुबलेऽभवंस्त्वयि रणाङ्गणमवतरति । वंशवलमित्यन्ये ॥ २८८.१ ॥

तृतीयं प्रकारमाह– भ्रौ न्भौ न्लौ गो वंशपत्रपतितं भैरिति । विवृणोति भरनभनलगाः । भैरिति दशभिर्यतिरिति । भगण-रगण-नगण-भगण-नगणाः लघुगुरू च [ऽ।।.ऽ।ऽ.।।।.ऽ।।.।।।.।ऽ.] इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य दशभिश्च यतिर्यत्र तत् वंशपत्रपतितं नामात्यष्टि जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– जर्जरसारीति त्वयि रणाङ्गणम्** संग्रामभूमिम् **अवतरति** प्राप्ते सति **शत्रुबले रिपुसैन्ये गजिनः** गजारूढा भटाः **क्वचिदपि** कस्मिंश्चिदलक्षिते प्रदेशे **जर्जरसारिमध्यलुठिताः** जर्जराणां भिन्नानां सारीणां गजपृष्ठस्थाशिबिकानां मध्येऽन्तः लुठिताः पतिताः, **रथिनः** रथारूढा भटाः क्वचिदपि कस्मिंश्चित्प्रदेशे **जर्जरवंशपत्रपतिताः** जर्जरवंशेभ्यः भग्नयुगाधारकाष्ठेभ्यः पत्रेभ्यो वाहनेभ्यः रथेभ्यः पतिताः, **सादिनः** अश्ववाराः **क्वापि** क्वचित्प्रदेशे **हततुरङ्गमबलपिहिताः** हतेन मृतेन तुरङ्गमबलेन अश्वसैन्येन पिहिताः छन्ना **अभवन्** आसन् । त्वयि युद्धभूमिङ्गते प्रायो रिपवः सर्वे नष्टा एव– ये केचन गजादिसेनायां जीविता आसन् ते तत्रतत्रोकेषु स्थलेषु निलीय स्थिता इति भावः । ज[ऽ]र्ज[।]र[।]सा[ऽ]रि[।]म[ऽ]ध्य[।]लु[।]ठि[।]ताः[ऽ]क्व[।]चि[।]द[।]पि[।]ग[।]जि[।]नः[ऽ] इति दशभिर्यत्या लक्षणसमन्वयः । अस्य नामान्तरमाह– वंशदलमित्यन्ये इति ।। अ० २, सू०– २८८.१ ।।

सौ ज्भौ जो गावतिशायिनी ॥२८९॥

ससजभजगगाः । भैरिति वर्तते । यथा– माघस्य इति धौतपुरन्ध्रिमत्सरान् सरसि मज्जनेन, श्रियमाप्तवलोऽतिशायिनीमपमलाङ्गभासः । अवलोक्य तदेति यादवानपरवारिराशेः, शिशिरेतररोचिषाप्यपां ततिषु मङ्क्तुमीषे । यादवीत्यन्ये ।। २८९.१ ।।

चतुर्थं प्रकारमाह– **सौज्भौ जो गावति शायिनीति** । विवृणोति **ससजभजगगाः । भैरिति वर्तते** इति । तथा च सगणद्वयं जगण-भगण-जगणाः गुरुद्वयं च [ऽ।ऽ.।।ऽ.।ऽ।.ऽ।।.।ऽ।.ऽऽ.] इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य, दशभिश्च यतिर्यत्र तत् अतिशायिनी नामकमत्यष्टि जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति–

यथा- माघस्य इति धातेति। जलक्रीडावसानवर्णनमिदम्- **इति** पूर्वोक्त-प्रकारेण **धौतपुरन्ध्रिमत्सरान्** धौतः प्रक्षालितः **पुरन्ध्रीणाम्** सुचरितानां स्त्रीणां मत्सरो द्वेषः यैः तान् **सरसि मज्जनेन** ह्रदे स्नानेन **अतिशायिनीं** बहुलां **श्रियम्** कान्तिम् **अवाप्नवतो** लब्धवतः, **अपगतमलाङ्गभासः** अपगतं जलेन क्षालितं मलं यस्याः तथा भूता **अङ्गभाः** शरीरकान्तिः येषां तान् **यादवान्** यदुवंशीयान् श्रीकृष्णयोधान् **इति** एवं रूपान् **अवलोक्य** प्रेक्ष्य **तदा** तस्मिन् काले **शिशिरेतररोचिषा** सूर्येण अपि **अपां** जलानां **ततिषु** राशिषु **मङ्क्तुम्** बुडितुम् ईषे इष्टम्। जलक्रीडायां सर्वाभिः सह यथायोगं क्रीडया-सपत्नीनां परस्परं मत्सरः नाशितः, स्वयं च ते निर्मलकान्तयः सञ्जाता इति यादवानां स्नानफलमवलोक्य तदवाप्तुमिव सूर्योऽपि स्नातुमियेष। सूर्यास्तसमयोजात इति भावः। अस्य नामान्तरमाह- **'यादवीय ये'** इति। अन्ये इदं छन्दो यादवीत्यादुरित्यर्थः। इ[।]ति[।]धौ[ऽ]त[।]पु[।]रं[ऽ]न्धि्र[।]म[ऽ]त्स[।]रान्[ऽ]स[।]र[।]सि[।]म[ऽ]ज्ज[।]ने[ऽ]न[ऽ] द्वितीय पादादिभूत संयोगेऽस्य गुरुत्वम्) दशभिर्यतिरिति लक्षणसङ्गतिः॥ अ० २, सू०-२८९.१॥

मो भ्नौ तौ गौ मन्दक्रान्ता घचैः ॥२९०॥

मभनततगगाः। घचैरिति चतुर्भिः षड्भिश्च यतिः। यथा- जन्मस्नाने स चरमजिनः स्वर्णकुम्भौघधारा-, सारं सोढा कथमिति पुरा वज्रिणा शङ्कितेन। दृष्टः पश्चाज्जयति चरणाङ्गुष्ठपर्यन्तलीला-, मन्दाक्रान्तामरगिरिशिरः कम्पतो विस्मितेन श्रीधरेति भरतः॥२९०.१॥

पञ्चमं प्रकारमाह- **मो भ्नौ तौ गौ मन्दाक्रान्ता घचैरिति**। विवृणोति- **मभनततगगाः। घचैरिति चतुर्भिः पञ्चभिश्च यतिरिति**। मगण-भगण-नगणाः नगणद्वयं गुरुद्वयं च [sss.sıı.ııı.ssı.ssı.ss] इती दृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य, चतुर्भिः पञ्चभिश्च यतिर्यत्र तत् मन्दाक्रान्तानामक मत्यष्टिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- जन्मस्नाने** स इति। **जन्मस्नाने** जन्मकालिके प्राथमिकाभिषेके पुरा प्रथम- **स्वर्णकुम्भौघधारासारं**

कनकमय कलससमूह निःसृत धाराप्रपातं कथं सोढा इति **शङ्कितेन** जातशङ्केन **वज्रिणा** महेन्द्रेण **दृष्टः** अवलोकितः, **पश्चात्– चरणाङ्गुष्ठपर्यन्तलीला–मन्दाक्रान्तामरगिरिशिरः कम्पतः** चरणस्य पादस्य **अङ्गुष्ठपर्यन्तेन** वृद्धाङ्गुलिप्रान्तेन लीलया अनायासेन मन्दं यथास्यात्तथा आक्रान्तस्य अमरगिरेः सुमेरोः शिरः कम्पतः शिखर चलनात्– विस्मितेन चकितेन वज्रिणा दृष्टः **स** चरमजिनः चतुर्विंश तीर्थङ्करः जयति । जन्म समये यस्य सौकुमार्यं दृष्ट्वा अयं कथं जन्माभिषेके कनककलशधारापातं सहिष्यतीति इन्द्रस्य शंकाऽभूत् पश्चाच्च यदा तदीयपदाङ्गुष्ठप्रान्तभारेणामरगिरिः कम्पितस्तदा कथं जातमात्रस्येयान्भार इत्याश्चर्यमभूदिति भावः । ज[ऽ]म्न[ऽ]म्ना[ऽ]ने[ऽ], स[।]च[।]र[।]म[।]जि[।]'नः[ऽ], स्व[ऽ]र्ण[।]कु[ऽ]म्भौ[ऽ]घ[।]धा[ऽ]रा[ऽ] इत्थं चतुर्भिः षड्भिश्च यतिभ्यां लक्षण समन्वयः । अस्य नामान्तरमाह– **श्रीधरेति भरत** इति । तथा हि मो भ्नौ चस्युश्चरणरचितास्तौ गुरूच प्रविष्टा–श्छेदः श्लिष्टौ यदि च दशभिः स्यात्तथान्यैश्चतुर्भिः । अत्यष्टौ च प्रतिनियमिता वर्णतः स्पष्टरूपा सा विज्ञेया द्विजमुनिगणैः श्रीधरानामतस्तु (भ० ना० शा० १५–१०८) केवलमियानत्र भेदो यत् श्रीधरायाम् उक्त मतेन (भरतमतेन) दशभि चतुर्भिश्च यतिः स्वमते च मन्दाक्रान्तायां चतुर्भिः षड्भिश्चेति । कालिदासादि कृत-श्लोकेष्वपि– (त्वदीयलक्षणग्रन्थे श्रुतबोधेऽपिच) चतुर्भिः षड्भिः (पारिशेष्यात्सप्तभिः) च यतिरिति दृश्यते । भरत नाट्यशास्त्रेऽपिच मुख्योदाहरण रूपेण यत्पद्यमुपन्यस्तमस्ति तत्र चतुर्भिः षड्भिः [परिशेषे सप्तभिश्च] यतिर्दृश्यत इति उपरिलिखितं भरतनाट्यशास्त्रस्थं लक्षणं प्रक्षिप्तं प्रतिभाति । मूलरूपं लक्षणं च–कारिकाभ्यां प्रदत्तं, तत्र यतिनियमो न दत्तः, तथा चात्र यथा श्रव्यता सम्पद्येत तथा यतिः कार्येतिः समायाति । परिवर्त्तिभिः सर्वैरेव लक्षणकारैः चतुर्भिः, षड्भिः, सप्तभिश्च यतेराहतत्वेन, तदेव भरतस्याप्यनुकूलमिति प्रतीयते ॥ अ० २, सू०–२९०.१ ॥

मभ्नरसलगाः भाराक्रान्ता ॥२९१॥

मभनरसलगाः । घर्चरिति वर्तते । यथा– चौलुक्येन्द्र त्वमिह न हि चेद्धिमां किल धारयेः, कूर्मक्रोडाधिपफणिपतिद्विपादिषु सत्स्वपि । सर्पन्त्या ते करटिघटया दिशां विजये तदा, भाराक्रान्ता नृप वसुमती क्षणान्निपतेदधः ॥२९१.१॥

षष्ठं प्रकारमाह– मभ्नरसलगाः भाराक्रान्तेति । विवृणोति **मभनरसलगाः । घचैरिति वर्तत** इति । मगण-भगण-नगण-रगण-सगणाः लघुगुरूच [SSS.SII.III.SIS.IIS.IS.] इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य चतुर्भिः पञ्चभिश्च यतिर्यत्र तत् भाराक्रान्तानामार्क मत्यष्टिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– चौलुक्येन्द्रेति** । हे चौलुक्येन्द्र ! **त्वं** चेत् यदि **इह** लोके **इमां** वसुमतीं **न धारयेः** न बिभृयाः, **तदा–कूर्मक्रोडाधिप फणिपतिद्विपाद्रिषु** कच्छपमहावराह-शेषनाग-दिग्गज-कुलपर्वतेषु पृथ्वीधारकेषु **सत्स्वपि** विद्यमानेष्वपि, दिशां– आशानां **विजये** जयप्रसङ्गे **सर्पन्त्या** चलन्त्या **ते** तव **करटिघटया** हस्तिसमूहेन **भाराक्रान्ता** भारेणनम्रीभूना **वसुमती** पृथ्वी **अधः नीचैः** निपतेत् भ्रश्येत् । चौ–[s]लु[s]क्ये[s]न्द्र, [s]त्व[।]मि[।]ह[।] न[।]हि[।]जे[s], दि[।]मां[s]कि[।]ल[।]धा[s]र[।]येः[s] इति चतुर्भिः षड्भिश्च यत्या लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सूत्र–२९१.१॥

मभ्नम्यलगाः हारिणी ॥२९२॥

मभनमयलगाः । घचैरिति वर्तते । यथा–प्रासादेषु त्वदरिनगरे शून्यत्वमासेदुषि, श्रीचौलुक्य क्षितिपतिशिरश्चूडामणे संप्रति । प्रेङ्खोलन्तो विषधरशतैर्व्यालम्बिताः कञ्चुका, व्यातन्वन्ति ध्वजपटतुलामुच्चैर्मनोहारिणीम् ॥२९२.१॥

सप्तमं प्रकारमाह– मभ्नम्यलगाः हारिणीति । विवृणोति मभनमयलगाः । घचैरिति वर्तत इति । मगण-भगण-नगण-मगण-यगणाः लघुगुरू च [SSS.SII.III.SSS.ISS.IS] इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य चतुर्भिः षड्भिश्च यतिर्यत्रतत् हारिणीनामकमत्यष्टिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति–**यथा–प्रासादेषु इति । क्षितिपतिशिरश्चूडामणे !** क्षितिपतीनां भूमिपानां शिरश्चूडामणे मूर्धमुकुटरत्न **श्रीचौलुक्य** ! श्रियायुतः चौलुक्यः चुलुक्यवंशसंभूतः तत्सम्बोधनम्, **शून्यत्वम्** जनसंपर्कराहित्यम् **आसेदुषि** प्राप्तवति **त्वदरिनगरे** तवशत्रूणां पुरे **सम्प्रति** अद्यत्वे **विषधरशतैः** शतशः सर्पैः **व्यालम्बिताः** ऊर्ध्वाधः प्रसारिताः **प्रेङ्खोलन्तः** आन्दोलन्तः **कञ्चुकाः** सूक्ष्मत्वचः **उच्चैः** अतिशयम् **मनोहारिणीम्** रमणीयां **ध्वजपटतुलां** केतुवस्त्रसादृश्यं **व्यातन्वन्ति**

विस्तारयन्ति । शून्ये नगरे सर्पादीनामेव निवासात्- सर्पैः मुक्ताः कञ्चुका लम्बमानाः वायुप्रेरणया प्रेङ्खन्तश्च श्वेतपताकासादृश्यं भजन्त इति भावः । प्रा[ऽ]सा[ऽ]दे[ऽ]षु[ऽ]. त्व[।]द[।]रि[।]न[।]ग[।]रे[ऽ]; शू[ऽ]न्य[ऽ]त्व[।] भा[ऽ]से[ऽ]दु[ऽ]षि[ऽ] (द्वितीय पादादि संयोगे पयतः सत्यस्य गुरुत्वम्)– चतुर्भिः षड्भिश्च यतिरपीति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू०–२९२.१ ॥

न्सौ म्रौ स्लौ गो हारिणी चघैः ॥२९३॥

नसमरसलगाः । चघैरिति षड्भिश्चतुर्भिर्यतिः । यथा–कथय किमियं लक्ष्मच्छाया शुचेस्तु भवेत् कथं, तव हिमरुचे यद्वोत्सङ्गे कृतः कृपया ध्रुवम् । नभसि रभसाद् बद्धाटोपप्रधावितलुब्धक, क्षुभितहरिणीगर्भाद् भ्रष्टः कुरंगक एव हि ॥ वृषभललितमित्येके ॥२९३.१॥

अष्टमं प्रकारमाह– **न्सौ म्रौ स्लौ गो हरिणी चघैरिति** । विवृणोति– **नसभरसलगाः । चघै षड्भिश्चतुर्भिश्च यतिरिति** । नगण-सगण-मगण-रगण-सगणाः लघुगुरू च [।।।. ।।S. SSS. SIS. ।।S. IS] इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत्, षडिभश्चतुर्भिश्चयतिर्यत्र तत्, हरिणीनामक मत्यष्टि जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– कथयेति** । हे हिमरूचे ! शीतकान्ते चन्द्र ! **इयं** दृश्यमाना **लक्ष्मच्छाया** लाञ्छन कान्तिः किम् ? इति कथय; (अवचने स्वयमेव समाधत्ते) **तु** किन्तुः शुचेः शुक्लस्य पवित्रस्य वा (**तव इयं**) **कथं भवेत्** कुतः सम्भाव्यते, (लाञ्छनं हि अपवित्रस्य जनस्य भवति) **यद्वा** अथवा– **नभसि** आकाशे **बद्धाटोपप्रधावितलुब्धक–क्षुभितहरिणीगर्भात्- बद्धाटोपं** कृताडम्बरं यथास्यात् तथा **प्रधावितात्** कृतानुसरणप्रयत्नात्– लुब्धकात्– व्याधात् क्षुभिनाया भीनाया हरिण्याः **गर्भात्** उदरात्– **रभसात्** वेगाद् **भ्रष्टः** पतितः कुरङ्गकः बालमृग **एव कृपया** कारूण्येन **उत्सङ्गे** क्रोडे **कृतः** स्थापितः **ध्रुवम्** निश्चितम् । चन्द्रमसि निर्मले कलङ्काशङ्कामपह्नुत्य-व्याधानुद्रुतहरिणीगर्भपतितकुरङ्गशावकधारणमुत्प्रेक्षितमित्यपह्नुति-गर्भोत्प्रेक्षा । अस्य नामान्तरमाह– वृषभललितमित्येक इति । केचिदिदं छन्दो **वृषभ-ललितनाम्नाव्यवहरन्ति**– इति

भावः। क[।]थ[।]य[।]कि[।]मि[।]यं[ऽ], ल[ऽ]क्ष्म[ऽ]च्छा[ऽ]या[ऽ]; शु[।]चे[ऽ]स्तु[।]क[।]थं[ऽ]भ[।]वेत्[ऽ], षड्भिश्चतुर्भिश्च यत्या लक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सूत्र–२९३.१॥

नः स्मौ तौ गौ पद्मम् ॥२९४॥

नसमततगगाः। चर्घरिति वर्तते यथा– त्यजत मनुजा जातेर्गर्वं किं तयैवैकया स्यात्. गुणपरिचयो लोकेऽत्यन्तं हन्त दत्ते प्रतिष्ठाम्। अजनि चुलुकाचान्ताम्भोधिः कुम्भजन्माप्यगस्त्यः, कुलगृहमभूद्देव्या लक्ष्म्याः पङ्कजातं च पद्मम् ॥२९४.१॥

नवमं प्रकारमाह– **नः स्मौ तौ गौ पद्मम्** इति। विवृणोति– न-स-मततगगाः। चर्घरिति वर्तत इति। नगण-सगण-मगणाः नगणद्वयं गुरुद्वयं च [।।।.।।ऽ ऽऽऽ.ऽऽ।.ऽऽ।.ऽऽ.] इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् षड्भिश्चतुर्भिश्च यतिर्यत्र तत् पद्मं नामात्यष्टिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– त्यजत मनुजा इति**। हे **मनुजाः** मनुष्याः! **जातेः** ब्राह्मणत्वादिजन्मलभ्यसामान्यस्य **गर्वं** अभिमानं **त्यजत** परिहरत **तया** जात्या **एकया** केवलया **एव किं स्यात्** किमपि नस्यात्– इति भावः। हन्त! **गुणपरिचयः** गुणाभ्यासः **लोके अत्यन्तं** अतिशयं **प्रतिष्ठां** सम्मानं **दत्ते** प्रदिशति। **कुम्भजन्मा** घटोत्पत्तिः अपि **अगस्त्यः** तन्नामा मुनिः **चुलुकाचान्ताम्भोधिः** चूलुकेन आचान्तः पीतः अम्भोधिः समुद्रो येन तथा भूतः **अजनि** जातः, **पङ्कजातम्** पङ्कादुत्पन्नम् **पद्मम्** कमलम्– **लक्ष्म्याः देव्याः कुलगृहम्** प्रधानागारम् अभूत्। गुणैर्विना केवलमुच्चकुलसम्भूतत्वमात्रेण गर्वो न कार्यः, तस्याकिञ्चित्करत्वात्। क्षुद्रकुलोत्पन्नोऽपि गुणैर्युक्तश्चेत्स प्रशस्य एवेति सामान्योऽर्थः विशेषाभ्यां घटादुत्पन्नस्यागस्त्यस्याम्भोधिपानम्– पङ्कादुत्पन्नस्य कमलस्य लक्ष्मीगृहत्वमित्येताभ्यामर्थाभ्यां समर्थित इत्यर्थान्तरन्यासोऽयम्। त्य[।]ज[।]त[।]म[।]नु[।]जा[ऽ], जा[ऽ]ते[ऽ]र्ग[ऽ]र्वं[ऽ], कि[ऽ]त[।]यै[ऽ]क[।]या[ऽ]स्यात्[ऽ] इति षड्भिश्चतुर्भिश्च यत्या लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सूत्र–२९४.१ ॥

नस्मम्यलगा रोहिणी ॥२९५॥

नसममयलगाः । चघैरिति वर्तते । यथा– कुवलयमुदं व्यातन्वानः पूर्णोल्लसन्मण्डलः, शिरसि घटयन् पादन्यासं निःशेषपृथ्वीभृताम् । उदयमधुना प्राप्तः श्रीमत्सिद्धेन्द्रसूनो भवान्, इव कृतबुधानन्दः सोऽयं श्रीरोहिणीवल्लभः ॥२९५.१॥

दशमं प्रकारमाह– **नस्मम्यलगाः रोहिणी**ति । विवृणोति– **नसममयलगाः । चघैरितिवर्तत** इति । नगण-सगणौ-मगणद्वयं यगणोलघुगुरू च [।।।.।।ऽ.ऽऽऽ.ऽऽऽ.।ऽऽ.।ऽ.] इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य, षड्भिश्चतुर्भिश्च यतिर्यत्र तत् रोहिणीनामकमत्यष्टिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा–कुवलयमुदमिति** । **श्रीमत्सिद्धेन्द्रसूनो** ! श्रियायुक्तः सिद्धेन्द्रस्य सिद्धराजस्य सूनुः पुत्रः तत्सम्बोधनम्– **कुवलयमुदं** कमल प्रसादं **व्यातन्वानः** कुर्वाणः, पक्षे कुवलयस्य भूमण्डलस्य मुदं हर्षं व्यातन्वानः **पूर्णोल्लसन्मण्डलः** पूर्णं सकलकलाभिः, सकलैश्चाङ्कैः सम्पन्नं **उल्लसत्** प्रकाशमानं मण्डलं विम्बं राज्यं च यस्य सः, **निःशेषपृथ्वीभृताम्** सकलभूधराणां- सकलराज्ञां च शिरसि शिखरे मस्तके च पादन्यासं चरणनिःक्षेपं **घटयन् रचयन् कृतबुधानन्दः** कृतः सम्या दितोबुधस्य स्वपुत्रस्य, पक्षे पण्डितस्य आनन्दो येन सः, **सः अयं श्रीरोहिणीवल्लभः** चन्द्रः **भवानिव** त्वमिव अधुना सम्प्रति **उदयं** प्रकाशं, पक्षे उन्नतिं **प्राप्तः** अधिगतः । राज्ञः चन्द्रस्य च समानैर्विशेषणैः, साम्यं प्रदर्शितम् । कु[।]व[।]ल[।]य[।]मु[।]दं[ऽ]; व्या[ऽ]त[ऽ]न्वा[ऽ]नः[ऽ]; पू[ऽ]र्णो[ऽ]ल्ल[ऽ]न्म[ऽ]ण्ड[।]लः[ऽ], इति षड्भिश्चतुर्भिश्च यत्या लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सूत्र–२९५.१ ॥

नुर् गौ वसुधारा डैः ॥२९६॥

नुरिति पञ्च नगणाः गुरुद्वयं च । डैरिति पञ्चभिर्यतिः यथा– प्रणतसुरविसरमणिमुकुटतटकोटि-, परिघटितचरणनखरुचिनिचयरम्ये । इह भवति भगवति विहरति जिननाथे, प्रतिभवनमभिपतति जगति वसुधारा ।।२९६.१॥

एकादशं प्रकारमाह– **नुर् गौः वसुधाडैरिति** । विवृणोति– **नुरिति-**

पञ्चनगणाः गुरुद्वयं च । ङैरिति **पञ्चमिर्यतिरिति** । तथा च [।।।. ।।।. ।।।. ।।।. ।।।. ऽऽ] इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य पञ्चमिश्च यतिर्यत्र तत् वसुधानामकमत्यष्टि जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– यथा– प्रणतसुरेति । **प्रणतसुर ..... रम्ये** प्रणतस्य प्रणामार्थं नम्रस्य सुरविसरस्य देवसमूहस्य मणिमुकुटानां मणिनिर्मितकिरीटानां तटकोटिभ्यां प्रान्ताग्रभागाभ्यां परिघटिताः सम्बद्धाः ये चरणनखाः तेषां रुचिनिचयेन किरणसमूहेन **रम्ये** सुन्दरे **भगवति** सर्वैश्वर्यसम्पन्ने **जिननाथे** जिनेन्द्रे **भवति** त्वयि **विहरति** विहारं कुर्वति सति **इह जगति** अस्मिन् लोके **प्रतिभवनम्** प्रतिगृहम् वसुधारा स्वर्णात्मादि प्रवाहः **अभिपतति** वर्षति । प्र[।]ण[।]त[।]सु[।]र[।]वि[।]स[।]र[।]म[।]णि[।]मु[।]कु[।]ट[।]त[।]ट[।]को[ऽ]टि[ऽ] पादान्तस्थस्य वैकल्पिक गुरुत्वेन लक्षण समन्वयः ॥ अ० २, सूत्र–२९६.१ ॥

न्जभ्जजा लगाववितथम् ॥२९७॥

नजभजजेभ्यः परौ लगौ । यथा– शृणु परमोपदेशमिह मुग्धमते सततं, भवजलधेः परेण यदि यातुमनास्त्वमसि । विसृज परिग्रहं भज कृपां त्यज कामकथाम्, अवितथवाग्भवापहर मा परकीयधनम् ॥ नर्कटकमिति जयदेवः ॥२९७.१॥

द्वादशं प्रकारमाह– **न्जभ्जजा लगाववितथमिति** । विवृणोति– **नजभजजेभ्यः परौ लघुगुरू** इति । नगण-जगण-भगण-जगणद्वयात्परतो लघुगुरू [।।।. ।ऽ।. ऽ।।. ।ऽ।. ।ऽ।. ।ऽ.] इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् अवितथं नामात्यष्टिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– शृणु परमोपदेशमिति** । हे **मुग्धमते !** अपरिपक्वबुद्धे **इह** संसारे **सततम्** अजस्रम् **परमोपदेशं** उत्तमं हितवाक्यं **शृणु** आकर्णय, **यदि भवजलधेः** संसारार्णवस्य **परेण** उत्तरं तटं **यातुमनाः** गन्तुं कृतचित्तः **त्वम्** असि, (तर्हि) **परिग्रहं** विषय संग्रहं **विसृज** त्यज, **कृपां** भूतेषु दयां **भज** सेवय, **कामकथां** मदनवार्तां **त्यज** परिहर, **अवितथवाक्** सत्यवचनो **भव** एधि, **परकीयधनम्** अन्यवित्तम् **मा** नहि **अपहर** अनुचितरूपेण गृहाण । संसारपारं गन्तुमिच्छतः कृते एतावानेव परतोपदेश इत्यर्थः । शृ[ऽ]णु[।]प[।]र[।]मो[ऽ]प[।]दे[ऽ]श[।]मि[।]ह[।]मु[ऽ]

ग्ध [।] म [।] ते [s] स [।] त [।] तं [s] इत्ति लक्षण समन्वयः। अस्य नामान्तरमन्य सम्मतमाह **नर्कुटकमिति जयदेव** इति। तथा हि स्वकीयच्छन्दोऽनुशासने स आह- नजभजजालगौच यदि नर्कुटकं तुतदा। (७।१८) इत्ति। तथा च लक्षणसाम्येऽपि नामान्तरे एव विसंवादः ॥अ० २, सू० २९ ।१॥

तत् कोकिलकं छचैः ॥२९८॥

तदवितथं छचैः सप्तमिः षड्भिश्च यतिश्चेत् कोकिलकसंज्ञम्। यथा- कलयति कोकिले मधुरपञ्चमगीतिमिमां, मलयसमीरणो भवति पश्यत नाट्य- गुरुः। इह हि यदाज्ञया नवनवाद्भुतभङ्गिजुषः, किसलयहस्तकान् वितनुते सह- कारलता ॥२९८.१॥ इह केचिदष्टमिः पञ्चभिश्च यतिमिच्छन्ति ॥२९८.१॥

त्रयोदशं प्रकारमाह-**तत्कोकिलकं छचैरिति**। विवृणोति-**तद् अवितथं चछैः सप्तमिः षड्भिश्च यतिश्चेत् कोकिलकसंज्ञमिति**। तथा च गण- विन्यासस्य पूर्वसमत्वेऽपि केवलं विरामभेदादेव नामभेदः। उदाहरति-**यथा- कलयतीति**। **कोकिले** पिके **मधुरपञ्चमगीतिम्** श्रुतिसुखपञ्चमस्वरगानम् **कलयति** गायति सति **मलय-समीरणः** दक्षिणदिग्वायुः **नाट्यगुरुः** नृत्यशिक्षकः **भवति** जायते (इत्ति) **पश्यत** अवलोकयत, **हि** यतः **इह** वसन्तसमये **यदाज्ञया** यस्य मलय समीरणस्य **आज्ञया** निर्देशेन **सह- कारलता** आम्रवल्ली **नवनवाद्भुतभङ्गिजुषः** नूतनातिनूतनकौटिल्य- शालिनः **किसलयहस्तकान्** नूतनपल्लवरूपहस्तचालनानि वितनुते करोति ॥ म [।] ल [।] य [।] स [।] मी [s] र [।] णो [s], भ [।] व [।] ति [।] प [s] श्य [।] त [।], ना [s] ट्य [।] गु [।] रुः [s] इति सप्तमिःषड्भिश्च यति पूर्वकं पूर्वच्छन्दसो लक्षणसमन्वयः। अत्र परामिमतं भेदमाह इह केचिदष्टमिः पञ्चभिश्च यतिमिच्छन्तीति। अष्टमे पञ्चमे च विरतावितथं वृत्तं कोकिलकसंज्ञमिति तेषामाशयः, परमीदृश- मुदाहरणं मृग्यम् ॥अ० २ सू० २९८।१॥

गौ चेद्वाणिनी ॥२९९॥

नजभजजेभ्यः परौ गौ चेद्वाणिनीसंज्ञम् । यथा– परभृतकूजितानि जरठेक्षुरसो नवेन्दुर्, मलयसमीरणो मलयजं मधुसंगमश्च । अपि न तथा हरन्ति मिलितानि मनो यथेदं, मदभरलल्लभाषितमहो खलु वाणिनीनाम् ॥२९९.१.१७।१४॥

चतुर्दशं प्रकारमाह- **गौचेद्वाणिनीति** । विवृणोति– **नजभजजेभ्यः परौगौचेद्वाणिनीसंज्ञमिति** । पूर्वोक्त पञ्च गणेभ्यः परो गुरू '।।।. ।ऽ। ।।ऽ. ।ऽ।. ।ऽ।. ऽऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् बाणिनी नामक मत्यष्टिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति-**यथा–परभृतेति । परभृतकूजितानि** परभृतानां कोकिलानां कूजितानि वचनानि, **जरठेक्षूरसः** परिपक्वेक्षुद्रवः, नवेन्दुः नूतनशशी **मलयसमीरणः** दक्षिणदिक्पवनः, मलयजं चन्दनम्, **मधुसङ्गमः** वसन्तप्रवृत्तिः–(एतानि) मिलितानि संमिलितानि अपि **तथा** तेन प्रकारेण **मनः** चेतो **न हरन्ति** न स्ववशं नयन्ति **यथा** येनप्रकारेण **इदं** श्रुयमाणम् बाणिनीनाम्– मत्तानांविदग्धस्त्रीणां **मदभरलल्लभाषितम्** मदभरेण मदातिरेकेणललं मनोहरंभाषितम् वचनम् मनोहरतीतिशेषः । अत्र सर्वेषामेव संमोहनानां मूर्धन्यम् मत्तविदग्धस्त्रीभाषितमिति तात्पर्यम् । प[।]र[।]भृ[।]त[।]कू[ऽ]जि[।]ता[ऽ]नि[।]ज[।]र[।]ठे[ऽ]क्षु[।]र[।]सो [ऽ]न[।]वे[ऽ]न्दुः[ऽ] इति लक्षणसमन्वयः । इत्थं सप्तदशाक्षराया अत्यष्टिजातेश्चतुर्दशभेदा उक्ताः । प्रस्तारगत्या तु १३१०७२ मिताः भेदा भवन्ति तदुक्तं भरतेन 'एकत्रिंशत्सहस्राणि वृत्तानां च द्विसप्ततिः । तथा शत सहस्रं च छन्दस्यत्यष्टिसंज्ञिते ॥ इत्युक्तम् (भ. ना. शा. १४।६३) ॥अ० २, सू० २९९।१।१७।१४॥ इत्यत्यष्टिः

धृत्यां म्रभ्या रौ काञ्ची टैः ॥३००॥

मरमयररा: । टैरिति एकादशभिर्यतिः । यथा– संप्राप्तेऽस्मिन् जगच्चक्षुषि रवौ प्रत्यग्गिरेर्गह्वरं, प्रेयःसंकेतवेश्माभिसरणे धत्से पिधानांशुकम् । मुग्धे ध्वान्तानुरूपं किमु मुधैवोत्सुक्ययोगात् क्वणत्-, काञ्चीमञ्जीरकोलाहलमिमं शक्ता निवेद्धुं न चेत् ॥३००.१॥ वाचालकाञ्चीत्यन्ये ॥३००.१॥

अथाष्टादशाक्षरपादां धृतिजातिं वर्णयितुमुपक्रमते– **धृत्यां भ्रभ्यारौ काञ्ची टैरिति** । विवृणोति– **मरभयरराः । टैरिति एकादशभिर्यतिरिति** । मगण-रगण-भगण-यगणा रगणद्वयं 'sss. sis. sii. iss. sis. sis.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् धृतिनामकमत्यष्टिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– सम्प्राप्तेऽस्मिन्निति** । हे मुग्धे ! अपरिपक्वबुद्धे ! **अस्मिन्** प्रत्यक्षदृष्टपूर्वे **जगच्चक्षुषि** लोकनेत्रे **रवौ** सूर्ये **प्रत्यग्गिरेः** पश्चिमाचलस्य **गह्वरं** गुहां **सम्प्राप्ते** गते सति, **प्रेयःसङ्गे तवेश्माभिशरणे** प्रियतमेन सङ्केतितस्य अभिसरणस्थानत्वेनोलस्य वेश्मनः अभिसरणे प्रतिगमनसमये, **ध्वान्तानुरूपम् तमसातुल्यरूपम् पिधानांशुकम्** आवरणवस्त्रं **मुधैव** व्यर्थमेव **किमु कुतो धत्से** धारयसि- **चेत्** यदि **इमं** सर्वतः श्रूयमाणम्– **क्वणत्काञ्चीमञ्जीरकोलाहलम्** क्वणतोः शब्दायमानयोः काञ्चीमञ्जीरयोः रसनानूपुरयोः कोलाहलं घोररवम् **औत्सुक्ययोगात्** उत्कण्ठापारवश्यात् **निषेद्धुं** निवर्तयितुं **न शक्ता न** समर्था । **सायं समये जाते कृष्णाभिसारिका त्वं तमसि निलीम गमनार्थं कृष्णवस्त्रं** पिधाय यद्गच्छसि तस्य यत्कार्यं लोकैरज्ञायमानत्वं तच्चेत्क्वणतोरनयोर्भूषणयोः शब्देन **विफलीकृतं** तर्हि तादृशवस्त्रपिधानमपि **व्यर्थमेवेति** पूर्वमेतयोः शब्दमेव वारयेति भावः । सं[s]प्रा[s]प्ते[स्मिन्[s]ज[।]ग[s]च[s]क्षु[।]षि[।]र[।]वौ[s] प्र[s]त्य[s]ग्गि[।]रे[s]र्ग[s]ह्व[।]रम्[s] इति लक्षअसमन्वयः । अस्य नामान्तरेणापि व्यवहार इत्याह– **वाचालकाञ्चीत्यन्ये** इति ॥अ० २, सू० ३००।१॥

भिम्भसा मणिमाला ॥३०१॥

भत्रयं मभसाश्च । टैरिति वर्तते । यथा– देव तवारिनरेशपुरन्ध्रीवक्त्राम्बुजशशिनः, प्रोलसिताधिकविस्मयमुर्वीं संवीक्ष्य भुजगताम् " प्राभृतसारकृते निरवद्यामद्याप्यनवरतं, मूर्धनि धारयते यणिमालां पातालपरिवृढः॥३०१.१॥

द्वितीयमस्याजातेः प्रभेदमाह– **भिम्भसा मणिमालेति** । विवृणोति-भत्रयं मभसाश्च ।–टैरिति वर्तते इति । तथा च मगणत्रयात्परतः मगण-भगण सगागाः sii. sii sii. sss. sii. ।।s. इतीदृशैरक्षरैः कृताः पापा यस्य, एकादशमिर्भश्च यतिर्यत्र तत् मणिमालानामकं धृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति–

यथा- देव तवारीति । हे देव ! राजन्- **अरिनरेशपुरन्ध्रीवक्त्राम्बुजशशिनः** अरिनरेशानां शत्रुनृपाणाम् **पुरन्ध्रीणाम्** सच्चरितानां स्त्रीणां वक्त्राम्बुजानां मुखानां कृते शशिनः चन्द्रसमानस्य **तव** भवतः **उर्वीं** महतीं **भुजगतां** सर्पतां पक्षे उर्वीं पृथ्वीं **भुज-गताम्** बाहुधृतां **प्रोल्लसिनाधिकविस्मयम्** प्रोल्लसितः वृद्धिगतः अधिकः विस्मय आश्चर्यो यत्र तद्यथास्यात्तथा संवीक्ष्य अवलोक्य **पातालपरिवृढः** पातालस्वामी शेषः **प्राभृतसारकृते** उपायनश्रेष्ठहेतवे निर वद्यां निष्कलङ्कां **मणिमालां** रत्नस्रजम् **अद्यापि** एतत्कालपर्यन्तमपि अनवरतं सततं **मूर्धनि** शिरसि **धारयते** स्थापयति । अयमाशयः- एतावत्कालपर्यन्ते शेषनागः पृथ्वीं धारयति स्म, सम्प्रति तव हस्तेन साधृतेति भारोद्वहनान्निवृत्तः शेषः सन्तोषेण तुभ्यं प्राभृतरूपेणार्पयितुं निर्दोषां मणिमालां सर्वदा शिरसि धारयति अथ च स एतावत्कालपर्यन्तं स्वीयामेव भुजगतां गुरुतरां मन्यते स्म, सम्प्रति तव गुर्वीं भुजगतां वीक्ष्य स्वात्मानं त्वत्तो न्यूनं बोधयितुं तवोपायनार्थं मणिमालां धारयते इति । दे[ऽ]व [।]त[।]वा[ऽ]रि[।]न[।]रे[ऽ]श[।]पु[।]रं[ऽ]ध्री[ऽ], व[ऽ]क्रा[ऽ]म्बु[।]ज [।][श[।]शि[।]नः[ऽ] इति एयाशाक्षरैर्यत्या, लक्षणसमन्वयः ॥अ० २, सू० ३०१।१॥

मत्ना यिः कुसुमितलतावेल्लिता ङ्चैः ॥३०२॥

मतना यगणत्रयं च । ङ्चैरिति पञ्चभिः षड्भिश्च यतिः । यथा- कङ्केल्लिस्कन्धे कुसुमितलतावेल्लिता मन्दमन्दं, क्रीडादोलेयं स्मरविरचिता दाक्षिणात्यानलेन । अस्यां खेलन्ती रतिरतितरां हन्त गीतिं तनोति, व्याकूजन्मत्तभ्रमररमणीहुंकृतीनां छलेन ॥३०२.१॥

तृतीयं प्रभेदमाह- **मत्ना यिः कुसुमितलतावेल्लिता ङ्चैरि**ति । विवृणोति **मतना यगणत्रयं च । ङ्चैरिति पञ्चभिः षड्भिश्च यतिरि**ति । मगण तगण-नगणेभ्यः परतो यगणत्रयम्- SSS. SS। ।।।. ISS. ISS ISS. इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य, पञ्चभिः षड्भिश्च यतिर्यत्र तत् कुसुमितलतावेल्लितानामकं धृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- कङ्केल्लिस्कन्धे** इति । अत्र द्वितीयपादान्ते 'दाक्षित्यानलेन' इति मुद्रितः पाठः, सनोचितः किन्तु 'दाक्षिणानिलेन' इति समीचीनः पाठः कल्पनीयः । **कङ्केल्लिस्कन्धे**

अशोकशाखामूले **दाक्षिणात्यानिलेन दक्षिणदिग्भववायुना मन्दं मन्दं** शनैः शनैः **कुसुमितलतावेल्लिता** पुष्पितवल्लीकम्पिता **स्मरविरचिता** कामदेवनिर्मिता **इयं** दृश्यमाना **क्रीडादोला** लीलान्दोलनिका (अस्ति) **अस्यां** दोलायां **खेलन्ती** क्रीडन्ती **रतिः** कामजाया **व्याकूजन्मत्तभ्रमररमणीहुंकृतीनाम्** व्याकूजन्ती स्वनन्ती या मत्ताभ्रमरी तस्या हुङ्कृतीनां हुमित्याकारक शब्दानां छलेन व्याजेन **अतितराम्** अत्यन्तं **गीतिं** गानं **तनोति** विस्मारयति **हन्त** इत्याश्चर्ये। अन्यापि वनिता दोलारूढा गीतिं गायति। अत्र च या कुसुमितेलता वायुना कम्पिता सैव दोला, तस्यां च मधुकरीणां शब्दः श्रूयत इति तस्यां दोसायामारूढा रतिरेव गायती त्युत्प्रेक्ष्यते। क[ऽ] ङ्के[ऽ]ल्लि[ऽ]स्क[ऽ]न्वे[ऽ]; कु[।]सु[।]मि[।]त[।]ल[।]ता[ऽ], वे[ऽ]ल्लि[।]ता[ऽ]म[ऽ]न्द[।]म[ऽ]न्दं[ऽ] इति पञ्चभिः षड्भिश्च यत्या लक्षणसमन्वयः ॥अ० २, सू० ३०२।१॥

षष्ठैश्चित्रलेखा ॥३०३॥

चतुर्भिः सप्तभिश्च यतिश्चेत् सैव चित्रलेखा। यथा– पश्योष्णांशोरभ्युदयमधुना सूचयन्ती पुरस्तात्, सन्ध्या सेयं चित्रयति गगनाभोगवेश्मान्तराले। शङ्खच्छेदस्वच्छरुचिरुचिरानभ्रभित्तिप्रभागान्, वर्णैः पीताताम्रशितिकपिशैस्तन्वती चित्रलेखाः ॥३०३.१॥

चतुर्थं प्रकारमाह– षष्ठैश्चित्रलेखेति। विवृणोति चतुर्भिः सप्तभिश्च यतिश्चेत् सैव चित्रलेखेति। पूर्वोक्तं कुसुमितलतावेल्लितानामकमेवच्छन्दः चतुर्भिः सप्तभिश्च यत्या युक्तं चित्रलेखानाम्ना व्यवहृतं धृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– पश्योष्णांशोरिति। सा इयं** प्रत्यक्षगोचरा **सन्ध्या** प्रातः सन्धिवेला **अधुना** सम्प्रति **उष्णांशोः** सूर्यस्य **अभ्युदयं**– प्रकाशतां **सूचयन्ती** प्रकटयन्ती **पुरस्मात्** अग्रे **गगनाभोगवेश्मान्तराले** आकाशमण्डलरूपगृहाभ्यन्तरे **शङ्खच्छेदस्वच्छरुचिरुचिरान्** शङ्खच्छेदवत् कम्बुखण्डवत्तर स्वच्छया शुभ्रया रुच्या कान्त्या रुचिरान्– सुन्दरान् **अभ्रभित्तिप्रभागान्** अभ्रं मेघ एव भित्तिं कुड्यं तस्य प्रभागान् प्रदेशान् **पीताताम्रशितिकपिशैः**, पीतं च, आताम्रं च-ईषद्रक्तं च, शितिं च-कृष्णं च, कपिशश्च कृष्णलोहितश्च तैः **वर्णैः**

रूपैः **चित्रलेखाः** रेखाचित्राणि **चित्रयति** विलिखति इति **पश्य** अवलोकय । प्रातःकालिकाकाशस्य वर्णनमिदम् । तत्र संध्या चित्रकरी गगनवेश्मनि स्वच्छ-मेघकुड्येऽनेकवर्णैश्चित्रं करोति इति वर्णनीयम् । अस्य च प्रयोजनंसूर्याद्भुच्-दयसूचनमिति भावः । प[ऽ]श्यो[ऽ]ष्णां[ऽ]शो[ऽ], र[।]म्यु[।]द[।]य[।]म[।]धु[।]ना[ऽ], सू[ऽ]च[।]य[ऽ]न्ती[ऽ]यु[।]र[ऽ]स्तात्[ऽ] इतिलक्षणसंगतिः ॥अ० २, सू० ३०३।१॥

मभ्रा यिश्चन्द्रलेखा ॥३०४॥

मभना यगणत्रयं च । षछैरिति वर्तते । यथा– ज्वालं ज्वालं शुभग तव महान् विप्रयोगानलस्तां, दाहं दाहं किमिव विरचयेदन्यदस्मात्परेण । लावं लावं विकचकमलिनीश्चूर्णयत्यंह्रिघातैर्, लेखं लेखं शकलयति तथा सा नखैश्चन्द्रलेखाम् ॥३०४.१॥

पञ्चमं प्रभेदमाह– **मभ्नायिश्चन्द्रलेखेति** । विवृणोति **मभना यगणत्रयं च । षछैरिति वर्तत** इति । मगण-भगण-नगणेभ्यः परं यगणत्रयम्– 'sss. s॥. ।॥. ।ऽऽ. ।ऽऽ. ।ऽऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत्, **चतुर्भिः** सप्त-भिश्च यतिर्यत्र तत् चन्द्रलेखानामकं धृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– ज्वालंज्वालमिति** । हे सुभग ! सौभाग्यशालिन् ! **तव** भवतः **महान् विप्रयोगानलः** विरहवह्निः **तां** पूर्वकथिताम् ज्वालं ज्वालं मुहुर्मुहुः प्रज्वाल्य, दाहं दाहम् अतिशयं हृग्ध्वा **अस्मात्परेण** इतोऽप्यधिकं किमिव अनिर्वचनीयां कामप्यस्थां **विरचयेत्** विदध्यात् ? **सा विकचकमलिनीः** विकसित पद्मिनीः **लावंलावं** छित्वा छित्वा **अंह्रिघातैः** पादताडनैः **चूर्णयति** शकलीकरोति, **तथा** तेनैव प्रयारेण **चन्द्रलेखां** चन्द्राकारां रेखां **लेखंलेखं** आ-लिख्यालिख्य **नखैः** करजैः **शकलयति** खण्डशः करोति । तच विरहाग्निदग्धा सा तथोन्मत्ती भूता यथा किमप्यन्यन्नाचरति– उद्दीपकविभागेषु प्रसिद्धौ कमलचन्द्रमसौ नाशयितुं प्रवृत्तेव, कमलानि साक्षादेव छित्त्वा चूर्णयति चन्द्र-प्रतिकृतीश्च नाशयतीति भावः । ज्वा[ऽ]ल[ऽ]ज्वा[ऽ]लं[ऽ], सु[।]भ[।]ग[।]त[।]व[।]म[।]हान्[ऽ], वि[ऽ]प्र[।]यो[ऽ]गा[ऽ]न[।]ल[ऽ]न[ऽ]लां[ऽ] इति चतुर्भिः षड्भिश्च यस्या लक्षणसमन्वयः ॥अ० २, सू० ३०४।१॥

म्मन्जभ्राश्चलम् ॥३०५॥

मभनजभराः । षड्भैरिति वर्तते । यथा– शास्त्राभ्यासे व्यसनमनुपमं परोपकृतौ रतिः, सत्पात्रेषु प्रणयपरतया प्रदानमनारतम् । प्रीतिः पादाम्बुरुहि जिनपतेर्भवेदमलात्मनां, विद्युल्लेखाजलधरपटलीचलात्मनि जीविते ॥३०५.१॥

षष्ठं प्रभेदमाह– **म्मन्जभ्राश्चलमिति** । विवृणोति– मभनजभराः । षड्भैरिति वर्तत इति । मगण-भगण-नगण-जगण-भगण-रगणाः, sss. sıı. ııı. ıs ı. sıı. sıs इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य चतुर्भिः सप्तभिश्च यतिर्यत्र तत् चलं नाम धृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– शास्त्राभ्यास** इति । **शास्त्राभ्यासे** शास्त्राणां परिशीलने **अनुपमं** असमं **व्यसनम्** आसक्तिः **परोपकृतौ** अन्येषामुपकरणे **रतिः** अनुरागः, **सत्पात्रेषु** दानोचितसत्सम्प्रदाने **प्रणयपरतया** स्नेह पारवश्येन । नतु करुणयाऽनादरेण वा । **अनारतम्** सततम् **प्रदानम्** धनादि वितरणम्, **विद्युल्लेखाजलधरपटलीचलात्मनि** विद्युल्लेखा सौदामिनी माला– जलधरपटली मेघमाला च तयोरिव चलात्मनि चञ्चले **जीविते** जीवनसमये, जिनपतेः **पादाम्बुरुहि** चरणकमले **प्रीतिः** श्रद्धाः (इत्येतत्सर्वम्) **अमलात्मनां** निर्मल चेतसाम् **भवेत्** स्यात् । निर्मलात्मनामेव शास्त्राभ्यासादि सम्भवतीति भावः । शा[s]स्त्रा[s]भ्या[s]से[s], व्य[ı]स[ı]न[ı]म[ı]नु[ı]प[ı]मं[s]; प[ı][रो[s]प[ı]कृ[ı]तौ[s]र[ı]तिः [s] इति चतुर्भिः सप्तभिश्च यत्या लक्षणसमन्वयः ॥अ० २, सू० ३०५।१॥

रभौ न्यौ रौ केसरम् ॥३०६॥

मभनयरराः । षड्भैरिति वर्तते । यथा– सारंगाणां न कुलमिह न वा यूथं महादंष्ट्रिणां, कर्णातिथ्यं न च भजति कटुर्गन्धद्विपानां ध्वनिः । णर्तिक दिक्षु क्षिपसि रभसया नेत्रे त्वमुद्यतकरो, यद्वा ज्ञातं विधुवति पअनस्त्वत्केसरं केसरिन् ॥३०६.१॥

सप्तमं प्रभेदमाह– **म्भौ न्यौ रौ केसरमिति**– विवृणोति– **मभनयरराः । षड्भैरिति** वर्तत इति । मगण-भगण-नगण-यगणेभ्यः परौ नगणौ– sss. sıı. ııı. ıss. sıs. sıs. इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य चतुर्भिः सप्तभिश्च यतिर्यत्र

तत् केसरनामकं धृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– सारङ्गाणामिति** हे केसरिन्! सिंह! **इह** अत्रस्थाने सारङ्गाणां मृगाणां **कुलं** समूहो न, **महादंष्ट्रिणाम्** महतां शूकरादीनां **यूथं** संघो न, **गन्धद्विपानां** मत्तगजविशेषाणां **कटुः** विरसः **ध्वनिः** गर्जित शब्दः च कर्णातिथ्यं श्रवणविषयतां **न भजति** न गच्छति, **तत्** तस्मात् **उद्यत्करः** सन्नह्यद्धस्तः सन् **रभसा** सम्भ्रमेण **दिक्षु** सर्वादिशः **प्रति नेत्रे** नयने **किमु** कुतः **क्षिपसि** प्रेरयसि? **यद्वा** अथवा **ज्ञातं** तव नेत्रक्षेपकारणं विज्ञातम् **पवनः** वायुः **त्वत्केसरं** तवसटां **विधुवति** कम्पयति। केसरिणो यानि सम्भ्रमकारणानि मृगादीनां पशूनां समीपे संचारादीनि तेषामभावे कुतः सम्भ्रम इति शङ्कायां स्वयमुत्तरितं कविना, वायुनाऽपि सटायाः कम्पनं स न सहते इति तस्य स्वभाव इति भावः। सा[ऽ]रं[ऽ]गा[ऽ]णां,[ऽ]न[।]कु[।]ल[।]मि[।]ह[।]ल[।]वा[ऽ]; यू[ऽ]थं[ऽ]म[।]हा[ऽ]यं[ऽ]त्रि[।]णां[ऽ] इति चतुर्भिः सप्तभिश्च यत्या लक्षण सङ्गतिः ॥अ० २, सू० ३०६।१॥

नौ मौ रौ चन्द्रमाला छघैः ॥३०७॥

नरमवययाः छघैरिति सप्तभिश्चतुर्भिश्च यतिः। यथा– सरसि सरसिजं तद्वाकाशे पार्वणं चन्द्रबिम्बं, कुवलयनयने तावत्साम्यं नाभजत्त्वन्मुखस्य। जनयतु कनकाम्भोजश्रेणीर्लक्षशः स्वर्गसिन्धुर्-, घटयतु यदि वा सोऽपि स्रष्टा कोटिशश्चन्द्रमालाः ॥३०७.१॥

अष्टमं प्रभेदमाह– **नौ मौ यौ चन्द्रमाला छघैरिति**। विवृणोति– **न-न-म-म-य-याः। छघैरिति सप्तभिश्चतुर्भिश्च यतिरिति**। नगणद्वयं मगणद्वयं यगणद्वयं च '।।।. ।।।. sss. sss. ।ss. ।ss' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य, सप्तभिः चतुर्भिश्च यतिर्यत्र तत् चन्द्रमालानामकं धृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– सरसिसरसिजमिति**। **सरसि** सरोवरे **तत्** प्रसिद्धसौन्दर्यं **सरसिजम्** कमलम्, **वा** अथवा आकाशे **पार्वणं** पर्वणि पूर्णिमायां भवं **चन्द्रबिम्बम्** शशिबिम्बम्, **हे कुवलयनयने** उत्पलनेत्रे **त्वन्मुखस्य** तवाननस्य **तावत्** सर्वथा **साम्यं** सादृश्यं न **अभजत्** न गतम्; (ततश्च-तदर्थम्) **स्वर्गसिन्धुः** देवनदी गङ्गा **लक्षशः** असंख्याताः **कनकाम्भोजश्रेणीः**

स्वर्ण कमलपङ्क्तीः **जनयतु** उत्पादयतु, **यदि वा** अथवा **स** प्रसिद्धः **स्रष्टा** प्रजापतिः **अपि कोटिशः** असंख्याताः **चन्द्रमालाः** शशिश्रेणीः **घटयतु** रचयतु । कमलचन्द्रमण्डलाभ्यां प्राकृताभ्यां त्वन्मुखसाम्यं प्राप्तुं न शक्यदे, विशिष्यरचितैः स्वर्णकमललक्षैः चन्द्रमालाभिश्च कोटिशः सृष्टाभिरेव त्वन्मुखसाम्यं प्राप्तुं शक्यत इति भावः । स[।]र[।]सि[।]स[।]र[।]सि[।]जं, [s] तद्[s]वा[s]का[s]शे[s]; पा[s]वं[।]ण[s]चं[s]द्र[।]बि[s]म्बं[s] इति–सप्तभिश्चतुर्भिश्च यत्या लक्षण-समन्वयः ॥अ० २, सू० ३०७।१॥

नौ म्तौ भ्रौ ललितम् ॥३०८॥

ननमतभराः । छघैरिति वर्तते । यथा– परममुपशमं वर्मीकृत्य स्थितेऽत्र महामुनौ, प्रहरणमपरं दध्याः किंचिन्निशातमतीव यत् । पशुपतिविजयं स्मारं स्मारं पराक्रमगर्वितः, कलयसि ललितं पौष्पं शस्त्रं मनोभव किं मुधा ॥३०८ १॥

नवमं प्रकारमाह– नौ म्तौ भ्रौ ललितमिति । विवृणोति– न-न-म-त-भ-राः । छघैरिति वर्तत इति । नगणद्वयं मगण-नगण-भगण-रगणाः '।।।. ।।।. sss ss।. s।. s।s.' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य सप्तभिश्चतुर्भिश्च यतिर्यत्र तत् ललितं नाम धृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । **उदाहरति– यथा– परममुपशममिति । परमम्** आत्यन्तिकम् **उपशमम्** अन्तरिन्द्रियनिग्रहम् **वर्मीकृत्य** कवचरूपेण नियुज्य **स्थिते** शिरतरे **अत्र महामुनौ** अस्मिन् मुनिप्रवरे **अपरम्** पौष्पात् अन्यत् **किञ्चित्** किमपि **प्रहरणम्** आयुधं **दध्याः** धारयेः **यत्** आयुधम् अतीव **अतिशयितम् निशातम्** तीक्ष्णं (स्यात्) **हे मनोभव** चेतोजन्मन् ! **पशुपतिविजयं** शिववशीकरणम् **स्मारं स्मारम्** स्मृत्वा स्मृत्वा **पराक्रमगर्वितः** स्ववीरत्वदर्पितः **त्वम् ललितं** सुकरम् **पौष्पं** कौसुमम् **अस्त्रम्** प्रहरणं **मुधा** व्यर्थं **किं** कुतः कलयसि धारयसि । येन पौष्पेण शरेणत्वं **पशुपतिमजैषीः** तदुपर्येव गर्वं कृत्वाऽत्रापि मुनौ प्रहारं कर्तुमिच्छसीति व्यर्था ते **चेष्टा**, यतोऽनेन उत्तम उपशमः कवचीकृतस्तत्र पौष्पाणां नव प्रहरणानां गतिर्नास्ति अतोऽन्यत्किमपि निशातमायुधं चिन्तयेति भावः । प[।]र[।]म[।]मु[।]प[।]श[।]मं[s], व[s]र्मी[s]कृ[।]त्य[s]; स्थि[।]ते[s]त्र[।]म[।]हा[s]मु[।]नौ[s], इति सप्तभिश्चतुर्भिश्च यत्या लक्षणसमन्वयः ॥अ० २, सू० ३०८।१॥

भ्रनिसा भ्रमरपदं झैः ॥३०९॥

भरौ नगणरत्रयं सश्च । झैरिति नवभिर्यतिः । यथा– वारिदमुक्तवारिभरपरिशमितघनरजा, उद्गतरोहिणीशकरधवलितसकलककुप् । कस्य धृतिं ददाति न हि शरदृतुरजनिरियं, चुम्बनलालसभ्रमरपदविदलितकुमुदा ॥३०९.१॥

दशमं प्रकारमाह– भ्रनिसा भ्रमरमदं जैरिति । विवृणोति– भरौ नगणत्रयम्– सश्च । झैरिति नवभिर्यतिरिति । भगणरगणौ नगणत्रयं सगणश्च 'ऽ।। ऽ।ऽ. ।।।. ।।।. ।।।. ।।ऽ' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य नवभिश्च यतिर्यत्र तद् भ्रमरपद नाम धृतिजाति च्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– वारिदमुक्तेति । वारिदमुक्तवारिभर परिशमित धनरजाः** वारिदेन मेघेन मुक्तेन वृष्टेनवारिभरेण जलसमूहेन परिशमितं शान्तिनीतं धनं निबिड़ं रजो यया सा, **उद्गतरोहिणीशकरधवलितसकलककुप्** उद्गतः उदयं प्राप्तः यो रोहिणीशः चन्द्रः तस्य करैः किरणैः धवलिताः स्वच्छीकृताः सकलाः सर्वाः ककुभो दिशो यया सा, **चुम्बनलालसभ्रमरपदविदलितकुमुदा** चुम्बने लालसा स्पृहा येषां तादृशानां भ्रमराणां मधुकराणां पदेश्चरणैः विदलितानि मर्दितानि कुमुदानि यस्यां सा **इयं** प्रत्यक्षगोचरा **शरदृतुरजनिः** शारदीरात्रिः **कस्य** जनस्य **धृतिं** सन्तोषं न ददाति अपितु सर्वस्य सन्तोषं ददात्येवेतिभावः । वा[।]रि[।]द[।]मु[ऽ]क्त[।]वा[ऽ]रि[।]भ[।]र[।], प[।]रि[।]श[।]मि[।]त[।]घ[।]न[।]र[।]जा:[ऽ] इति नवभिर्यत्या लक्षणसमन्वयः ॥अ० २, सू० ३०९।१॥

म्सौ ज्सौ त्सौ शार्दूललितं ठैः ॥३१०॥

मसजसतसाः । ठैरिति द्वादशभिर्यतिः । यथा– नष्टं त्यक्तमिथःप्रतीक्षणरसैः सारंगमिथुनैर्, यातं विस्मृतशुङ्गभारविधुरैर्बाल्रीणसकुलैः । लीनं पल्वलपङ्क एव सठसा क्रौडैर्ध्वनति चेत्, छान्ताचादुविधित्सयापि हि भवान् शार्दूललितम् ॥३१० १॥

एमादशं प्रकारमाह–म्सौ ज्सौ त्सौ शार्दूललितं ठैरिति । विवृणोति मसजस तसाः । ठैरिति द्वारशभिर्यतिरिति । मगण-लगण-जगण-सगण-तगण-

हिसगणाः– 'sss. ।।s. Isi. ।।s. ssi. ।।s' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य द्वादशभिश्च यतिर्यत्र तत् भ्रमरपदं नाम धृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– यथा– नष्टं त्यक्तमिथ इति। हे **शार्दूल! भवान् कान्तचाटुविधित्सया** स्ववनिताप्रसादनचिकीर्षया **अपि ललितं** सुन्दरं (न तु घोरम्) **ध्वनति** शब्दं करोति **चेत्**–यदि, तर्हि–**त्यक्तमिथः प्रतीक्षणरसैः** त्यक्तः परिहृतः मिथः प्रतीक्षणस्य– पारस्परिकप्रतीक्षाया रसः अभिलाषो यैः तैः, **सारङ्ग-मिथुनैः** मृगद्वन्द्वैः नष्टं पलायितम्; **विस्मृतशृङ्गभारविधुरैः** विस्मृतः शृङ्गाणां भारो यत्रतत्रयास्यात्तथा विधुरैः पीडितैः **वार्ध्रीणसकुलैः** गण्डक-पशुसमूहैः **यातं** वनं त्यक्त्वा चलितम् **क्रोडैः** वराहैः **पल्वलपङ्के** क्षुद्र-जलाशयकर्दमे एव **लीनम्** प्रच्छन्नीभूतम्। अयमाशयः सिंहस्य शब्देनान्ये वन्या जीवास्तथा बिभ्यति– यथा मृगद्वन्द्वं परस्परप्रतीक्षायां प्रसिद्धमपि– प्रियां प्रत्युक्ते मधुरेऽपि सिंहशब्दे कर्णंगते सति– मृगो मृगीं वा मृगं क्वाप्यन्त-रितमप्रतीक्ष्यैव पलायते, वार्धीणसाः शृङ्गभारेण तथाऽभिभूता भवन्ति यथा ते न झटिति क्वापि प्रतिष्ठन्ते, परं तेऽपि तं भारं विस्मृत्य वनं त्यक्त्वा गच्छन्ति, वराहा अपि झटिति क्वापि गन्तु मक्षमाः पल्वल-पङ्के एव निमग्नां स्वात्मानं गोपयन्तीति। न[s]ष्टं[s]त्य[s]क्त[।]मि[।]थः[s]प्र[।]ती[s]क्ष[।]ण[।]र[।]सै·[s]; सा[s]रं[s]ग[।]मि[।]थु[।]नैः[s] इति द्वादशभिर्यत्या लक्षणसमन्वयः ।।अ० २, सू० ३१०.१।।

म्तन्जभ्राः कुरङ्गिका ङ्छैः ।।३११।।

मत जभराः। ङ्छैरिति पञ्चभिः सप्तभिश्च यतिः। यथा– अस्या वक्त्रेन्दो बिजयिनि चिराय लाञ्छनवर्जिते, प्रालेयांशो त्वं स्फुरसि दिवि धृष्ट नित्यम-चेतनः। साकूतालोकाद्भुतनयनतकेलिनिर्जितलोचना, याऽरण्ये तस्थावुचितच-तुरेह सैव कुरङ्गिका ।।३११.१।।

द्वादशं प्रकारमाह– **म्तन्जभ्राः कुरङ्गिका ङ्छैरिति। मतनजभराः। ङ्छैरिति पञ्चभिः सप्तभिश्च** यतिरिति। 'मगण-तगण-नगण-जगण-भगण-रगणाः 'sss. ssi. ।।।. Isi. si।. sis.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् पञ्चभिः सप्तभिश्च यतिर्यत्र १त् कुरङ्गिका नामकं– धृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः।

उदाहरति- **यथा- अस्या वक्त्रेन्दाविति** । प्रालेयांशो ! हे हिमकिरण ! **लाञ्छनवर्जिते** कलङ्करहिते **अस्याः** कामिन्या **वक्त्रेन्दौ** मुखचन्द्रे **चिराय** बहुकालकृते **विजयिनि** विजयशालिनि सति, **त्वं** दिवि आकाशे **स्फुरसि** सञ्चरसि ? हे धृष्ट **नित्यं** सत्यं **अचेतनः** जडः असि । **या- साकूतालोकाद्भुतनयनकेलिनिर्जितलोचना** साकूतः साभिप्रायः आलोकः दर्शनम्, **अद्भुता** आश्चर्यकारिणी नयनकेलिः नेत्रक्रीडा च ताभ्यां निर्जिते निश्चितं पराजिते लोचने यस्याः सा, तथा भूतासती **अरण्ये** वने **तस्थौ** उवास, **इह लोके सा कुरङ्गिका** मृगी एव **उचितचतुरा** उचिते कर्तुयोग्ये कार्ये **चतुरा** निपुणा । हे चन्द्र त्वमस्या मुखेन विजितोऽप्याकाशे संचरन् स्वधाष्टर्यं ख्यापयति तस्माज्जोऽसि, याच मृगी साभिप्रायावलोकनाश्चर्यकारि क्रीडाशालिन्यामस्या नेत्राभ्यां स्व लोचनयोः विजितत्वे सति लज्जयाऽरण्ये गत्वा (निलीय) वासंचकार सैव समुचिताचारनिपुणेतिभावः । अ[ऽ]स्या[ऽ]व[ऽ]क्त्र[ऽ]न्दौ[ऽ], वि[।]ज[।]यि[।]नि[।]चि[।]रा[ऽ]य[।], ला[ऽ]ञ्छ[।]न[।] व[ऽ] र्जि[।]ते[ऽ] इति पञ्चभिः सप्तभिश्च यत्या लक्षणसमन्वयः ॥अ० २, सू० ३११।१॥

न्सौ मौ यावनङ्गलेखा चञ्चैः ॥३१२॥

नसममयया: । चञ्चैरिति षड्भिः पञ्चभिश्च यतिः । यथा- प्रियसखि मधुं मा स्मावज्ञासीर्मानयैनं यथावत् तव हि बकुले क्रीडामित्रेऽस्मिन् पुत्रके चूतवृक्षे । भवनपरिखापद्मन्यां सख्यां न्यस्तरोलम्बवर्णा-, वलिकिसलयव्याजादेतेनानिन्यिरेऽनङ्गलेखाः ॥३१२.१॥ विबुधप्रियेत्यन्ये ॥३१२.१॥

त्रयोदशं प्रभेदमाह- **न्सौ मौ यावनङ्गलेखा चञ्चैरिति** । विवृणोति- **नसममयया: । चञ्चैरिति षड्भिः पञ्चभिश्च यतिरिति** । नगण-सगणौ, मगणद्वयं, यगणद्वयञ्च ।।।. ।।ऽ. ऽऽऽ. ऽऽऽ. ।ऽऽ. ।ऽऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य षड्भिः सप्तभिश्च यतिर्यत्र तत् अनङ्गलेखानामकं धृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- प्रियसखीति** । हे **प्रियसखि** स्निग्धसहचरि **मधुं** वसन्तं **मा स्म** अवज्ञासीः मावगणय, **एनं यथावत्** उचितरूपेण **मानय** सन्कुरु कुत इत्याह- **एतेन** वसन्तेन **तव** भवत्याः **क्रीडामित्रे** लीलासुहृदि **बकुले, अस्मिन्** पुरो दृश्यमाने **पुत्रके** पुत्रवत् पयः सेकेन पोषिते **चूतवृक्षे**

आम्रतरौ, सख्यां सहचरीरूपायां **भवनपरिखापद्मिन्यां** प्रासादस्य परितः खाते जलाधारे स्थितायां कमलिन्यां **न्यस्तरोलम्बवर्णावलिकिसलयव्याजात्** न्यस्ताः लिखिताः रोलम्बावलयः भ्रमरपङ्क्तय (एव) **वर्णावलयः** अक्षरपङ्क्तयो येषु तादृशानां किसलयानां नूतनपत्राणां व्याजात् कपटात् अनङ्गलेखाः मदनविषयाः लिपयः आनिन्यिरे समानीताः। यतोऽनेन वसन्तेन तव बन्धूनां मित्र पुत्र सखीनां परस्परप्रेमसूचकदलानि- रोलम्बावलिरूपाक्षर-पङ्क्ति सहितानि समानीतानि अतस्त्वयाऽयं सत्करणीयो नत्ववगणनीय इति भावः। अत्र बकुलादौ मित्रत्वाद्यारोपः रोलम्बावलौ कृष्णवर्णायामक्षर-पङ्क्तित्वारोपः किसलये पत्रत्वारोपश्चकृत इति वसन्तस्य नर्मसचिवत्वं ध्वनितम्। प्रि[।]य[।]स[।]खि[।]म[।]धूं[ऽ], मा[ऽ]स्मा[ऽ]व[ऽ]सीः[ऽ]; मा[।]न[।]यै[ऽ]नं[ऽ]य[।]था[ऽ]वत्[ऽ] इति षड्भिः पञ्चभिश्च यत्यालक्षणसंगतिः॥ अस्या नामान्तरमाह- **विबुधप्रियेत्यन्ये** इति। परे इदं छन्दो विबुधप्रियेत्याहुरित्यर्थः॥अ० २, सू० ३१२।१॥

र्सौ जौ भ्रावुज्ज्वलं जैः ॥३१३॥

रसजजभराः। जैरित्यष्टभिर्यतिः। यथा- पाणिपादविलोचनाननपद्मकाननशालिनी, निम्ननाभिमहाह्रदा त्रिवलीतरंगविभूषिता। कुङ्कुमारुणंपीवरस्तनचक्रवाकयुगाञ्चिता, केलिसिन्धुरिवोज्ज्वला मदनस्य राजति कामिनी ॥३१३.१॥ मालिकोत्तरमालिका वेत्यन्ये ॥३१३.१॥

चतुर्दशं प्रभेदमाह- **र्सौ जौ भ्रावुज्जलं जै**रिति। विवृणोति- **रसजजभराः। जैरित्यष्टभिर्यति**रिति। रगण-सगणौ जगणद्वयं भगणरगणौ- 'ऽIऽ. ।।ऽ. ।ऽI. ।ऽI. ।।ऽ. ऽIऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य अष्टभिश्च यतिर्यत्र तत् उज्ज्वलं नाम धृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- पाणिपादेति। पाणिपादविलोचनाननपद्मकाननशालिनी पाणी** च **पादौ विलोचने** विशालनेत्रे च आननं च इत्येतान्येव पद्मकाननम्- (सर्वेषां पद्मोपमत्वात्) कमलवनम् तेन शालते शोभते तच्छीला, **निम्ननाभि-महाह्रदा** निम्ना-गभीरा नाभिः एव महा-ह्रदः यस्यां सा **त्रिवलीतरङ्गविभूषिता** त्रिवली वलित्रयमेव (उदरस्थं) तरङ्गाः ऊर्मयः तेन विभूषिता शोभिता,

कुङ्कुमारुणपीवरस्तनचक्रवाकयुगाञ्चिता कुङ्कुमेन अरुणौ रक्तौ पीवरौ पीनौ स्तनावेव चक्रवाकयुगम् तेन अञ्चिता पूजिता **उज्ज्वला** दीप्ता **मदनस्य** कामस्य **केलिसिन्धुः** क्रीडानदी इव कामिनी अङ्गना राजति शोभते। पा[ऽ]णि[।]पा[ऽ]द[।]वि[।]लो[ऽ]च[।]ना[ऽ]; न[।]न[।]प[ऽ]द्म[।]का[ऽ]न[।]न[।]शा[ऽ]लि[।]नी[ऽ] इत्यष्टभिर्यत्या लक्षणसमन्वयः ॥ अस्या नामान्तरमाह– मालिकोत्तर मालिका वेत्यन्ये इति। अन्ये इमां मालिकाम् अथवा उत्तरमालिकामाहुरिति भावः ॥अ० २, सू० ३१३।१॥

नौ रीर्निशा डैः ॥३१४॥

नद्वयं रचतुष्टयं च। डैरिति त्रयोदशभिर्यतिः। यथा– मलयजरसलिप्तरम्याङ्गभाजां सिते वाससी, शरदि हृदि च बिभ्रतीनां विशुद्धां नवैकावलीम्। विकचकुमुदकर्णपूराञ्चितानां कुरङ्गीदृशां, हिमरुचिकिरणावदाताभिसर्तुं निशा प्रेयसी ॥३१४.१॥ तारकेत्यन्ये ॥३१४.१॥

पञ्चदशं प्रभेदमाह– **नौ रीर्निशा डैरिति**। विवृणोति– **नद्वयं रचतुष्टयं च। डैरिति त्रयोदशभिर्वतिरिति**। नगणद्वयं रगणचतुष्टयं च '।।। ।।। ऽ।ऽ, ऽ।ऽ, ऽ।ऽ ऽ।ऽ,' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य त्रयोदशभिश्च यतिर्यत्र-तत् निशानामकं धृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– मलयजरसेति। शरदि** शरदृतौ **मलयजरसलिप्तरम्याङ्गभाजां** मलयजरसेन श्रीखण्डचन्द्रनद्रवेण लिप्तम् उपदिग्धम् अत एव रम्यं सुन्दरम् अङ्गं शरीरं भजन्तीति तासां **सिते** शुक्ले **वाससी** वस्त्रे, **हृदिच** उरसि च **विशुद्धाम्** अनवद्याम् **नवैकावलीम्** नवां नूतनाम् एकावलीम् एकसूत्रां मौक्तिकमालां बिभ्रतीनां धारयन्तीनां **निकचकुमुदकर्णपूराञ्चितानाम्** विकचाभ्यां विकसिताभ्यां **कुमुदाभ्यां** रात्रिविकासिपङ्कजाभ्यां (कृतेन) कर्णपूरेण अञ्चितानां शोभितानाम् **कुरङ्गीदृशाम्** मृगनयनाम् **स्त्रीणाम्, हिमरुचिकिरणावदाता** हिमरुचिः शीतकान्तिः चन्द्रः तस्य किरणैः अवदाता स्वच्छा निशा रात्रिः **अभिसर्तुम्** प्रियगृहं गन्तुम् **प्रेयसी** प्रियतमा। शरदि शुक्लाभिसारिकाणां सर्वथा शुक्लैरुपकरणैः शोभितानां कामिनीनां कृते शुक्लपक्षीया रात्रिः प्रियतरा भवतीति भावः। म [।] ल [।] य [।] ज [।] र [।] स [।] लि [ऽ] स [।]

र [ऽ] म्या [ऽ] ङ्ग [।] भा [ऽ] जां [ऽ]; सि [।] ते [ऽ] वा [ऽ] व [।] सी [ऽ] इति त्रयोदशभिरक्षरैर्यत्यालक्षणसमन्वयः। अस्या नामान्तरमाह– तारकेत्यन्ये इति। अन्ये इदं छन्दः तारकेत्याहुरिति भावः ॥ अ० २, सू० ३१४।१ ॥

नौ सौ त्यौ पङ्कजवक्त्रा घझैः ॥३१५॥

ननससतयाः। घझैरिति चतुर्भिर्नवभिश्च यतिः। यथा– इह किमु विलसति सर्वऋतुश्रीः किं नु मृगाक्षी, बहुजनजडिमविजृम्भणहेतुः कुन्दरदा वा। अभिनवमृदुतरपल्लवपाणिः संभृततृष्णा, समुदितनिबिडपयोधरभारा पङ्कजवक्त्रा ॥३१५.१॥

षोडशं प्रकारमाह– **नौ सौ त्यौ पङ्कजवक्त्रा घझैरिति**। विवृणोति– **ननससतयाः। घझैरिति चतुर्भिर्नवभिश्च यतिरिति**। नगणद्वयं सगणद्वयं त-ण-यगणो '।।।. ।।।. ।।ऽ. ।।ऽ. ऽऽ।. ।ऽऽ' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य चतुर्भिर्नवभिश्च यतिर्यत्र तत् पङ्कजवक्त्रानामकं धृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– इह किमु** इति। **इह** अत्र स्थाने समये वा **सर्वऋतुश्रीः** सर्वेषामृतूनां सर्वस्वं विलसति शोभते किमु–? **वा** अथवा– **बहुजनजडिमविजृम्भणहेतुः** बहूनां जनानां जडिम्नः शैत्यस्य आलस्यस्य वा विजृम्भणस्य वृद्धेः हेतुः कारणम्, **कुन्दरदा** कुन्दवत् माध्यपुष्पवत् रदाः दन्ता यस्याः सा, **अभिनवमृदुतरपल्लवपाणिः** नूतन कोमलतर वाबेव, तत्सदृशौ वा पाणी यस्याः सा **संभृततृष्णा** संभृता उपचिता तृष्णा पिपासा आसक्तिश्च यस्यां सा, **समुदितनिबिडपयोधरभारा** समुदितः वृद्धिंगतः निबिडानां घनानां पयोधराणां मेघानां भारः यस्यां पक्षे समुदितयोः वृद्धिंगतयोः निबिडयोः पयोधरयोः भारा यस्या सा **पङ्कजवक्त्रा** पङ्कजं कमलमेव वक्त्रं मुखं यस्याः पक्षे पङ्कजमिव मुखं यस्याः सा मृगाक्षी विलसति **किं नु**– इति वितर्के। हेमन्ते जडता शैत्यं, अस्यां च जडता आलस्यम्, शिशिरे कुन्द पुष्पाणि, अस्याश्च दन्ता एव कुन्दानि, वसन्ते पल्लवाः अस्यां च पल्लवाविव पाणी, ग्रीष्मे तृष्णा, अस्यामपि कामिनां तृष्णा, वर्षासु पयोधराः मेघाः, अस्या अपि पयोधरौ स्तनौ, शरदि पङ्कजानि अस्या अपि पङ्कजवन्मुखमिति– अस्यां सर्व-

ऋतुश्रीत्व सन्देहो भुक्त एवेति भावः । इ [।] ह [।] कि [।] मु [।], वि [।] ल [।] स [।] ति [।] स [s] र्व [।] ऋ [।] तु [s] श्रीः [s]; किं [s] नु [।] मृ [।] गा [s] क्षी [s] इति चतुर्भिर्नवभिश्च यत्या लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ३१५।१ ॥

स्नजनभ्साः सुरभिस्त्रिर्ङैः ॥३१६॥

सनजनभसाः । त्रिर्ङैरिति त्रीन् वारान् पञ्चभिर्यतिः । पञ्चभिः पञ्चभिः पञ्चभिश्च यतिरित्यर्थः । यथा– स्फुटदुज्ज्वलबकुलाकुलमधुपावलिरसितैः, पवनाहतलवलीदलपटलैरतिचदलैः । मदने प्रियसुहृदि प्रतिभुवनं कृतविजये, सुरभिर्ध्रुवमिह गायति परिनृत्यति मुदितः ॥३१६ १॥

सप्तदशं प्रकारमाह– स्वज्नभ्साः सुरभिस्त्रिर्ङैरिति । विवृणोति– सनजनभसाः। त्रिर्ङैरिति त्रीन् वारान् पञ्चभिर्यतिः । पञ्चभिः पञ्चभिः पञ्चभिश्च यतिरित्यर्थ इति । सगण-नगण-जगण-नगण-भगण-सगणाः '।।s. ।।। ।s।. ।।।. s।।. ।।s.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य पञ्चभिश्च त्रिवारं यतयो यत्र तत् सुरभिनामकं धृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– यथा– **स्फुटदुज्ज्वलेति । इह** अस्मिन्समये **सुरभिः** वसन्तः **प्रियसुहृदि** प्रियमित्रे **मदने** कामे प्रतिभुवनं सर्वास्मिन् जगति कृतविजये विहित पराभये सति: **स्फुटदुज्वलबकुलाकुलमधुपावलिरसितैः स्फुटन्ति** विकसन्ति उज्वलानि दीप्तानि बकुलानि पुष्पविशेषाणि तेषु आकुला व्याप्ता या मधुपावलिः मधुकरश्रेणी तस्या रसितैः शब्दैः, **अतिचपलैः** अतिशयचञ्चलैः **पवनाहतलवलीदलपटलैः** वायुना आहतैः कृताघातैः लवलीदलपटलैः लतादिशेषपत्रसमूहैः **मुदितः** हर्षितः सन् **गायति** गानं करोति **परिनृत्यति,** नर्तनं च करोति । अयमाशयः बसन्तस्य मित्रं कामोऽस्मिन् समये सर्वाणि भुवनानि जितवानिति मुदितोवसन्तः बकुलपुष्पेषु मधुकराणां नादेन गायतीव, पवनाहतलतानां लास्येन नृत्यतीवेत्युत्प्रेक्षेति । स्फु [।] ट [।] दु [s] ज्ज्व [।] ल [।], ब [।] कु [।] ला [s] कु [।] ल [।], म [।] धु [।] पा [s] व [।] लि [।], र [।] सि [।] तैः [s] इति त्रिःपञ्चभिर्यत्या लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ३१६।१ ॥

य्मौ न्सौ त्सौ क्रीडा चचैः ॥३१७॥

यमनसतसाः । चचैरिति षड्भिः षड्भिर्यतिः । यथा– यदि प्राप्तो म्बधं यदि विरहितो विन्ध्याचलभुवा, वियुक्तः कान्ताभिर्यदि च तदपि स्तम्बेरमपते । नरेन्द्रस्ते पूजां रचयति सदा किं चैष भवता, रणक्रीडामैत्रीं घटयति ततो मा गाः शुचमिमाम् ॥३१७.१॥

अष्टादशं प्रकारमाह– य्मौ न्सौ त्सौ क्रीडा चचैरिति । विवृणोति– यमनसतसाः । चचैरिति षड्भिः षड्भिर्यतिरिति । यगण-मगण-नगण-सगण-तगण-सगणाः 'ISS. SSS. ।।।. ।।S. SS।. ।।S.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य षड्भिश्च यतिर्यत्र तत् क्रीडानाम धृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– यदि प्राप्त इति** । हे **स्तम्बेरमयते** ! गजश्रेष्ठ ! **यदि** चेत् **बन्धं** *बन्धनं पाररन्ध्यं* **प्राप्तः** *लन्धवानसि*, **यदि** विन्ध्या– **चलभुवा** विन्ध्यपर्वतप्रान्तभूम्या **विरहितः** पृथग्भूतः असि, यदि च **कान्ताभिः** करेणुभिः **वियुक्तः** रहितः असि, **तदपि** तथापि **नरेन्द्रः** राजा **ते** तव पूजां सत्कृति रत्रयति करोति **किं च एष** राजा **भवता सह रणक्रीडामैत्रीं** संग्रामरूपक्रीडायां सख्यं घटयति करोति, ततः तस्मात् **इमाम्** अनुभूयमानां **शुचं** शोकं मागाः मा विद्ध्याः । स्वातन्त्र्यं विहाय यद्यपि बन्धनं प्राप्तोऽसि स्वमातृभूमेः स्वप्रियातश्च वियुक्तोऽपि तथापं राजसत्कारं रात्रमित्रतां च प्राप्तवानसीति शोकं त्यजेतिभावः । य [।] दि [।] प्रा [s] प्तो [s] ब [s] न्धं [s], य [।] दि [।] वि [।] र [।] हि [।] तो [s], वि [s] न्ध्या [s] च [।] ल [।] भु [।] वा [s] इति षड्भिः षड्भिश्च यत्या लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ३१७।१ ॥

न्सौ म्तौ भ्रौ हरिणीपदं चघैः ॥३१८॥

नसमतभराः । चर्घैरिति षड्भिश्चतुर्भिश्च यतिः । यथा– अधिगुणधनुर्दण्डं पश्यंलुब्धकं गहने वने, सरभसमपक्रामन्नयङ्कुञ्चिन्तयन्निति ताम्यति । सरसमधुरोद्गारैर्गीतैर्वागुराभिरिव प्रिया-, ऽहह निगडिता दत्ते नैषा सांप्रतं हरिणी पदम् ॥३१८ः१॥

ऊनविंशं प्रकारमाह- **नसौ मतौ भ्रौ हरिणीपदं चर्धैरिति**। विवृणोति- **नसमतभराः। चर्धैरिति षड्भिश्चतुर्भिश्च यतिरिनि**। नगण-सगण-मगण तगण-भगण-रगणाः '।।।. ।।ऽ. ऽऽऽ. ऽऽ।. ऽ।।. ऽ।ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य षड्भिश्चतुर्भिश्च यतिर्यत्र तत् हरिणीपदं नाम धृतिजातिच्छन्दः इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- अधिगुणेति। अधिगुणधनुर्दण्डं** अधिगुणं अधिज्यः धनुदण्डः चापवंशः यस्य तादृशम्- **लुन्धकं** व्याधं **गहने** घने **वनेऽरण्ये पश्यन्** अवलोकयन् **सरभसम्** सवेगम्- **अपक्रामन्** लुब्धकदृष्टिविषयादपसन् **न्यङ्कुः** मृगः **'अहह दुःखम्- वागुराभिः** पाशरज्जुभिः **इव सरसमधुरोद्गारैः** रसान्वितमाधुर्यप्रवाहिभिः **गीतैः** लुब्धकगानैः **निगडिता** कृत पादबन्धा इव **एषा प्रिया हरिणी पदं** पलायनार्थं चरणन्यासं **न दत्ते-** न ददाति इति **चिन्तयन्** विचारयन् **ताम्यति** क्लिश्यति। उभावपि क्वाचित्समीपदेश एव चरन्तौ लुब्धकेन गीतैर्विमोह्य घातयितुमिष्टौ, तत्र मृगः किंचित्सावधानो लुब्धकमधिज्यं धनुर्हस्तं दृष्ट्वा अपसर्तुं प्रयतमानः स्वप्रियां च केवलं गीतानुरागबद्धामालोक्य चिन्तया क्लिश्यतीति भावः। अ [।] धि [।] गु [।] ण [।] ध [।] नु [ऽ]; र्दं [ऽ] ड [ऽ] प [ऽ] श्यं [ऽ]; ल्लु [ऽ] ब्ध- [।] कं [ऽ] ग [।] ह [।] ने [ऽ] व [।] ने [ऽ] इति षड्भिश्चतुर्भिश्च यत्या लक्षणसमन्वयः॥ अ० २, सू० ३१८।१ ॥

भीन्या भङ्गि ॥३१९॥

भगणचतुष्टयं नयौ च। यथा- मा कुरु संपदि संमदमापदि विसृज विषादं, दीनजनेषु कृपां कुरु संस्मर चिरपुरुषाणाम्। संत्यज पापचरित्रमुदञ्चय सुचरितमालाम्, अद्भुतभङ्गिरियं पुरुषोत्तमसरणिरनिन्द्या ॥३१९.१॥ विच्छत्तिरिति कश्चित् ॥३१९.१॥

विंशं प्रकारमाह- **भीन्या भङ्गिरिति**। विवृणोति- **भगणचतुष्टयं नयौचेति**। भगणचतुष्टयं नगण-भरणौ च 'ऽ।।. ऽ।।. ऽ।।. ऽ।।. ।।।. ।ऽऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृता पादा यस्य तत् भङ्गिनामकं धृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- माकुरु सम्पदीति**। **सम्पदि** अभ्युदये **संमदं** हर्षं **मा कुरु** न विधेहि, **आपदि** विपत्तौ **विषादं** दुःखं **विसृज** त्यज, **दीनजनेषु**

आश्रित कष्टलोकेषु **कृपां** कष्टप्रहाणेच्छां कुरु विधेहि, **चिरपुरुषाणाम्** पुराण-पुरुषाणां **संस्मर** तच्चरित्रं ध्याय, **पापचरित्रम्** तुष्कृताचरणं **संत्यज** परिहर, **सुचरितमालम्** सुकृताचरण श्रेणीम् **उदञ्चय** वर्धय, **इयं** पूर्वोक्ता **अद्भुत-मङ्गिः** आश्चर्यविषयविच्छित्तिः अनिन्द्या अनवद्या **पुरुषोत्तमसरणिः** श्रेष्ठ-पुरुषाचारपद्धतिः। सुखदुःखयोः समता, दीनेषु दया, गुरुजनचरितध्यानम्, पापाचरणत्यागः, सुचरितसमृद्धिरित्येष श्रेष्ठजनमार्ग इति भावः। मा [ऽ] कु-[।] रु [।] सं [ऽ] प [।] दि [।] सं [ऽ] म [।] द [।] मा [ऽ] प [।] दि-[।] वि [।] स्र [।] ज [।] वि [।] षा [ऽ] दं [ऽ] इतिलक्षणसंगतिः। अस्य नामान्तरमाह- **विच्छित्तिरिति कश्चिदिदि**। कश्चिदाचार्य इदं घन्दो 'विच्छित्ति' रित्याहेत्यर्थः॥ अ० २, सू० ३१९।१॥

स्जौ स्जौ त्रौ बुद्बुदम् ॥३२०॥

सजसजतराः। यथा- असमं दधन्नयपयो गभीरमध्यः सनातनो, विमलो जयत्यविरतं जिनेन्द्रसिद्धान्तवारिधिः। अतिपेशलैर्गम गणैस्तरंगिते यत्र सर्वदा, क्षणदृष्टनष्टतनुभिः कुदृष्टितनुभिर्बुद्बुदायितम् ॥३२०.१॥

एकविंशं प्रकारमाह- **स्जौ स्जौ त्रौ बुद्बुदमिति**। विवृणोति- **सज-सजतराः** इति। सगण-जगण-सगण-जगण-तगण-रगणाः '।।ऽ. ।ऽ।. ।।ऽ. ।ऽ।. ऽऽ।. ऽ।ऽ.' इतीदृशैरक्षरै कृताः पादा यस्य तत् बुद्बुदं नाम धृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- असममिति** अनुपमम् असाधारणं वा **नयपयः** नैगमादि नय रूपं जलम् **दधत्** धारयन् **गभीरमध्यः** गभीरं मध्यं मध्यप्रदेशः अन्तरभिप्रायो वा यस्य- नित्यस्थितिभागर्थापेक्षयेदमुक्तम् **सनातनः** नित्यः, **विमलः** दोषमलरहितः **जिनेन्द्रसिद्धान्तवारिधिः** जिनपतिसिद्धान्तसमुद्रः अविरतं सततं जयनि सर्वोत्कर्षेण वर्तते। **अतिपेशलैः बहुसुन्दरैः** गभगणैः सदृशपाठसमूहैः **तरङ्गिते** जाततरङ्गे सततगतिशालिनि **यत्र** यस्मिन् सिद्धान्त-समुद्रे **क्षणदृष्टनष्टतनुभिः** पूर्वक्षणमालस्य कृते दृष्टापश्चान्नष्टा तनुः स्वरूपं येषां तादृशै **कुदृष्टिभिः** मिथ्याज्ञानैः **सर्वदा** सर्वस्मिन् काले बुद्बुदाणितम्- बुद्बुदवदाचरितम्। अ [।] स [।] मं [ऽ] द [।] ध [ऽ] न्न [।] य [।] प-[।] यो [ऽ] ग [।] भी [ऽ] र [।] म [ऽ] ध्यः [ऽ] स [।] ना [ऽ] त [।]

नो [ऽ] इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ३२०।१ ॥ इत्थं धृतिजातिच्छन्दसां प्रसिद्धाः एकविंशति भेदा वर्णिताः। प्रस्तार गत्या तु २६२१४४ भेदा भवन्ति। तदुक्तं भरतेन 'धृत्यामपि हि पिण्डेन वृत्तान्याकल्पितानि तु। तज्ज्ञैः शतसहस्र द्वे शतमेकं तथैव च ॥ द्विषष्टिश्च सहस्राणि चत्वारिंशच्च योगतः। चत्वारि चैव वृत्तानि समसंख्याश्रयाणि तु ॥ (भ. ना. शा. १४।६५) ॥ इति धृतिः ॥

अतिधृत्यां म्सौ ज्सौ तौ गः शार्दूलविक्रीडितं ठैः ॥३२१॥

मसजसततगाः। ठैरिति द्वादशभिर्यतिः। यथा– क्षमाभृत्पुंगव कोशकन्दरमुखान्निर्गत्य ते संगर-, क्रीडासून्मदवैरिवारणघटाकुम्भस्थलीः पाटयन्। दंष्ट्रालो नवलग्नमौक्तिकमणिस्तोमैरसृल्लेखया, जिह्वालः करवाल एष तनुते शार्दूलविक्रीडितम् ॥३२१ १॥

अथ– उनविंशत्यक्षराम्– अतिधृतिजातिं वर्णयितुमुपक्रमते **अतिधृत्यां म्सौ ज्सौ तौ गः शार्दूलविक्रीडितं ठैरिति**। विवृणोति– **मसजसततगाः। ठैरिति द्वादशभिर्यतिरिति**। मगण-सगण-जगण-सगणाः तगणद्वयं गुरुश्च 'sss. ।।s. ।s।. ।।s. ss।. ss।. s.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् द्वादशभिश्च यतिर्यत्र तत् शार्दूलविक्रीडितं नाम अति धृति जातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– क्षमाभृदिति**। हे **क्षमाभृत्पुंगव**! क्षमाभृतां राज्ञां पक्षे पर्वतानां पुङ्गवः श्रेष्ठः, तत्सम्बोधनम्, **एष ते करवालः** खड्गः, **संगरक्रीडासु** संग्रामरूपकेलिषु कोशकन्दरमुखात् कोशः खड्गपिधानमेव (पक्षेस इव) कन्दरः गुहा तस्यामुखात् **निर्गत्य** बहिर्भूय, **उन्मदवैरिवारणघटाकुम्भस्थलीः** उन्मदानां मत्तानां वैरिवारणानां शत्रुगजानां पक्षे शत्रूणामिव गजानां घटायाः समूहस्य कुम्भस्थलीः स्तकभागान् **पाटयन्** विदारयन् **नवलग्नमौक्तिकमणिस्तोमैः** नवलग्नाः सद्यः सम्बद्धा ये मौक्तिकमणयः गजमुक्ताः तेषां स्तोमैः समूहैः **दंष्ट्रालः** दंष्ट्रावानिव, **असृग्लेखया** रुधिररेखया **जिह्वालः** जिह्वावानिव **शार्दूलविक्रीडितम्** व्याघ्रविलसितम् तनुते विस्तारयति। व्याघ्रः स्ववैरिभिर्गजैः सहसंगरक्रीडायाम्– गुहातो निःसरति तेषां कुम्भस्थलानि पाटयतीति प्रसिद्धम्– सच दंष्ट्रालो जिह्वालश्च भवति; तव-

खड्गोऽपि कोशकन्दरातो बहिर्भूय वैरिगजानाम् कुम्भस्थलानि पाटयति, पाटनसमये तन्मध्यस्थमुक्तायुक्तधारया दंष्ट्राल इव, लग्नशोणितेन चरक्तवर्णेन जिह्वाल इव भवतीति व्यक्तं तस्य शार्दूलवद्विक्रीडितमिति भावः। क्षमा [ऽ] भृ [ऽ] त्पुं [ऽ] ग [।] व [।] को [ऽ] श [।] कं [ऽ] न्द [।] र [।] मु [।] खा; [ऽ] न्नि [ऽ] र्गं [।] त्य [।] ते [ऽ] सं [ऽ] र [ऽ] संयोगेरतो गुरुत्वम्) इति द्वादशमिर्यत्यालक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू० ३२१।१ ॥

म्सौ ज्सौ न्सौ गो वायुवेगा ॥३२२॥

मसजसनजगाः ठैरिति वर्तते। यथा– त्यक्त्वा पुत्रकलत्रबन्धुसुहृदां व्यतिकरमञ्जसा, नित्यं संस्मर वीतरागचरणाम्बुरुहयुगं रहः। हंहो चित्त चिरं प्रसीद किमिदं न हि हतजीवितं, जानीषे घनवायुवेगनिहताभ्रपटलगत्वरम् ॥३२२.१॥

द्वितीयं प्रकारमाह– **म्सौ ज्सौ न्जौ गो वायुवेगे**ति। विवृणोति– **मसजसनजगाः। ठैरिति** वर्तत इत्यर्थः। मगण-सगण-जगण-सगण-नगण-जगणा गुरुश्च, 'ऽऽऽ ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।।। ।ऽ। ऽ' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य द्वादशभिश्च यतिर्यत्र तत् वायुवेगानामकं धृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– यथा– **त्यक्त्वा पुत्रकलत्रे**ति। **पुत्रकलत्रबन्धुसुहृदाम्** सुतस्त्रीभ्रातृमित्राणां **व्यतिकरम्** सम्बन्धम् **अञ्जसा** झटिति **त्यक्त्वा** विहाय हंहोचित्त! अये चेतः **रहः** एकान्ते निर्जने वने **वीतरागचरणाम्बुरुहयुगं** वीतरागस्य निर्गतसकलप्रणयस्य जिनस्य चरणाम्बुरुहयुगम् पादपद्मद्वन्द्वं नित्यं सततं **संस्मर** चिन्तय **चिरं प्रसीद** सर्वदा प्रसन्नस्तिष्ठ, **इदं** वर्तमानम् **हतजीवितम्** दुष्टजीवनम् **घनवायुवेगनिहताभ्रपटलगत्वरम्** निबिडानिलवेगप्रेरितमेघसमूहवत् चञ्चलम् न जानीषे किम्? यतश्च इदं वायुवेगपराहतमेघघटासमानं चञ्चलमतः सर्वसम्बन्धिस्नेहं त्यक्त्वा। एकान्तं गत्वा जिनचरणस्मरणं कुर्वन् चेतः प्रसादयेति भावः। त्य [ऽ] क्त्वा [ऽ] पु [ऽ] त्र [।] क [।] ल [ऽ] त्र [।] बं [ऽ] धु [।] सु [।] हृ [।] दां [ऽ]; व्य [।] ति [।] क [।] र [।] मं [ऽ] ज [।] सा [ऽ] इतिलक्षणसंगतिः ॥ अ० २, सू० ३२२।१ ॥

य्मौ न्सौ रौ गो मेघविस्फूर्जिता चचैः ॥३२३॥

**यमनसररगाः। चचैरिति षड्भिः षड्भिश्च यतिः। यथा– निरुन्धानस्तापं

जगति कलयंश्चण्डकोदण्डदण्डं, पदं व्यातन्वानः सततमखिलक्ष्माभृतां चोपरिष्टात्। निकामं दुर्धर्षा दिशि दिशि समुल्लासयन् वाहिनीश्च, त्वमुच्चैश्चौलुक्येश्वर घटयसे मेघविस्फूर्जितानि ॥३२३.१॥ रम्भेति स्वयंभूः ॥३२३.१॥

तृतीयं प्रकारमाह– **यमौ न्सौ रौ गो मेघविस्फूर्जिता चचैरिति**। विवृणोति– **यमनसररगाः। चचैरिति षड्भिः षड्भिश्च यतिरिति**। यगण-भगण-नगण-सगणा-रगणद्वयं गुरुश्च 'ISS. SSS. ।।।. ।।S SIS. SIS. S.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य षड्भिः षड्भिश्च यतिर्यत्र तत् मेघविस्फूर्जितानामकं धृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– निरुन्धानस्तापमिति**। हे **चौलुक्येश्वर**! चुलुक्यवंशसभूतराजन्! **तापं** दुःखम्– पक्षे ऊष्माणं **निरुन्धानः** वारयन् **जगति** संसारे **चण्डकोदण्डदण्डं** भयङ्करचापयष्टिं स्वीयां पक्षे इन्द्रस्य **सततम्** सर्वदा **अखिलक्ष्माभृतां** सर्वेषां राज्ञां पर्वतानां वा **उपरिष्टात्** मूर्धनि **पदं** चरणं **व्यातन्वानः** विस्तारयन् **निकामम्** अत्यन्तं **दुर्धर्षाः** अपरिभवनीयाः **वाहिनीः** सेनाः नद्यश्च **दिशिदिशि** प्रतिदिशं **समुल्लासयन्** वृद्धिं नयन् **त्वम्** भवान् **उच्चैः** अत्यन्तं **मेघविस्फूर्जितानि** वारिदविक्रान्तानि **घटयसे** रचयसि। यथा वारिदः सूर्यतापवारकः इन्द्रधनुर्धारकः सर्वपर्वतोपरि संचारी नदीप्रवाहवर्धकश्च, तथात्वमपि सर्वेषां क्लेशवारकः सर्वराजशिरःसुपादस्थापकः दुर्धर्षसैन्यसञ्चालकश्चेति मेघविक्रान्तानुरूपं विक्रान्तं दर्शयसीतिभावः। नि [।] रु [ऽ] न्धा [ऽ] न [ऽ] स्ता [ऽ] पं [ऽ], ज [।] ग [।] ति [।] क [।] ल [।] यं [ऽ]; श्व [ऽ] ड [।] को [ऽ] दं [ऽ] ड [।] दं [ऽ] डं [ऽ] इति षड्भिः षड्भिर्यत्या लक्षणसमन्वयः॥ अस्यनामान्तरमाह– रम्भेति स्वयंभूरिति। स्वयम्भूनामा आचार्य इदं छन्दो रम्भेत्याहेत्यर्थः॥ अ० २, सू० ३२३।१॥

यमौ न्सौ जौ गो मकरन्दिका ॥३२४॥

यमनसजजगाः चचैरित वर्तते। यथा– इमां बालां त्रासाकुलमृगवधूविलोलविलोचनां, किमु त्वं निःशङ्को व्यथयसि मुहुर्वियातविचेष्टितैः। परिक्षोदं चण्डैर्मुसलपरिघैः सहेत न मालती, मृदुभ्राम्यद्भृङ्गीपदपरिचयाद्वलन्मकरन्दिका ॥३२४.१॥

चतुर्थं प्रकारमाह– **यमौ न्सौ जौ गो मकरन्दिकेति** । विवृणोति– **यमनसततगाः । चचैरिति वर्तते** इति । यगण-मगण-नगण-सगणा जगण-द्वयं गुरुश्च 'ISS SSS. IIS. ISI. ISI. S.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य षड्भिः षड्भिश्च यतिर्यत्र तत् **मकरन्दिकानामकमतिधृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः** । उदाहरति– **यथा– इमां बालामिति । त्वं त्रासाकुल मृगवधूविलोलविलोचनां** त्रासेन भयेन आकुला उद्विग्ना या मृगवधूः तस्याः इव विलोले चञ्चले विलोचने विशालनयने यस्यास्तथाभूतां **इमां** प्रत्यक्षस्थिताम् **बालां** किशोरीं **निःशङ्कः** सन् **वियातविचेष्टितैः** धृष्टव्यवहारैः **मुहुः** भूयो भूयः **किमु** कुतः **व्यथयसि** दुःखाकरोषि **मृदुभ्राम्यद्भृङ्गीपदपरिचयात्** मृदु सुकोमलं यथास्यात्तथा भ्राम्यन्ती चञ्चूर्यमाणा या भृङ्गी तस्याः पदेन चरणेन परिचयात्– सम्पर्कात् **गलन्मकरन्दिका** स्यन्दद्रसा **मालती** स्वनाम्नाख्याता पुष्पजातिः **चण्डैः** घोरैः **मुसलपरिघैः** मुसलैः परिघैश्च **परिक्षोदं** चूर्णनम् **न सहेत** न क्षमेत । कमपि धृष्टं स्वभावानभिज्ञं नायकं परिबोधयन्ती नर्मसखी कथयति– यथा भृङ्गीमालत्या रसं मृदुनोपायेन गृह्णाति तथा त्वयापीयमप्रौढा नायिका सुकुमार चेष्टितैरेव भोग्येति । इ [।] मां [S] बा [S] लां [S] त्रा [S] सा [S]; कु [ ] ल [।] मृ [।] ग [।] व [।] धू- [S]; वि [।] लो [S] ल [।] वि [।] लो [S] च [।] नां [S] इति षड्भिः षड्भिश्च यत्या लक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू० ३२४।१ ॥

यमौ न्सौ तौ गश्छाया ॥३२५॥

यमनसततगाः । चचैरिति वर्तते । यथा– फलं कालाक्रान्तं कुसुममरसं पत्रं न भोगास्पदं, बहिस्तत्कार्कश्यं किमपि सहजं निःसारमन्तर्वपुः । विवृद्धि गृध्राणां धिगुपकरणं शाखाप्रपञ्चो न ते, किमन्यत्ताल स्याद्विरलविरला छायापि नो शीतला ॥३२५.१॥

पञ्चमं प्रभेदमाह– **यमौ न्सौ तौ गश्छायेति** । विवृणोति– यमनसततगाः । चचैरिति वर्तते इति । यगण-मगण-नगण-सगणाः तगणद्वयं गुरुश्च 'ISS. SSS. III. ISI. SSI. SSI. S.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य षड्भिः षड्भिश्च यतिर्यत्र तत् छायानामकमतिधृति जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा–**

फलं कालाक्रान्तमिति। हे **ताल**! वृक्षविशेष **ते फलं कालाक्रान्तं** कालेन कृष्णवर्णचिह्नेन, आक्रान्तं व्याप्तम्, अथ च कालदोषेण दूषितम्, **धिक्** निन्दास्पदम्, **कुसुमं** पुष्पम् **अरसम्** रसरहितं धिक्, निन्दास्पदम्, **पत्रं** दलम् **भोगास्पदम्** भोगविषयं न- न कोऽपि जीवस्तव पत्रमपि भुङ्क्ते इति तदपि धिक्, **बहिः** त्वचि **किमपि** अनिर्वचनीयं **कार्कश्यम्** काठिन्यम्- **अन्तर्वपुः** शरीरमध्यम्- **सहजम्** स्वभावतः **निःसारम्** साररहितम्, तदपि धिक्, **गृध्राणाम्** मृतपशुभक्षिणां पक्षिणाम् **उपकरणम्** उपकारसाधनम्- (तेहि उच्चैस्तालोपरि स्थित्वा दूरत एव शवं पश्यन्तीति- तेषामुपकरणभूतम्) **विवृद्धिम्** उन्नतिं धिक्, ते **शाखाप्रपञ्चः** विटपविस्तारः न अस्ति, **अन्यत्** एभ्योऽतिरिक्तं त्वदीयं **किं स्यात्** किमपि नेति भावः, अस्त्वेका मदीया छायेति चेत्तत्राप्याह **विरलविरला** घनीभावरहिताऽतिसच्छिद्रेति यावत् छायाऽपि **शीतला** तापहारिणी **न** (अस्ति) तालाग्योक्त्या कश्चिदत्युन्नतः सर्वथा परोपकारशून्यसमृद्धिः पुरुषो निन्द्यते। फ [।] लं [s] का [s] ला [s] क्रा [s] न्तं [s], कु [।] सु [।] म [।] म [।] र [।] सं [s]; प [s] त्रं [s] न [।] भो [s] गा [s] स्प [।] दं [s] इति षड्भिः षड्भिर्यत्या लक्षणसमन्वयः॥ अ० २, सू० ३२५।१॥

त्रिर् ज्सौ गो रतिलीला ॥३२६॥

त्रीन् वारान् जगणसगणौ गुरुश्च। जसजसजसगाः। चचैरित्यनुवर्तते। यथा- वुनोति बत तां कराम्बुजतले निवेशितकपोलां, किमप्यहरहस्तथा कथमपि त्वदीयविरहाग्निः। यथा वरतनुर्न पङ्कजदलैर्न मौक्तिककलापैर्, न चन्दनरसैर्न चन्द्रकिरणैः करोति रतिलीलाम् ॥३२६.१॥

षष्ठं प्रकारमाह- **त्रिर् ज्सौ गो रतिलीलेति**। विवृणोति- त्रीन् वारान् जगणसगणौ **गुरुश्च**। **जसजसजसगाः**। **चचैरित्यनुवर्तते** इति। 'त्रिर्' इति त्रिशब्दाद्वारार्थे सुचारूपम् तेन त्रीन् वारानित्यर्थलाभः। तदेव स्पष्टयति **जसजसजसा** इत्यनेन। तथा च जगण-सगण-जगण-सगण-जगण-सगणा गुरुश्च 'ISI. IIS ISI. IIS. ISI. IIS. S.' इतीदृशैरक्षरैः कृता पादा यस्य षड्भिः षड्भिश्च यतिर्यत्र तत् रतिलीलानामकमतिधृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः।

उदाहरति– **यथा– दुनोति बत तामिति ।** त्वदीयविरहाग्निः त्वत्सम्बन्धि वियोगवह्निः **कराम्बुजतले** पाणिकमलमध्ये **निवेशितकपोलां** स्थापितगण्डस्थलाम्– शोचन्तीमिति यावत् **तां** पूर्वप्रक्रान्तां कान्तां **अहरहः** प्रतिदिनं तथा तेन प्रकारेण– **किमपि** अनिर्वचनीय स्वरूपं यथास्यात्तथा– **कथमपि** अनिर्वचनीयप्रकारं यथास्यात्तथा **दुनोति** तापयति बत इति खेदे । तथेत्युक्तमिति तदाकांक्षां पूरयन्नाह– यथा– **वरतनुः** सुगात्री सा **पङ्कजदलैः** कमलपत्रैः **रतिलीलां** धृतिचेष्टाम् न करोति, **मौक्तिककलापैः** मुक्तासमूहैः रतिलीलां न करोति, **चन्दनरसैः** श्रीखण्डद्रवैः रतिलीलां न करोति, **चन्द्रकिरणैः** शशिरश्मिभिः (च) रतिलीलां न करोति । तथा तीव्रस्तव विरहाग्नितापो यत् पङ्कजादिभिः शैत्योपचारैरपि न शाम्यतीति भावः । दु [।] नो [ऽ] ति [।] व [।] त [।] तां [ऽ]; क [।] रा [ऽ] म्बु [।] ज [।] त [।] ले [ऽ]; नि [।] वे [ऽ] शि [।] त [।] क [।] पो [ऽ] लां [ऽ] इति षड्भिः षड्भिश्च यत्या लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ३२६।१ ॥

म्तौ न्सौ रौ गः पुष्पदाम ङ्छैः ॥३२७॥

मननसररगाः । ङ्छैरिति पञ्चभिः सप्तभिश्च यतिः । यथा– सेयं साकाङ्क्षा त्वयि मृगनयना संगताङ्गी विलासैर् लीलालोलभ्रूर्दिवि कमलवनं कुर्वती नेत्रपातैः । हंहो पश्यैतद्विरहविधुरया ते यया सावहित्थं, प्रक्षिप्तं कण्ठे मिकसितबकुलासूत्रितं पुष्पदाम ॥३२७.१॥

सप्तमं प्रकारमाह– **म्तौ न्सौ रौ गः पुष्पदाम ङ्छैरिति ।** विवृणोति– **मतनसररगाः । ङ्छैरिति पञ्चभिः सप्तभिश्च यतिरिति ।** मगणतगणनगणसगणा रगणद्वयं गुरुश्च 'ऽऽऽ. ऽऽ।. ।।।. ।।ऽ. ऽ।ऽ. ऽ।ऽ. ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य पञ्चभिः सप्तभिश्च यतिर्यत्र तत् पुष्पदामनामकमतिधृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– यथा– **सेयं साकांक्षेति । विलासैः** विभ्रमैः **सङ्गताङ्गी** शोभितशरीरा, **लीलालोलभ्रूः** लीलया कौतुकेन लोला चञ्चला भ्रूः भ्रुकुटिर्यस्याः सा, **दिवि** आकाशे **नेत्रपातैः** लोचनप्रक्षेपः **कमलवनं** पद्मकाननं **कुर्वती** विदधाना **सा इयं** प्रत्यक्षगोचरा **मृगनयना** मृगस्यनयने इव नयने यस्याः सा **त्वयि** भवति **साकांक्षा** साभिलाषा ।

हंहो ! भोः ? **ते** तव **विरहविधुरया** वियोग खिन्नया **यया** मृगनयनया **एतत्** प्रत्यक्षम्– **विकसितबकुलासूत्रितं** विकसितैः प्रफुल्लैः **बकुलैः** पुष्पविशेषैः आसूत्रितं पिनद्धं **पुष्पदाम** कुसुममाल्यम् कण्ठे (तव) गले **सावहित्थं** आकारगूहनपूर्वकं **प्रक्षिप्तम्**– परिधापितम्– (इति) पश्य। यया तव गले पुष्पमाल्यं समर्पितं सात्वयि अवश्यं साभिलाषेति भावः। से [ऽ] यं [ऽ] सा [ऽ] कां [ऽ] क्षा [ऽ], त्व [।] यि [।] मृ [।] ग [।] न [।] य [।] ना [ऽ]; सं [ऽ] ग [।] ता [ऽ] ङ्गी [ऽ] वि [।] ला [ऽ] सैः [ऽ] इति पञ्चभिः षड्भिश्च यत्या लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ३२७।१ ॥

म्तौ न्सौ तौ गो वञ्चितम् ॥३२८॥

मतनसततगाः। ङ्छैरिति वर्तते। यथा– कैश्चिच्चार्वाकैरविदितसुकृतैः शूकाविमुक्तात्मभिः, कौलीमूयान्यैर्विहितपशुगणाघातैः परैर्यज्वभिः। जैने धर्मेऽस्मिन् सति सततकृपापीयूषपात्रेऽप्यहो, स्वच्छन्दं धूर्तैरहह कुटिलया बुद्धया जगद् वञ्चितम् ॥३२८.२॥ बिम्बितमित्यन्यः ॥३२८ १॥

अष्टमं प्रकारमाह– म्तौ सौ तौ गो वञ्चितमिति। विवृणोति– मतनसततगाः। ङ्छैरितिवर्तते इति। मगण-तगण-नगण सगणाः तगणद्वयं गुरुश्च 'sss. ssi. iii ii.s. ssi. ssi. s.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य पञ्चभिः सप्तभिश्च यतिर्यत्र तत् वञ्चितनामकभतिधृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– कैश्चिच्चार्वाकैरिति। सततकृपापीयूषपात्रे** सततं सर्वदा **कृपापीयूषस्य** दयाऽमृतस्य पात्रे निधाने अस्मिन् प्रसिद्धे **जैने** जिनप्रवर्त्तिते **धर्मे** सुकृतमार्गे **सति** विद्यमाने **अपि अहो** आश्चर्यम्– **चार्वाकैः** नास्तिकैः **अविदितसुकृतैः** अज्ञातपुण्यैः **शूकाविमुक्तात्मभिः** दयाहीनैः **कैश्चित्** अज्ञातैः, **कौलीमूय** कौलमार्गमाश्रित्य **विहितपशुगणघातैः** विहितः **पशुगणस्य** जीवसमूहस्य आघातो हिंसनं यैः तादृशैः **अन्यैः** कैश्चनाज्ञातैः, **यज्वभिः** यज्ञकारैः **परैः** अन्यैश्च कैश्चित् **धूर्तैः** वञ्चकैः **कुटिलया** वक्रया **बुद्धया** मत्या **स्वच्छन्दं** स्वैरं यथास्यात्तथा **जगत्** विश्वम्, **वञ्चितम्** प्रतारितमित्यहह दुःखम्। कै [ऽ] श्चि [ऽ] च्चा [ऽ] र्वा [ऽ] कैः [ऽ], र [।] वि [।] दि [।] त [।] सु [।] कृ [।] तैः [ऽ]; शू [ऽ] का [ऽ] वि [।] मु [ऽ]

क्ता [ऽ] त्म [।] भिः [ऽ] इति पञ्चभिः षड्भिश्च यत्या लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ३२८।१ ॥

य्मौ नौ रौ गो मुग्धकं चछैः ॥३२९॥

यमननररगाः । चछैरिति षड्भिः सप्तभिश्च यतिः । यथा– परिभ्राम्यद्भृङ्गं श्वसितपरिमलैर्जपापाटलोष्ठं गिरा लीलालापप्रणयमधुरया सदानन्ददायि । स्फुरत्यन्तश्चित्तं लिखितमिव सखे ममाद्यापि तस्याः, प्ररूढप्रेमायाश्चकितमृगदृशो मुखं मुग्धकं तत् ॥३२९.१॥

नवमं प्रभेदमाह– य्मौ नौ रौ गो मुग्धकं चछैरिति । विवृणोति– यमननररगाः । चछैरिति षड्भिः सप्तभिश्च यतिरिति । यगण-मगणौ-नगणद्वयं रगणद्वयं गुरुश्च 'ISS. SSS ।।।. ।।।. ऽ।S. SIS S.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य, षड्भि. सप्तभिश्च यतिर्यत्र तत् मुग्धकनामकमतिधृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– यथा परिभ्राम्यदिति । हे **सखे** ! मित्र ! **श्वसितपरिमलैः** श्वाससौरभैर्हेतुभिः **परिभ्राम्यद्भृङ्गं** सर्वतः चञ्चूर्यमाणभ्रमरम्, **जपापाटलोष्ठं** जपावत्पुष्पविशेषवत्– पाटलं रक्तमोष्ठं यस्य तत्, **लीलालापप्रणयमधुरया** क्रीड़ा– सहितवचोविन्यासपरिचयेनेष्टरसया **गिरा** वाण्या **सदानन्ददायि** सर्वदासुखदातृ **प्ररूढप्रेमायाः** प्रगाढ़स्नेहायाः **चकितमृगदृशः** चकितस्य भीतस्य मृगस्य दृशाविव दृशौ यस्याः तस्याः, **तस्याः** पूर्वप्रक्रान्तायाः कामिन्याः **मुग्धकम्** मनोहरं **तत् मुखं** वक्त्रं **अद्यापि** साम्प्रतमपि **मम अन्तश्चित्तं** चेतोमध्ये **लिखितमिव** उत्कीर्णमिव **स्फुरति** विद्योतते । य [।] रि [ऽ] भ्रा [ऽ] म्यद् [ऽ] भृ [ऽ] ङ्गं [ऽ], श्व [।] सि [।] त [।] प [।] रि [।] म [।] लै [ऽ], र्ज [।] पा [ऽ] पा [ऽ] ट [।] लो [ऽ] ष्ठं [ऽ] इति षड्भिः सप्तभिश्च यत्या लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ३२९।१ ॥

रः सौ तो जौ ग ऊर्जितं त्रैः ॥३३०॥

रससतजजगाः । त्रैरिति दशभिर्यतिः । यथा– नेक्षसे किमहो जलरिक्तां स्वामपि तावदिमां तनूं, नो निषेधसि चण्डमरीचेर्दुःसहमातपजृम्भितम् । शारदे समयेऽपि तदस्मिन् पूरितपर्वतकन्दरा-, ण्यूर्जितस्तनितानि दधानस्तोयद किं न हि लज्जसे ॥३३०.१॥

दशमं प्रकारमाह- **रः सौ तौ जौ गः ऊर्जितं अैरिति**। विवृणोति- **रससतजजगाः। अैरिति दशभिर्यतिरिति**। रगणः सगणद्वयं तगणः जगणद्वयं गुरुश्च, 'ऽ।ऽ. ।।ऽ. ।।ऽ. ऽ।।. ।ऽ।. ।ऽ।. ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृता पादा यस्य दशभिश्च यतिर्यत्र तत् ऊर्जितं नामातिधृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- नेक्षस** इति। हे तोयद! **जलरिक्ताम्** वारिविहीनाम् **अपि स्वाम्** स्वकीयाम् **इमां** सर्वदृग्गोचरं **तनूं** शरीरं **किं** न **ईक्षसे** पश्यसि, अहो इत्याश्चर्यम्, **चण्डमरीचेः** तीक्ष्णदीधितेः सूर्यस्य- **दुःसहम्** अविषह्याम् **आतपजृम्भितम्** धर्मप्रभावम् नो **निषेधसि** वारयसि **तत्** तस्मात् **अस्मिन् शारदे** शरदृतुसम्बन्धिनि **समये** कालेऽपि **पूरितपर्वतकन्दराणि** पूरितानि भरितानि पर्वतानां कन्दराणि गुहास्थानि यैः तानि **गर्जितानि** गर्जनध्वनीन् **दधानः** धारयन् **किं न लज्जसे** त्रपसे। जलवर्षणं सूर्यातपवारणं च तव-प्रयोजनम्- तयोरेकमप्यकुर्वाणो वृथा गर्वं प्रदर्शयन् कुतो न त्रपसे इति भावः। कमप्युपकारं जनानामनाचरन् स्वगर्वं दधानः कश्चिन्मेघान्योक्त्या प्रबोध्यते। ने [ऽ] क्ष [।] से [ऽ] कि [।] म [।[हो [ऽ] ज [।] ल [।] रि [ऽ] क्तां [ऽ], स्वा [ऽ] म [।] पि [।] ता [ऽ] व [।] दि [।] मां [ऽ] त [।] नूं [ऽ] इति दशभिर्यत्यालक्षणसंगतिः॥ अ० २, सू० ३३०॥

नभ्रसा जौ गस्तरलम् ॥३३१॥

नभरलजजगाः। यथा- श्रय विशुद्धधिया जिनेश्वरपादपङ्कजभृङ्गतां, प्रकटय प्रशमं भजस्व गुरूनधीष्व सदागमम्। विरचयार्थिजनं कृतार्थमिमं कुरुष्व तपः परं, तरलमायुरिदं गृहाण तदोयमेतदहो फलम् ॥३३१.१॥

एकादशमं प्रभेदमाह- **नभ्रसा जौ गस्तरलमिति**। विवृणोति- **नभरस-जजगाः** इति। नगण-भगण-रगण-सगणा जगणद्वयं गुरुश्च '।।।. ऽ।।. ऽ।ऽ. ।।ऽ. ।ऽ।. ।ऽ।. ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य दशभिश्च यतिर्यत्र तत् तरलं नामातिधृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- श्रय विशुद्धेति। विशुद्धधिया** निर्मलमत्या **जिनेश्वरपादपङ्कज भृङ्गनाम्** जिनपतिचरण-कमलमधुकरत्वम् **श्रय** प्राप्नुहि, **प्रशमम्** अन्तरिन्द्रियनिग्रहं **प्रकटय** आविष्कुरु, **गुरून्** श्रेष्ठजनान् **भजस्व** सेवस्व, **सदागमम्** सच्छास्त्रम् **अधीष्व**

पठ, अर्थिजनं याचकलोकम् **इमं** प्रत्यक्षदृष्टं, **कृतार्थम्** विहितप्रयोजनम् **विरचय** विधेहि, **परम्** उत्कृष्टम् **तपः** कृच्छ्रादिव्रतं **कुरुष्व** आचर, **इदम्** वर्तमानम् **आयुः** जीवनम् **तरलम्** चञ्चलम्, **तदीयम्** तत्सम्बन्धि– **एतत्** पूर्वोक्तप्रकारम् **फलं** प्रयोजनं **गृहाण** अर्जय, **अहो** हर्षे। चञ्चलेनायुषा स्थिर-फलसाधनं जिनेश्वरपादप्रणामादिफलमवश्यमर्जनीयमिति भावः। श्र [।] य [।] वि [।] शु [ऽ] द्ध [।] धि [।] या [ऽ] जि [।] ने [ऽ] श्व [।] र [।] पा [ऽ] द [।] प [ऽ] ङ्क [।] ज [।] भृ [ऽ] ङ्ग [।] तां [ऽ] इति दश-भिर्यत्यालक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ३३१।१ ॥

म्रौ भः सौ ज्गौ माधवीलता छैः ॥३३२॥

मरभससजगाः। छैरिति सप्तभिर्यतिः। यथा– निःसामान्यं तवैतत् किमपि बिराजति दक्षिणानिल, प्रावीण्यं यत्प्रगल्भामिह सहकारलतामनुव्रजन्। अश्रान्तं साभिलाषः स्पृशसि समुन्नयसे विधूनय–, स्यालिङ्गस्याशु चुम्बस्य-भिनवकोमलमाधवीलताम् ॥३३२।१॥

द्वादशं प्रभेदमाह– **म्रौ भः सौ ज्गौ माधवीलताछैरिति**। विवृणोति– **मरभससजगाः। छैरिति सप्तभिर्यतिरिति**। मगण-रगण-भगणाः सगण-द्वयं जगणो गुरुश्च 'ऽऽऽ. ऽ।ऽ. ऽ।।. ।।ऽ. ।।ऽ. ।ऽ।. ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य षड्भिश्च यतिर्यत्र तत् माधवीलतानामकं मतिधृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– निःसामान्यमिति**। हे **दक्षिणानिल** दक्षिणदिग्वायो! **तव** भवतः **निःसामान्यम्** असाधारणम् **किमपि** अनिर्वचनीयम् **एतत् प्रावीण्यं** चातुर्यम् **विराजति** शोभते, यत् **प्रगल्भाम्** प्रौढाम् **सहकार-लताम्** चूतवल्लीम् **अनुव्रजन्** आनुकूल्येनानुशीलयन्, **साभिलाषः** सतृष्णः **अभिनवकोमलमाधवीलताम्** नूतनांमृदीं माधवीलताम्– अश्रान्तं सततं **स्पृशसि, समुन्नयसे** उच्चैः उत्थापयसि; **विधूनयसि** कम्पयसि, **आशु** शीघ्रम् **आलिङ्गसि** श्लिष्यसि, **चुम्बसि** (च) मुखेन योजयसि। दक्षिणानिलोक्त्या– प्रगल्भां स्वप्रियामनुकूलयन्नपि काश्चन नवीनां नायिकां सर्वथा रमयन् कश्चि-दृक्षिणनायकः स्तूयते। निः [ऽ] सा [ऽ] मा [ऽ] न्यं [ऽ] त [।] वै [ऽ] तत् [ऽ], कि [।] म [।] पि [।] वि [।] रा [ऽ] ज [।] ति [।] द [ऽ]

क्षि [।] णा [ऽ] नि [।] ल [ऽ] (प्रांवीण्यमिति संयोगादौ पदतो गुरुत्वात्) सप्तभिर्यत्यालक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ३३२।१ ॥

सूगौ तरुणीवदनेन्दुः ॥३३३॥

सगणाः षट् गुरुश्च । यथा– मृगनाभिविनिर्मितपत्रलतावलिलाञ्छनधारी, जननेत्रचकोरमहोत्सवकृत्कमलद्युतिहारी । जगतां विजयाय निबद्धमतौ भ्रुवलक्ष्मणि सद्यो जयति प्रतिपन्नसहायपदस्तरुणीवदनेन्दुः ॥ ३३३.१ ॥ १६।१३ ॥

त्रयोदशं प्रकारमाह– **सूगौ तरुणीवदनेन्दुरिति** । विवृणोति– **सगणाः षट्गुरुश्चेति** । तथा च '।।ऽ. ।।ऽ. ।।ऽ. ।।ऽ. ।।ऽ. ।।ऽ. ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् तरुणीवदनेन्दुनामकमति धृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– मृगनाभिविनिर्मितेति । मृगनाभिविनिर्मितपत्रलतावलिलाञ्छनधारी** मृगनाभ्या कस्तूर्या विनिर्मितायाः रचितायाः पत्रलतावल्याः रचनाविशेषपङ्क्तेःलाञ्छनस्य– तद्रूपस्य अङ्कस्यधारी धारकः– तद्रूपं लाञ्छनं धारयति तच्छीलः इतिवा, **जननेत्रचकोरमहोत्सवकृत्** जनानां नेत्राण्येव चकोराः तेषां महोत्सवं परमानन्दं करोतीति तादृशः, **कमलद्युतिहारी** कमलानां पद्मानां द्युतिं कान्तिं हरति तच्छीलः, **जगतां** लोकानां **विजयाय** पराभवाय **निबद्धमतौ** निश्चितबुद्धौ **भ्रुवलक्ष्मणि** कामे **सद्यः** तत्कालमेव **प्रतिपन्नसहायपदः** प्राप्तोपकर्तृनियोगः **तरुणीवदनेन्दुः** युवतिमुखचन्द्रः **जयति** सर्वोत्कर्षेण वर्तते । चन्द्रः लाञ्छनधारी, चकोरानन्दकृत्– कमलसङ्कोचकः कामस्य जगद्विजये सहायश्च, तथाचायमपि– तरुणीमुखचन्द्रः इति सर्वथासाम्येन तद्रूपेणरूपणमिति भावः । मृ [।] ग [।] ना [ऽ] भि [।] वि- [।] नि [ऽ] मि [।] त [।] प [ऽ] त्र [।] ल [।] ता [ऽ] व [।] लि [।] ला [ऽ] ञ्छ [।] न [।] धा [ऽ] री [ऽ] इतिलक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ३३३।१ ॥ इति ऊनविंशत्यक्षरपादाया अतिधृतिजातेस्त्रयोदशप्रभेदावर्णिताः । प्रस्तारगत्या तु अस्याजातेः ५२४२८८ भेदा भवन्ति । तदुक्तं भरतेन– "अतिधृत्यां सहस्राणि चतुर्विंशतिरेव च । तथा शतसहस्राणि पञ्चवृत्तशतद्वयम् । अष्टाशीतिश्च वृत्तानि वृत्तज्ञैः कथितानि तु ॥ (भ० ना० शा० १४।६६) ॥ इत्यतिधृतिः ॥

कृतौ म्रौ म्नौ य्मौ ल्गौ सुवदना छ्छ्रैः ॥३३४॥

मरभनयभलगा छ्छ्रैरिति सप्तभिः सप्तभिर्यतिः। यथा- आकल्पं कल्पयित्वाभिनवमृगमदैरामुच्य च शिति-, क्षौमे कृत्वा विभूषां मरकतमणिभिर्गन्तुं प्रियगृहम्। औत्सुक्याद्यावदस्थात् पथि मुखशशिना तावद्धततमी, ज्योत्स्नी जातेति मूर्छामभजत सहसा कष्टं सुवदना ॥३३४.१॥

अथविंशत्यक्षरां कृतिजातिं वर्णयितुमुपक्रमते- **कृतौ म्रौ म्नौ य्मौ ल्गौ सुवदना छ्छ्रैरिति**। विवृणोति- **मरभनयभलगाः। छ्छ्रैरिति सप्तभिः सप्तभिर्यतिरिति**। मगण-रगण-भगण-नगण-यगण-भगणा लघुगुरू च 'sss. sis. sii. iii. iss. si. is' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य, सप्तभिश्च यतिर्यत्र तत् सुवदनानामकं कृति जातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- आकल्पमिति**। **सुवदना** सुमुखी काचित् **औत्सुक्यात्** प्रियसङ्गमौत्सुक्यात्- यावत्- **अभिनवमृगमदैः** नूतनकस्तूरिकाभिः **आकल्पं** नेपथ्यरचनां **कल्पयित्वा** विधाय, **शितिक्षौमे** कृष्णवस्त्रे **आमुच्य** परिधाय, **मरकतमणिभिः** कृष्णवर्णरत्नैः **विभूषां** अलङ्कृतिं **कृत्वा** विरच्य **प्रियगृहं** अभीष्टजनागारं **गन्तुम्** अभिसर्तुम्- **यावत् पथि** मार्गे **अस्थात्** स्थितवती **तावत् मुखशशिना** स्वसुखचन्द्रमसा **हततमी** दुष्टाकृष्णनिशा **ज्यौत्स्नी** सुप्रकाशा **जाता** सम्पन्ना **इति** हेतोः **सहसा** तत्कालमेव **मूर्छाम्** मोहम् **अभजत** प्राप्ता (इति) **कष्टम्** दुःखम्। कृष्णाभिसारिका कृष्णवर्णैरेवोपकरणैः स्वगोपनार्थं वेशं विधाय मार्गे समायाता किन्तु तस्या मुखप्रकाशेनैव सर्वतः प्रसूतेन शुक्लपक्षनिशाऽभवदिति स्वप्रयासं व्यर्थं ज्ञात्वा प्रियसमागमविघ्नेन मूर्च्छितेति भावः। आ [s] क [s] ल्पं [s] क [s] ल्प [।] यि [s] त्वा [s]; भि [।] न [।] व [।] मृ [।] ग [।] म [।] दै [s]; रा [s] मु [s] च्य [।] च [।] शि [।] ति [s] ('क्षौमे' इति संयोगे परतो गुरुत्वम्) **सप्तभिः सप्तभिर्यत्या** लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ३३४.१ ॥

दशाग्ला वृत्तम् ॥३३५॥

गुरुलघू दशवारानावृत्तौ वृत्तं नाम वृत्तम्। यथा- प्रीणिताखिलार्थिदानमूर्जितारिजिष्णुपौरुषं महर्षि-, चित्रकृज्जितेन्द्रियत्वमेवमद्भुतान् गुणान् दध-

नरेन्द्र । रामपार्थधुन्धुमारमुख्यपूर्वभूमिपालवृत्तमत्र, सत्यतां चिराय नीतवानसि त्वमुच्चकैश्चुलुक्यचन्द्र ॥३३५.१॥

द्वितीयं प्रभेदमाह– **दश ग्ला वृत्तमिति** । विवृणोति– **गुरुलघूदशवारानावृत्तौ वृत्तं नाम वृत्तमिति** । गुरुलघू दशवारान् 'ऽ। ऽ। ऽ। ऽ। ऽ। ऽ। ऽ। ऽ। ऽ। ऽ।' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् वृत्तं नाम कृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– प्रीणिताखिलार्थीति** । हे **चुलुक्यचन्द्र** ! चुलुक्यवंशशशाङ्क ! **नरेन्द्र** राजन् ! **प्रीणिताखिलार्थि** तोषितसकलयाचकम् **दानम्** वितरणम्, **ऊर्जितारिजिष्णु,** ऊर्जितानां बलवताम् अरीणां शत्रूणां जिष्णु जयशीलं **पौरुषम्** बलम् **महर्षि-चित्रकृत्** महर्षीणां महामुनीनाम् (अपि) चित्रकृत् आश्चर्यजनकं जितेन्द्रियत्वम् इन्द्रियजयः **एवम्** उक्तप्रकारेण अद्भुतान् आश्चर्यकरान् **गुणान् दधत्** धारयन् **त्वम्** भवान् **अत्र** संसारे **रामपार्थधुन्धुभारमुख्यपूर्वभूमिपालवृत्तम्** रामः परशुरामः, पार्थः अर्जुनः धुन्धुभारः स्वनाम्नाप्रसिद्धः पार्थिवः (एते) मुख्याः प्रधानानि येषु तादृशानाम् पूर्वभूमिपालानाम् प्राचीनमहीपानाम् वृत्तं चरित्रम् **चिराय** वहोः कालादनन्तरम् **उच्चकैः** अत्यन्तं **सत्यतां** यथार्थत्वं **नीतवान्** प्रापितवान् **असि** । परशुरामः 'त्यागःसप्तसमुद्रमुद्रितमही नित्यजिदानावधिः' एवं रूपेण प्रसिद्धो दाता, पार्थः प्रसिद्धो विजेता धुन्धुभारः अप्सरोभिरप्यनपनीत धैर्यः एवं भूतत्वेनैते प्रसिद्धाः, किन्तु तत्र लोकानां विश्वासो नाभूत्, किन्तु चिरकालादपि पश्चात्त्वाम् तादृशै रद्भुतैर्गुणैरुपेतं दृष्ट्वा तेषां चरित्रेषु सत्यता प्रतीतेति भावः । प्री [ऽ] णि [।] ता [ऽ] खि [।] ला [ऽ] र्थि [।] दा [ऽ] न [।] मू [ऽ] र्जि [।] ता [ऽ] रि [।] जि [ऽ] ष्णु [।] पौ [ऽ] रु [।] षं [ऽ] म [।] ह [ऽ] र्षि [।] इतिलक्षणसंगतिः ॥ अ० २, सू० ३३५।१ ॥

स्मौ नौ म्यौ लगौ मत्तेभविक्रीडितं डैः ॥३३६॥

सभरनमयलगाः । डैरिति त्रयोदशभिर्यतिः । यथा– उदयाद्रेः प्रसरन्नयं दिनपतिः प्रत्यग्रसन्ध्यातप-, स्फुटसिन्दूररुचिविसूत्रित –तमःसंदोहवल्लीवनः । तनुते वाजिजवोल्लसत्कशपुरःक्रामत्सुपर्णाग्रज-, प्रतिकारोपरिवल्गदायतकरो मत्तेभविक्रीडितम् ॥३३६।१॥

तृतीयं प्रभेदमाह– **स्भौ नौ म्यौ ल्गौ मत्तेभविक्रीडितं ङैरिति। सभरनमयलगाः। ङैरिति त्रयोदशभिर्यतिरिति** । सगण-भगण-रगण-नगण-मगण-यगणाः लघुगुरू '।।ऽ. ।।ऽ. ऽ।ऽ. ।।।. ऽऽऽ. ।ऽऽ. ।ऽ.' इत्येवं–प्रकारैरक्षरैः कृताः पादा यस्य, त्रयोदशभिश्च यतिर्यत्र तत् मत्तेभविक्रीडितं नाम कृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– उदयाद्रेरिति** । (अत्र द्वितीये पादे 'स्फुटसिन्दूररुचिविसूत्रित' इत्येवंरूपेण समस्तः पाठोदृश्यते, किन्तु– छन्दोदृष्ट्याऽर्थदृष्ट्या च स्फुटसिन्दूररुचिर्विसूत्रित' इत्येवं पृथक् पदत्वं न्याय्यमिति तथैव व्याख्यायते) **उदयाद्रेः** उदयाचलात् **प्रसरन्** निर्गच्छन् **प्रत्यग्रसन्ध्यातपस्फुटसिन्दूररुचिः** प्रत्यग्रेण नवीनेन **सन्ध्यातपेन** सान्ध्य-प्रतापेन स्फुटा स्पष्टा सिन्दूरस्य रुचिरिव रुचिः कान्तिर्यस्य तादृशः, **विसूत्रिततमः संदोहवल्लीवनः** विसूत्रितं विघट्टितं तयः सन्दोहवल्लीनां अन्धकार-पटलीलतानां वनं येनतादृशः **अयं** प्रत्यक्षदृष्टः दिनपतिः सूर्यः **वाजिजवोल्लसत्कशपुरः क्रामन्सुपर्णाग्रजप्रतिकारोपरिवल्गदायतकरः** वाजीनाम-श्वानां जवाय वेगाय उल्लसन्ती उपरिस्फुरन्ती कशा अश्वताडनरज्जुः यस्य तादृशो यः पुरः क्रामन् अग्रेसरः सुपर्णाग्रजः अरुणः तस्य प्रतिकाराय निषेधाय वल्गन् चलन् आयतः लम्बमानः करः हस्तः (किरणो) यस्य तादृशः सन् **मत्तेभविक्रीडितं** उन्मत्तगजलीलां तनुते विस्तारयति। उ [।] द [।] या [ऽ] द्रेः [ऽ] प्र [।] स [।] र [ऽ] न्न [।] यं [ऽ] दि [।] न [।] प [।] तिः [ऽ]; प्र [ऽ] त्य [ऽ] ग्र [।] सं [ऽ] ध्या [ऽ] त [।] प [ऽ] (स्फुटेति संयोगे गुरुत्वात्) इति त्रयोदशभिर्यत्या लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ३३६।१ ॥

नो भौ मः सौ ल्गौ मुद्रा टैः ॥३३७॥

नभभमससलगाः। टैरिति एकादशभिर्यतिः। यथा– अयमरण्यमहीष्वपि चूतास्वादकषायितकोकिला-, कलकलच्छलतश्चिरमाज्ञामस्खलितामिह वर्तयन्। कुपितमानवतीकलहानामन्तकरः पुरतः सखे, मकरकेतुमहीपतिमुद्राव्यापरणं तनुते मधुः ॥३३७.१॥ उज्ज्वलमित्यन्ये ॥३३७.१॥

चतुर्थं प्रकारमाह– **नो भौ मः सौ ल्गौ मुद्रा टैरिति**। विवृणोति–

नभभमससलगाः । टैरिति एकादशभिर्यतिरिति । नगणोभगणद्वयं लघुगुरू च 'ııı. sıı. sıı. sss. ııs. ııs. ıs.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य एकादशभिश्च यतिर्यत्र तत् मुद्रानामकं कृति जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा–अयमरण्येति** । हे **सखे** ! **अयं मधुः** वसन्तः **अरण्यमहीषु** वनभूमिषु अपि **चूतास्वादकषायितकोकिलाकलकलच्छलतः** चूतास्वादेन आम्रमञ्जरी रसानुभवेन **कषायितायाः** रक्तायाः कोकिलायाः पिक्याः कलकलच्छलतः अव्यक्तमधुरकोलाहल व्याजेन **इह** संसारे **अस्खलिताम्** अप्रतिबद्धाम् **आज्ञां** मदनस्य निदेशं **चिरं** बहुकालं **वर्तयन्** स्थापयन् **कुपितमानवतीकलहानाम्** कुपितानां प्रियं प्रति कृतकोपानाम् (अतएव) मानवतीनाम्– मानिनीनां स्त्रीणां कलहस्य विरोधस्य (प्रियं प्रति) अन्तकरः नाशकः पुरतः अग्रे– **मकरकेतुमहीपतिमुद्राव्यापरणं** कामनृपशासनप्रवृत्तिं– **तनुते** करोति । वसन्तर्तुः वनेष्वपि (किमुतसततभोगपरायणेषु नगरेषु) कोकिलालापच्छलेत कामाज्ञां दुर्वारां सूचयन् मानिनीनां मानं भञ्जयन् राज्ञो मदनस्य शासनहारक इव प्रतिभातीति भावः । अ [ı] य [ı] म [ı] र [s] ण्य [ı] म [ı] ही [s] ष्व [ı] पि [ı] चू [s] ता [s]; स्वा [s] द [ı] क [ı] षा [s] यि [ı] त [ı] को [s] कि [ı] ला [s], इति एकादशभिर्यत्यालक्षणसमन्वयः । अस्य नामान्तरमाह– उज्ज्वलमित्यन्ये इति । अन्ये इदमेव उज्ज्वलनाम्नाव्यवहरन्तीत्यर्थः ॥ अ० २, सू० ३३७।१ ॥

यमौ नौ तौ गौ शोभा चछैः ॥३३८॥

यमननततगगाः । चछैरिति षड्भिः सप्तभिश्च यतिः यथा– गता लाक्षारागद्युतिरधरदलात्पत्रवल्ली विलुप्ता कपोले पर्यस्तं तिलकमलिकतो लम्बितः केशपाशः । च्युतः कर्णोत्तंसः करमणिबलयं स्रस्तमस्तथापि, प्रियेण प्रत्यग्रः प्रथयति महतीं संगमो हन्त शोभाम् ॥३३८.१॥

पञ्चमं प्रकारमाह– **यमौ नौ तौ गौ शोभा चछैरिति** । विवृणोति– **यमननततगगाः । चछैरिति षड्भिः सप्तभिश्च यतिरिति** । यगणमगणौ; नगणद्वयं, तगणद्वयं गुरूच 'ıSS. sss. ııı. ııı. ssı. ssı. ss.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य षड्भिः सप्तभिश्च यतिर्यत्र तत् शोभानामकं कृतिजातिच्छन्द

इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- गतालाक्षेति** । **अस्याः** कामिन्याः **अधरदलात्** अधरोष्ठपल्लवात् **लाक्षारागद्युतिः** अलक्तकरञ्जनकान्तिः **गता** चुम्बनवशाल्लुप्ता, **कपोले** गण्डस्थले **पत्रवल्ली** कस्तूरीकृता पत्रलताभङ्गिः **विलुप्ता** चुम्बनादेव विनष्टा **अलिकतः** भालस्थलात् **तिलकं** चन्दनादिकृतो विन्दुः **पर्यस्तम्** परिश्रमस्वेदात्- विकीर्णम् (अलिकतः) **केशपाशः** कचसमूहः **लम्बितः** नीचैरागतः **कर्णोत्तंसः** कर्णालङ्कारः **च्युतः** विपरीतरतप्रसक्त्या पतितः **करमणिवलयम्** हस्तस्थितं मणिनिर्मितं कङ्कणम् **स्रस्तम्** सम्मर्दवशात् पतितम् तथापि **प्रियेण** वल्लभेन सह **प्रत्यग्रः** नूतनः **संगमः** विलासः **महतीं** विपुलां **शोभां** कान्तिं **प्रथयति** प्रख्यापयति, हन्त इत्याश्चर्ये । शोभाहेतुषु लाक्षारागादिषु नष्टेष्वपिप्रियसङ्गमसुखसंजातमुखविकासविशेषेण महतीशोभाजायते । उक्तं हि केनचित्- "तनिम्नाराजन्ते सुरतमृदिता बालवनिताः" इति । ग [।] ता [ऽ] ला [ऽ] क्षा [ऽ] रा [ऽ] ग [ऽ], द्यु [।] ति [।] र [।] ध [।] र [।] द [।] लात् [ऽ]; प [ऽ] त्र [।] व [ऽ] ल्ली [ऽ] वि [।] लु [ऽ] प्ता [ऽ] इति षड्भिः मप्तभिश्च यत्या लक्षणसमन्वयः ।। अ० २, सू० ३३८।१ ।।

म्रौ भ्नौ तौ गौ चित्रमाला छचैः ॥३३९॥

मरभनततगगाः । छचैरिति सप्तभिः षड्भिश्च यतिः । यथा- सा काङ्क्षत्यन्यमेवायमपि बत तां सारसौन्दर्यलक्ष्मीर्-, एषा चैतं वराकी तरुणनिवहोऽमूं च लावण्यपुण्याम् । एवं प्रत्यग्रकेलीकुशललितैर्बद्धहासं वसन्ते, देवः पुष्पायुधोऽसौ रमयति रतिं दर्शयंश्चित्रमालाम् ।।३३९.१।। सुप्रभेत्यन्यः ।।३३९.१।।

षष्ठं प्रकारमाह- **म्रौ भ्नौ तौ गौ चित्रमाला छचै**रिति । विवृणोति- **मरभनततगगाः । छचैरिति सप्तभिः षड्भिश्च यति**रिति । मगण-रगण-भरण-नगणाः तगणद्वयं गुरूच 'sss. sIs. sII. III. ssI. ssI. ss.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य सप्तभिः षड्भिश्च यतिर्यत्र तत् चित्रमालानामकं कृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **सा कांक्षत्यन्यमिति** । **सा** अस्य मनोगता कामिनी **अन्यमेव** अस्माद्भिन्नमेव पुरुषं **कांक्षति** प्रियत्वेनेच्छति

अयमपि तदनिष्टोजनोऽपि **बत** इति खेदे **ताम्** अन्याभिलाषिणीं (कांक्षति) **सारसौन्दर्यलक्ष्मीः** सारसौन्दर्यस्य उत्तमलावण्यस्यलक्ष्मीः अधिष्ठात्री **एषा वराकी** दीनाङ्गना एतं स्वप्रेयस्यानिष्टं जनं (कांक्षति) **तरुणनिवहः** युवजनसमूहः **लावण्यपुण्याम्** लावण्याधायिसुकृताम् **अमूं** मनोरथगतां कांचित् (कांक्षति) **एवं** उक्तप्रकारेण **प्रत्यग्रकेलीकुशल ललितैः** नूतनक्रीडानिपुणविलासैः **बद्धहासं** अनुबद्धहास्यं यथास्यात्तथा- रतिं स्वप्रेयसीं **चित्रमालाम्** आश्चर्यपरम्परां **दर्शयन्** ज्ञानविषयतां नयन् **वसन्ते** सुरभौ **असौ** प्रसिद्धः **पुष्पायुधः** कुसुमबाणो **देवः** कामः **रमयति** विनोदयति । कामो वसन्ते स्वप्रभावेण वशीकृताम् परस्परभावबन्धरहितान् अनिच्छन्तीमपि कामयमानात् तेषां मुग्धत्वोपरिहासं पश्येमं मदीयप्रभावमिति सूचयंश्च विनोदयतीति भावः । उक्ताचेयं रीतिर्भर्तृहरिणापि नीतिशतके- "यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता, साप्यन्यमिच्छति जनं सजनोऽन्यसक्तः । अस्मत्कृतेच परितुष्यति काचिदन्या, धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥ इति । सा [s] कां [s] क्ष [s] त्य [s] न्य [।] मे [s] वा [s], य [।] म [।] पि [।] ब [।] त [।] तां [s]; सा [s] र [।] सौ [s] न्द [s] र्य [।] ल [s] क्ष्मीः [s] इति सप्तभिः षड्भिश्च यत्या लक्षणसमन्वयः ॥अ० २, सू० ३३९।१॥ अस्य नामान्तरमपीत्याह- **सुप्रभेत्यन्य** इति । अन्यः कश्चिदिमां सुप्रभेत्याहेत्यर्थः ॥ अ० २, सू० ३३९।१ ॥

म्नौ स्नौ म्यौ ल्गौ सद्रत्नमाला ङ्जैः ॥३४०॥

मनसनमयलगाः । ङ्जैरिति पञ्चभिरष्टभिश्च यतिः । यथा- सन्ध्यान्ते प्रतिदिशमियं समुदिता तारातातिः शोभते, श्यामाया अभिसरणकेलिरभसाद्भ्रष्टेव मुक्तावलिः । यद्वा व्योमनि मनसिजेन लिखिता जैत्रप्रशस्तिर्निजा, विस्फूर्जद्धनतमतमिस्रफणिनां सद्रत्नमालाथवा ॥३४०.१॥

सप्तमं प्रभेदमाह- **म्नौ स्नौ म्यौ ल्गौ सद्रत्नमाला ङ्जैरिति** । विवृणोति- **मनसनमयलगाः । ङ्जैरिति पञ्चभिरष्टभिश्च यतिरिति** । मगण-नगण-सगण-नगण-मगण यगणाः लघुगुरू च 'sss. ।।।. ।।s. ।।।. sss. ।ss. ।s.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य पञ्चभिरष्टभिश्च यतिर्यत्र तत्

सद्रत्नमालानामकं कृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– सन्ध्यान्ते प्रतिदिशमिति । सन्ध्यान्ते** सायंकालावसाने **प्रतिदिशं** सर्वासु दिक्षु **समुदिता** सम्यगुदयमापन्ना **तारातति:** नक्षत्रराजिः **श्यामाया:** रात्रिरूपकामिन्याः अथच– षोडशवर्षायाः कामिन्याः **अभिसरणकेलिरभसात्** प्रियं (चन्द्रं) प्रतिगमनक्रीड़ावेगात् **भ्रष्टा** विकीर्णा **मुक्तावलिः** मौलिकपङ्क्तिः इव **शोभते** राजति । यद्वा– **मनसिजेन** कामेन व्योमनि आकाशे **निजा** स्वकीया **जैत्रप्रशस्तिः** विजयस्तुतिः (स्वर्णाक्षरैः) **लिखिता** लिपिकर्मीकृता । अथवा– **विस्फूर्जद्घनतमतमिस्रफणिनां विस्फूर्जन्तः** विक्रामन्तः ये **घनतमतमिस्रफणिनः** निबिडतरान्धकारसर्पाः तेषां– (शिरःस्था) **सद्रत्नमाला** सतां रत्नानां माला अस्ति । रात्रौ नभसि स्थिता तारातति-स्त्रिधोत्प्रेक्षिता । स [ऽ] न्ध्या [ऽ] न्ते [ऽ] प्र [।] ति [।], दि [।] श [।] मि [।] यं [ऽ] स [।] मु [।] दि [।] ता [।]; ता [ऽ] रा [ऽ] त [।] तिः [ऽ] शो [ऽ] भ [।] ते [ऽ] इति पञ्चभिरष्टभिश्च यत्या लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ३४०।१ ॥

भीरसलगा नन्दकम् ॥३४१॥

भगणचतुष्टयं रसलगाश्च । यथा– अद्भुतसंगरसागरमन्थनसंभवां कलयन् श्रियं, दोष्णि दधद्वसुधावलयं च कुमारपालमहीपते । त्वं बलिराजनियन्त्रण-विश्रुतविक्रमः पुरुषोत्तमः, केवलमेष जगद्विजयी त्वदसिर्द्विषां न तु नन्दकः ॥३४१.१॥

अष्टमं प्रभेदमाह– **भोरसलगा नन्दकमिति** । विवृणोति– **भगणचतुष्टयं रसलगाश्चेति** । भगणाश्चत्वारः रगण-सगणौ लघुगुरूच 'ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।ऽ. ।।ऽ. ।ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् नन्दकं नाम कृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– अद्भुतसंगरेति । हे कुमारपालमहीपते !** तन्नामकराजन् ! **अद्भुतसंगरसागरमन्थनसंभवाम्** अद्भुतस्याश्चर्यकरस्य संगरसागरस्य सग्रामसमुद्रस्य मन्थनात् संभवः उत्पत्तिर्यस्याः ताम्, **श्रियं** लक्ष्मीं **कलयन्** धारयन् **दोष्णि** बाहौ **वसुधावलयं** पृथ्वीमण्डलं **दधत्** धारयन् **बलिराजनियन्त्रणविश्रुतविक्रमः** बलिनां सैन्यसमृद्धिमता-

मयि राज्ञां नियन्त्रणं नियमने विश्रुतः प्रसिद्धः विक्रमः पराक्रमः यस्य सः, पक्षे बलिराजस्य बलिनाम्नो राज्ञः नियन्त्रणे संयमने विश्रुतः प्रसिद्धौ विक्रमः विशिष्टः पादक्षेपो यस्य सः, त्वम् भवान्, पुरुषोत्तमः पुरुषेषु श्रेष्ठः, अथ च विष्णुः; **तु** किन्तु **केवलम्** एकः **जगद्विजयी** संसारजेता **त्वदसिः** त्वदीयः खड्गः **द्विषां** शत्रूणां **न नन्दकः** नानन्दयिता, अथ च 'नन्दक' नामा न। उक्त सागरमन्थनोद्भवलक्ष्मीपरिग्रहेण, पृथ्वीधारकत्वेन, बलिनृपनियामकत्वेन च त्वं विष्णुरेवासि, तव च विष्णोश्च एक एव भेदो यत् तदसिः (विष्णुखड्गः) सर्वेषां कृते 'नन्दक' एव (तन्नामकत्वात्) त्वदसिस्तु मित्राणां नन्दकोऽपि द्विषां न नन्दक इति भावः। अ [ऽ] द्भु [।] त [।] सं [ऽ] ग [।] र [।] सा [ऽ] ग [।] र [।] मं [ऽ] थ [।] न [।] सं [ऽ] भ [।] वां [ऽ] क [।] ल [।] यत् [ऽ] श्रि [।] यं [ऽ] इति लक्षणसमन्वयः ॥अ० २, सू० ३४१।१॥

भ्रौ न्भौ भ्रौ ल्गौ कामलता ॥३४२॥

भरनभभरलगाः। यथा– कौतुकमात्रमेव भवतो यदि शस्त्रपरिग्रहे तदा, चापशिलींमुखान् घटयितुं कुरु चूतदलावमोटनम्। कस्य मनः करोति न हि वश्यमसौ पुरतो यतः स्फुरन्, काम लतावलीतरलनो मलयानिल एष ते सखा ॥३४२.१॥ उत्पलमालिकेत्यन्ये ॥३४२.१॥

नवमं प्रभेदमाह– **भ्रौ न्भौ भ्रौ ल्गौ कामलतेति**। विवृणोति– **भरनभभरलगाः** इति भगण-रगण-नगणाः भगणद्वयं रगणोलघुगुरूच 'ऽ।। ऽ।ऽ. ।।। ऽ।। ऽ।। ।ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् कासलतानामकं कृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– कौतुकमात्रमेवेति**। हे काम! **भवतः** तव **यदि** चेत् **शस्त्रपरिग्रहे** आयुधसंग्रहे **कौतुकमेव** औत्सुक्यमेव **तदा** तर्हि **चापशिलीमुखान्** धनुषिबाणान् **घटयितुं** योजयितुम् **चूतदलावमोटनम्** आम्रपल्लवत्रोटनम् **कुरु** विधेहि। **यतः** यस्माद्धेतोः **पुरतः** तवाग्रे एव **स्फुरन्–** गच्छन् **लतावलीतरलनः** वल्लीपङ्क्तिचालकः **असौ** प्रसिद्धः **ते सखा** मित्रम् **एष** अनुभूयमानः **मलयानिलः** मलयपर्वतपवनः **कस्य** मनः चेतः **वश्यं** स्वाधीनं तवाधीनं वा न करोति न विदधाति, अपि तु सर्वस्यैव मनः ते वशं नयतीति भावः। अयमाशयः शस्त्रधारणं हि कस्यचिदजितस्य

जयाय भवति, यदि ते मित्रेण दक्षिणवायुनैव सर्वं जगत् तव वशेनीतम्, तर्हि तव शस्त्र-धारणं व्यर्थमेव, यदि तत्र तवौत्सुक्यम् तर्हि यत्किञ्चिदपि पत्रादिकं स्वधनुषायोजय, न तु दुर्वारान् विजयिनः पौष्पान् बाणानिति। कौ [ऽ] तु [।] क [।] मा [ऽ] त्र [।] मे [ऽ] व [।] भ [।] व [।] तो [ऽ] य [।] दि [।] श [ऽ] स्त्र [।] प [।] रि [ऽ] ग्र [।] हे [ऽ] त [।] दा [ऽ] इति लक्षणसमन्वयः। अस्य नामान्तरमाह– उत्पलमालिकेत्यन्ये इति। अन्ये केचनाचार्या इमाम् 'उत्पलमालिका' इति नाम्ना व्यवहरन्तीत्यर्थः ॥ अ० २, सू० ३४२।१ ॥

भ्नौ य्नौ त्रौ ल्गौ दीपिकाशिखा गचैः ॥३४३॥

भनयननरलगाः। गचैरिति त्रिभिः षड्भिश्च यतिः। यथा– प्राक्तनसुकृतसमूहे बलवदिह समुल्लसत्यपि, दुर्नयकरणमनीषा श्रियमपहरति क्षणान्नृणाम्। पश्यत यदनुपभुक्तेऽपि हि विनिहिततैलपूरणे, निर्भरचलितसमीरो दलयति खलु दीपिकाशिखाम् ॥३४३।१॥

दशमं प्रभेदमाह– **भ्नौ य्नौ त्रौ ल्गौ दीपिकाशिखागचैरिति**। विवृणोति– **भनयननरलगाः। गचैरिति त्रिभिः षड्भिश्च यतिरिति**। भगण-नगण-यगणा नगणद्वयं रगणोलघुगुरू च– 'ऽ।। ।।। ।ऽऽ ।।। ।।। ऽ।ऽ ।ऽ' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पाता यस्य त्रिभिः सप्तभिश्च यतिर्यत्र तत् दीपिकाशिखानामक कृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति, **यथा– प्राक्तनसुकृतेति। इह** जगति **प्राक्तनसुकृतसमूहे** पूर्वकृतपुण्यराशौ **बलवत्** सबलं यथास्यात्तथा **समुल्लसति** विद्यमाने सत्यमपि, **दुर्नयकरणमनीषा** दुष्कृताचरणसमीहा **क्षणात्** अचिरादेव **नृणाम्** मनुष्याणाम् **श्रियं** लक्ष्मीम् अपहरति नाशयति, **हि** यतः **विनिहिततैलपूरणे** कृतस्नेहपूर्त्तौ **अनुपभुक्तेऽपि** अदग्धेऽपि **निर्भरचलितसमीरः** वेगप्रवातवायुः **दीपिकाशिखाम्** प्रदीपज्वालाम् **दलयति** नाशयति खलु (इति) पश्य अवलोक्य। कृततैलपूर्तेरदग्धतैलस्य दीपस्य यथा वायुवेगवशान्नाशः, तथा प्राक्तनसुकृते सत्यपि सम्प्रतिकृतेन पापेन, पापाचरणेच्छयैव वा– तत्सुकृत फलं लक्ष्मीः झटिति नश्यतीति भावः। प्रा [ऽ] क्त [।] न [।], सु [।] कृ [।] त [।] स [।] मू [ऽ] हे [ऽ]; ब [ऽ] ल [।]

व [।] दि [।] ह [।] स [।] मु [ऽ] ल्ल [।] स [ऽ] त्य [।] पि [ऽ] (पादान्तस्य वागुरुत्वानुशासनात्) त्रिभिः षड्भिश्च यत्या लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ३४३।१ ॥

त्भौ ज्भौ ज्भौ ल्गौ शशाङ्करचितम् ॥३४४॥

तभजभजभलगाः । यथा– त्वं निर्जितोऽसि निरवद्यया वरतनोर्मुखाम्बुजरुचा, विस्तीर्णनेत्रललितैः कुरङ्गहतकोऽयमप्यवजितः । युक्तं शशाङ्क रचितं त्वया यदमुना सहैक्यमधुना, संगः समानगुणयोगिभि र्भवति देहिनां समुचितः ॥३४४.१॥२०।११॥

एकादशं प्रकारमाह– **त्भौ ज्भौ ज्भौ ल्गौ शशाङ्करचितम्** इति । विवृणोति– **तभजभजभलगाः** इति । तगण-भगण-जगण-भगण-जगण-भगणा लघुगुरू च 'ऽऽ।, ऽ।।. ।ऽ।. ऽ।।. ।ऽ।. ऽ।।. ।ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् शशाङ्करचितं नाम कृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– त्वं निर्जितोऽसीति** । हे शशाङ्क ! चन्द्र ! **त्वं निरवद्यया** निःकलङ्कया **वरतनोः** शुभाङ्गयाः **मुखाम्बुजरुचा** मुखकमलकान्त्या **निर्जितः** कृतपराभूतिः **असि, अयम्** चन्द्रमसि लीनः **कुरङ्गहतकः** दीनमृगः अपि **विस्तीर्णनेत्रललितैः** विशालनयनविलासैः निर्जितः **यत् अधुना** अस्यां स्थितौ **अमुना** मृगेण **सह** सार्धं त्वया **ऐक्यम्** अभेदः **रचितम्** कृतम् (तत्) **युक्तम्** उचितम्, (यतः) **समानगुणयोगिभिः** सदृशगुणसहितैः सह **सङ्गः** मेलनम् **देहिनाम्** प्राणिनां कृते **समुचितः** युक्तः भवति । उभावपिचन्द्रहरिणौ कामिन्या मुखनेत्राभ्यां निर्जिताविति हेतोरेव– तयोरेकत्र स्थितिरिति-कविना भङ्ग्योत्प्रेक्षितम् । त्वं [ऽ] नि [ऽ] र्जि [।] तो [ऽ] सि [।] नि [।] र [।] व [ऽ] द्य [।] या [ऽ] व [।] र [।] त [।] नो [ऽ] मुं [।] खा [ऽ] म्बु [।] ज [।] रु [।] चा [ऽ] इति लक्षणसमन्वयः ॥अ० २, सू० ३४४।१॥ इत्थं विंशत्यक्षरायाः कृतिजातेरेकादशभेदा लक्षिताः प्रस्तारगत्या तु १०४८७६ भेदा भवन्ति । तदुक्तं भरतेन कृतौ शतसहस्राणि दशप्रोक्तानि संख्यया । चत्वारिंशत्तथाष्टौ च सहस्राणि, शतानिच । पञ्च षट्सप्ततिश्चैव वृत्तानां परिमाणतः ॥ इति (भ० ना० शा० १४।६८) २१।११। इति कृतिः ॥

प्रकृतौ त्रौ भ्नौ यिः स्रग्धरा छछ्छैः ॥३४५॥

मरभना यगणत्रयं च । छछ्छैरिति सप्तभिः सप्तभिर्यतिः । यथा– आवासः पर्णशाला वपुषि च वसनं नूतना त्वक्तरूणां, पाणावाषाढयष्टिः शिरसि च चिकुरैर्नव्यगुम्फो जटानाम् । कर्णेऽक्षस्रग् धरायाः परिवृढ विपिने त्वद्भयात् संप्रतीत्थं, वृत्तिर्द्वित्रैरहोभिस्त्वदरिनृपजनैः शिक्षिता तापसानाम् ॥३४५.१॥

अथ एकविंशत्यक्षरां प्रकृतिजातिं वर्णयितुमुपक्रमते **'प्रकृतौ त्रौ भ्नौ यिः स्रग्धराच्छछैरिति** । विवृणोति– **मरभना यगणत्रयं च । छछ्छैरिति सप्तभिः सप्तभिर्यतिरिति** । मगण-रगण-भगण-नगणेभ्यः परं यगणत्रयम्– 'sss. sis. sii. iii. iss. iss. iss.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य सप्तभिः सप्तभिश्च यतिर्यत्र तत् स्रग्धरानामकं प्रकृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– यथा– **आवास** इति । हे **धरायाः परिवृढ** ! क्षितेः स्वामिन् ! **त्वदरिनृपजनैः** त्वच्छत्रुराजसमूहैः **सम्प्रति** अद्यत्वे **द्वित्रैरहोभिः** द्वाभ्यां त्रिभिर्वा दिनैः **विपिने** वने **पर्णशाला** पत्रादिनिर्मिताकुटी **आवासः** निवासस्थानम्, **वपुषि** शरीरे **तरूणाम्** वृक्षाणाम् **नूतना** सद्य उत्पाटिता **त्वक्** वल्कलं **वसनम्** आच्छादनम् **पाणौ** हस्ते **आषाढदण्डः** व्रतिनां कृते विहिता पलाशादिकाष्ठकृता यष्टिः, **शिरसि** मस्तके च **चिकुरैः** केशैः **जटानाम् गुम्फः** ग्रथनम्, **इत्थं** पूर्वोक्तप्रकारेण **त्वद्भयात्** त्वत्तोभीतेः **तापसानां वृत्तिः शिक्षिता** तपस्विनां व्यवहारोऽनुशीलितः । त्वत्तो भीता स्तव रिपवः, तपस्विषु ते कृपां दृष्ट्वा, विपिने गत्वा सर्वं तेषामाचरणं स्वीकृतवन्त इति भावः । आ [s] वा [s] सः [s] प [s] र्ण [।] शा [s] ला [s], व [।] पु [।] षि [।] च [।] व [।] स [।] नं [s]; नू [s] त [।] ना [s] त्व [s] क्त [।] रू [s] णां [s] इति सप्तभिः सप्तभिर्यत्या लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ३४५।१ ॥

त्रौ भ्नौ ज्भौ रः कथागतिः ॥३४६॥

तरभनजभराः । छछ्छैरिति वर्तते । यथा– केष्वव्यस्खर्वगर्वाद्विधुरितभुवनेष्वनर्गलगर्जितैर्, अम्भोधरेष्विव शु श्रवणपथगतेष्वभूद्विनिमीलितम् । आखण्डलस्य कामप्यभजत नयनासितोत्पलकाननं, प्रीतिं चुलुक्यचन्द्र प्रकृतनृपकथागते त्वयि तु क्षणात् ॥३४६.१॥

द्वितीयं प्रभेदमाह- **त्रौ म्नौ ज्भौ रः कथागति**रिति। विवृणोति- **तरभनजभराः**। **छछै**रिति **वर्तते** इति। तगण-रगण-भगण-नगण-जगण-भगण-रगणाः 'ऽऽ।. ऽ।ऽ. ऽ।।. ।।।. ।ऽ।. ऽ।।. ऽ।ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य सप्तभिः सप्तभिश्च यतिर्यत्र तत् कथागतिनामकं प्रकृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः। **उदाहरति- यथा- केष्वपी**ति। (अत्र अखण्डगर्वाद्विधुरितत्यस्य-स्थाने वधिरितेति पाठः समीचीनः प्रतिभाति। तथापि प्रकृतपाठमवलम्ब्यापि व्याख्यायते) हे चुलुक्यचन्द्र, चुलुकवंशप्रकाशक! **अखर्वगर्वात्** महादर्पात्- **अनर्गलगर्जितैः** असम्बद्धप्रलापैः **विधुरित भुवनेषु** दुःखाकृतजगत्सु- वधिरितभुवनेषु इति पाठेसति **वधिरितानि** कर्णव्यापाररहितानि कृतानि भुवनानि यैस्तेष्वित्यर्थः- सच समीचीनोमेघसाम्योपपत्तेः- **अम्भोधरेष्विव** मेघोष्विव- **केष्वपि** अनिर्ज्ञातनामसु राजसु **आखण्डलस्य** सहस्राक्षस्येन्द्रस्य **नयनासितो-त्पल कानन**म् नेत्रनीलकमलवनम् **विनिमीलितम्** मुद्रितम् अभूत्, **प्रकृत-नृपकथागते** प्रकृतायां प्रस्तुतायां नृपकथायां राजचर्चायां क्रमात्सम्प्राप्ते **त्वयि** भवति तु- **क्षणात्** सद्य एव **कामपि** अनिर्वचनीयां **प्रीति**ं प्रसादम् **अभजत** प्राप्तम्। नृपकथाप्रसङ्गेन केवलं गर्वमुद्वहताम्- पराक्रमविधुराणां स्वबलमुच्चै-र्घोषयतां राज्ञां **चर्चां** श्रुत्वा शक्रस्याक्षीणि विनिमीलितानि, तत्रैव च क्रमा-त्तवचर्चायां समागतायां क्षणादेव तान्यक्षीणि प्रसन्नतां यातानीति भावः। के [ऽ] ष्व [ऽ] प्य [।] ख [ऽ] र्व [।] ग [ऽ] र्वाद् [ऽ], वि [।] धु [।] रि [।] त [।] भु [।] व [।] ने [ऽ] ष्व [।] न [ऽ] र्ग [।] ल [।] ग [ऽ] र्जि [।] तैः [ऽ] इति सप्तभिः सप्तभिर्यत्यालक्षणसंगतिः ॥ अ० २, सू० ३४६।१ ॥

भ्रौ त्रौ त्रौ रो ललितविक्रमो त्रैः ॥३४७॥

मरनरनरराः। त्रैरिति दशमिर्यतिः। यथा- सद्गुणरत्नरोहणगिरे यशो-धवलिताखिलाशामुख, द्वेषिवधूमुखाम्बुजविधो वयं किमिव वर्णयामस्तव। यस्य वशंवदत्रिभुवनश्रिरं विबुधसुन्दरीमण्डलैर्, जम्भरिपोश्रमत्कृतिरसं दध-ल्ललितविक्रमो गीयते ॥३४७.१॥

तृतीयं प्रकारमाह- भ्रौ त्रौ त्रौ रो ललितविक्रमो त्रैरिति। विवृणोति-

भरनरनरराः । जैरिति दशभिर्यतिरिति । भगण-रगण-नगण-रगण नगणाः रगणद्वयं च 'ऽ।। ऽ।ऽ. ।।।. ऽ।ऽ. ।।।. ऽ।ऽ. ऽ।ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य दशभिश्च यतिर्यत्र तत् दलितविक्रमनामकं प्रकृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा सद्गुणरत्नेति** । हे **सद्गुणरत्नरोहणगिरे** सद्गुणाः एव रत्नानि तेषां कृते रोहणगिरे उत्पत्तिपर्वत ! **यशोधवलिताखिलाशामुख** ! यशोभिः कीर्तिभिः धवलितानि श्वेतीकृतानि अखिलाशानां सर्वदिशां मुखानि येन तत्सम्बोधनम्, **द्वेषिवधूमुखाम्बुजविधो** ! द्वेषिणां शत्रूणां वधूनां मुखाम्बुजानां मुखकमलानां कृते विधो चन्द्र ! **वयं** प्राकृताः जनाः **तव** भवतः **किमिव** केनरूपेण **वर्णयामः** स्तुमः, **यस्य** तव **वशंवदन्तिभुवनः** वशीकृतत्रिजगत् **ललितविक्रमः** सुन्दरपराक्रमः **जम्भरिपोः** इन्द्रस्य **चमत्कृतिरसं** चमत्कारास्वादं **दधत्** बिभ्राणः **विबुधसुन्दरीमण्डलैः** देवाङ्गनासमूहैः **चिरं** बहुकालपर्यन्तं **गीयते** स्तूयते । यस्य पराक्रमं यशांसि इन्द्रमपि चमत्कुर्वन्ति, देवाङ्गनाभिरपि गीयन्ते तस्य वर्णने वयं किमिति शक्ताः इत्यर्थः । स [ऽ] द्गु [।] ण [।] र [ऽ] त्न [।] रो [ऽ] ह [।] ण [।] गि [।] रे [ऽ] य [।] शो [ऽ] ध [।] व [।] लि [।] ता [ऽ] शा [ऽ] मु [।] ख [ऽ] (द्वेषिभिरिति संयोगे गुरुत्वात्) दशभिर्यत्याचलक्षणसंगतिः ।। अ० २, सू० ३४७।१ ।।

मौ तनिसा मत्तक्रीडा जङैः ।।३४८।।

मद्वयं तगणो नत्रयं सश्च । जङैरिति अष्टभिः पञ्चभिश्च यतिः । यथा– नो जानीते कृत्याकृत्यं विलुठति च धरणितलशयने, मूयो मूयो मूर्छा धत्ते द्रढयति न शिथिलमपि वसनम् । अर्थापेतं निःसंबन्धं वचनमपि वदति नदतितरां, मत्तक्रीडाभाषा बाला सुभग तव नवविरहविधुरा ।।३४८.१।।

चतुर्थं प्रकारमाह– **मौ तनिसा मत्तक्रीडाजङैरिति** । विवृणोति– **मगणद्वयं तगणो नत्रयं सश्च । जङैरिति अष्टभिः पञ्चभिश्च यतिरिति** । मगणद्वयं तगणो नगणत्रयं सगणश्च 'ऽऽऽ. ऽ।ऽ. ।।।. ।।।. ।।।. ।।ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य अष्टभिः पञ्चभिश्च यतिर्यत्र तत्– मत्तक्रीडानामकं प्रकृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– नोजानीत** इति । हे **सुभग** !

सौभाग्यशालिन् ! **तव** भवतः **नवविरहविधुरा** नूतन वियोगेन दुःखिनी **बाला** प्रथमवयस्काऽङ्गना **मत्तक्रीडाम्** उन्मत्तलीलाम् **आप्ता** गता **कृत्याकृत्यं** कर्तव्याकर्तव्यं **नो जानीते** न वेत्ति **धरणितलशयने** पृथ्वीतलशय्यायाम् **विलुठति** विपरिवर्तते, च, **भूयोभूयः** बाहुल्येन **मूर्छाम्** अचैतन्यं **धत्ते** धारयति **शिथिलम्** शरीराद् भ्रश्यमानम् **अपि वसनम्** वस्त्रं **न द्रढयति** स्वस्थाने स्थापयितुं **न** द्रढी करोति **मर्मापेतम्** अभिधेयहीनम् निःसम्बन्धं परस्परसम्बन्धरहितं **वचनं** वाक्यं **वदति** जल्पति अपि, **नदतितराम्** अतिशब्दं च करोति। एवं सर्वथा दयनीयेति भावः। नो [ऽ] जा [ऽ] नी [ऽ] ते [ऽ] कृ [ऽ] त्या [ऽ] कृ [ऽ] त्यं [ऽ]; वि [।] लु [।] ठ [।] ति [।] च [।]; ध [।] र [।] णि [।] त [।] ल [।] श [।] य [।] ने [ऽ] इति अष्टभिः पञ्चभिश्च यत्या लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ३४८।१ ॥

रजतनिसाश्चन्दनप्रकृतिः ॥३४९॥

रजता नत्रयं सश्च। यथा– दर्शनाद्यदीह संतापमपहरति तदपि बत तया, नार्जितं धनं प्रभूतं जरसि सुखदमतिसरलतया। किं तु चन्दनप्रकृत्या सखि सततमपि फलरहितया, दुर्भुजंगधृष्टया यौवनमिदमफलमहह गमितम् ॥३४९.१॥

पञ्चमं प्रकारमाह– **जतनिसाश्चन्दनप्रकृतिरिति**। विवृणोति– **रजतानत्रयं सश्चेति**। रगण-जगण-तगणाः नगणत्रयं सगणश्च 'ऽ।ऽ. ।ऽ।. ऽऽ।. ।।।. ।।।. ।।।. ।।ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् चन्दनप्रकृतिनामकं प्रकृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– दर्शनादिति**। **यदि** यद्यपि **इह** जगति **दर्शनात्** स्वप्रत्यक्षीकरणादेव **सन्तापम् अपहरति** नाशयति **तदपि** तथापि बत इतिखेदे, **तया** प्रक्रान्तया स्त्रिया **अतिसरलतया** अतिशयऋजुतया **जरसि** वार्धके **सुखदम्** सुखसाधनम् **प्रभूतं** बहुतरं धनं **न अर्जितम्** स्वायत्तीकृतम्। किंतु हे सखि **चन्दनप्रकृत्या** चन्दनवदतिशीतलस्वभावया, **सततम्** सर्वदा (यौवने) अपि फलरहितया स्वसौदर्यादिजन्यादरधनप्राप्त्यादि प्रयोजन शून्यया **दुर्भुजंगधृष्टया** दुष्टविटवञ्चितया **इदं यौवनं** तारुण्यम् **अफलं** निरर्थकं **गमितम्** अतिवाहितम् **अहह** इति नितान्तखेदे।

सर्वसौभाग्ययोग्यत्वेऽपि दुष्टवञ्चनापतिता सा किमपि स्वकीय यौवन फलं न प्राप्तवतीति भावः। द [ऽ] शं [।] ना [ऽ] [घ [।] दी [ऽ] ह [।] सं [ऽ] ता [ऽ] प [।] म [।] प [।] ह [।] र [।] ति [।] ब [।] त [।] त [।] द [ऽ] पि [।] त [।] भा [ऽ] इति लक्षणसंगतिः ॥अ० २, सू० ३४९।१॥

न्जभजिराः सिद्धिः ॥३५०॥

नजभा जत्रयं रश्च। यथा- सततनमत्पुरंदरशिरःशुचिरत्नकिरीटमालिका, विमलमयूखशेखरितपादनखद्युतिजालशालिनम्। विपुलदयानिधिं प्रणयिकल्पतरुं भजत जिनेश्वरं, यदि भवकातरस्त्वमिह वाञ्छसि सिद्धिमनुत्तमां सखे ॥३५०.१॥ चित्रलता, रुचिरा, शशिवदना चेत्यन्ये ॥३५०.१॥

षष्ठं प्रभेदमाह- **न्जभजिराः सिद्धिरिति**। विवृणोति- **नजभाजत्रयं-रश्चेति**। नगण-जगण-भगणा जगणत्रयं रगणश्च '।।।. ।ऽ।. ऽ।।. ।ऽ।. ।ऽ।. ।ऽ।. ऽ।ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् सिद्धिनामकम् प्रकृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- सततेति**। हे सखे! **भवकातरः** संसारभीतः त्वं **इह** संसारे **अमुत्तमाम्** सर्वतः श्रेष्ठां **सिद्धिं** साफल्यम् **यदि** चेत् **वाञ्छसि** कामयसे (तर्हि) **सततनभत्पुरन्दरशिरःशुचिरत्नकिरीट-मालिका- विमलमयूरवशेखरितपादनखद्युतिशालिनम्** सततं **सर्वदा** नमतां प्रणमतां पुरन्दराणामिन्द्राणां शिरःसु शुचीनां विशुद्धानां रत्नानां मणीनां किरीट मालिकायाः मुकुटश्रेण्याः विमलैः निर्मलैः मयूरवैः **किरणैः** शेखरिताभिः शिरसिधृताभिः पादनखद्युतिभिः चरणनखकान्तिभिः शालते शोभते तच्छीलस्तम् **विपुलदयानिधिम्** नियुक्तं विशालं **दयानिधिम्** कृपाऽऽकरम् **प्रणयिकल्पतरुं** भक्तकल्पद्रुमम् **सुजिनेश्वरम् भज** सेवय। अत्र तुतीय चरणे 'भजत जिनेश्वरम्' इति पाठो मुद्रित पुस्तके लभ्यते। परं चतुर्थ-चरणे 'सखे यदि त्वं सिद्धिं वाञ्छसीति, एकवचनस्य प्रयुज्यमानतया बहुवचनान्ताया भजतेति क्रियाया असङ्गत्या- तं पाठमनादृत्य- भज- सुजिनेश्वरमितिपाठः कल्पित स्तथैव व्याख्यातश्च। संसारोद्धारहेतवे देवेन्द्रादिभिरपि-पूज्यं जिनेश्वरमेव भजेति समुदितो भावः। स [।] त [।]) त [।] न [।] मत् [ऽ] पु [।] रं [।] द [।] र [।] शि [।] रः [।] शु [।] चि [।]

र [s] त्न [।] कि [।] री [s] ट [।] मा [s] लि [।] का [s] इतिलक्षण-समन्वयः। अस्या नामान्तराचित्रलता– रुचिरा– शशिवदना चेत्यन्ये इति। अन्ये आचार्या यथारुचि इदमेव च्छन्दः केचित् चित्रलतेत्याहुः, केचिद्रुचिरेति परेशशिवदनेति चेत्यर्थः ॥ अ० २, सू० ३५०।१ ॥

नजीभ्रा वनमञ्जरी ॥३५१॥

नगणो जगणचतुष्टयं भरौ च। यथा– सह धनुषा समदो मदनः किल शीतदीधितिमौलिना, सुहृदिह भस्म कृतस्तव दीप्तहुताशपिङ्गलया दृशा। इति हि मधो कुमते स्मर मा विचरान्तिके तरलभ्रुवां, विरहजुषां सकल-ज्वलिताङ्गभृतां दधद् वनमञ्जरीः ॥३५१.१॥

सप्तमं प्रभेदमाह– **नजीभ्रावनमञ्जरीति**। विवृणोति– **नगणो जगण-चतुष्टयं भरौचेति**। नगणः जगणाश्चत्वारः भगणरगणौ च '।।। ISI. ISI. ISI. ISI. SI। SIS.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत्– वनमञ्जरीनामकं प्रकृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– सहधनुषेति**। हे मधो! वसन्त! **शीतदीधितिमौलिना** हिमकरकिरीटिना शिवेन **दीप्तहुताशपिङ्ग-लया** प्रज्वलिताग्निपीतरक्तया **दृशा** दृष्ट्या तव **सुहृत्** मित्रम्– **समदः** सगर्वः **मदनः** कामः **धनुषा** चापेन सह **इह** संसारे **भस्म** रक्षाधूलिः **कृतः** विहितः इति हे **कुमते** कुत्सित बुद्धे मधो **स्मर** ध्याय। **विरहजुषां** वियोगिनीनाम् **सकलज्वलिताङ्गभृताम्** सम्पूर्णदीप्तशरीरशालिनीनाम् **तरल-भ्रुवाम्** चञ्चलभ्रुकुटीनामङ्गनानाम्– अन्तिके समीपे **वनमञ्जरीः** वनपुष्प-कलिका **दधत्** धारयन्– **मा विचर** मा गच्छ। शिवः शीतकिरणमौलिः अतएव शान्तस्वभावः, केवलं प्रदीप्तेन एकेनाक्षणा– दुर्मदमपिमदनं धनुषा-पुष्पैः सह भस्मकृतवान्, तत् स्मृत्वा, स्वभावत एव तरलभ्रुवां सर्वाङ्गज्वाला-शालिनीनामासां निकटे गमने कृते सति तव कादशा भविष्यतीति विचार्यत्वया वनमञ्जरीः कामबाणभूताः हस्ते दधता तासां समीपे न गन्तव्यमितिभावः। स [।] ह [।] ध [।] नु [।] षा [s] स [।] म [।] दो [s] म [।] द [।] न [s] कि [।] ल [।] शी [s] त [।] दी [s] धि [।] ति [।] मौ [s] लि [।] ना]s] इतिलक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ३५१।१ ॥

त्री र्नौ रस्तरंगः ॥३५२॥

रनरनरनराः । यथा- निर्ममो भव विधेहि पञ्चपरमेष्ठिसंस्मरणमन्वहं, संयमं कुरु भज क्षमां यदि समीहसे सुखमनश्वरम् । यौवनं किल तडिल्लता-चपलमभ्रचञ्चलमिदं धनं, जीवितव्यमपि मारुताहतसरित्तरंगतरलं सखे ॥३५२.१॥२१।८॥

अथाष्टमं प्रभेदमाह- **त्री र्नौ रस्तरङ्गः** इति । विवृणोति- **रनरनरनराः** इति । रगण-नगण-रगण-नगण-रगण-नगण-रगणाः 'ऽ।ऽ. ।।।. ऽ।ऽ. ।।।. ऽ।ऽ. ।।।. ऽ।ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् तरङ्गनामकं प्रकृतिजाति-च्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- निर्ममो भवेति । हे **सखे** ! **यदि** चेत् **अनश्वरं** अविनाशि **सुखं** कल्याणं **समीहसे** वाञ्छसि (तर्हि) **निर्ममः** संसारे आ-त्मीयतारहितः **भव** अन्वहं प्रतिदिनं **पञ्चपरमेष्ठिसंस्मरणम्** पञ्चानां परमेष्ठि-नाम् अर्हत्-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय-साधूनां संस्मरणम् ध्यानम् विधेहि कुरु **संयमम्** इन्द्रियजयं **कुरु** विधेहि, **क्षमां** शान्तिं **भज** सेवय । **इदं** सम्प्रतिवर्त-मानं यौवनं तारुण्यं **तडिल्लता** विद्युद्वल्लीवत् चञ्चलम् **इदम्** भुज्यमानमर्ज्य-मानं च **धनम्** वित्तम् **अभ्रचञ्चलम्** मेघवत् अस्थिरम् **जीवितव्यम्** जीवन-समयः **अपि मारुताहतसरित्तरङ्गतरलम्** मारुतेन वायुना आहतानां प्रेरितानां **सरित्तरङ्गाणाम्** नदीवीचीनाम् इव तरलम् चञ्चलम् अस्ति । आत्मानं तरुणं धनिनं चिरजीविनं च मत्वा यन्ममत्वं विषयेषु क्रियते तत्परि-त्यज्य परमेष्ठिनां प्रतिदिनं संस्मरणम् इन्द्रियजयम् अहिंसां च समाश्रय तदैव शाश्वतं सुखं लप्स्यसे इतिभावः । इत्थमेकविंशत्यक्षरायाः प्रकृतिजातेरष्टभेदा वर्णिताः । प्रस्तारगत्यातु २०९७१५२ भेदा भवन्ति । तदुक्तं भरतेन- तथा-शतसहस्राणां प्रकृतौ विंशतिर्भवेत् । सप्त वै गतितान्यत्र नवतिश्चैव संख्यया । सहस्राणि शतं चैकं द्विपञ्चाशत्तथैव च । वृत्तानि परिमाणेन वृत्तज्ञैर्गदितानितु ॥ इति (भ० ना० शा० १४।७०) ॥अ० २, सू० ३५२।१॥११।८॥

आकृतौ भ्रौ त्रौ त्रौ न्गौ मद्रकं जैः ॥३५३॥

भरनरनरनगाः । जैरिति दशभिर्यतिः । यथा- देवजगत्त्रयैकतिलक प्रभो प्रणयिलोककल्पविटपिन्, पुण्यवतां शिरोमणिपदध्यभाजि जिननाथ तेरिह

जनैः । ये विकचैश्चिराय चरणारविन्दयुगमर्चयन्ति कुसुमैर्, मद्रकमन्दगीतिभिरभिष्टुवन्ति च चरित्रमत्रभवतः ॥३५३.१॥

अथ द्वात्रिंशत्यक्षरामाकृतिजातिं वर्णयितुमुपक्रमते **आकृतौ भ्रौ भ्रौ भ्रौ न्गौ मद्रकं** जैरिति । विवृणोति– भरनरनरनगाः । जैरिति दशभिर्यतिरिति । भगण-रगण-नगण-रगण-नगण-रगण-नगणाः गुरुश्च 'ऽ।। ऽ।ऽ. ।।।. ऽ।ऽ. ।।।. ऽ।ऽ. ।।।. ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य, दशभिश्च यतिर्यत्र तत् मद्रकं नामाकृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– देवजगत्त्रयेति** । अत्र पद्ये मुद्रितपुस्तके द्वितीयपादे 'शिरोमणिपदव्यभाजि' इति समस्तः पाठो दृश्यते । सच नार्थसम्बन्धानुकूलः । पर्यायविवरण– पादटिप्पणीसमवलोकनेन च 'पदं-व्यभाजि' इति पाठः प्रतीयते स एव च समुचित इति तमेवावलम्ब्य व्याख्यायते । हे **जगत्त्रयैकतिलक ! जगत्त्रयस्य** त्रिलोक्या एकं तिलकं भालभूषणमिवेति तत्सम्बोधनम्, **प्रभो** निग्रहानुग्रहसमर्थ ! **प्रणयिलोक कल्पविटपिन्** ! भक्तभविककल्पपादपभूत ! **जिननाथदेव** ! **तैः जनैः इह** लोके **शिरोमणिपदं** श्रेष्ठतमं स्थानं **व्यभाजि** विभज्यस्वीकृतम् ये **अत्रभवतः** पूज्यस्य तव **विकचैः** विकसितैः कुसुमैः पुष्पैः **चरणाविन्दयुगं पादसरसीरुह युग्मम् अर्चयन्ति** पूजयन्ति– **चरित्रम्** सुचरित लीलां– **मद्रकमन्दगीतिभिः** मद्रका इव मन्दा गीतयः मन्दस्वरगानानि तैः **अभिष्टुवन्ति** सर्वतः शंसन्ति । हे देव– इह लोके तएव श्रेष्ठतमा ये भक्त्या तव पादपूजां **चरन्ति** तव गुणांश्च गायन्तीति भावः । दे [ऽ] व [।] ज [।] ग [ऽ] त्र [।] यै [ऽ] क [।] ति [।] ल [।] क [ऽ]; प्र [।] भो [ऽ] प्र [।] ण [।] यि [।] लो [ऽ] क [।] क [ऽ] ल्प [।] वि [।] ट [।] पिन् [ऽ] इतिदशभिर्यत्यालक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू० ३५३।१ ॥

स्तौ त्नौ स्रौ र्गौ महास्रग्धरा जछैः ॥३५४॥

सततनसररगाः । जछैरिति अष्टभिः सप्तभिश्च यतिः । यथा– अमि नागान्याति योऽयं स मम मम पुनर्यच्छिरो हुंकरोति, प्रचलोऽयं यत्कबन्धः प्रहरति स तु मे प्राणनाथोऽस्तु सत्यः । दलयन् यो दुष्टभूपानहमहमिकया स्वर्गसीमन्तिनीनां, परिशुश्रावेति वाचो वरवरणमहास्रग्धराणां रणेषु ॥३५४.१॥

द्वितीयं प्रभेदमाह– **स्तौ त्नौ स्त्रौ गौ महास्रग्धरा जछैरिति** । विवृणोति– **सततनसररगाः । जछैरिति अष्टभिः सप्तभिश्च यतिरिति** । सगणः तगणद्वय नगणसगणौ रगणद्वयं गुरुश्च 'ııऽ. ऽऽı. ऽऽı ııı. ııऽ. ऽıऽ. ऽıऽ. ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य अष्टभिः सप्तभिश्च यतिर्यत्र तत् महास्रग्धरानामकमाकृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– अभि नागानिति** । **यः** कश्चित् वीरतमः **रणेषु** संग्रामेषु **दुष्टभूपान्** दुर्जनान् राज्ञः **दलयन्** विदारयन् '**यः अयं** दृश्यमानः **नागान्** गजान् **अभि** अभिमुखं **याति** गच्छति **स मम** स मम प्राणनाथः अस्तु; **यच्छिरः** यस्य मस्तकं **हुंकरोति** हुमितिशब्दं प्रकटयति, स मम, **अयं प्रचलः** चलन् **यत्कबन्धः** यस्य शिरोरहितशरीरम् **प्रहरति** शत्रूणामुपरि शस्त्रं क्षिपति हे सख्यः **स मम** प्राणनाथः अस्तु, (इति) **अहमहमिकया** अहं पूर्वं वरेयमहं पूर्वमिति त्वरया– **वरवरणमहास्रग्धारणम्** वरवरणार्थं महास्रजः महतीर्माला: धरन्तीति तासां **स्वर्गसीमन्तिनीनाम्** स्वर्लोकाङ्गनानाम् **वाचः** वचनानि **परि शुश्राव** आकर्णयां चकार । अयमाशयः अनेन राज्ञा हतानां भूपानां वरणार्थंप्सरसः परस्परमित्थमालपन्ति– एकाकथयति– योगजाभिमुखमपि गच्छति स मयैववरणीयः, द्वितीयोवाच यस्य कृत्तमपि शिरो रिपून्प्रति सरोषमेव वचनमुच्चरति स मयैव वरणीयः अन्याप्रवीति यस्य कबन्धोऽपि प्रहरति स मम वर इति वीराणां पराक्रमानुरूपं तासा माकर्षणमिति । तादृशा अपि वीरा अनेन निर्दलिता इति परमार्थः । अ [ı] भि [ı] ना [ऽ] गान् (ऽ) या [ऽ] ति [ı] यो [ऽ] यं [ऽ]; स [ı] म [ı] म [ı] म [ı] म [ı] पु [ı] न [ऽ]; र्यं [ऽ] च्छि [ı] रो [ऽ] हुं [ऽ] क [ı] रो [ऽ] ति [ऽ] (पादान्तस्य वैकल्पिक गुरुत्वात् संयोगे परतो वा गुरुत्वात्) इति अष्टभिः सप्तभिश्च यत्या लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ३५४।१ ॥

भृगौ मदिरा ॥३५५॥

भृगाविति भगणसप्तकं गुरुश्च । यथा– ह्रीविनियन्त्रणविघ्नमपाकुरुतेऽभिनवावतरद्वयसां, प्रौढपुरन्ध्रिजनस्य तथा तिरयत्यपराधपदं सहसा । कोपपदेन च गोत्रपरिस्खलितं न च कारयते तदसौ, कामसखी मदिरेह सतर्षमभाजि चिरं किल कामजनैः ॥३५५.१॥ लताकुसुममित्यन्ये ॥३ ५ १॥

तृतीयं प्रकारमाह- **भृगौ मदिरेति** । विवृणोति- भृगाविति भगणसप्तकं गुरुश्चेति । तथा च 'ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत्- मदिरानामकमाकृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- यथा- ह्रीविनियन्त्रणेति । **कामसखी** नर्मसहचरी **मदिरा** सुरा **अभिनवावतरद्वयसाम्** अभिनवं नूतनम् अवतरत् समागच्छत् वयः यौवनं यासां तासां कामिनीनाम् **ह्रीवियन्त्रणविघ्नम्** ह्रिया लज्जाया **यद्विनियन्त्रणम्** स्वच्छन्दाचारनियमनम्- तदेव विघ्नम्- केलिप्रवृत्तावन्तरायः तम् **अपाकुरुते** नाशयति, **तथा प्रौढपुरन्ध्रिजनस्य** प्रगल्भसतीजनस्य (अग्रे) **अपराधपदं** प्रियस्यापराधस्थानम् सहसा झटिति **तिरयति** आच्छादयति, **गोत्रपरिस्खलितं** नामस्खलनम्- (प्रकृतनायिकाया आह्वाने तद्विरुद्धनायिका नामोच्चारणम्) **च कोपपदेन** कोपस्थानत्वेन **न कारयते** न भावयते, **तत्** तस्मात् **असौ** मदिरा **कामिजनैः** कामिभिः कामिनीभिश्च **चिरं** बहुकालं यावत् **सतर्षं** सतृष्णं यथास्यात्तथा **अभाजि** असेवि किल । यथा काचिन्नर्मसखी नवोढाया ह्रियमपहरति, तथा मदिरापि, प्रौढाश्च स्त्रियो यद्यपि ह्रीरहिता भवन्ति, तथापिताः प्रियस्य पर वनितासङ्गंश्रुत्वा सकोपा भवन्ति ताः नर्मसहचरी अनुनयति, मदिरा च तथा ता मादयति यत् ता तमपराधं न स्मरन्ति तत्रापि तस्याः (मदिरायाः) नर्मसखीसाम्यम्; नार्योगोत्रपरिस्खलने कुप्यन्ति तत्रापि नर्मसखी ता अनुनयति मदिरा च तथा मादयति येन तदुपरि तासां ध्यानमेव नगच्छतीति तस्याः सर्वथोपकारकत्वं विज्ञाय कामिजनाः सतृष्णं तां सेवन्त इति भावः । ह्री [ऽ] वि [।] नि [।] य [ऽ] न्त्र [।] ण [।] वि [ऽ] घ्न [।] म [।] पा [ऽ] कु [।] रु [।] ते [ऽ] भि [।] न [।] वा [ऽ] व [।] त [।] र [ऽ] द्व [।] य [।] सां [ऽ] इतिलक्षणसमन्वयः । अस्य नामान्तरमन्यसम्मतमाह- 'लताकुसुममित्यन्ये' इति ॥ अ० २, सू० ३५५।१ ॥

मत्यनीगा वरतनुः ॥३५६॥

मतया नगणचतुष्टयं गुरुश्च । यथा- चक्षुःसौन्दर्यं मृगवध्वां परभृतयुवतिषु मधुरगिरं, यातं हंसीषु स्मितमुद्बुद्धनवविचकिलकुसुमततिषु । रोलम्बश्रेण्यां

कचलक्ष्मीं वदनरुचिरमपि विकचकमले, न्यासं कृत्वा सा खलु याता क्वचिदपि मम वरतनुरधुना ॥३५६.१॥

चतुर्थं प्रभेदमाह– **मत्यनीगा वरतनु**रिति । विवृणोति– **मतया नगण-चतुष्टयं गुरुश्चे**ति । मगण-तगण-यगणाः नगणचतुष्टयं गुरुश्च 'sss. ss।. ।ss. ।।।. ।।।. ।।।. ।।।. s' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् वरतनुनामकमाकृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– चक्षुःसौन्दर्यमिति । अधुना** सम्प्रति **मम सा वरतनुः** शुभाङ्गी, **चक्षुःसौन्दर्यं** नेत्रशोभां **मृगवध्वां** हरिण्याम्; **मधुरगिरं** मिष्टां वाणीम् **परभृतयुवतिषु** कोकिलतरुणीषु, **यातं** गमनं **हंसीषु** मरालाङ्गनासु, स्मितम् ईषद्धासम्– **उद्बुद्धनवविचकिल-कुसुमततिषु** उद्बुद्धानां विकसितानाम् नवानां **प्रत्यग्राणां** विचकिलानाम्– पुष्पविशेषाणां ततिषु समूहेषु, कचलक्ष्मीं केशशोभां **रोलम्बश्रेण्याम्** भ्रमरमालायाम्, **वदनरुचिम्** मुखकान्तिम् अपि **विकचकमले** विकसितपद्मे **न्यासं** निःक्षेपं **कृत्वा** विधाय **क्वचिदपि** कस्मिंश्चित् स्थाने **याता** गता खलु । विधुरस्य परिदेवनमिदम् । यथा कश्चित् क्वापि जिगमिषुःस्वकीयन्धनमेकत्र न स्थापयति– विभज्य किंचित् किञ्चिद्बहूनां हस्ते निःक्षिपति कस्यचिन्न्यासापहार बुद्धावपि न सकलधनहानिसम्भवनेति बुद्धचा, तथामत्प्रियापि स्वकीयमसाधारणं वस्तु चक्षुः सौन्दर्यादि हरिण्यादिषु न्यस्य– गतेति नासामिदं सर्वमपि तु तस्या एवेत्यपि भावः । च [s] क्षुः [s] सौ [s] न्द [s] र्यं [s] मृ [।] ग [।] व [s] ध्वां [s] प [।] र [।] भृ [।] त [।] यु [।] व [।] ति [।] षु [।] म [।] धु [।] र [।] गि [।] रं [s] इतिलक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ३५६।१ ॥

म्सौ ज्सौ ज्सौ जगौ दीपार्चिष्ठैः ॥३५७॥

मसजसजसजगाः । ठैरिति द्वादशभिर्यतिः । यथा– प्रायो दुष्कृतकर्मसु स्वयममी प्रयान्ति पिशुनाः सहायतां, यद्वत्तद्वदनिन्दनीयसुकृतक्रियासु मृशमन्तरायताम् । वह्नौ संततजन्तुसंकुलमहावनप्लुषि सखा समीरणो, दीपार्चिष्यखिलोपकारिणि भवत्यकाण्डकुपितान्तकः खलु ॥३५७.१॥२२।५॥

पञ्चमं प्रभेदमाह– **म्सौ ज्सौ ज्सौ ज्गौ दीपार्चिऽठैरिति** । विवृणोति– **मसजसजसजगाः** । **ठैरिति द्वादशभिर्यतिरिति** । मगण-सगणजगणसगण जगण-सगण-जगणा गुरुश्च 'SSS. ।।S. ।S।. ।।S. ।S।. ।।S. ।S।. S.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य द्वादशभिश्च यतिर्यत्र तत् दीपार्चिर्नामकाकृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– प्रायोदुष्कृतेति** । **अमी** प्रसिद्धाः पिशुनाः सूचकाः **यद्वत्**– यथा **दुष्कृतकर्मसु** पापाचरणेषु **स्वयम्** प्रेरणां विनैव **सहायताम्** सहकारित्वं प्रयान्ति गच्छन्ति **प्रायः** बाहुल्येन, **तद्वत्** तथैव– **अनिन्दनीयसुकृयक्रियासु** अनवद्यपुण्यकार्येषु भृशम् अत्यन्तम् **अन्तरायताम्** प्रतिबन्धकत्वं प्रयान्ति । उक्तमर्थं सदृशेनार्थेन– समर्थयति– **समीरणः** वायुः **संततजन्तुसङ्कुलमहावनप्लुषिः** सन्ततं सतत जन्तुभिः जीवैः सङ्कुलं व्याप्तं महावनं प्लुष्यति दहति इति तथा भूते **वह्नौ** हुताशने **सखा** मित्रम् **अखिलोपकारिणि** सर्वलोकहितकरायां **दीपार्चिषि** प्रदीपज्वालायाम् (वह्नि रूपायामेव) **अकाण्डकुपितान्तकः** अकाण्डे असमयेकुपितः कृतक्रोधः अन्तकः यम इव मारकः **भवति** जायते खलु निश्चयेन । यथा वह्नेः जीवसङ्कुलवनदाहनरूपे पापाचरणे वायुः मित्रम्, अर्थप्रकाशरूप परोपकार पुण्याचरणे च शत्रुः, तथा पिशुना अपि, पापाचरणे स्वतः सहायतां व्रजन्ति, पुण्याचरणे च विरोधित्वमितिभावः । प्रा [S] यो [S] दु [S] ष्कृ [।] त [।] क [S] र्म [।) सु [S] स्व [।] य [।] म [।] मी [S] प्र [।] या [S] न्ति [।] पि [।] शु [।] नाः [S] स [।] हा [S] य [।] तां [S] इतीलक्षणसमन्वयः । इत्थं द्वाविंशत्यक्षराया आकृति जातेः पञ्चभेदावर्णिताः । प्रस्तारगत्यातु ४१९४३०४ भेदा भवन्ति, तदुक्तं भरतेन 'चत्वारिंशत्तथैकं च सहस्राणां शतानितु । तथा चेह सहस्राणि नवतिश्चतुरुत्तरा । शतत्रयं समाख्यातं ह्याकृत्यां चतुरुत्तरमिति । (म० ना० शा० १४।७२) ।।अ० २, सू० ३५७।१।। २२।५ ।। इत्याकृति जातिः ।।

विकृतौ न्जौ म्जौ म्जौ म्लौ गोऽश्वललितं टैः ।।३५९।।

नजमजमजमलगाः । टैरित्येकादशभिर्यतिः । यथा– निरयमहान्धकूपमसमान्धकारभरदुर्विलोकमतुलं, निपतितगाढमोहपटलान्धजन्तुविविधप्रलापतुमुलम् । प्रवचनचक्षुरेक्षत इमं चिराय तनुभृत्तथापि बलवच्-, चपलतरेन्द्रि-

याश्वललितैर्विकृष्ट इह तत्क्षणान्निपतति ।।३५८ १।। अत्र केचित्सप्तमभगण-स्थाने जगणमिच्छन्ति ।।३५८.१।।

अथ त्रयोविंशत्यक्षरां विकृतिजातिं वर्णयितुमुपक्रमते– **विकृतौ न्जौ भ्जौ भ्जौ भ्लौ गोऽश्वललितं टैरिति** । विवृणोति– **नजभजभजभलगाः । टैरित्येकादभिर्यतिरिति** । नगण-जगण-भगण-जगण-भगण-जगण भगणाः लघुगुरूच '।।।. ।ऽ।. ऽ।। ।ऽ।. ऽ।। ।ऽ।. ऽ।। ।ऽ' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य, एकादशभिश्च यतिर्यत्र तत् अश्वललितं नाम विकृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– निरयमहान्धकूपेति । तनुभृत्** देही **इमं निरयमहान्धकूपम्** निरयं नरकमेव महान्धकूपम् विशालं प्रकाशरहितं कूपं, **असममहान्धकारदुर्विलोकम्** असमेन केनापि तुलना हीनेन महान्धकार-भरेण घोरान्धतमसमूहेन **दुर्विलोकम्** चक्षुर्व्यापारशून्यम्, **अतुलम्** निरुपमम् **निपतितगाढ़मोहपटलान्धजन्तुविविधप्रलापतुमुलम्**– निपतितानां तस्मि-न्निमग्नानां गाढ़मोहपटलेन निबिडाज्ञानसमूहेन अन्धानाम्– अन्तर्बहिर्दृष्टि-शून्यानाम् जन्तूनाम् जीवानां विविधप्रलापैः बहुप्रकाररोदनैः तुमुलं सङ्कुलम्, **प्रवचनचक्षुषा** सदुपदेशलोचनेन **ईक्षते** जानाति **तथापि बलवच्चपलेन्द्रिया-श्वललितैः** बलवत् अतिशयं चपलानि चञ्चलानीन्द्रियाण्येताश्वा हयाः तेषां ललितैः विलासैः विकृष्ट इव आकृष्ट इव **तत्क्षणात्** सद्यः **इह** पूवर्क्तोकूपे **निपतति** स्खलति, वीतरागाणां प्रवचनैः उक्तरूपं नरककूपं जानन्नपि जन इन्द्रियपारव-श्येनानीश इव तत्र निमज्जतीति भावः । नि [।] र [।] य [।] म [।] हा [ऽ] न्ध [।] कू [ऽ] प [।] म [।] स [।] मा [ऽ]; न्ध [।] का [ऽ] र [।] भ [।] र [।] दु [ऽ] वि [।] लो [ऽ] क [।] म [।] तु [।] लं [ऽ] इत्येकादभिर्यत्यालक्षणसङ्गतिः । अत्रान्योक्तं विशेषमाह– अत्रकेचित् सप्तम-भगणस्थाने जगणमिच्छन्तीति । अस्मिन् छन्दसि सप्तमो गणो भगणोऽस्मा-भिर्न्यस्तः, तत्स्थाने केचिज्जगणमिच्छन्ति इति भावः ।।अ० २, सू० ३५८।१।।

मौ तो नीलगा मत्ताक्रीडा जडैः ।।३५९।।

ममता नगणचतुष्टयं लघुगुरू च । जडैरित्यष्टाभिः पञ्चभिश्च यतिः । यथा– हस्तक्षेपैर्वारंवारं विदलयति किल निकरमवनिरुहां, पादानुच्चैः क्षोणी-

न्द्राणां विघटयति दशनकुलिशविकषणैः। वेगावेगात्पादन्यासैर्नमयति च फणपटलमुरगपतेर्, इत्थं मत्ता क्रीडामात्रं विरचयति नृपवर तव करिघटा ॥३५९.१॥

द्वितीयं प्रकारमाह– **मौ तो नीलगा मत्ताक्रीडा जडैरिति**। विवृणोति– **ममता नगण चतुष्टयं लघुगुरू च। जडैरित्यष्टाभिः पञ्चभिश्चयतिरिति**। मगणद्वयं तगणः नगणचतुष्टयं लघुगुरू च 'sss. sss. ssl. lll. lll. lll. lll. ls.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य अष्टाभिः पञ्चभिश्च यतिर्यत्र तत् मत्ता-क्रीडानामकं विकृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– हस्ताक्षेपैरिति**। हे नृपवर! **तव मत्ता** उद्भूतमदा **करिघटा** गजश्रेणिः **अदनिरुहांनिकरम्** वृक्षाणां समूहम् **हस्ताक्षेपैः** शुण्डाप्रहारैः **वारंवार** भूयोभूयः **विदलयति** विदारयति किल, **क्षोणीन्द्राणाम्** पर्वतानाम् (क्षोणीन्द्रशब्दः पर्वतेन प्रसिद्धः क्षोणीधर– क्षोणीभृदादि शब्दवत् 'क्षोणीध्र' शब्दोऽत्र प्रयोक्तु-मुचित इति प्रतिभाति) **उच्चैः उन्नतान् पादान्** पर्यन्तपर्वतान् **दशन-कुलिशविकषणैः** दशनानि दन्ता एव कुलिशानि वज्राणि तैर्विकषणैः उत्खननैः **विघटयति** विदारयति, उरगपतेः शेषनागस्य **फणपटलम्** भोग-समूहं **च वेगावेगात्** जवावेशात् **पादन्यासैः** चरणनिपातैः (भारवर्धकैः) **नमयति** अधःकरोति च, इत्थमुक्तप्रकारेण **क्रीडामात्रं** लीलां केवलां **विरच-यति** करोति– न तु युद्धम्। रिपूणां, तव करिघटां दृष्ट्वैव पलायितानां प्रति-पक्षाभावात्– सा तत्प्रान्ते क्रीडामात्रं करोतीति भावः। ह [s] स्ता [s] क्षे [s] पै [s] र्वा [s] रं [s] वा [s] रं [।]; वि [।] द [।] ल [।] य [।] ति [।]; कि [।] ल [।] नि [।] क [।] र [।] म [।] व [।] नि [।] रु [।] हां [s] इति अष्टाभिः पञ्चभिश्च यत्यालक्षणसमन्वयः॥ अ० २, सू० ३५९.१॥

ताज्जूलगाः शङ्खः ॥३६०॥

तगणात्परं जगणषट्कं लघुगुरू च। यथा– चौलुक्यनरेश्वर वंभववासव वीर गभीरिमवारिनिधे, सौन्दर्यमनोभव कान्तिनिशाकर सेवककल्पतरो भवतः। को नाम कुणानिह संकलयेत् किल वच्मि तु किंचन ते यशसां संपर्कमवाप्य स शङ्खधरोऽभवदद्रिसुताकमितु सदृशः॥३६०.१॥

तृतीयं प्रकारमाह- **ताज्जूलगाः शङ्खः** इति । विवृणोति- तगणात्परं जगणषट्कं लघुगुरू चेति । तथा च 'ऽऽ।. ।ऽ।. ।ऽ।. ।ऽ।. ।ऽ।. ।ऽ।. ।ऽ।. ।ऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् शङ्खनामकं विकृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- चौलुक्यनरेश्वरेति । वैभववासव** ! वैभवेन समृद्धया वासव ! इन्द्रसदृश ! **वीर गभीरिमवारिनिधे** ! गभीरिम्णि अगाधतायां वारिनिधिः समुद्र इव, तत्सम्बोधनम्, **सौन्दर्यमनोभव** ! सौन्दर्ये मनोहरतायां मनोभवः कामइवेति तत्सम्बोधनम्, **कान्तिनिशाकर** कान्तौ द्युतौ निशाकरः चन्द्र इवेति तत्सम्बोधनम्, **सेवककल्पतरो** सेवकानां परिचारकाणां कृते कल्पतरुः इवेति तत्सम्बोधनम्, **चौलुक्यनरेश्वर** ! चुलुक्यवंशोद्भवनृप ! **भवतः** गुणान् **को नाम** सङ्कलयेत् किल, साकल्येन **गणयेत् किल, तु** किन्तु **किंचन** स्तोकं **वच्मि** कथयामि, **ते यशसां** तव कीर्तीनां **सम्पर्कम्** स्पर्शम् **अवाप्य** प्राप्य स प्रसिद्धः कृष्णवर्णः **शङ्खधरः** कम्बुपाणिः विष्णुः **अद्रिसुताकमितुः** पार्वतीपतेः शिवस्य सदृशः तुल्यः श्वेतः **अभवत्** जातः । त्वत्कीर्त्तिधवलीकृतशरीरो विष्णुरपि शिववच्छ्वेतोऽभवदित्येतावतैव तव यशसोऽवर्णनीयत्वं सिद्धमिति भावः । चौ [ऽ] लु [ऽ] क्य [।] न [।] रे [ऽ] श्व [।] र [।] वै [ऽ] भ [।] व [।] वा [ऽ] स [।] व [।] वी [ऽ] र [।] ग [।] भी [ऽ] रि [।] म [।] वा [ऽ] रि [।] नि [।] धे [ऽ] इति लक्षणसमन्वयः ।। अ० २, सू० ३६०.१ ।।

नाद्धंसगतिः ।।३६१।।

नगणात्परं जगणषट्कं लघुगुरू च । यथा- मदनगजेन्द्रमहोदयमादधती सहसा विमलप्रसरल-, लवणिमसिन्धुरनिद्रितनीलसरोरुहचारुललन्नयना । विशदतराम्बरसंपदिय रजनीकरबिम्बमुखं दधती, शरदिव संश्रितहंसगतिर्युवतिर्विदधाति न कस्य मुदम् ।।३३१.१।। महातरुणीदयितमित्यन्ये ।।३६१.१।।

चतुर्थं प्रभेदमाह- **नाद्धंसगतिरिति** । विवृणोति- **नगणात्परं जगणषट्कं लघुगुरू** चेति । तथा च- '।।।. ।ऽ।. ।ऽ। ।ऽ।. ।ऽ।. ।ऽ।. ।ऽ।. ।ऽ.' इत्येवं वर्णविन्यासश्चेत्प्रतिपादं तदा हंस गतिरित्याख्यातं विकृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- मदनेति । मदनगजेन्द्रमहोदयम्** काममहा-

वारणाभ्युदयम् **आदधती** कुर्वती, **सहसा** हठात् **विमल प्रसरल्लवणिम**-सिन्धुः विमलः निर्मलः प्रसरन् विकीर्यमाणो योऽवणिमा तस्य सिन्धुः प्रवाह-युक्तनदीव, पक्षे विमलः प्रसरंश्च लवणिमा– यस्याः तादृशी सिन्धुः नदी यस्याम्, **अनिद्रितनीलसरोरुहचारुलसन्नयना** अनिद्रितं विकसितं यत् नील सरोरुहं तद्वत् चारुणीलसतीं च नयने यस्याः, पक्षे, तादृशानि सरोरुहा-ण्येव नयने यस्याः, **विशदतराम्बरसंपत्** विशदतरा अतिस्वच्छा अम्बरयोः वस्त्रयोः संपत् सम्पत्तिर्यस्याः, पक्षे विशदतरम् अम्बरमेव सम्पद् यस्याः, **रजनीकरविम्बमुखम्** चन्द्रमण्डलवन्मुखम्– पक्षे चन्द्रमण्डलरूपं मुखं दधती धारयन्ती, **संश्रितहंसगतिः** संश्रिता हंसानां गतिरिव गतिर्यया, पक्षे **संश्रिता** हंसैर्गतिर्यस्याम् **सा– इयं, युवतिः** तरुणी **शरत्** शरदृतुः **इव कस्य** जनस्य **मुदं** हर्षं **न विदधाति** करोति। समानैर्विशेषणैः शरदा सहयुवत्या साम्यमुक्त्वा तस्या मनोमोदजननीत्वं वर्णितम्। वर्षासु पङ्किलभूमौ गजानां सञ्चारे खेद इति शरत्तेषां कृतेऽभ्युदयदायिनी, तद्वत्– युवतिरिति मदन गजेन्द्रस्यमहोदय-दायिनी कामोत्तेजकशशिनैर्मल्यादीनां प्रादुर्भावात्, वर्षासु नद्यो रजस्वला इति लावण्यविहीना भवन्ति शरदि च तासां लावण्यं प्रसरति, युवतिरपि स्वभावत एवेति, शरदि सरोरुहाणि विकसन्ति तानि च तस्या नेत्र स्थानी-यानि युवतेरपि नयनं सरोरुह सदृशम्, शरदिआकाशं विशदं भवति युवति-रपि विशदाम्बरधारिणी, शरदि चन्द्रः प्रकाशते स च तस्यामुखमिव, युवतेश्च मुखं चन्द्रबिम्बमिव, वर्षासु हंसा न संचरन्ति शरदि समायातायां तेषां संचारो भवति, युवतिश्च स्वभावत एव हंसगतिभाश्रयतीति शरदिव स्वैर्गुणै-रेषा सर्वेषां मोदजननी भवतीति विशकलितोऽर्थः म [।] द [।] न [।] ग [।] जे [ऽ] न्द्र [।] म [।] हो [ऽ] द [।] य [।] मा [ऽ] द [।] ध [।] ती [ऽ] स [।] ह [।] सा [ऽ] वि [।] म [।] ल [ऽ] प्र [।] स [।] रभ्–[ऽ] इति लक्षणसङ्गतिः। अस्य नामान्तरमाह–**महातरुणीदयितमित्यन्य** इति। अ० २, सू० ३६१.१ ॥

त्री र्नौ र्ल्गाश्चित्रकम् ॥३६२॥

रनरनरनरलगाः। यथा– श्रयतां नृपकुमारपाल तव दर्शनत्वरितया

व्यधायि यत्, पादतामरसयोः सुवर्णकटके कराम्बुरुहयोश्च नूपुरे । हारदाम च नितम्बबिम्बफलके भृशं हृदि च रत्नमेखला, निर्ममे जतुरसोऽलिकेऽधरदले च चित्रकमधीरचक्षुषा ॥३६२ १॥

पञ्चमं प्रभेदमाह-**त्री र्नौ र्ल्गाश्चित्रकम्** इति । विवृणोतति-रन-रन-रन-रलगा इति । रगण-नगण-रगण-नगण-रगण-नगण-रगणाः लघुगुरूच- SIS.।।।.SIS.।।।.SIS.।।।.SIS.IS. इतीदृशैरक्षरैर्यस्य पदानां विन्यासः तत् चित्रकं नाम विकृति जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- श्रूयतामिति** । हे **नृपकुमारपाल** ! राजन् कुमारपाल ! **तव** भवतः **दर्शनत्वरितया-** अवलोकनसम्भ्रमवत्या **अधीरचक्षुषा** चञ्चलनेत्रया कयाचिदङ्गनया **यत्** व्यधायिकृतं तत् **श्रूयताम्** आकर्ण्यताम्, **पादतामरसयोः** चरणकमलयोः **सुवर्ण कटके** स्वर्णकङ्कणे- हस्तधारणयोग्ये (पिनद्धे) **कराम्बुरुहयोः** करकमलयोः **च नूपुरे** पादधारणयोग्ये मञ्जीरे (परिहिते) **नितम्बबिम्ब-फलके** श्रोणीमण्डलपट्टके **च हारदाम** मौक्तिकमाला कृता **हृदि** हृदये वक्षःस्थलेच **रत्नमेखला** मणिनिर्मिता रसना, **अलिके** भाले जतुरसः अलक्तकम्, **अधरदले** अधरोष्ठे **च चित्रकम्**- तिलकम् **निर्ममे** विहितम् । त्वां राजमार्गेण समायान्तं श्रुत्वा तथा त्वरिता याता यथा सर्वाण्याभरणानि विपरीत स्थान एव धारितानि, किं कुत्र परिधेयमिति नावधारितवतीति भावः । श्रू [S] य [।] तां [S] नृ [।] प [।] कु [।] मा [S] र [।] पा [S] ल [।] त [।] व [।] द [S] र्शं [।] न [S] त्व [।] रि [।] त [।] या [S] व्य [।] धा [S] यि [।] यत् [S] इति लक्षण समन्वयः ॥ अ० २, सू० ३६२.१ ॥

म्मौ स्मौ निल्गाश्चपलगतिः ॥३६३॥

भमसमा नत्रयं लघुगुरू च । यथा- भूमिभृतामङ्केषु विलासं स्वरुचिसदृश-मति हि दिदधती, सत्वरमानीता स्फुटमुच्चैः पटह इव नदति यशसि निजे । दुर्ललिता स्तम्बेरमकान्तेव नृपवर दृढतरगुणगणैः, साधु भुजस्तम्भे भवता श्रीरतिचपलगतिरिह निगडिता ॥३६३.१॥

षष्ठं प्रकारमाह- भ्मौ स्भौ निल्गाश्चपलगतिरिति । विवृणोति- भमसभा नत्रयं लघुगुरूचेति । भगण-मगण-सगण-भगणेभ्यः पर नगणत्रय लघुगुरुच- ऽ।।.ऽऽऽ.।।ऽ.ऽ।।.।।।.।।।.।।।.।ऽ. इतीदृशैरक्षरैः कृतः पादो यस्य तत् चपलगति-नामकं विकृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- यथा भूमिभृतामिति । हे **नृपवर** ! राजश्रेष्ठ ! **पटह इव** मुरज इव **निजे** स्वीये **यशसि** कीर्तौ **स्फुटं** स्पष्टं **उच्चैः** तारं **नदति** ध्वनति सति, **भूमिभृतां** राज्ञां पक्षे पर्वता-नाम् **अङ्केषु** क्रोडेषु समीपदेशेषु च, **स्वरुचिसदृशं** स्वैरं **विलासं** क्रीडां **अतिहि** भृशं विदधती कुर्वती **दुर्ललिता** स्वच्छन्दचारिणी **स्तम्बेरमकान्ता** हस्तिनी इव **अतिचपलगतिः** अतिशयचञ्चलगमना **श्रीः** लक्ष्मी **दृढतरगुण-गणैः** स्थिरतर शौर्यादिनृपगुण समूहैः परत्र-स्थिरतर रज्जुसमूहैः सत्वरं शीघ्रम् **भवता** त्वया **आनीता** आकृष्टा **भुजस्तम्भे** बाहुरूपे आलाने **निगडिता** बद्धाच । अयमाशयः यथा पहहेनदति सति काचन पर्वतचरी चञ्चलाच हस्तिनी रज्जुभिर्बद्धा समानीयते स्तम्भे च निगडिता क्रियते, तथा राज्ञामुत्सङ्गे स्थिता चञ्चला श्रीः त्वया निजयशसि कीर्त्यमाने सति स्वगुणै-राकृष्ण समानीयते स्वभुर्स्तम्भे बद्धा स्थिरीक्रियते चेति । भू [ऽ] मि [।] भृ [।] ता [ऽ] मं [ऽ] के [ऽ] षु [।] वि [।] ला [ऽ] सं [ऽ] स्व [।] रु [।] चि [।] स [।] दृ [।] श [।] म [।] ति [।] हि [।] वि [।] द [।] ध [।] ती [ऽ] इति लक्षण समन्वयः ।। अ० २, सू० ३६३.१ ।।

ज्सौ ज्सौ यिल्गा वृन्दारकम् ॥ ३६४ ॥

जसजसा यत्रयं लघुगुरू च । यथा- तदंह्रिपरिताडनं सरभसं कचाकर्षणं स्वेच्छया चोर्जितं, मुखाम्बुरुहचुम्बनं प्रति मुहुर्नखैदारणं निविशङ्कं जवात् । नरेन्द्रतिलक त्वदीयपरिपन्थिनां तुल्यकालं तदेतत्कृतं, शिवाभिरिह संगरे गगनसीम्नि वृन्दारकप्रेयसीभिस्तथा ।। ३६४.१ ।।

सप्तमं प्रकारमाह- ज्सौ ज्सौ यिल्गा वृन्दारकमिति । विवृणोति- जसजसा-यत्रयं लघुगुरूचेति । जगण-सगण-जगण-सगण यगणत्रयं लघुगुरूच ।ऽ।.।।ऽ. ।ऽ।.।।ऽ.।ऽ।.।।ऽ.।ऽऽ.।ऽऽ.।ऽ. इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् वृन्दारकं

नाम विकृति जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– तदंह्रिपरिताडनमिति** । हे नरेन्द्रतिलक ! राजभूषण ! **इह** वर्तमाने **संगरे** युद्धे– **शिवाभिः** शृगालीभिः तथा **वृन्दारक प्रेयसीभिः** देवाङ्गनाभिः **त्वदीयपरिपन्थिनां** तवशत्रूणां **तदेतत्** अधोनिर्दिश्यमानं कर्म तुल्यकालम् एकस्मिन्नेव समये **कृतम्**– विहितम् किं तत्– इत्याह– **तदंह्रिपरिताडनम्** तेषां तवशत्रूणां अंह्रिभिः चरणैः परिताड़नम् **आहतनम्** (शिवाभिः), तेषां अंह्रयोः चरणयोः परिताडनम् संवाहनं (वृन्दारक प्रेयसीभिः) **सरभसं** सवेगं **स्वेच्छया** स्वैरं **च ऊर्जितं** बलवत् यथास्यात्तथा **कचाकर्षणं** केशाकर्षणं (द्वाभ्यामपि), **मुखाम्बुहचुम्बनम्** मुखकमलेन सह स्ववक्त्रसंयोगः, **प्रतिमुहुः** वारंवारं **जवात्** वेगात् **निर्विशङ्कं** वारणाशङ्कारहितं **नखैः** करजैः **दारणम्** विदलनञ्च इति । अयमाशयः त्वदरीणाम् शरीरम्–भुवि शिवाभिः, दिविचाप्सरोभिरुक्त प्रकारेण उपभुज्यतेस्म । द्वयमपि तदेकस्मिन्नेव काले सम्भवत्– इति विचित्रम् । त [।] दं [ऽ] ह्रि [।] प [।] रि [।] ता [ऽ] ड [।] नं [ऽ] स [।] र [।] भ [।] सं [ऽ] क [।] चा [ऽ] क [ऽ] र्ष [।] णं [ऽ] स्वे [ऽ] च्छ [।] या [ऽ] चो [ऽ] र्जि [।] तम् [ऽ] इति लक्षण समन्वयः । इत्थं त्रयोविंशत्यक्षरायाः विकृतिजातेः सप्त भेदा वर्णिताः । प्रस्तारगत्यातु अस्याः ८३८८६०८ भेदा भवन्ति । तदुक्तं भरतेन ज्ञेयाशतसहस्राणामशीतिस्त्र्याधिका बुधैः । अष्टाशीति सहस्राणि वृत्तानां षट्छतानि च । अष्टौ चैवतु वृत्तानि विकृत्यां गदितानि तु ।। (भ. ना. शा. १४.७३) अ० २, सू० ३६४ १ ।। २३.७ ।। इति विकृतिः ।।

संकृतौ भ्तौ न्सौ भौ न्यौ तन्वी ठैः ।। ३६५ ।।

भतनसभभनयाः । ठैरिति द्वादशभिर्यतिः । यथा– दन्तमयूखाः शशधररुचयो वागमृतं रतिरमणधनुर्भ्रूर्, लोचनलक्ष्मीस्तुलयति कमलं नूतनविद्रुमसुहृदधरश्च । चम्पकगर्भप्रतिकृति च वपुर्हसगतेरनुहेरति च यातं, वच्मि विशेषं कमपरमथवा रम्यमहो किमिव हि न हि तन्व्याः ।। ३६५.१ ।।

अथ चतुर्विंशत्यक्षरां संकृति जातिं वर्णयितु मुपक्रमते संकृतौ भ्तौ न्सौ भौ न्यौ तन्वी ठैरिति, विवृणोति– भतनसभभनयाः । ठैरिति द्वादशभिर्यतिरिति ।

भगण-तगण-नगण-सगणा-भगणद्वयं नगण-यगणौ ऽ।।.ऽऽ।.।।।.।।ऽ.ऽ।।.ऽ।।.।।।. ।ऽऽ. इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य द्वादशभिर्यतिर्यत्र तत् तन्वी नामकं संकृति जातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- दन्त मयूखा** इति। **तन्व्याः** कृशाङ्ग्याः: **दन्तमयूखाः** दशनकिरणाः **शशधररुचयः** चन्द्रकान्तयः **वाक्** वचनम् **अमृतम्** अमृतवत्सुखकरम्, **भ्रूः** भ्रुकुटिः **रतिरमणतनुम्** कामदेवचापतुल्यम्, **लोचनलक्ष्मीः** नेत्र शोभा **कमलं** पद्मम् **तुलयति** समतां नयति **अधरः** अधरोष्ठं **च नूतनविद्रुमसहृत्** नवीनविद्रुमसदृशम्, **वपुः** शरीरं **च चम्पकगर्भप्रतिकृति** चम्पकस्य स्वनामख्यात पुष्पस्य **गर्भः** अन्तः प्रदेशस्तस्य **प्रतिकृति** समानाकारम्, यातं गमनं च **हंसगतेः** मराल-गमनस्य **अनुहरति** अनुकरोति, **अपरम्** इतोभिन्नं **कं विशेषं** आधिक्यं **वच्मि** कथयामि, अथवा **किमिव** नहि **रम्यम् अहो** सर्वमेव तस्य रम्य-मित्याश्चर्यमित्यर्थः। रत्यङ्गान्युपरिष्टाद्वर्णितानि तेषां **रम्यत्वं** किमुवक्तव्यं सर्वमेवतत्सम्बन्धि रम्यमेवेति भावः। द [ऽ] न्त [।] म [।] यू [ऽ] खाः [ऽ] श [।] श [।] ध [।] र [।] रु [।] च [।] यो [ऽ]; वा [ऽ] ग [।] मृ [।] तं [ऽ] र [।] ति [।] र [।] म [।] ण [।] ध [।] नु [ऽ] भ्रूः [ऽ] इति द्वादशभिर्यत्या लक्षण सङ्गतिः॥ ३६५.१॥

नौ म्नौ ज्नौ न्यौ ललितलता छछैः॥ ३६६॥

ननमनजननयाः। छछैरिति सप्तभिः सप्तभिर्यतिः यथा- परिमलविलु-ठन्मधुकरकबरी- विरचितनिरवधिशोभाम्, अभिनवकुसुमस्मितसुभगरुचिं मृदुतरकिसलयपाणिम्। इह मधुसमये विलसति नियतं मनसिजशरपरिविद्धस्, तनुललितलतायुवतिमयमहो कलयति मलयसमीरः॥ ३६६.१॥

द्वितीयं प्रकारमाह- **नौ म्नौ ज्नौ न्यौ ललितलता छछैरिति**। विवृणोति **ननमनजननयाः**। **छछैरिति सप्तभिः सप्तभिर्यतिरिति**। नगणद्वयं भगणनगणौ जगणः नगणद्वयं यगणश्च- ।।।.।।।.ऽ।। ।।।.।ऽ। ।।।.।।।.।ऽऽ इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य सप्तभिः सप्तभिश्च यतिर्यत्र तत् ललितलता नामकं संकृति जाति-च्छदः इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- परिमलेति**। **इह** अस्मिन् **मधुसमये**

वसन्ते **मनसिजशर परिविद्धः** कामबाण पीडितः **मलयसमीरः** मलयाचल-निर्गतो वायुः **नियतं** निश्चितं **विलसति** कामक्रीडामाचरति कथमित्याह- **मरिमलविलुब्धमधुकरकबरीविरचितनिरवधिशोभाम्** परिमलेन सौरभेणविलुब्धतो ये मधुकरास्ते **कबरी** केशपाश इवेति तया विरचिता विहिता निरवधिः असीमा शोभा ययाताम्, **अभिनवकुसुमस्मितसुभगरुचिम्** नूतनपुष्पमेवस्मितस्य सुभगारुचिः **यस्याः** ताम् **मृदुतरकिसलयपाणिम्** **मृदुतरोऽतिकोमलः** किसलयएव पाणिर्यस्याः ताम् **तनुललितलतायुवतिम्** **तन्वी** कृशाललिता मनोज्ञालतैव युवतिः ताम् **अयं** (**मलयसमीरः**) **कलयति** स्वाधीनां करोति। लतेयं कामिनीव पूर्वोक्त सर्वावयवरम्या तामयं स्ववशे करोतीति, तया सह विलसतीवेति भावः। प [।] रि [।] म [।] ल [।] वि [।] लु [।] ब्ध [s], म्म [।] धु [।] क [।] र [।] क [।] ब [।] री [s], वि [।] र [।] चि [।] त [।] नि [।] र [।] व [।] धि [।] शो [s] भां [s] इति सप्तभिः सप्तभिश्चयत्या लक्षणसङ्गतिः ॥ ३६६.१ ॥

नौ रूर्मेघमाला ॥ ३६७ ॥

नगणद्वयं रगणषट्कं च। यथा- त्रिभुवनविजयाय बद्धाभिमानस्य शृङ्गारयोनेः प्रयाणक्षणे, कनकघटितदण्डमेतत्किमाभाति नीलातपत्रं लसत्सर्वतः। नवतपविगमश्रिया दीप्रदीपेऽथ किं कज्जलार्थं धृतं कर्परं, भ्रममिति विदधाति वीक्ष्योन्नतां मेघमालां जनो विद्युतालंकृताम् ॥ मृङ्गञ्जनीलालकेत्येके ॥ ३६७.१ ॥

तृतीयं प्रभेदमाह- नौरूर्मेघमालेति। विवृणोति- नगणद्वयं रगणषट्कं-चेति। तथा च ।।।.।।। sis.sis.sis sis.sis.sis. इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् मेघमालानामकं संकृति जातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- त्रिभुवनेति। जनः** लोकः **त्रिभुवनविजयाय** त्रिलोकीं जेतुं **बद्धाभिमानस्य** कृताहंकारस्य **शृङ्गारयोनेः** कामदेवस्य **प्रयाणक्षणे** यात्रा समये **कनक-घटितदण्डम्** सुवर्णविरचितदण्डं, **सर्वतः** सर्वस्यां दिशि लसत् शोभमानं **नीलातपत्रम्** नीलवर्णं छत्रम् **एतत्** दृश्यमानम् **आभाति** शोभते **किम्**

अथ अथवा नवतपविगमश्रिया नवा नूतना **तपविगमस्य** प्रावृषः श्रीः शोभा तया **दीप्रदीपे** प्रज्ज्वलत्प्रदीपे **कज्जलार्थम्** अञ्जननिर्माणार्थं **घृतं** स्थापितं **कर्परं** मृत्पात्रखण्डं किम् ? इति **विद्युता** सौदामिन्या अलंकृताम् शोभिताम् **मेघमालां** घनपतलीं **वीक्ष्य** अवलोक्य **भ्रमं** सन्देहं **विदधाति** धारयति । विद्युता सह मेघमालोक्य- तस्मिन् कश्चिज्जनः सुवर्णदण्डयुक्तं नीलवर्णं छत्रस्य कामेन विजयप्रयाणसमये घृतस्य भ्रमं विदधाति, तत्र विद्युत् दण्डाकारा मेघमाला च छत्राकारा-मता । अपरञ्च प्रावृट्श्रिया (स्त्रीत्वेनाध्यवसितया) कज्जलस्य निर्माणार्थं विद्युद्रूपेदीपे घृतं कज्जल-पात्रमेतदिति भ्रमं विदधातीति भावः । त्रि [।] भु [।] व [।] न [।] वि [।] ज [।] या [ऽ] य [।] ब [ऽ] द्धा [ऽ] भि [।] मा [ऽ] न [ऽ] स्य [।] शृं [ऽ] गा [ऽ] र [।] यो [ऽ] नेः [ऽ] प्र [।] या [ऽ] ण [ऽ] क्ष [।] णे [ऽ] इति लक्षण समन्वयः । अस्य नामान्तरमाह- **भृङ्गाञ्जनीलालकेत्येके** इति । एके आचार्या इदं भृङ्गाञ्ज नीलालकेत्यादुरित्यर्थः ॥ अ० २, सू० ३६७ १ ॥

भृः सुभद्रम् ॥ ३६८ ॥

भूरिति भगणाष्टकम् । यथा शौर्यमृगेन्द्र चुलुक्यनरेन्द्र महत्त्वगिरीन्द्र गभीरिमसागर, दोष्णि चिरं निखिलाचलसिन्धुयुत वसुधावलयं तव बिभ्रति । अद्भुतभारपरिश्रममुक्ति- समुच्छवसितो भुजगाधिपतिस्त्वयि, शंसति संतत-मेव सुभद्रमखण्डमहोदयमस्त्विति संप्रति ॥ ३६८.१ ॥

चतुर्थं प्रकारमाह- **भृः सुभद्रमिति** । विवृणोति भूरिति **भगणाष्टक-मिति** । तथा च ऽ।।.ऽ।।.ऽ।।.ऽ।। ऽ।।.ऽ।।.ऽ।। ऽ।।. इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् सुभद्रं नाम संकृति जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा-शौर्यमृगेन्द्रेति** । हे **शौर्यमृगेन्द्र ! शौर्येण** पराक्रमेण मृगेन्द्रः सिंह इवेति तत्सम्बोधनम्, **महत्त्वगिरीन्द्र** महत्त्वेन वैपुल्येन गिरीन्द्रः पर्वतः इवेति तत्सम्बोधनम्, **गभीरिम सागर ! गभीरिम्णा** गाम्भीर्येण सागरः समुद्र इवेति गभीरिमसागरः तत्सम्बोधनम् हे चुलुक्यनरेन्द्र ! **तव** भवतः **दोष्णि** बाहौ **निखिलाचलसिन्धुयुतं** सकलपर्वतसागरसहितं **वसुधावलयं** भूमण्डलं

चिरं बहुकालं बिभ्रति धारयति सति **अद्भुतभारपरिश्रममुक्ति-समुच्छ्वासितः** अद्भुतेन सर्वाश्चर्यंकरेण भारेण यः परिश्रमं तस्मात् या **मुक्तिः** तया **समुच्छ्वासितः** जातोच्छ्वासः **एष भुजगाधिपतिः** शेषनागः **त्वयि** भवति **सम्प्रति** गच्छति समये **अखण्डमहोदयम्** अखण्डः सकलः महोदयः यस्मिंस्तत् **सुभद्रम्** सुकल्याणम् **अस्तु** इति **सततं** सर्वदा **शंसति** कथयति । सपर्वतसागरां भहीं बिभ्राणः शेषनागो भारेण परिश्रान्त स्त्वया तस्याः स्वभुजेन धारणे कृते श्रमविमुक्त्या जातोच्छ्वासः त्वां सुभद्राशीर्मिरभिनन्दयतीति भावः । शौ [ऽ] र्य [।] मृ [।] गे [ऽ] न्द्र [।] चु [।] लु [ऽ] क्य [।] न [।] रे [ऽ] न्द्र [।] म [।] ह [ऽ] त्व [।] गि [।] री [ऽ] न्द्र [।] ग [।] भी [ऽ] रि [।] म [।] सा [ऽ] ग [।] र [।] इति लक्षणसंगतिः ॥ अ० २, सू० ३६८.१ ॥

भितनिसा द्रुतलघुपदगतिः ॥ ३६९ ॥

भत्रयं तगणो नत्रयं सश्च । यथा– मुञ्चत नूपुरकङ्कणकाञ्चीः क्वणितभर-विरचितकलकलाः, स्वीकुरुताशुगतिं समयोऽयं न खलु समदगजललितगतेः । संभ्रमवान् स्ववधूरनुशासद्विरिसरिदभिमुखमतिकृपणः, संप्रति सिद्धपते तव याति द्रुतलघुपदगति रिपुनिवहः ॥ ३६९.१ ॥

पञ्चमं प्रभेदमाह– भितनिसा द्रुतलघुपदगतिरिति । विवृणोति– भत्रयंतगणो नत्रयं सश्चेति । भगणत्रयं सगणश्च ऽ।।.ऽ।।.ऽ।। ऽऽ।.।।।.।।।.।।।.।।ऽ. इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् द्रुतलघुपदगतिनामकं संकृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– मुञ्चतेति** । हे **सिद्धपते** ! सिद्धराज ! **सम्भ्रमवान्** भीतः त्वरितश्च **अतिकृपणः** परमदीनः **तव** भवतः **रिपुनिवहः** शत्रु समूहः **सम्प्रति** त्वदभियानसमये, **क्वणितभरविरचितकलकलाः** क्वणितभरेण गुञ्जनबाहुल्येन विरचितः कृतः कलकलः कोलाहलो याभिस्तथाभूताः **नूपुर-कङ्कणकाञ्चीः** नूपुरे मञ्जीरे, कङ्कणे वलये काञ्ची रसना चेति ताः **मुञ्चत** त्यजत, **आशु गतिं** शीघ्रगमनं **स्वीकुरुत** आश्रयत, **अयं** साम्प्रतिकः समयः कालः **समदगजललितगतेः** मत्तकरिमनोज्ञगमनस्य **न खलु** नास्ति निश्चयेन,

इदम् इत्थम् **स्ववधूः** स्वाङ्गनाः **अनुशासत्** शिक्षयन् **गिरिसरिदभिमुखं** पर्वतनदी ममिलक्ष्य **याति** गच्छति । त्वयाभियुक्तः पलायमानः तव शत्रुः स्वस्त्रियः इत्थं शिक्षयन्- गिरिनदीममिसरति- यत्- चरणहस्त श्रोणीतटाश्रितानि शब्दं कुर्वन्ति- भूषणानि मुञ्चत- अन्यथा तच्छब्दं श्रुत्वापि सिद्धराजसैन्यानि मम गतिं जानीयुः, किंच त्वरितं व्रजत- नायं समयो मन्दगतेरिति । मु [ऽ] ञ्च [।] त [।] नू [ऽ] पु [।] र [।] कं [ऽ] क [।] ण [।] का [ऽ] श्रीः [ऽ] क्क [।] णि [।] त [।] भ [।] र [।] वि [।] र [।] चि [।] त [।] क [।] ल [।] क [।] लाः [ऽ] इति लक्षण समन्वयः ॥ अ० २, सू० ३६९ १ ॥

न्यौ भ्तौ निसौ संभ्रान्ता ॥ ३७० ॥

नयभता नगणत्रयं सश्च । यथा- रचयतु जन्मस्नानविधौ वस्त्रिजगदधिपचरमजिनपतेः, सुरपतितुङ्गोत्सङ्गनिषण्णस्य किमपि बलविलसितमतुलम् । मृ चरणाङ्गुष्ठाग्रसमाक्रान्तिविधुरचलितकनकशिखरिस्फुटभयसंभ्रान्तामरयक्षोरगपति निखिलदुरितदलम् ॥ ३७०.१ ॥

षष्ठं प्रभेदमाह- न्यौ भ्तौ निसौ संभ्रान्तिति । विवृणोति- नयभता नगणत्रयं सश्चेति । नगण-यगण-भगण-तगणा नगणत्रयं सगणश्च ।।। ।ऽऽ.ऽ।। ।।।.।।।.।।।.।।ऽ. इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् सम्भ्रान्ता नामकं संकृति जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- रचयत्विति । सुरपतितुङ्गोत्सङ्गनिषण्णस्य** सुरपतेरिन्द्रस्य तुङ्गोत्सङ्गे उच्चैः क्रोडे निषण्णस्य उपविष्टस्य **त्रिजगदधिपचरमजिनपतेः** त्रिलोकीभर्तुं अन्तिम तीर्थंकरस्य महावीर स्वामिनः **जन्मस्नानविधौ** जन्मकालिकाभिषेक विधि समये **मृदुचरणाङ्गुष्ठसमाक्रान्ति विधुरचलित कनकशिखरि- स्फुटभयसम्भ्रान्तामरयक्षोरगपति** मृदुः कोमलो यः चरणाङ्गुष्ठः तस्याग्रेण या समाक्रान्तिः तया विधुरः पीडितोऽतएव चलितः कम्पितो यः कनकशिखरी सुमेरुः तस्माद् स्फुटेन स्पष्टेन भयेन सम्भ्रान्ताः भीताः अमराणां यक्षाणामुरगाणां च पतयो यस्मिंस्तत् **किमपि** अनिर्वचनीयम्- **अतुलम्** असमम् **बलविलसितम्**

पराक्रम क्रीडितम् वः तद्रक्तानाम् **निखिलदुरितदलनम्** सर्वपापसहारम् रचयतु करोतु। र [।] च [।] य [।] तु [।] ज [ऽ] म [ऽ] स्ना [ऽ] न [।] वि [।] द्यौ [ऽ] व [ऽ] स्रि [।] ज [।] द [ऽ] धि [।] प [।] च [।] र [।] म [।] जि [।] न [।] प [।] तेः [ऽ] इति लक्षण समन्वयः ॥ अ० २, सू० ३७०.१ ॥

म्सौ ज्सौ तौ भ्रौ विभ्रमगतिः ॥ ३७१ ॥

मसजसततभराः । यथा– दृष्ट्वा त्वत्पृतनातुरंगमखुरोद्धूतं धरित्रीरजो गगनाङ्गणे, तत्तद्भूतिमतीं विहाय सपदि स्वां राजधानीमपि प्रियजीविताः। गच्छन्तोऽनुगिरीन् पलायनविधिप्रत्यूहहेतुं मुहुः सहचारिणां, दाराणां कलहंसविभ्रमगतिं निन्दन्ति चौलुक्यचन्द्र तवारयः ॥ ३७१.१ ॥

सप्तमं प्रभेदमाह– म्सौ ज्सौ तौ भ्रौ विभ्रमगतिरिति । विवृणोति– मसजसततभराः इति मगण-सगण-जगण-सगणाः तगणद्वयं भगण रगणौ च SSS.।।S.।S। ।।S SS। SS।.।।S S।S. इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् विभ्रमगतिनामकमनुष्टुब्जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– दृष्ट्वेति** । **हे चौलुक्यचन्द्र** ! चुलुक्यनृपवंशप्रकाश, **प्रियजीविताः** प्रियं सर्वापेक्षयाऽभीष्टं जीवितं जीवनं येषां तथा भूताः **तव** भवतः **अरयः** शत्रवः **गगनाङ्गणे** आकाशे **त्वत्पृतनातुरङ्गमखुरोद्धूतं** त्वत्सैन्यहयखुरोत्थापितं **धरित्रीरजः** पृथ्वी धूलिं दृष्ट्वा विलोक्य **तत्तद्भूतिमतीं** तथाविधसर्वसम्पत्समृद्धां **स्वां** स्वकीयां **राजधानीमपि** राज्यदुर्गमपि **विहाय** त्यक्त्वा **गिरीन्** पर्वतान् **अनु** अभिमुखं **गच्छन्तः पलायनविधि प्रत्यूहहेतुं** पलायनकार्यप्रतिबन्धकारणभूतां **सहचारिणां** सहगच्छन्तीनां दाराणां पत्नीनां **कलहंसविभ्रमगतिं** कलहंसानां मरालानां विभ्रमगतिमिव विभ्रमगतिम् सविलासगमनं **मुहुः** वारंवारं **निन्दन्ति** कुत्सयन्ति । तवाक्रमणं दृष्ट्वा सर्वसम्पत्समृद्धमपि निजावासं परित्यज्य पद्भिर्गच्छन्तस्तव शत्रवः मन्दं सविभ्रमं च गच्छन्तीनां पत्नीनां पलायने विघ्नं सम्भाव्य तास्त्वरयन्तीत्यर्थः । दृ [ऽ] ष्ट्वा [ऽ] त्वत् [ऽ] पृ [।] त [।] ना [ऽ] तु [।] रं [ऽ] ग [।] म [।] खु [।] रो [ऽ] द्धू [ऽ]

तं [ऽ] ध [।] रि [।] त्री [ऽ] र [।] जो [ऽ] ग [।] ग [।] ना [ऽ] ङ्ग [।] णे [ऽ] इति लक्षण समन्वयः ॥ अ० २, सू० ३७१.१ ॥ इत्थं चतुर्विंशत्यक्षरायाः संकृतिजातेः सप्तभेदा उक्ताः । प्रस्तारगत्यातु १६७७७२१६ भेदा भवन्ति । तदुक्तं भरतेन- "तथा शतसहस्राणि सप्तषष्टिश्च, सप्ततिः । सप्तचैव सहस्राणि, षोडश, द्वेशते तथा ॥ कोटिश्चैवेहवृत्तानि संकृतौ कथितानि वै ।" (भ० ना० शा० १४.७४) इति संकृतिः ।

अभिकृतौ भ्मस्मनीगाः क्रौञ्चपदा ङ्जैः ॥ ३७२ ॥

भमसमा नगणचतुष्टयं गुरुश्च । ङ्जैरिति पञ्चभिः पञ्चभिरष्टभिश्च यतिः । यथा- प्रोज्झ्य पुराणि त्वद्भययोगान्नृपवर भवदरिरतिशयविधुरो दूरमरण्यं प्राप्य कलत्रैः सह समजनि गतिरयवशतृषितः । सारसनादात् स स्वयमादौ प्रसरति कियदपि भुवमथ सहसा, प्रेक्ष्य चकोरक्रौञ्चपदाङ्कां ध्रुवमिह सरिदिति निगदति दयिताः ॥ ३७२.१ ॥

अथ पञ्चविंशत्यक्षरामभिकृतिं जातिं वर्णयितु मुपक्रमते- **अभिकृतौ भ्मस्मनीगाः क्रौञ्चपदा ङ्जैरिति** । विवृणोति **भ-म-सभा नगण-चतुष्टयं गुरुश्च** । **ङ्जैरिति** पञ्चभिः पञ्चभिरष्टभिश्च यतिरिति । भगण-मगण-सगण-भगाः नगणचतुष्टयं गुरुश्च ऽ।। ऽऽऽ ।।ऽ ऽ।। ।।।.।।। ।।।.।।।.ऽ इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य पञ्चभिः पञ्चभिरष्टभिश्च यतिर्यत्र तत् क्रौञ्चपदा नामकमभिकृति जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा-** प्रोज्झ्य पुराणीति । **हे नृपवर ! अतिशयविधुरः** परमदुःखितः **भवदरिः** तव शत्रुः **त्वद्भययोगात्** त्वत्तो भीतेः **पुराणि** नगराणि **प्रोज्झ्य** त्यक्त्वा **कलत्रैः** अङ्गनाभिः **सह** साकम् **दूरम्** विप्रकृष्टम् **अरण्यं** वनं **प्राप्य** गत्वा **गतिरयवशतृषितः** गमनवेगवशात् पिपासितः **समजनि** जातः, **आदौ** प्रथमं **स** शत्रुः **स्वयम्** आत्मनैकाकी **सारसनादात्** सारसपक्षिशब्दमाकर्ण्य **कियदपि** किञ्चिद्दूरं **प्रसरति** अग्रे गच्छति **अथ** अनन्तरं सहसा **अकस्मात्** **चकोरक्रौञ्चपदाङ्कां** चकोराणां चातकानां **क्रौञ्चानां** कुरराणां पदैः **अङ्कः** चिन्हं यस्यां तादृशीं **भुवं** पृथ्वीं **प्रेक्ष्य** अवलोक्य **इह** अत्र **ध्रुवं** निश्चितं **सरित्** नदी इति

दयिताः प्रियाः प्रति **निगदति** कथयति । त्वद्भयात् पलायमानस्तवारिः प्रथमं कलत्रैः सहैव चलति पश्चात् तृषार्तः कलत्राणि हित्वा स्वयमग्रे गत्वा जलपक्षिपदचिन्हितां भूमिमवलोक्य अत्र समीपे एव सरिदिति स्वस्त्रिय आश्वासयतीति भावः । प्रो [ऽ] ज्झ्य [।] पु [।] रा [ऽ] णि [ऽ], त्व [ऽ] द्भ [।] य [।] यो [ऽ] गात् [ऽ], तृ [।] प [।] व [।] र [।] भ [।] व [।] द [।] रि [।]; र [।] श [।] य [।] तृ [।] षि [।] तः [ऽ] इति लक्षण समन्वयः ।। अ० २, सू० ३७२.१ ।।

नीसभिगा हंसलयो जछैः ॥ ३७३ ॥

नगणचतुष्टयं सगणो भगणत्रयं गुरुश्च । जछैरिति अष्टभिः सप्तभिश्च यतिः । यथा– भवशतविरचितनिरवधिसुकृतैस्त्वत्कृतधर्मपथोऽधिगतः, प्रणयिनि मयि कुरु तदसमकरुणां पश्य सुधारसपूर्णदृशा । अभिमततरमिति वितर जिनपते शक्रफणीन्द्रनरेन्द्रनुत, प्रतिदिनमपि तव पदकमलयुगे देव भवेयमहं सलयः ।। ३७३ १ ।।

द्वितीयं प्रभेदमाह– नीसभिगा हंसलयो जछैरिति । विवृणोति नगणचतुष्टयं सगणो भगणत्रयं गुरुश्च । जछैरिति अष्टभिः सप्तभिश्च यतिरिति । तथा च ।।।.।।।.।।। ।।। ।।ऽ.ऽ।।.ऽ।।.ऽ।।.ऽ. इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य अष्टभिः सप्तभिश्च यतिर्यत्र तत् हंसलयो नामाभिकृति जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– भवशतेति** । **शक्रफणीन्द्रनरेन्द्रनुत !** देवेन्द्र नागेन्द्र मानवेन्द्रैः नुत ! स्तुत **हे जिनपते** ! हे जिनेन्द्र ! **भवशतविरचितनिस्वधिसुकृतैः** जन्मशतविहितासीमपुण्यैः **त्वत्कृतधर्मपथः** त्वदाख्यातधर्ममार्गः **अधिगतः** आश्रितः **तत्** तस्मात् **प्रणयिनि** श्रद्दधाने **मयि** जीवे असम **करुणां** अनुपमदयां कुरु विधेहि, **सुधारसपूर्णदृशा** अमृतजलभरितदृष्टया **पश्य** अवलोकय, **प्रतिदिनम्** प्रत्यहः अपि **तव** भवतः **पदकमलयुगे** चरणाविन्दद्वन्द्वे **अहं सलयः** सैकाग्रतः **भवेयम्** स्याम् **हे देव ! इति** इत्थंभूतं **अभिमततरं** वाञ्छिततरं **वितर** देहि । अनेकजन्मार्जित पुण्यजातैरहं त्वदीयं समयं प्रपन्नः । इति प्रसन्नः करुणां विधाय, ददस्व वै पादयुगे सुभक्तिमिति भावः । म [।] व [।]

श [।] त [।] वि [।] र [।] चि [।] त [।], नि [।] र [।] व [।] धि [।] सु [।] कृ [।] तैः [s]; त्व [s] स्कृ [।] त [।] ध [s] र्मं [।] प [।] थो [s] धि [।] ग [।] तः [s] इति लक्षण समन्वयः ॥ अ० २, सू० ३७३.१ ॥

त्यौ भौ नीगौ हंसपदा ऄैः ॥ ३७४ ॥

तयभभा नगणचतुष्टयं गुरुश्च । ऄैरिति दशभिर्यतिः । यथा- अम्भोजवनं व्याकोशमिदं सलिलमतिविमलमिति वनसरसि, भ्रान्तोऽपि हि मा कार्षीर्गमनं यदिह विचरति हरिणशिशुनयना । तस्या अतिरम्यां वीक्ष्य गतिं निरुपमिति-मतिशयमधिगतवतीं, ह्रीतः सपदि त्वं हंसपदात् पदमपि चलसि न खलु नियतमदः ॥ ३७४.१ ॥

तृतीयं प्रभेदमाह- त्यौ भौ नीगौ हंसपदा ऄैरिति । विवृणोति- **तयभभा नगणचतुष्टयं गुरुश्च** । ऄैरितिदशभिर्यतिरिति तगण-यगणौ भगणद्वयं नगण चतुष्टयं गुरुश्च ऽऽ। ।ऽऽ ऽ।। ।ऽ। ।।। ।।। ।।। ऽ इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य दशभिश्च यतिर्यत्र तत् हंसपदानामकमभिकृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- अम्भोजवनमिदमिति । हे हंस** ! मराल ! **इदम्** दृश्यमानम् **अम्भोजवनम्** कमलषण्डं **व्याकोशम्** प्रफुल्लम् **सलिलं** जलम् **अतिविमलम्** परमस्वच्छम् **इति** हेतोः **वनसरसि** विपिनमध्यस्थजलाशये **भ्रान्तः** अपि भ्रमपरीतोऽपि **गमनं मा कार्षीः** न कुर्याः, **यत्** यस्मात् **इह** वनसरोऽन्तिके **हरिणशिशुनयना** मृगशावकलोचना **विचरति** भ्रमति, **तस्याः** मृगनयनायाः **अतिरम्यां** परमरमणीयां **अतिशयं** अत्यन्तं यथास्यात् तथा **निरुपमितिम्** उपमान शून्यताम् अधिगतवतीं प्राप्तां **गतिं** गमनरीतिं वीक्ष्य अवलोक्य, **ह्रीतः** लज्जितः सपदि तत्कालमेव **नियतमदः** नियन्त्रितगर्वः सन् **त्वं पदात्पदम्** प्रथमाश्रितस्थानात्- पदमात्रम्- अपि **न चलसि** चलिष्यसि- वर्तमानसामीप्यात् वर्तमानाप्रत्ययः । इह त्वद्गतिजयिनी मृगनयना तव मदं हरिष्यतीति तत्र मा गा इति भावः । अ [s] भो [s] ज [।] व [।] नं [s] व्या [s] को [s] श [।] मि [।] दं [s]; स [।] लि [।] ल [।] म [।]

ति [।] वि [।] म [।] ल [।] मि [।] ति [।] व [।] न [।] स [।] र [।] ति [।] (भ्रान्त इति संयुक्ते गुरुत्वात्) दशभिर्यत्या लक्षण समन्वयः ॥ अ० २, सू० ३७४.१ ॥

न्जज्या नीगौ चपलम् ॥ ३७५ ॥

नजजया नगणचतुष्टयं गुरुश्च । यथा– क्वचिदपि चूतलतामुपभुङ्क्ते क्वचिदपि पिबति विचकिललतां, क्वचिदपि चुम्बति माधविकां च क्वचिदपि परिसरति च लवलीम् । बहुविधपुष्पसमृद्धिनिधाने विलसति नवतरमधुसमये, चपलभुजंग-विलासमजस्रं कलयति मधुकर इह मुदितः ॥ ३७५.१ ॥

चतुर्थं प्रकारमाह– अन्जज्या नीगौ चपलमिति । विवृणोति– नजजया नगण-चतुष्टयं गुरुश्चेति । नगणो जगणद्वयं यगणः नगणचतुष्टयं गुरुश्चेति ।।।. ।ऽ।. ।ऽ।. ।।ऽ. ।।।. ।।।. ।।।. ।।।. ऽ. इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् **चपलं** नामाभिकृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– क्वचिदपीति । बहु-तरपुष्पसमृद्धिनिधाने** बहुतराणाम् अनेकविधानां पुष्पाणां कुसुमानां समृद्धेः सम्यक् सम्पत्तेः **निधाने** आकरे **इह** अस्मिन् **नवतरमधुसमये** सद्यः प्रवृत्त-वसन्तकाले **विलसति** शोभमाने सति **मुदितः** प्रसन्नः मधुकरः भ्रमरः **क्वचिदपि** कुत्रचित्प्रदेशे **चूतलताम्** आम्रवल्लीम् **उपभुंक्ते** सेवते, **क्वचिदपि** परत्र कुत्रचित्स्थाने **विचकिललतां** स्वनाम्नाख्यातां वल्लीं **पिबति** आस्वा-दयति, **क्वचिदपि च** अन्यस्थानेषु **माधविकां** माधवीलतां **चुम्बति** वक्त्रेण योजयति, **क्वचिदपि च** कस्मिंश्चित् प्रदेशे च **लवलीम्** प्रियङ्गुलताम् **परिसरति** परितो भ्रमति (इति) **अजस्रं** संततं **चपलभुजङ्गविलासम्** चपलस्य कामिनीषुदर्शित चाञ्चल्यस्य भुजङ्गस्य वेश्यास्वामिनो विलासं लीलां **कलयति** स्वीकरोति । वेश्यासु यथा भुजङ्गा बह्वीभिः सह यथेच्छं क्रीडन्ति तथा भ्रमरोऽपि विविधाभिर्लताभिः सह विलसतीति भावः । क्व [।] चि [।] द [।] पि [।] चू [ऽ] त [।] ल [।] ता [ऽ] मु [।] प [।] भुं [ऽ] क्ते]ऽ] क्व [।] चि [।] द [।] पि [।] पि [।] ब [।] ति [।] वि [।] च [।] कि [।] ल [।] ल [।] तां [ऽ] इति लक्षण समन्वयः । इत्थं पञ्चविंशत्य-क्षरायाः अभिकृति जातेश्चत्वारो भेदा निरूपिताः । प्रस्तारगत्यातु ३३५५४४६२

इति संख्या भवति । तदुक्तं भरतेन- तथा शत सहस्राणि पञ्चविंशच्च संख्या । तिस्रः कोट्यः, सहस्राणि चतुष्पञ्चाशदेव च । शतानि चत्वारि तथा द्वात्रिंशत्प्रविभागतः । वृत्तान्यभि कृतौ चैव छन्दोज्ञैः कथितानि वै ।। इति (भ० ना० शा० १४.७६) ।। ३७५.१ ।। इत्यभि कृतिः ।

उत्कृतौ मौ तो निरसलगा भुजंगविजृम्भितं जटैः॥३७६॥

ममता नगणत्रयं रसलगाः । जटैरिति अष्टाभिरेकादशभिश्च यतिः । यथा- क्वापि स्वैरं क्रूरक्रीडन्महिषशतमचकित चरत्कुरंगकुलं क्वचित्, क्वापि क्रीडाव्यग्रक्रोड क्वचिदपि मदजडविहरन्मतंगजसंकुलम् । सिंहक्ष्वेडारौद्रं क्वापि क्वचिदपि विषविषममहाभुजंगविजृम्भितं, श्रीचौलुक्यक्षोणीनाथ स्फुटमजनि भवदरिमहीभुजामधुना पुरम् ।। ३७६.१ ।।

अथ षड्विंशत्यक्षरामुपकृतिजातिं वर्णयितुमुपक्रमते- **उत्कृतौ नौ तो निरसलगाभुजङ्गविजृम्भितं जहैरिति** । विवृणोति ममता नगणत्रयं रसलगाः । जटैरिति अष्टाभिरेकादशभिश्च यतिरिति । मगणद्वयं नगणः नगणत्रयं रगणसगौ लघुगुरू च sss.sss ।।s.।।।.।।।.।।। sis.।।s.is इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य अष्टाभिरेकादशभिश्च यतिर्यत्र तत् भुजङ्गविजृम्भितं नामोत्कृति जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- क्वापिस्वैरमिति** । **श्रीचौलुक्यक्षोणीनाथ** ! चुलुक्यवंशोद्भव ! राजन् ! **अधुना** सम्प्रति **भवदरिमहीभुजाम्** त्वच्छत्रुनृपाणां **पुरम्** नगरम् **क्वापि** कुत्रचित्प्रदेशे **स्वैरं** स्वच्छन्दं **क्रूरक्रीडन्महिषशतम्** क्रूरं घोरं यथास्यात्तथा क्रीडन्ति खेलन्ति महिषशता नियत्र तथाभूतम् **क्वचित्** अन्यत्र- **अचकितचरत्कुरङ्गकुलम्** अचकितं विश्वस्तं यथास्यात्तथा चरन्ति कुरङ्गकुलानि मृगयूथानि यस्मिंस्तथाभूतम्, **क्वापि** क्वचिदपि प्रदेशे **क्रीडाव्यग्र क्रोडं** क्रीडायां लीलायां व्यग्राः व्यस्ताः क्रोडाः शूकरायस्मिंस्तथा भूतम्; **क्वचिदपि** प्रदेशान्तरे **मदजडविहरन्मतंगजसंकुलम्** मदेन दानोद्भेदेन जडैः निष्क्रियै **विहरद्भिः** विलासशीलैर्मतंगजैर्हस्तिभिः संकुलम् व्याप्तम् **क्वापि** प्रदेशे **सिंहक्ष्वेडारौद्रं** सिंहानां **क्ष्वेडाभिः** गर्जितध्वनिभिः रौद्रं भयंकरम्, **क्वचिदपि** प्रदेशे **विषविषममहाभुजंगविजम्भितम्** विषेण विषमाणां भयङ्कराणां महाभुजङ्गानां विजृम्भितम्

ऊर्जितं यत्र तथाविधम् **स्फुटं** स्पष्टम् **अजनि** जातम् । त्वया विद्रावितेषु शत्रुषु तेषां नगरस्यारण्यता संजातेति तत्र नानाविधाः श्यापदा एव निवसन्ति ततस्तैरिद मुक्तरूपं जातमिति भावः । क्रा [ऽ] पि [ऽ] स्वै [ऽ] रं [ऽ] क्रू [ऽ] र [ऽ] क्री [ऽ] ड [ऽ]; न्म [।] हि [।] ष [।] श [।] त [।] म [।] च [।] कि [।] त [।] च [।] रत् [ऽ]; कु [।] रं [ऽ] वा [।] कु [।] लं [ऽ] क [।] चित् [ऽ] इति अष्टाभिरेकादशभिश्च यत्या लक्षण-समन्वयः ॥ अ० २, सू० ३७६।१ ॥

मनूसगगा अपवाहो झचचैः ॥ ३७७ ॥

मो नगणषट्कं सगगाश्च । झचचैरिति नवभिः षड्भिः षड्भिश्च यतिः । यथा– यः श्लाघ्यः प्रतिदिनमपि मदनदहनगरुडगमनचतुरास्याद्यैर्, गेयो यः सुरपतिपरिषदि च किमपि मुदितविबुधरमणीवृन्दैः । चौलुक्यान्वयजलनिधि-हिमकर कियदिह तव नृपवर तस्यैतद्, यत्सवं कृतमरिबलमपरथमपभटमपगज-मपवाहं च ॥ ३७७.१ ॥

द्वितीयं प्रभेदमाह– **मनूसगगा अपवाहो झचचैरिति** । विवृणोति– **मो नगणषट्कं सगगाश्च । झचचैरिति नवभिः षड्भिः षड्भिश्च यति-रिति** । मगणः नगणषट्कं सगणो गुरुद्वयं च 'ऽऽऽ. ।।।. ।।।. ।।।. ।।।. ।।।. ।।।. ।।ऽ. ऽऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य नवभिः षड्भिः षड्भिश्च यति-र्यत्र तत् अपवाहो नामोत्कृतिजातिरित्यर्थः । उदाहरति– यथा– यःश्लाघ्य इति । **यः** त्वम् **प्रतिदिनमपि** प्रतिदिवसमपि **मदनदहनगरुडगमनचतु-रास्याद्यै** मदनस्य दहनः शिवः गरुडेन गमनं यस्य सः विष्णुः चत्वारि आस्यानिमुखानि यस्य सः ब्रह्मा ते आद्याः प्रथमा येषां तादृशैः देवैः **श्लाघ्यः** प्रशस्यः, **यः** त्वं **सुरपतिपरिषदि** इन्द्रसभायाम् **मुदितविबुधरमणीवृन्दैः** 'हर्षित सुराङ्गनासमूहैः **किमपि** अनिर्वचनीयं यथास्यात्तथा **गेयः** गानविष-यीकृतः **च,** हे **चौलुक्यान्वयजलनिधिहिमकर** ! चौलुक्यवंशसागरसंभूत-शशाङ्क ! **नृपवर** ! राजश्रेष्ठ, **तस्य** पूर्वोक्त विशेषणविशिष्टस्य **तव** भवतः **एतत्** अग्रे उच्यमानम् **इह** संसारे **कियत्** किं परिमाणं वर्णनीयम्– **यत् सर्वम्** निखिलम् **अरिबलम्** शत्रुसैन्यम् **अपरथम्** रथशून्यम्, **अपभटम्**

पलायितयोधम् **अपगजम्** निहतकरि **अपवाहम्** यिगतहयं च **कृतम्** रिहितम् । यस्य प्रशंसां देवा अपि कुर्वन्ति तस्या कृते शत्रु सैन्यस्य चतुर्णामप्यङ्गानामु-मूलतं कियदाश्चर्यजनकमिति भावः । यः [ऽ] श्ला [ऽ] घ्यः [ऽ] प्र [।] ति [।] दि [।] न [।] म [।] पि [।], म [।] द [।] न [।] द [।] ह [।] न [।], ग [।] रु [।] ड [।] ग [।] म [।] न [।], च [।] तु [।] रा [ऽ] स्या [ऽ] ह्यैः [ऽ] इति नवभिः षड्भिः षड्भिश्च यत्या लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ३७७ ॥

भो नौ स्मौ निलगा आपीडो डैः ॥ ३७८ ॥

मननसमा नगणत्रयं लघुगुरू च । डैरिति त्रयोदशभिर्यतिः । यथा- पश्य विविधवरविटपिनिकुञ्जश्यामीकृतविपुलतरकटकभूर्, आश्रमशतलसदिभहरिमैत्रीप्रेक्षारसवदमरयुवतिजनः । रैवतकगिरिरयमिह पुरस्ताद्यस्मिन् जिनचरणनमनमिलिता, शेषसुरपतितदमलपुष्पापीडैर्भवति सुगभिरयमनिलः ॥३७८.१॥

तृतीयं प्रभेदमाह- **भो नौ स्मौ निलगा आपीडो डैरिति** । विवृणोति- **भननसमा नगणत्रयं लघुगुरूच । डैरिति त्रयोदशभिर्यतिरिति** । भगणो नगणद्वयं सगण मगणौ नगणत्रयं लघुगुरुच ऽ॥.।॥.।॥.॥ऽ.ऽऽऽ.।॥.।॥.॥॥.।ऽ. इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य त्रयोदशभिश्च यतिर्यत्र तत् आपीडं नामोत्कृति जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- पश्यविविधेति** । **इह** अत्र पुरस्तात् **अग्रे अयं** दृश्यमानः **विविधवरविटपिनिकुञ्जश्यामीकृतविपुलतरकटकभूः** विविधैः नानाप्रकारैः वरविटपिनां श्रेष्ठपादपानां निकुञ्जैः गुल्मैः श्यामीकृता कृष्णवर्णतां नीता विपुलतरा सुमहती **कटकभूः** मेखलाप्रान्तभूमिः यस्य सः **आश्रमशतलसदिभहरिमैत्रीप्रेक्षारसवदभरयुवतिजनः** आश्रमशतेषु अनन्त तपस्विनिवासेषु लसन्ती शोभमाना या **इभहरिमैत्री** गजसिंह सख्यम् तस्य प्रेक्षाया मवलोकने रसवान् औत्सुक्ययुक्तः अमरयुवतिजनः देवतरुणीलोकः यस्मिन् सः, रैवतकगिरिः तदाख्य- पर्वतः अस्ति (तं) **पश्य** अवलोकय **यस्मिन्** पर्वते **अयम्** अनुभूयमानः **अनिलः** वायुः **जिनचरणनमनमिलिताशेषसुरपतिपतदमलपुष्पापीडैः** जिनचर-

णयोः नमनाय प्रणामाय मिलितानाम् संगतानाम् अशेषाणां सर्वेषाम् सुरपतीनाम् इन्द्राणाम् पतन्तः जिनपादयोर्लुप्तौ ये पुष्पापीडाः कुसुमगुम्फाः तैः **सुरभिः** 'सुगन्धिः अस्ति। अग्रे सोऽयं रैवतकगिरिर्यत्र निवसतो जिनपतेः प्रणामार्थमागतानां सुरेन्द्राणां पुष्पमुकुटैः तत्पादपतितैरत्रत्यो वायुः सुरभीकृत इति भावः। प [s] श्य [।] वि [।] वि [।] ध [।] व [।] र [।] वि [।] ट [।] पि [।] नि [।] कु [s] ञ्ज [s]; श्या [s] मी [s] कृ [।] त [।] वि [।] पु [।] ल [।] त [।] र [।] क [।] ट [।] क [।] भूः [s] इति त्रयोदशभिर्यत्यालक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ३७८।१ ॥

न्जौ न्सौ भनिल्गा वेगवती ॥ ३७९ ॥

नजनसभा नगणत्रयं लघुगुरू च। यथा– नभसि मृशं स्तनति भरितदिक्कन्दरमभिनवजलधरपटले, धृतमुदि नृत्यति च मधुरकेकाकलकलजुषि समदशिखिकुले। स्फुटितकदम्बकुटज सुमनः सर्जपरिमलमिलदलिनि च वने, मनसिशये च भुवनजयसंवेगवति वत भवसि पथिक कथम् ॥ ३७९.१ ॥

चतुर्थं प्रकारमाह– न्जौ न्सौ भनिल्गा वेगवतीति : विवृणोति, न-ज-न-सभा नगणत्रय लघुगुरू चेति। नगण-जगण-नगण-सगण-भगणा नगणत्रयं लघुगुरू च '।।।. ।s।. ।।।. ।।s. s।।. ।।।. ।।।. ।।।. ।s.' इतीदृशैरक्षरैः कृता पादा यस्य तत् वेगवती नामकमुत्कृतिजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– नभसीति**। हे पथिक ! नभसि आकाशे **अभिनवजलधर पटले** नूतनपयोदमण्डले **भरितदिक्कन्दरं** भरिताः पूरिताः दिशः कन्दराणि-पर्वतदर्यश्च यस्मिन् तद्यथास्यात्तथा **भृशम्** अत्यर्थं **स्तनति** शब्दायमाने सति, **मधुरकेकाकलकलजुषि** मधुरं मिष्टं केकायाः स्ववाचः कलकलं कोलाहलं जुषते सेवते इति तादृशि **समदशिखिकुले** मत्तबर्हिणसमूहे **धृतमुदि** हर्षयुक्ते **नृत्यति** नृत्यं कुर्वति च, **वने** अरण्ये च **स्फुटिसकदम्बकुटज– सुमनः सजपरिमलमिलदलिनि** स्फुटितानां विकसितानां- कदम्बानां- कुटजानां-सुमनसां-(मालतीनां) सर्जाणां च परिमलैः सौरभैर्हेतुभिः मिलन्तः सङ्गच्छन्तः अलिनो भ्रमरायत्र तादृशे (वर्षा समये) सति, **मनसिशये** कामे **च भुवनजयसंवेग-**

वति लोकविजयसम्भ्रमयुक्ते सति **कथं** केन प्रकारेण **भवसि** वर्त्तसे (वर्त्तिष्यसे) इति **बत** दुःखम्। एतावान् समयो गृहात् बहिः स्थितेन भवता कथं कथमप्यपवाहितश्चेत् अस्तु किन्तु पूर्वोक्त रूपे, वर्षासमये, तवकागति-र्भविता यत्र मदनोजगद्विजयाय त्वरते, तद्विचार्य झटिति गृहं संश्रयेति भावः। न [।] भ [।] सि [।] भृ [।] शं [ऽ] स्त [।] न [।] ति [।] भ [।] रि [।] त [।] दि [ऽ] क्क [ऽ] न्द [।] र [।] म [।] भि [।] न [।] व [।] ज [।] ल [।] ध [।] र [।] प [।] ट [।] ले [ऽ] इति लक्षणसङ्गतिः ॥ ३७९.१॥

नजभजिभ्जलगाः सुधाकलशो ढैः ॥ ३८० ॥

नजभा जत्रयभजलगाः। ढैरिति चतुर्दशभिर्यतिः। यथा- अयमनुनीय सर्वसुरकार्यकृते मम वल्लभेन दिविषत्पतिना, ननु विनियोजितः कवलितश्च ततस्त्रिपुरान्तकृन्नयनहव्य भुजा। इति हृदये विचिन्त्य परिजीवयितुं मकरध्वजं सपदि पूर्वदिशा, नियतमुदासि संप्रति सुधाकलशः परिपूर्णशीतरुचिबिम्ब-मिषात् ॥ ३८० १ ॥

पञ्चमं प्रकारमाह- **नजभजिभ्जलगाः सुधाकलशो ढैरिति**। विवृणोति **नजभा-जलय-भजलगाः। ढैरिति चतुर्दशभिर्यतिरिति**। नगण-जगण-भगणा जगणत्रयं भगण-जगणौ लघुगुरूच ।।।.।ऽ।.ऽ।.।ऽ।.।ऽ।.'ऽ।.।ऽ।.।ऽ। ऽ।.।ऽ।.।ऽ. इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य चतुर्दशभिश्च यतिर्यत्र तत् सुधाकलशो नामोत्कृति जातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति- **यथा- अयमनुनीयेति**। **मम** (पूर्वदिशः) **वल्लभेन** प्रियेण **दिविषत्पतिना** इन्द्रेण **सर्वसुरकार्यकृते** सकलदेवकार्यार्थम् **अनुनीय** अनुकूलयित्वा **अयं** मदनः **विनियोजितः** शिव-विजयार्थं नियुक्तो ननु निश्चयेन, ततः तदनन्तरं **त्रिपुरान्तकृन्नयनहव्यभुजा** त्रिपुरारि-शिव-नेत्र वह्निना **कवलितः** भुक्तः (दग्धः) **च**; इति **हृदये** चित्ते **विचिन्त्य** विचार्य **सपदि** शीघ्रमेव मकरध्वजं कामं **परिजीवयितुं** संजीवयितुं **पूर्वदिशा** प्राच्या ककुभा **परिपूर्वाशीतरुचिबिम्बमिषात्** पूर्ण-चन्द्रमण्डलच्छात् **सम्प्रति** अधुना '**सुधाकलशः**' अमृतपूर्णं कुम्भः **नियतं** निश्चितम् **उदासि** उत्थापितः। पूर्वदिशा- मम प्रियेणेन्द्रेणैव कामः शिव-

विजये नियोजितोऽतएव शिवनेत्राग्निा दग्ध इति तदुज्जीवनाय–मयोद्योगः कार्यं इति विचार्य सुधाकलशमुत्थाप्य तमुज्जीवयितुं प्रयत्यते स– एवायं पूर्णचन्द्रः प्रतिभातीति भावः। अ [।] य [।] म [।] नु [।] नी [ऽ] य [।] स [ऽ] र्वं [।] सु [।] र [।] का [ऽ] र्यं [।] कृ [।] ते [ऽ], म [।] म [।] व [ऽ] त्स [।] भे [ऽ] न [।] दि [।] वि [।] षत् [ऽ] प [।] ति [।] ना [।] इति चतुर्दशभिर्यत्यालक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू० ३८०।१ ॥ इत्थं षड्विंशत्यक्षराया उत्कृति जातेः पञ्चभेदा निरूपिताः प्रस्तारगत्या तु– ३७१०८८६४ भेदा भवन्ति तदुक्तं भरतेन "षट्कोट्यस्तु, सहस्राणां शतानि ह्येकविंशतिः। अष्टौ चैव सहस्राणि शतान्यष्टौ तथैव च। चतुष्पष्टिस्तु हृयुत्कृतावपि संख्यया ॥ इति (भ ना. शा. १४।७८) । इत्युत्कृतिः ॥

इति–उक्तादिजातिप्रकरणम् ॥

अथ शेष-जातिप्रकरणम् ।

शेषजातौ मतिनायि मालाचित्रं ठैः ॥ ३८१ ॥

मस्तगणत्रयं नगणद्वयं यगणत्रयं च एषां समाहारद्वन्द्वः। ठैरिति एकादशभिर्यतिः। यथा– पान्थाः शीघ्रं यात नातः परं वः क्षणमपि यदिह शुभं तत्र गत्वाश्रयध्वं, कान्तां नो चेदत्र तां देवतां स्वां स्मरत सपदि भवतो हन्त संहर्तुंकामः। कालोऽयं जीमूतनामाभ्युपैति स्तनितबधिरितमहीमण्डलश्रवणविद्युन्मालाचित्राम्बुप्रहारीति दूरात् कथयति शिखिनिवहस्तारकेकारवेण ॥ ३८१.१ ॥

षड्विंशत्यक्षरान्ताः सर्वसम्भताश्छन्दो जातयो वर्णिताः ततः परमन्यैर्दण्डका एवोक्ताः किन्तूदाहरणेषु जातिच्छन्दोभिः साम्यदर्शनात्काश्चनान्या अपि जातयः स्वाभिमताः शेषजातित्वेनोक्ताः। तासां वर्णनमुपक्रमते– **शेषजातौ मतिनाभि मालाचित्रं ठैरिति**। मतिनायीति विवृणोति– **मस्तगणत्रयं नगणद्वयं यगणत्रयं च एषां समाहारद्वन्द्व** इति। मकारो मगण परः, तिरिति समानेनैकादिरिति न्यायात्तगणत्रय परः एवं 'ना' इत्याकार विशिष्टत्वान्नगणद्वयपरम्, तथैव 'यि' इति यगणत्रयपरमिति भावः। तेषां समाहारद्वन्द्वभाश्रित्य क्लीबत्वं प्रयुक्तमिति भावः **ठैरिति एकादशभिर्यतिरिति**।

तथा च मगणः तगणत्रयं नगणद्वयं यगणत्रयम् 'sss. ssı. ssı. ssı. ııı. ııı. ıss. ıss. ıss.' इत्येवं प्रकारैः सप्तविंशत्यक्षरै कृताः पादा यस्य एकादशभिश्च यतिर्यत्र तत् मालाचित्रं नाम शेषजातिच्छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा–पान्थाःशीघ्रमिति**। **शिखिनिवहः** मयूरसमूहः **तारकेकारवेण** उच्चतरया केकाख्यवाचा– हे पान्थाः ! प्रवासिनः ! **शीघ्रं** त्वरितं **यात** स्वगृहं गच्छत, **यत्** यस्मात् **इह** प्रवासे **अतः परं** अस्मात्समयादग्रे **वः** युस्माकम् **क्षणमपि** किञ्चित्कालमपि **न शुभम्**– न कल्याणसंभावना। **तत्र** गृहम् **गत्वा** प्राप्य स्वां **कान्तां** प्रियाम् **आश्रयध्वम्** सेवध्वम्, **नो चेत्** यदि सा न स्यात्– अथवा तस्याः सकाशं गन्तुं भवन्तो न समर्थाः (तर्हि) **अत्र** अस्मिन्नेव स्थाने **स्वां** स्वकीयां स्वाराध्यां वा **तां देवताम्** पूर्वोक्तां कान्तारूपां देवतां **स्मरत** रक्षार्थं ध्यायत, (कुत इतिचेदत्राह–) **भवतः** युष्मान् **सपदि** शीघ्रं **सहर्तुकामः** नाशयितुमिच्छन् **स्तनितबधिरितमहीमण्डलः** स्तनितेन गर्जितेन बधिरितं कर्णव्यापाररहितं कृतं महीमण्डलं पृथ्वीतलं येन तथा भूतः **चण्डविद्युन्मालाचित्रास्त्रप्रहारी** चण्डा भीषण विद्युन्मालैव चित्रास्त्रम् अद्भुतशस्त्रं तत्प्रहरतीति तच्छीलः **जीभूतनामा** मेघनामधारी **अयं कालः** यमः (अथ च श्यामवर्णः) **अभ्युपैति** सभागच्छति, **इति** इत्थं **दूरात्** कालस्य संहारव्यापाराद्विप्रकृष्ट पूर्वकालादेव कथयति। मेघागमनं विलोक्य मयूराः तार केकारवं कुर्वन्तीति वस्तुस्थितिः। पान्थानां गृहगमनाय प्रेरणमेव तत्प्रयोजनम्, तस्य हेतुश्च कान्ता विरहिणां तेषां मेघेन संहारसंभावनैवेति उत्प्रेक्षितं कविना। पा [s] न्थाः [s] शी [s] घ्रं [s] या [s] त [।] ना [s] तः [s] प [।] रं [s] वः [s]; क्ष [।] ण [।] म [।] पि [।] य [।] दि [।] ह [।] शु [।] भं [s] त [s] त्र [।] ग [s] त्वा [s] श्र [s] य [s] ध्वं [s] इति एकादशभिर्यत्यालक्षणसंगतिः ॥ अ० २, सू० ३८१।१ ज्ञ

म्तौ य्तौ निर्सलगाः प्रमोदमहोदयो घछटैः ॥ ३८२ ॥

मतयता नगणत्रयं रसलगाश्च। घछटैरिति चतुर्भिः सप्तभिरेकादशभिश्च यतिः। यथा– काप्युद्ग्रीवा प्रास्थित बद्धोत्कण्ठं करकलितशिथिलवसना दधाव च काचन, स्तम्भं दध्रे कापि च काचिच्चासी- दतिशयितबहलपुलकाङ्कुरोज्ज-

सिताङ्किका । काचिच्च के **भूषणमङ्गे काचित् तिलकमकृत नवमलिके चुलुक्य-महीपतौ, यात्रां कृत्वोपेयुषि पौरस्त्रीणां समजनि निरवधिरधुना प्रमोद-महोदयः ॥ ३८२.१ ॥**

यथा वा– वन्द्या देवी पर्वतपुत्री नित्यं मधुमधुरकमलवदना पुरन्ध्रयधि-देवता, देवैः स्तुत्या किंनरगेया भक्त्यावरचरितमहिषमथनी जगत्रयनायिका । सिद्धैर्ध्येया केसरियाना कामं रणचतुररसिकहृदया त्रिलोचनवल्लभा, वीरैः पूज्या दर्पणपाणि नूनं गुणनिलयलटभललिता सतीषु धुरंधरा ॥ ३८२.२ ॥

अथोनत्रिंशदक्षरपादां शेषजातिमुदाहरति– **स्तौ त्तौ निर्सल्गाः प्रमोद-महोदयो घछटैरिति** । विवृणोति– **मतयता नगणत्रयं रसलगाश्च । घछटैरिति चतुर्भिः सप्तभिरेकादशभिश्च यतिरिति** । मगणः तगणः यगणः तगणः नगणत्रयं रगणः सगणः लघुगुरू च 'sss. ssl. lss. ssl. lll. lll. lll. sls. lls. ls.' इतीहशैरूनत्रिंशद्भिरक्षरैः कृताः पादा यस्य, चतुर्भिः सप्तभिरेकादशभिश्च यतिर्यत्र तत् शेषजातिषु प्रमोदमहोदयो नाम वृत्तमित्यर्थः । उदाहरति– **मथा– काऽप्युद्ग्रीवेति । चुलुक्यमहीपतौ** चुलुक्यवंशीये राजनि **यात्रां** पर्यराष्ट्राक्रमणं **कृत्वा** विधाय **उपेयुषि** परावृत्य प्राप्तवति सति **अधुना** सम्प्रति **पौरस्त्रीणां** नगरसुन्दरीणां (तद्दर्शनलालसां) **प्रमोदमहोदयः** आनन्दोत्पत्तिवाहुल्यम् **समजनि** अभूत् । कथमिति चेत्तासां चेष्टा आह– **काऽपि** काचन नागरी **बद्धोत्कण्ठं** संभृतौत्सुक्यं यथास्यात्तथा **उद्ग्रीवा** ग्रीवामूर्ध्वीकृत्य **प्रास्थित** तद्दर्शनाय प्रस्थिता । **काचन च करकलितशि-थिलवसना** हस्तधृत– प्रभ्रश्यद्वस्त्रा (वस्त्रसंयमनविलम्बमसहमाना हस्तेनैव तदलम्बमानेति भावः) **दधाव** द्रुतं ययौ । **कापि च** स्तम्भं चेष्टाशून्यत्वं **दध्रे** धारयामास (अतित्वरया जातः सम्भ्रमा निश्चेष्टा जातेति भावः) **काचिच्च** अन्या **अतिशयितबहलपुलकाङ्कुरोलसिताङ्किका** अतिश-यिताः अतिभूमिं गता बहलाः प्रभूताः ये **पुलकाङ्कुराः** रोमहर्षाः तैरुल्ल-सितम् शोभितम् अङ्गं यस्यास्तादृशी (सात्विकभावोद्रेकात्) आसीत्– अभूत् । **काचित् अङ्गे शरीरे भूषणम्** अलङ्कारं दध्रे धारयामास (जनानां दृष्टावनलङ्कृताया आदराभावमभिलक्ष्य त्वरयाऽलङ्करणं **दधारे**-त्यर्थः) **काचित् अलिके** भाले **नवं** प्रत्यग्रं **तिलकं** विशेषकम् **अकृत**

विरचितवती– इति, एवं भूताचरणैस्तासां प्रमोदमहोदयो ज्ञात इति भावः। का [ऽ] प्यु [ऽ] दग्री [ऽ] वा [ऽ], प्रा [ऽ] स्थि [।] त [।] ब [ऽ] द्धो [ऽ] त्क [ऽ] ण्ठं [ऽ]; क [।] र [।] क [।] लि [।] त [।] शि [।] थि [।] ल [।] व [।] स [।] ना [ऽ]; द [।] धा [ऽ] व [।] च [।] का [ऽ] च [।] न [।] इति चतुर्भिः सप्तभिरेकादशभिश्च यत्या लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ३८२।१ ॥

अस्यैवच्छन्दस उदाहरणान्तरमाह– **वन्द्यादेवी**ति। **पर्वतपुत्री** अचलकन्या **देवो नित्यं** प्रतिक्षणं **वन्द्या** प्रणम्या। सा कीदृशीत्याह– **मधुमधुरकमलवदना** मधुनामकरन्देन मधुरं सुन्दरं **कमलम्** पद्ममिव वदनं मुखं यस्याः सा, **पुरन्ध्र्यधिदेवता** पुरन्ध्रीणां सतीनाम् अधिदेवता अधिष्ठात्री देवी, **देवैः** सुरैः **स्तुत्या** स्तोतुं योग्याः **भक्त्या** श्रद्धया **किंनरगेया** किन्नरैः देवयोनि विशेषैः गेया गानविषयीकृता, **अवरचरितमहिषमथनी** निकृष्टाचारि महिषासुरमर्दिनी, **जगत्त्रयनायिका** त्रैलोक्यनेत्री **सिद्धैः** देवजातिविशेषैः **कामम्** अत्यन्तं **ध्येया** ध्यानकर्मीकृता **केसरियाना** सिंहवाहना **रणचतुररसिकहृदया** रणे संग्रामे चतुरा च रसिकहृदया– सरसान्तः करणा च– सा, **त्रिलोचनवल्लभा** त्र्यम्बक प्रिया, **वीरैः** शूरैः **पूज्या** पूजाकर्मीकृता, **दर्पणपाणिः** दर्पणम् आदर्शः पाणौ यस्याः सा, **नूनं** निश्चितं **गुणनिलयलटभललिता** गुणनिलया गुणानां निधिः, सा चासौ **लटभललिता** लटभं बालभावाश्रितं ललितं क्रीडितं यस्याः सा, **सतीषु** सच्चरितासु **धुरंधरा** अग्रगण्या। अत्रापि पूर्ववल्लक्षणसमन्वयः, यतिनियमश्च द्रष्टव्यः ॥ अ० २, सू० ३८२।२। २९।१ ॥

द्विर्भजसना भ्यौ नृत्तललितम् ॥३८३॥

द्वौ वारौ भजसन इत्येते गणाः। भयौ च केवलौ। भजसनभजसनभया इति। यथा– अद्य कलहंसललने ललितमन्थरगतौ सपदि मानय सपत्नरहितं स्वं, कोकिलविलासिनि विधेहि कलगीतिरचना– चतुरतामदममन्दमतिमत्ता। दुर्ललितनृत्तललितं युवमयूर रचय त्वमपि संप्रति चिराय गतशङ्कः, सर्वगुणकेलिसदनं चकितबालमृगलोलनयनां प्रियतमामिह विना ताम् ॥३८३.१॥ ३०।१॥

अथ त्रिंशदक्षरां शेषजातिमाह– द्विर्भजसना भ्यौ नृत्तललितमिति । विवृणोति– **भयौ चकेवलौ द्वौ वारौ भजसन इत्येते गणाः, भयौ च केवलौ भजसन भजसनभया इतीति ।** तथा च भगण-जगण-सगण-नगण-भगण-जगण-सगण-नगण-भगण-यगणाः–ऽ।।.।ऽ।.।।ऽ.।।।.ऽ।।.।ऽ।.।।ऽ.।।।.ऽ।। ।ऽऽ. इतीदृशैः त्रिंशता अक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् नृत्तललितं नाम शेष जातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– अद्य कलहंसेति । इह** अस्मिन् काले **चकितबालमृगलोलनयनां** चकितस्य भीतस्य बालमृगस्य नयने इव नयने यस्याः **सर्वगुणकेलिसदनं** सर्वेषां गुणानां केलिसदनं क्रीडागृहं **तां हृदयस्थितां** प्रियतमां वल्लभां विना तदभावे **अद्य** अस्मिन् दिने हे **कलहंसललने !** मरालपत्नि ! **स्वं** आत्मानं **ललितमन्थरगतौ** सुन्दरमन्दगमने **सपत्नरहितं** प्रतिपक्षहीनं **मानय** भावय हे **कोकिलविलासिनि** पिककामिनि **अमन्दमतिमत्ता** तीक्ष्णबुद्धिगर्विता सती **कलगीतिरचनाचतुरतामदम्** अव्यक्तमधुरगानविधान नैपुण्यगर्वं विधेहि कुरु । हे **युवमयूर** तरुणबर्हिन् ! **त्वमपि चिराय** बहुकालकृते **गतशङ्कः** प्रतिभटशङ्कारहितः सन् **सम्प्रति** गच्छति काले दुर्ललित नृत्तललितम् स्वच्छन्दनर्तन विलासम्– **रचय** विधेहि । मत्प्रियायाः सत्त्वे भवताम् तया विजित गुणानां स्व-स्वगुणप्रख्यापनस्यावसरो नासीत्– सम्प्रति तस्या अभावात् यथेच्छं स्वगुणगर्वं प्रकाशयतेति भावः । अ [ऽ] द्य [।] क [।] ल [।] हं [ऽ] स [।] ल [।] ल [।] ने [ऽ] ल [।] लि [।] त [।] मं [ऽ] थ [।] र [।] ग [।] तौ [ऽ] स [।] प [।] दि [।] मा [ऽ] न [।] य [।] स [।] प [ऽ] ल [।] र [।] हि [।] तं [ऽ] स्वं [ऽ] इतिलक्षणसमन्वयः ।। अ० २, सू० ३८३।१ ।। ३०।१।

द्वादश ना लगौ ललितलता त्रिर्जैः ।।३८४।।

द्वादश नगणा लघुगुरू च । त्रिर्जैरिति त्रीन् वारान् दशभिर्यतिः । यथा–

जिनचरणसरसिरुहपरिचरणरतमनसि परमशममुपदधति कलितपरमलये,
विषयबलदलनजुषि बत तरुणि विफलमतिचतुरतरनयनगतिमिह यतिनि तनुषे ।
व्रज मदन निजसदनमपसरणमुपरचय पिकतरुण रणरणकमुपजनयसि न हि,
प्रकटयसि मधुसमय किमिति नवमदमुदितमधुपकुलकलरणितमुखरललितलताम् ।। ३८४.१ ।। ३८।१ ।

अथाष्टात्रिंशदक्षरां शेषजातिं वर्णयति- **द्वादश ना ल्गौ ललितलता-त्रिर्जैरिति** । विवृणोति- द्वादश नगणा लघुगुरू च । त्रिर्जैरिति त्रीन्वारान् दशभिर्यतिरिति । तथा च '।।।. ।।।. ।।।. ।।।. ।।।. ।।।. ।।।. ।।।. ।।।. ।।।. ।।।. ।।।. ।ऽ.' इतीदृशैरष्टात्रिंशता वर्णैः कृताः पादा यस्य दशभिर्दशभिर्दश-भिश्च यतिर्यत्र तत् ललितलतानामकं शेषजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- जिनचरणेति** । हे **तरुणि** ! युवते ! **जिनचरणसरसिरुहपरि-चरण रतमनसि** जिनचरणावेव सरसिरुहे कमले तयोः परिचरणे सेवने **रतम्** आसक्तं मनो यस्य तादृशे, **परमशमम्** निरतिशयशान्तिम् उपदधति धारयमाणे, **कलितपरमलये** प्राप्तनितान्तलीनतावस्थे **विषयदवदलनजुषि** विषयदवस्य सांसारिकभोग्यवस्तुदावाग्नेः दलनं नाशनं जुषते सेवते इति तादृशि **यतिनि** जितेन्द्रिये **इह** मुनौ **अतिचतुरनयनगतिम्** परमनिपुणनेत्र-व्यापारं **विफलं** व्यर्थं तनुषे विस्तारयसि इति बत् **खेदः** । हे **मदन** ! काम ! **निजसदनं** स्वावासं **व्रज** गच्छ, हे **पिकतरुण** ! कोकिलयुवक ! **अप-सरणम्** पलायनम् **उपरचय** कुरु, **हि** यतः **रणरणकम्** औत्कण्ठ्यं न **उपजनयसि** उत्पादयसि; प्रयोजनाभावात्- त्वयापि न स्थेयमिति भावः । हे **मधुसमय** ! वसन्तर्तो ! **नवमदमुदितमधुपकुल कलरणितमुखर-ललितलताम्** नवेन मदेन हर्षेण मुदितस्य प्रसन्नस्य मधुपकुलस्य भ्रमर-समूहस्य कलरणितेन मधुरगुञ्जितेन मुखरां वाचालां **ललितलताम्** सुन्दरवल्लीं **किमिति** किमर्थं प्रकटयसि, तयापि नास्य मनो विकारणीयमिति भावः । जिनचरणाश्रिते शान्ते ध्याननिमग्ने यतिनितरुण्या मदनस्य वसन्तसमस्य वा न प्रभावः संभवतीति तैव्यर्थमेव तत्समीपे स्थीयत इति भावः । जि [।] न [।] च [।] र [।] ण [।] स [।] र [।] सि [।] रु [।] ह [।], प [।] रि [।] च [।] ण [।] र [।] त [।] म [।] न [।] सि [।]; प [।] र [।] व [।] श [।] म [।] मु [।] प [।] द [।] ध [।] ति [।]; क [।] लि [।] त [।] प [।] र [।] म [।] ल [।] ये [ऽ] इति दशभिस्त्रिर्यत्यालक्षण संगतिः ॥ अ० २ सू० ३८४।१ ॥ ३८।१।

मौ तनीजभ्राः पिपीलिका जणैः ॥३८५॥

मद्वयं तगणो नयणचतुष्टयं जभराः । जणैरिति अष्टभिः पञ्चदशभिश्च

यतिः । यथा– निष्प्रत्यूहं पुण्यां लक्ष्मीमविरतमभिलषसि यदि रमयितुं सुखं च यदीच्छसि, स्थातुं न्यायोन्मीलद्बुद्धे लघुभिरपि सह बहुभिरिह कुरु मा विरोधपदं तदा । विस्फूर्जत्फूत्कारं क्रीडाकवलितसकलमृगकुलमजगरं भुजंगममुन्मदं, संघातं कृत्वा पश्यैता श्लपितवपुषमनवधिरुचितरुजा अदन्ति पिपीलिकाः ॥ ३८५ १ ॥ ३०१ ॥

त्रिंशदक्षरपादां शेषजातिं प्रकारान्तरेणाह– **मौ त नौ जभ्राः पिपीलिका जणैरिति** । विवृणोति– **मद्वयं तगणो नगणचतुष्टयं जभराः । जणैरिति अष्टभिः पञ्चदशभिश्च यतिरिति** । मगणद्वयं तगणो नगणचतुष्टयं जगण-भगण-रगणाः 'sss. sss. ssı. ।।।. ।।।. ।।।. ।।।. ।sı. sıı. sıs.' इतीदृशैस्त्रिंशता अक्षरैः कृताः पादा यस्य अष्टभिः पञ्चदशभिश्च यतिर्यत्र तत् पिपीलिकानामकं शेषजातिच्छन्द इत्यर्थः । उदाहरति– **यथा– निष्प्रत्यूहमिति** । हे **न्यायोन्मीलद्बुद्धे** ! न्यायेन सत्पथेन उन्मीलन्ती विकसन्ती बुद्धिर्यस्य तत्सम्बोधनम्, **यदि** चेत् **पुण्यां** पवित्रां **लक्ष्मीं** सम्पदम् **अविरतं** सततं **रमयितुं** स्वात्मनि सलीलं स्थापयितुम् **अभिलषसि** इच्छसि, **सुखं** निर्दुःखं **स्थातुं** च यदि इच्छसि अभिलषसि, **तदा इह** संसारे **लघुभिः** क्षुद्रैः अपि **बहुभिः** अनेकैः **सह** साकं **विरोधपदम्** विरुद्धव्यवहारं मा कुरु । **विस्फूर्जत्फूत्कारम्** विस्फूर्जन् उच्चैरुद्गच्छन् फूत्कारः शब्दविशेषो यस्य तं **क्रीडाकवलितसकलमृगकुलम्** क्रीडया अनायासेन कवलितं भक्षितं सकलं समग्रं मृगकुलम् हरिणवृन्दं येन तथाभूतम् **उन्मदं** मत्तं **भुजंगमम्**– सर्पम् **अजगरम्** तज्जातीयम् **एताः पिपीलिकाः** क्षुद्रकीटजातयः **संघातं** समूहं **कृत्वा** विधाय अनवधिरुजा असीमपीडया **श्लपितवपुषं** क्षीणशरीरं कृत्वा अदन्ति खादन्ति (इति) **पश्य** अवलोकय । क्षुद्रतमा अपि पिपीलिका घोरमजगरमपि निहत्य खादन्तीति दृष्ट्वा लघुभिरपि बहुभिर्विरोधः परिहरणीय इति भावः । नि [ऽ] ष्प्र [ऽ] त्यू [ऽ] हं [ऽ] पु [ऽ] ण्यां [ऽ] ल [ऽ] क्ष्मी [ऽ]; म [।] वि [।] र [।] त [।] म [।] भि [।] ल [।] ष [।] सि [।] य [।] दि [।] र [।] म [।] पि [।] तुं [ऽ]; सु [।] खं [ऽ] च [।] य [।] दी [ऽ] च्छ [।] सि [ऽ] (पादान्तस्य विकल्पेन गुरुत्वात्) इति अष्टभिः पञ्चदशभिश्च यत्यालक्षणसंगतिः ॥ अ० २, सू० ३८५ ॥

एषैव नीपरतः पञ्चदशपञ्चदशलवृद्धा क्रमेण करभ ३५-पणव ४०-मालाः ४२ ॥३८६॥

एषैव पिपीलिका चतुर्भ्यो नगणेभ्यः परतः पञ्चभिर्दशभिश्च लघुभिर्वृद्धा शेषगणेषु तथैव स्थितेषु क्रमेण करभादयो भवन्ति । तत्र पञ्चभिर्वृद्धा पिपीलिकाकरभः । यथा- नित्यं लक्ष्मच्छायाच्छन्नः कलयतु कथमिव तव वदनरुचिममृतरुचिश्चिरं क्षयसंयुतः, तुल्यं नाब्जं स्फूर्जद्वलीविधुरितजननयनयुगमतिमृदुकरचरणस्य निर्मलचारुणः ! कण्ठस्येयं दासी श्यामा परभृतयुवतिरपि मधुपरिचयकलविरुतिनिसर्गकलध्वनेः, भ्रूवल्लीभङ्गे छेकाया हरिणनयनमचतुरमतिललिततनु करभोरु नो सदृशं दृशः ॥३८६.१॥३५.१॥

दशभिर्वृद्धा पिपीलिकापणवः । यथा- रुन्दोऽमन्दः कुन्दच्छायः शरदमलघनतुहिनविकचकुमुदवनहरहसितसितः शशाङ्ककरोज्ज्वलः, तारः पारावारापारः स्थलजलगगनतलसकलभुवनपथधवलनपरिचितः प्रसाधितदिङ्मुखः। लोकालोकच्छेदं गत्वा दृढकठिनविकटदिगवधितटघटनविवलनवलयितो विशुद्धयशश्चयः, प्रोत्तुङ्गः श्वेतप्राकारो ध्वनिगुणपणव तव जयति नृपवर नवललितवसतेर्जगत्त्रितयश्रियः ॥३८६.२॥४०.१॥

पञ्चदशभिर्वृद्धा पिपीलिकामाला । यथा- उत्फुल्लाम्भोजाक्ष्यास्तस्याः कुसुमशरसुभगतव विरहदव इह हि जयिनि समुपचरणविषये व्यधायि सखीजनैः, अङ्गे वासः कर्पूराम्भस्तिमितशुचि तुहिनकिरणकरपरिमवचतुरधवलिम कुचतटयुगे सुमौक्तिकदाम च । रम्भागुल्मं लीलागारं मलयजरसकलिवसुषमभिनवविकचकुमुदवनदलसमुदयैश्च तल्पककल्पना, नव्या मौलौ मल्लीमाला तदिदमखिलमपि दवदहतवहरुचि परिचितमहिम विरचयति मुहुः प्रदाहमहाज्वरम् ॥३८६.३॥४५.१॥

शेषजातिप्रकरणम् ।

अथ दण्डकाः ।

यत् किञ्चिद् दृश्यते छन्दः षड्विंशत्यक्षराधिकम् । शेषजात्यादिकं मुक्त्वा तत् सर्वं दण्डकं विदुः ॥३८६.४॥

अस्यैवच्छन्दसः प्रभेदानाह- एषैव नीपरतः पञ्च-दश-पञ्चदशलवृद्धा क्रमेण

करभ–३५–पणव–४०–माला: ४५ इति। विवृणोति– एषैव पिपीलिकेत्यादिना। तथा च पूर्वोक्ते पिपीलिकाच्छन्दसि नगण चतुष्टयादग्रें पञ्चलघुषु-वर्धितेषु तत: परतो जगण भगण रगणेषु पूर्ववत् स्थितेषु 'पिपीलिकाकरभ' नामकं शेषजातिच्छन्द:, तथा नगण-चतुष्टयात्परत: दशसुलघुषु वर्धितेषु शेषेषु यथास्थानं स्थितेषु 'पिपीलिकपणव' नामकम्– एवम्– नगणचतुष्टयात्परत: पञ्चदशसुलघुषु वर्धितेषु शेषेषु यथास्थानं स्थितेषु 'पिपीलिकामाला'नामकं– शेषजातिच्छन्द इत्यर्थ:। तत्र मगणद्वयं तगण: नगण चतुष्टयं पञ्चलघव: जगण-भगण-रगणा: 'sss. sss. ssı. ।।।. ।।।. ।।।. ।।।. ।।।।।. ।sı. sıı sıs.' इतीदृशै: पञ्चत्रिंशता वर्णै: कृता: पादा यस्य तत् पिपीलिकाकरभनामकं शेषजातिच्छन्द इति, तस्योदाहरणमाह– यथा– **नित्यंलक्ष्मच्छायेति**। हे **करभोरु!** करभौ मणिबन्धादाकनिष्ठं करबहिर्भागौ इव ऊरू यस्या: तत्सम्बोधनम् **नित्यं** सर्वदा **लक्ष्मच्छायाच्छन्न:** कलङ्कद्युतिग्रस्त: चिरं–बहुकालात् **क्षयसंयुत।** प्रतिदिनं क्षीयमाण: **अमृतरुचि:** सुधाकिरण: चन्द्र: **तव** भवत्या **वदनरुचिम्** मुखकान्तिं **कथमिव** केन प्रकारेण (कथमपिनेति भाव:) **ललयतु** धारयतु। **स्फूर्जद्धूली-विधुरितजननयन युवम्** स्फूर्जन्त्या उद्धूल्यमानया धूल्या विधुरितं पीडितं जनानां नयनयुगं येन तत् **अब्ज:** कमलं **निर्मलचारुण:** विमलसुन्दरस्य (तव) **अतिमृदुकरचरणस्य** अतिमृदो: परमकोमलस्य करचरणस्य पाणिपादस्य तुल्यं लमानं न: (अस्ति) **श्यामा** कृष्णवर्णा **इयं** प्रत्यक्षदृष्टा **परभृतयुवति:** कोकिलतरुणी **अपि मधुपरिचयकलविरुति:** मधुना वसन्तेन पुष्परसेन वा परिचयात् संपर्कात् कला अव्यक्तमधुरा विरुति: गानं यस्या स्तादृशी **निसर्गकलध्वने:** सहजमधुरशब्दस्य (तव) **कण्ठस्य** गलविवरस्य **दासी** परिचारिका। हे **अतिललिततनु** परमसुन्दरस्वरूपे! **अचतुरं** भावाभिव्यक्तौ अनिपुणं **हरिणनयन्** मृगनेत्रन् **भ्रूवल्लीभङ्गे** भ्रुकुटिलता कोटिल्ये **छेकाया** विदग्धाया: (तव) **दृश:** दृष्टे: **सदृशं** तुल्य **नो** नास्ति। मुखेन सह चन्द्रस्योपमानत्वं प्रसिद्धं किन्तु कलङ्की क्षययुक्त: स निष्कलङ्कस्य प्रतिदिनं वृद्धकान्ते: तववदनस्य साम्यं कथंयतु। कमलस्य पाणिपादस्योपमानत्वं प्रसिद्धम्– किन्तु तद्धूलीसंयुतं निर्मलस्य तस्योपमानत्वं कथं लभताम् कण्ठस्योपमा कोकिला-

कण्ठेन प्रसिद्धा किन्तु स– केवलं वसन्तसम्बन्धेनम धुरः तव कण्ठस्तु स्वभावत एव मधुर इति तत उत्कृष्टः। नयनयोः मृगनयनाभ्यामुपमादीयते, परम्– मृगनयने न भ्रूभङ्गे विदग्धे तवनयने च तत्र निपुणे इति ततः स्पष्टं श्रेष्ठे इति भावः। नि [ऽ] त्यं [ऽ] ल [ऽ] क्ष्म [ऽ] च्छा [ऽ] या [ऽ] च्छ [ऽ] न्नः [ऽ] क [।] ल [।] त्र [।] तु [।] क [।] थ [।] मि [।] व [।] त [।] व [।] व [।] द [।] न [।] रु [।] चि [।] म [।] मृ [।] त [।] रु [।] चि [ऽ] श्चि [।] रं [ऽ] क्ष [।] य [।] सं [ऽ] यु [।] तः [ऽ] इति-लक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू० ३८६।१ ॥ ३५।१ ॥

अथ पूर्वोक्तेषु द्वितीयं प्रकारमाह– 'दशभिर्वृद्धा पिपीलिकापणव' इति। पिपीलिकाच्छन्दसि नगणचतुष्टयात्परतो दशलघवो वृद्धाः; तया च मगणद्वयं तगणः नगणचतुष्टयं दशलघवः जगण-मगण-रगणाः 'sss. sss. ssi. iii. iii. iii. iii. iiiiiiiiii. isi. sii. sis.' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् पिपीलिकापणव इत्युक्तम्। तदुदाहरणं **यथा– रुन्दोऽमन्द** इति। हे **ध्वनि-तगुणपणव**! ध्वनितः शब्दं कुर्वन् गुणानां पणवः पटहो यस्य गुणा एव वा पणवो यस्य तत्सम्बोधनम् हे नृपवर राजश्रेष्ठ! **नवलतितवसतेः** नूतन-सुन्दरावासस्य **जगन्त्रितयश्रियः** जगत्त्रितयस्य त्रैलोक्यस्य श्रीः लक्ष्मीः यस्य तस्य **तव** भवतः प्रोत्तुङ्गः समुन्नतः **श्वेतप्राकारः** शुभ्रोवरणः जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते। तमेव विशिनष्टि– **रुन्दः** विशालः **अमन्दः** अनीचः **कुन्द-च्छायः** कुन्दवन् माघ्यपुष्पवत् छायाकान्तिर्यस्य सः, **शरदमलघन-तुहिन-विकचकुमुदवन-हरहसित-सितः** शरदः शरदृतोः अमलाः निर्मलाः घनाः, तुहिनम्–हिमम्–विकचं विकसितं कुमुदवनम्– हरस्य शिवस्य हसितम्– एतेषामिव सितः शुभ्रः **शशाङ्ककरोज्ज्वलः** शशाङ्ककरैः चन्द्रकिरणैः उज्ज्वलः सुप्रकाशः, **तारः** विशुद्धः **पारावारापारः** पारावारवत् समुद्रवत् अपारः अनन्तः **स्थल–जल–गगनतल–सकलभुवनपथ–धवलनपरिचितः** स्थलं भूः जलं समुद्रादिप्रदेशः– गगनतलम् आकाशम् सकलभुवनपथः सर्वलोक मार्गः एतेषां धवलने श्वेतीकरणे परिचितः अभ्यस्तः, **प्रसाधितदिङ्मुखः** प्रसाधितानि भूषितानि दिशां मुखानि येन तादृशः, **लोकालोकच्छेदं** लोका लोकनाम्नी मानसोत्तरवर्तिनो गिरेः पर्यन्तम्– गत्वा **दृढ़कठिन विकट**

दिगवधितट घटन विवलन- वलयितः दृढानि सवलानि– कठिनानि-कर्कशानि–विकटानि विशालानि च दिगवधितटानि दिशां सीमापराकाष्ठाः तेषां घटने रचने यद्विवलनं प्रयतनं तेन वलयितः वलयाकारतां गतः **विशुद्ध-यशश्चयः** विशुद्धो निर्मलो यशश्चयः कीर्तिसमूहो यस्य सः, इति । पूर्वार्धेन प्राकारस्यातिशुभ्रत्वं वैपुल्यं च वर्णितं तृतीयेन पादेन वैपुल्येन सह दृढत्वादिकं वर्णितमितीदृशस्तव प्राकारः सर्वप्राकारेभ्योऽतिशयित इति भावः । रुं [ऽ] दो [ऽ]; मं [ऽ] दः [ऽ] कुं [ऽ] द [ऽ] च्छा [ऽ] यः [ऽ] श [।] र [।] द [।] म [।] ल [।] घ [।] न [।] तु [।] हि [।] न [।] वि [।] क [।] च [।] कु [।] मु [।] द [।] व [।] न [।] ह [।] र [।] ह [।] सि [।] त [।] सि [।] तः [ऽ] श [।] शा [ऽ] ङ्क [।] क [।] रो [ऽ] ज्ज्व [।] लः [ऽ] इतिलक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू० ३८६।२ ॥ ४०।१ ॥

तस्यैव तृतीयं प्रभेदमुदाहर्तुमवतारयति– पञ्चदशभिर्वृद्धा पिपीलिका मालेति । पिपीलिकाच्छन्दस्येव नगणचतुर्यात्परतः पञ्चदशलघवः शेषे च पूर्ववत् जभराश्चेत् पिपीलिकामालेत्युक्तम्– तथा च मगणद्वयं तगणः नगण-चतुष्टयं पञ्चदश लघवः जगण-भगण-रगणाः 'ऽऽऽ. ऽऽऽ. ऽऽ। ।।।. ।।।. ।।।. ।।।. ।।।।।।।।।।।।।. ।ऽ।. ऽ।।. ऽ।ऽ.' इतीदृशैः चत्वारिंशता अक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् पिपीलिकामालाच्छन्दः । उदाहरणम्– **यथा– उत्फुल्लाम्भोजेति** । हे **कुसुमशरसुभग !** कुसुमशरः कामः तद्वत् सुभग सुन्दर ! **जयिनि** विजय-शीले **इह** अस्मिन् **तव** भवतः **विरहदवे** वियोगाग्नौ **उत्फुल्लाम्भोजाक्ष्याः** विकाक्षिसरोज समाननयनायाः **तस्याः** पूर्ववर्णिताया अङ्गनायाः **समुपचरण विषये** सम्यक्–सेवा प्रबन्धे– **अङ्गे** शरीरे **कर्पूराम्भस्तिमितशुचि** कर्पूर-रभिश्रितेनाम्भसातिमितं क्लिन्नं शुचि पवित्रं च **वासः** वस्त्रं, **कुचतटयुगे** स्तनप्रान्तद्वये **तुहिनकिरणकरपरिभव चतुरधवलिम** तुहिन किरणस्य शीतद्युतेः कराणां किरणानां परिभवे विजये चतुरः निपुणो धवलिमा श्वेत्यं यस्य तादृशं **मौक्तिकदाम** मुक्तामाल्यं **च, मलयजरसकलितवसुधम्** चन्दनप्रवसिक्तभूमिकम् **रम्भागृहम्** कदलीकुञ्जं लीलागारम् क्रीडागृहम्, **अभिनवविकचकुमुदवनदलसमुदयैः** सद्यः प्रफुल्ल कुमुदकुसुमसमूहपत्र-निवहैः **च तल्पकल्पना** शयनरचना **मौलौ** शिरसि **नव्या** नूतना **मल्ली-**

माला मल्लिकापुष्पस्रग्- **व्यधायि** विहितम्; **तत्** पूर्वोक्तम् **इदम् अखिलम्** सर्वम् अपि **दवहुतवह रुचि परिचितमहिम** दवहुतवहरुचिभिः दावाग्नि ज्वालाभिः परिचितः शिक्षितः महिमा माहात्म्यं येन तथा भूतं सत् **मुहुः** भूयो भूयः **प्रदाहमहाज्वरम्** परितापमहा रोगम् **विरचयति** विदधाति। तव विरहतप्ताया स्तस्याः शान्त्यर्थं शरीरे शीतं वस्त्रं कुचतटे मुक्तामाला, रम्भाकुञ्जे चन्दनसिक्तभूमौ पुष्पदलैः शय्या, शिरसि मल्लिकास्रक् इत्येतत्सर्वं यत् सखीजनैर्विहितं तत्सर्वं दाहमेववर्धयतिस्म कामोद्दीपकत्वादिति भावः। उत् [s] फु [s] ल्ला [s] म्भो [s] जा [s] क्ष्या [s] स्त [s] स्याः [s] कु [।] सु [।] म [।] श [।] र [।] सु [।] भ [।] ग [।] त [।] व [।] वि [।] र [।] ह [।] द [।] व [।] इ [।] ह [।] हि [।] ज्ज [।] यि [।] नि [।] स [।] मु [।] प [।] च [।] र [।] ण [।] वि [।] ष [।] ये [s] व्य [।] धा [s] यि [।] स्र [।] स्रो [s] ज [।] नैः [s] इति लक्षण-सङ्गतिः ॥ अ० २, सू० ३८६।३ ॥ ४५।१ ॥ इतिशेषजाति प्रकरणम् ॥

तत्र—

नार्त्रं चण्डवृष्टिः ॥३८७॥

ना इति नगणद्वयं **र्त्रं** इति रगणसप्तकं च। समाहारो द्वन्द्वः। यथा- अभिनवतरदुर्मदोद्दामपाथोदमालाप्रतिच्छादिते सर्वतो व्योमनि, स्फुटितकुट-जकेतकीपांसुपुञ्जच्छटाच्छोटिताशेषदिग्यन्द्रविम्मारुते। मुदितनिखिलनील-कण्ठैः कृते क्रूरकेकारवव्याकुले ताण्डवाडम्बरे, कथमिव चलितोऽसि भोः पान्थ हित्वा प्रियां **चण्डवृष्टिप्रपाताकुले** वर्त्मनि ॥३८७.१॥ **चण्डवृष्टिप्रपात** इत्यन्ये ॥३८७:१॥

अथ दण्डकाः।

अथ दण्डकजातीरुपवर्णयितुं ग्रन्थान्तरोक्तां दण्डकपरिभाषामाह- **यत्किञ्चिद्दृश्यते छन्द** इति। **शेषजात्यादिकं** शेषजातिः पुरस्तादुक्ताम्- आदिपदेन समशीर्षविषमशीर्षनाम्नी चतुर्थाध्यायान्ते वक्ष्यमाणेवृते- ते च मुक्त्वा विहाय **षड्विंशत्यक्षराधिकम्**- सप्तविंशत्यादिभिरक्षरैः कृतपादं **छन्दः यत् किञ्चिद् दृश्यते** कविप्रयुक्तंलभ्यते **तत्सर्वं दण्डकं** दण्डकनाम्ना

क्यं तं **विदुः** जानन्ति पूर्वेकवय इति शेषः। **अथ** दण्डकजातीयेषु छन्दः सुवर्णनीयेषु, प्रथमं प्रभेदमाह– **तत्र**– नार्ऋ चण्डवृष्टिरिति। विवृणोति– ना इति नगणद्वयं र्ऋ इति रगणसप्तकं चेति। **समाहारोद्वन्द्व** इति। ना च र्ऋ चेत्यनयोः समाहारद्वन्द्वे कृते क्लीबत्वात्सेर्लुगिति भावः। तथा च '।।।. ।।।. SIS. SIS. SIS. SIS. SIS. SIS. SIS.' इतीदृशैः सप्तविंशत्या अक्षरैः कृताः पादा यस्य तत् चण्डवृष्टिनामकं दण्डकजातीयं छन्द इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– अभिनवेति**। भोः पान्थ! हे प्रवासिन्! **सर्वतः** सर्वस्यां दिशि **व्योमनि** आकाशे **अभिनवतरदुर्मदोद्दामपाथोदमालाकुले** अभिनवतरा अतिनूतनाः दुर्भदाः दुर्वारगर्वाः उद्दामाः उच्छृङ्खलाः ये पाथोदाः मेघाः तेषां मालया घटया आकुले व्याप्ते सति, **ऐन्द्रदिङ्मारुते** इन्द्रो देवता अस्या इति ऐन्द्री पूर्वा दिक्– आशा तस्या मारुते वायौ **स्फुटितकुटजकेतकी पांसुपुञ्जच्छटाच्छोटिताशेषदिशि** स्फुटितानां विकसितानां कुटजानां केतकीनां च स्वस्वनाम्नाख्यातानां पुष्पाणां पांसुपुञ्जानां परागसमूहानां छटाभिः घटाभिः आच्छो टिताः आक्रान्तोः अशेषाः सर्वा दिशो येन तथा भूते सति, **मुदितनिखिलनील कण्ठैः** प्रसन्नसकलमयूरैः, **कृते** विहिते, **क्रूरकेकारवव्याकुले** क्रूरेण दुःश्रवेण केकारवेण तदीय शब्देन व्याकुले आक्रान्ते **ताण्डवाडम्बरे** नृत्यविस्तारे सति, वर्त्मनि मार्गे **सचण्डवृष्टिप्रपाताकुले** चण्डाया दुःसहाया वृष्टचाः प्रपादेन निर्झरणेन आकुले आक्रान्ते सति **प्रियां** वल्लभां **हित्वा** विहाय **कथमिव** केन प्रकारेण **चलितः** प्रस्थितः असि। ईदृशे घोरे समये प्रियां परित्यज्य गमनं ते सर्वथाऽनुचितमिति- ईदृशे समये यात्रैवानुचिता तत्रापि प्रिया परित्याग इति महाननर्थ इति **वा** भावः। अ [।] भि [।] न [।] व [।] त [।] र [।] दु [S] र्म [।] दो [S] द्दा [S] म [।] पा [S] थो [S] द [।] मा [S] त्वा [S] प्र [।] ति [S] च्छा [S] दि [।] ते [S] स [S] र्वं [।] तो [S] व्यो [S] म [।] नि [S] (स्फुटितेति संयोगे गुरुत्वात्) लक्षणसङ्गतिः। अस्य नामान्तरमाह **'चण्डवृष्टिप्रपात' इत्यन्ये** इति। पिङ्गल छन्दः शास्त्रे 'प्रथमश्चण्डवृष्टिप्रयातः' (पि. ६. शा. ७।३४) इति सूत्रं दृश्यत, तत्रापि 'प्रपात' इत्यपि पाठान्तरमिति पाद टिप्पण्यां दृश्यते। इहापि– 'प्रयात' इति पादान्तरं पादटिप्पण्यां दृश्यते इति पिङ्गलमतमेवेदमुक्तमिति प्रतिभाति ।। अ० २, सू० ३८७.१ ।।

यथोत्तरमेकैकरवृद्धा अर्णार्णविव्यालजीमूतलीला-करोद्दामशङ्खादयः ॥३८८॥

चण्डवृष्टेरूर्ध्वमेकैकरगणवृद्धाः क्रमेणार्णादयो दण्डकाः । तत्र नगणाभ्यां परैरष्टभी रगणैरर्णः । यथा– अविरलगुरुशाखिनोऽरण्यभागान् समुत्तुङ्गशृङ्गाबलीशालिनः सर्वभूमीभृतो, विपुलतरतरंगसंसंगिनीः कूलिनीरुच्छ्रितानेकसौधान् पुरग्रामदेशानपि । स्थगयति तमसि प्रपन्ने सपत्नत्वमुन्मुक्तधैर्यस्य पाथो निधेर्मङ्क्षु रज्यद्वपुः, कुपित इव तदर्णसः प्रोद्ययौ तस्य संहारकारी समुद्यत्करोऽयं निशावल्लभः ॥३८८.१॥

नवभिरर्णवः । यथा– प्रसृतनिबिडमारुतान्दोलिताश्वत्थसंशीर्णपर्णोघविस्फारवातोलिकापूर्यमाणाम्बरे, घनवनदवदह्यमानाखिलक्रूरशार्दूलपोतोद्भटोग्रादसंत्रस्तमातङ्गयूथाकुले । दिनकरकरतप्तकोलावलीश्रीयमाणाद्रितल्ले लसल्लोकल्लोलवाचालामाद्यन्महा-, र्णवपयसि ननु प्रिय ग्रीष्मकालेऽधुना मा स्म गा मानय त्वं हि पीनस्तनाभ्रूषसौख्यानि मे ॥३८८.२॥

दशभिर्व्यालः । यथा– चिरवहदरघट्टसंपूर्यमाणोच्छलत्सारिणीतोयधारामिरामं सदैकान्तकान्तप्रसर्पल्लता-, बहलिततरुगुल्मकेलीगृहं ये पुरोद्यानमुद्दामलीलाजुषः स्त्रीसखाश्चारु चेरुश्चुलुक्येश्वर । तृषितकरटियूथमल्लूकसंदोहकोलव्रजव्याकुलाश्यान कल्लोलिनीवारि दुर्वारसूर्यद्युति, व्यतिकरविधुरीकृतव्यालसंदह्यमानद्रुमच्छायमुद्दण्डकान्तारमीयुस्त्वदीयद्विषस्तेऽधुना ॥३८८.३॥

एकादशभिजीमूतः । यथा– जिनपतिपदपङ्कजस्पर्शपुण्यीकृताशेषभृङ्गः पुरस्तादयं तत्त्वदाश्चर्यसंपन्निदानं भुवो भूषणं, प्रतिविपिननिकुञ्जकूजत्पिकीपञ्चमोच्चारसंवर्गितस्वर्गसीमन्तिनीवर्गगीतिप्रपञ्चाभिरामोऽन्वहम् । कुरबकसहकारकारस्करांशोकजम्बूकदम्बेङ्गुदीवेणुकान्तारम लाप्रतिच्छन्नमार्तण्डचण्डातपः, प्रतितटविनिविष्टजीमूतसंदोहनिर्मुच्यमानामृतासारपूर्णोद्वहन्निर्भरः पश्य दिष्ट्योज्जयन्तो गिरिः ॥ ३८८.४॥

द्वादशभिलीलाकरः । यथा– घनपरिमलसारकर्पूरपानोयतिम्यद्दुकूलं कुकूलधियं पद्मिनीपल्लवस्तरः खादिराङ्गारविस्फूर्जितं, तुहिनकिरणचन्द्रिका हन्त हालाहलत्वं नवं चन्दनं तप्तलोहोपमां वेणुवीणानिनादोऽपि कर्णज्वरत्वं

दधत् । अयि तव विरहे यदस्या मृगाक्ष्या भवन्नामधेयाक्षरोच्चारमन्त्रैकरक्षाजुषः सांप्रतं सर्वमेवाभजद् व्यत्ययं, तदतिसुभग सान्द्रपीयूषलीलाकरैस्तैर्वचोभिः समाश्वासयैनां चिरायान्यथा तु त्वमेवात्र निःशूकचूडामणिः ॥३८८.५॥

त्रयोदशभिरुद्दामः । यथा– वलयितवरकन्धरं वल्गदुत्तुङ्गतेजस्विगन्धर्वराजीखुरक्षुण्णविश्वंभराक्षोदसंदोहविक्षेपणादुर्दिनाडम्बरं, प्रथममपि निरीक्ष्य सप्रेमकान्तामुखाम्भोरुहालोकने स क्षणं कौतुकी नष्टुकामोऽपि यावद्भवत्युन्मनास्तवद्विपक्षव्रजः । नृप तव सहसा जयश्रीविलासैकधामाभ्रमातङ्ग–संस्पर्धिनोऽभ्रंकषैर्विग्रहैर्भीषणाः क्षोभयन्तो जगद्गर्जितैरूर्जितैः, स्रुतमदजलनिर्भरैर्ध्वस्तधूलीवितानाः कृतान्ता इवोद्दामगन्धद्विपास्तावदाविर्भवन्तश्चिरान्मूर्च्छयामासुरेनं विभो ॥३८८.६॥

चतुर्दशभिः शङ्खः । यथा– अमरपतिकरिभ्रमं बिभ्रतीभाः समग्राः कलङ्काः कलाविभ्रमं धारयत्यत्रिनेत्रप्रसूतस्य कृष्णो बहत्यन्धकध्वंसकर्तुस्तुलां, कुवलयवनमातनोति श्रियं पौण्डरीकीं कलिन्दात्मजा जह्नुकन्योज्ज्वलं वारि धत्ते विधत्तेऽज्ञनाद्रिविलासं च कैलासपृथ्वीभृतः । कलयति लवणोदधिः क्षीरपाथोधिलीलायितं शेषशोभामशेषाहयः प्राप्नुवन्तीन्द्रनीलाश्च मुक्तामणीनां समासादयन्ति त्विषं, विचकिलहरहासनीहारहारेन्दुशङ्खावदातैरमीभिः स्फुरद्भिर्महीपालचूडामणे शासनैश्वर्यवज्रायुध त्वद्यशोराशिभिः ॥३८८.७॥

आदिशब्दात् पञ्चदशभिः समुद्रः षोडशभिर्भुजंग इत्येवमादयो यथेष्टकृतनामानो यावदेकोनसहस्राक्षरः पादस्तावद्भवन्ति ॥३८८.७॥

यथा पूर्वमुक्तादिजातिच्छन्दःसु एकैकाक्षरवृद्धया जातिभेदाः उक्ताः तथाऽत्रापि एकैकगणवृद्धया छन्दोभेदावर्ण्यन्ते– **यथोत्तरमेकैकरवृद्धाः अर्णाण्वव्यालजीमूतलीला करोद्दाम शङ्खादय** इति । विवृणोति चण्डवृष्टेरूर्ध्वमेकैकरगणवृद्धाः क्रमेणार्णादयो दण्डकाः इति । नगणद्वयं सप्तरगणाः इति चण्डवृष्टिपादन्यास उक्तस्तत्रैकैकरगणवृद्धौ कृतायाम्– अर्णः, अर्णवः, व्यालः, जीमूतः, लीलाकरः, उद्दामः शङ्ख इत्येवमादयोदण्डका भवन्ति इत्थं च नगणद्वयात्परतः चतुर्दशरगणपर्यन्तं नामान्युक्तानि । ततः परमपि रगणवृद्धौ आराम-संग्राम-सुराम-वैकुण्ठ-सारकासार-विसार-संहार-नीहार-मंदार-

केदार-आसार-सत्कार-संस्कार-माकन्द-गोविन्द-सानन्द-सन्दोह-आनन्द्र- इत्येते आदि पदे ग्राह्या इति तर्कवाचस्पतिः। स्वमते च समुद्र- भुजंगादयः आदि-पदेन गृह्यन्ते इति वक्ष्यति। इत्थं प्रथमं प्रभेदं वर्णयति- **तत्र- नगणाभ्यां परैरष्टभी रगणै**रिति। तथा च नगणद्वयम्- रगणाष्टकम् 'ा।। ।।। ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ' इतीदृशैर्वर्णैः कृताः पादा यस्य तत् अर्ण-नामकं दण्डक जातिच्छन्द इत्यर्थः। तथा चोदाहरति **यथा- अविरलेति। अविरलगुरुशाखिनः** अविरलाः घनाः गुरवः महान्तश्च शाखिनो वृक्षा यत्र तादृशान् **अरण्यभागान्** वनप्रदेशान् **समुत्तुङ्गशृङ्गावलीशालिनः** समुत्तुङ्गाभिः अत्युन्नताभिः शृङ्गावलीभिः शेखरसमूहैः शालन्ते शोभन्ते इति तान् **सर्वभूमीभृतः** सर्वान् पर्वतान्, **विपुलतरतरङ्गसंसङ्गिनीः** विपुलतरैः महामहद्भिस्तरङ्गैः ऊर्मिभिः संसङ्गः संपर्को यासां तथा भूताः **कूलिनीः** तटिनीः (नदीः) **उच्छ्रितानेकसौधान्** उच्छ्रिताः उन्नता अनेके सौधाः प्रासादा येषु तान्- **पुरग्रामदेशान्** नगर ग्रामभागान् अपि **स्थगयति** आच्छादयति, सपत्नत्वं शत्रुत्वं प्रपन्ने प्राप्ते तमसि अन्धकारे सति, **उन्मुक्तधैर्यस्य** त्यक्तधृतेः **पाथोनिधेः** समुद्रस्य, (एवं सर्वान् व्याप्नुवदि नमो यामपि व्याप्स्यतीति शङ्कितस्य) मंक्षु शीघ्रं **कुपित इव** कृतक्रोध इव **रज्यद्वपुः** रक्तधर्णशरीरः **समुद्यत्करः** समुद्यन्तः समुदयः प्राप्नुवन्तः कराः किरणा यस्य तादृशः, **तस्य** तमसः **संहारकारी** विनाशकृत् **निशावल्लभः** चन्द्रः तदर्णसः समुद्रजलमध्यात् **प्रोद्ययौ** निः सृतः। वनपर्वतनगरग्रामादिषु सर्वत्र तमसाच्छन्नेषु भीतं समुद्रमालोक्य तम सः संहाराय समुद्रजलादेव चन्द्रो बहिरगत इति भावः। अ [।] वि [।] र [।] ल [।] गु [।] रु [।] शा [ऽ] खि [।] नो [ऽ] र [ऽ] ण्य [।] भा [ऽ] गान् [ऽ] स [।] मु [ऽ] त्तु [ऽ] ङ्ग [।] शृ [ऽ] ङ्गा [ऽ] व [।] ली [ऽ] शा [ऽ] लि [।] नः [ऽ] स [ऽ] र्वं [।] भू [ऽ] मी [ऽ] भृ [।] तः [ऽ] इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ३८८।१ ॥

अतः परं नवभीरगणैः कृतपादमर्णवमुदाहर्तुमाह- नवभिरर्णवः इति। तथा च नगणद्वयात्परतः नव रगणाः 'ा।। ।।। ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ' इतीदृशैरक्षरैः कृताः पादा यस्य सोर्णवनामा दण्डक इत्यर्थः।

तथोदाहरति- **यथा- प्रसृतनिबिडेति** । हे **प्रिय** ! वल्लभ ! **प्रसृतनिबिडमारुतान्दोलिताश्वत्थसंशीर्णपर्णौघविस्फारवातोलिकापूर्यमाणाम्बरे** प्रसृतः सर्वतः प्रसरं गतो निबिडः बहुलीभूतो यो मारुतः वायुस्तेनान्दोलितानां कम्पितानामश्वत्थानां संशीर्णैः पतितैः पर्णौघैः पत्रसमूहैः विस्फारया वृद्धिगतया वातोलिकया वात्यया आपूर्यमाण माच्छाद्यमानमम्बरं यस्मिन् तथा भूते, **घनवनदवदह्यमानाल्लिक्रूरशार्दूलपीतोद्भ्रटोन्नादसंत्रस्तमातङ्गयूथाकुले** घनेन बहुलीभूतेन वनदेवतारण्यदावाग्निना दह्यमानानां प्लुष्यमाणानां क्रूराणां भयङ्कराणां शार्दूलपोतानां तरक्षुशिशूनाम् उद्भटैः उच्चैस्तरैः उन्नादैः ऊर्ध्वगर्जितैः सत्रस्तानां भीतानां मातङ्गानां हस्तिनां यूथेव समूहेन आकुले व्याकीर्णे, **दिनकरकरतप्तकोलावलीश्रीयमाणार्द्रतल्ले** दिनकरस्य सूर्यस्य करैः किरणैः तप्तानि जाता संतापानां कोलानां शूकरणाम् आवल्या पङ्क्त्या श्रियमाणानि शरणीक्रियमाणानि आर्द्राणि क्लिन्नानि तल्लानि अकृत्रिमसरांसि यस्मिन् तथाभूते **लसल्लोलकल्लोलवाचालमाथन्महार्णवपयसि** लसद्भिः शोभमानैः लोलैः चञ्चलैः कल्लोलैः ऊर्मिभिः वाचालम् बहुवदत् माद्यत् गर्वितम् अर्णवस्य समुद्रस्य पयः जलं यस्मिंस्तस्मिन् **ग्रीष्मकानिदाघसमये त्वं मा स्म गाः** न गच्छेः, **मे** मम **पीनस्तनाश्लेषसौख्यानि** पीनयोः स्थूलयोः स्तनयोः कुचयोराश्लेषस्य आलिङ्गनस्य सौख्यानि आनन्दानि **मानय** स्वीकुरु । पर्णौघसंकुलाभिर्वात्याभिराकाशे समाकुले वनव्याघ्रकोलादि सन्तापिनि समुद्रतरङ्गवर्धकेऽस्मिन् ग्रीष्मसमये दूरदेशगमनं विहाय ममालिङ्गन सौख्यमेवानुभवेति भावः । प्र [।] सृ [।] त [।] नि [।] बि [s] ड [।] मा [s] रु [।] ता [s] न्दो [s] लि [।] ता [s] श्व [s] त्य [।] सं [s] शी [s] र्ण [।] प [s] र्णौ [s] ध [।] वि [s] स्फा [s] र [।] वा [s] तो [s] लि [।] का [।] पू [s] र्य [।] मा [s] णा [s] म्ब [।] रे [s] इति लक्षणसङ्गतिः ॥ अ० २, सू० ३८८।२ ॥

अथ नगणद्वयात्परतो दशभी रगणैः कृतं न्यालनामानं दण्डकं वर्णयितुमवतारयति- दशभिर्न्याल इति । तथा च नगणद्वयात्परतो दशरगणाः ।।।. ।।।. sIs sIs. sIs. sIs. sIs. sIs. sIs. sIs sIs. sIs. इतीदृशैः षट्त्रिंशता अक्षरैः कृताः पादा यस्य स व्यालनामा दण्डक इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- चिर-**

वहदिति। हे **चुलुक्येश्वर**! चुलुक्यवंशसंभूतनृप! **उद्दामलीलाजुषः** स्वच्छन्दक्रीडासेवितः **स्त्रीसखाः** वनितासहायाः **ये त्वदीयद्विषः** तवशत्रवः **चिरवहदरघट्टसंपूर्यमाणाच्छलत्सरिणीतोयधाराभिरामम्** चिरं बहुकालं वहद्भिः चलद्भिः अरघट्टैः कूपात्तोयनिःसारणमन्त्रैः संपूर्यमाणानां जलैरापूर्यमाणानाम् **उच्छलताम** उद्गतं यथास्यात्तथा गच्छतां सारिणीतोयानां प्रणालिकाजलानां धाराभिः प्रवाहैः अभिरामं सुन्दरं यथास्यात्तथाभूतं **सदैकान्तकान्तप्रसर्पल्लतावहलिततरुगुल्मकेलीगृहम्** सदा सर्वदा एकान्ते निभृतप्रदेशे कान्तं सुदरं यथास्यात्तथा प्रसर्पन्तीभिः चलन्तीभिः **लताभिः** बहलिताः पुञ्जीभूताः तरवोवृक्षा; गुल्मानि कुञ्जानि च तान्येव केलीगृहं क्रीडागारं यत्र तादृशं **पुरोधानम्** नगरोपवनम् **चारु** सुन्दरं यथा स्यात्तथा **चेरुः** विजहुः; **ते** त्वदीयद्विषः **अधुना** सम्प्रति तवाक्रमणानन्तरम् **तृषितकरटियूथभल्लूकसन्दोहकोलव्रजव्याकुलाश्यानकल्लोलिनीवारि** तृषितैः पिपासितैः करटियूथैः गजघटाभिः, भल्लूक सन्दोहैः ऋक्षसमूहैः, कोलव्रजैः शूकरवृन्दैः व्याकुलम् आक्रान्तम्- अतएव आश्यानं शुष्कप्राप्यं कल्लोलिन्या नद्या वारि जलं यत्र तथाभूतम्- **दुर्वारसूर्यद्युति** दुर्वारा सच्छायवृक्षाभावाद्वारयितुमशक्या सूर्यद्युतिः दिवाकर किरणाः **यत्र** तादृशम्, **व्यतिकरविधुरीकृतव्यालसंरुध्यमानद्रुमच्छायम् व्यतिकरात्** व्यवायात् विधुरीकृतैः विच्छेदितैः व्यालैः सर्पैः संरुध्यमाना उपभोगार्थं वार्यमाणा द्रुमाणां वृक्षाणां छाया यत्र तादृशं **उद्दण्डकान्तारम्** घोरमरण्यम्- ईयुः प्राप्तवन्तः। ये त्वदीयशलव; पूर्वं पुरोवने कान्ताभिः सह विजहुः ते त्वया विद्राविताः शुष्क प्रायनदीकम्, घोरातपपरीतम्, कान्ताविरयुक्त कुपितसर्पाक्रान्तवृक्षच्छायम् वनं प्राप्ताः। तत्रापि तेषां सर्वथा दुःखमेवेति भावः। चि [।] र [।] व [।] ह [।] द [।] र [।] घ [ऽ] ट्ट [।] सं [ऽ] पू [ऽ] र्यं [।] मा [ऽ] णो [ऽ] च्छ [।] ल्ला [ऽ] र [।] णी [ऽ] तो [ऽ] य [।] धा [ऽ] रा [ऽ] भि [।] रा [ऽ] मं [ऽ] स [।] दै [ऽ] का [ऽ] न्त [।] का [ऽ] न्त [ऽ] प्र [।] स [ऽ] र्प [ऽ] ल्ल [।] ता [ऽ] इति लक्षणसमन्वयः ॥अ० २, सू० ३८८।३॥

अथ नगणद्वयात्परत एकादशरगणकृतपादां जीमूतनामानं दण्डकं वर्णयितु मवतारयति- **एकादशभिजीगूंत** इति। नगणद्वयात्परत एकादशभीरगणैः

कृताः पादा यस्य स जीमूतनामादण्डक इत्यर्थः । तथा च 'ा।। ।।। ऽऽऽ. ऽऽऽ. ऽऽऽ. ऽऽऽ ऽऽऽ. ऽऽऽ. ऽऽऽ. ऽऽऽ ऽऽऽ. ऽऽऽ. ऽऽऽ.' इतीदृशैर्वर्णैः ऊनचत्वारिंशद्भिः कृताः पादा यस्य स जीमूतनामा– **यथा जिनपतीति । दिष्ट्या** सौभाग्यात् **पुरस्तात्** अग्रे **अयं** दृश्यमानः **उज्जयन्तः** तन्नाम्ना प्रसिद्धः **गिरिः** पर्वतः इति **पश्य** अवलोकय । तमेव विशिनष्टि– **जिनपतिपदपङ्कज स्पर्शपुण्यीकृताशेषशृङ्गः** जिनपतेः पदपङ्कजयोः चरणकमलयोः स्पर्शेन संपर्केण **पुण्यीकृतानि** पवित्रतां नीतानि अशेषाणि सर्वाणि शृङ्गाणि यस्य सः, **तत्तदाश्चर्यसम्पन्निदानम्** तेषां तेषामाश्चर्यसम्पदाम् अद्भुतसम्पत्तीनां निदानं कारणम्. भुवः पृथिव्या भूषणम् अलङ्कारभूतः; **अन्वहं** प्रतिदिनं **प्रतिविपिनं निकुञ्जकूजत्- पिकपञ्चमोच्चारसंवर्गितस्वर्गसीमन्तिनीवर्गगीतिप्रपञ्चाभिरामः** प्रतिविपिनं सर्वेषु अरण्यभागेषु- निकुञ्जेषु लतागृहेषु कूजन्तीनां पिकीनां पञ्चमोच्चारैः पञ्चमनाद गानैः तं वर्गितस्यैकत्रीभूतस्य स्वर्गसीमन्तिनीवर्गस्य देवाङ्गनासमूहस्य गीतिप्रयञ्चेन गानविस्तारेणाभिरामः सुन्दरः, **कुरबकसहकारकारस्करशोकजम्बूकदम्बेङ्गुदीवेणुकान्तारमालाप्रतिच्छन्नमार्तण्डचण्डातपः** कुरबकाः सहकाराः कारस्कराः अशोकाः जम्बवः कदम्बा, इंगुद्यः वेणवश्चेति– स्वस्वनाम्नाख्यातानां वृक्षाणां कान्तारमालाभिः वनसमूहैः प्रतिच्छन्नः वारितो मार्तण्डस्य सूर्यस्य चण्डः दुःसहः आतपः घर्मः यत्र तादृशः, **प्रतितटविनिविष्टजीमूतसंदोह निर्मुच्यमानामृतासारपूर्णोद्वहन्निर्झरः** प्रतितटं पर्यन्तभागेषु विनिविष्टैः प्रसृतैः जीमूत सन्दोहैः मेघसमूहैः **निर्मुच्यमानेन** वृष्यमाणेन अमृतसारेण जल वर्षणेन पूर्णाः उद्वहन्तः उच्चैः स्थानात्पतन्तः निर्झराः प्रपाता यत्र तादृशः । ज [।] न [।] प [।] ति [।] प [।] द [।] पं [ऽ] क [।] ज [ऽ] स्प [ऽ] र्श [।] पु [ऽ] ण्यी [ऽ] कृ [।] ता [ऽ] शे [ऽ] ष [।] शृ [ऽ] ङ्गः [ऽ] पु [ऽ] स्ता [ऽ] द [।] यं [ऽ] त [ऽ] त्त [।] दा [ऽ] श्च [ऽ] र्य [।] सं [ऽ] प [ऽ] न्नि [।] दा [ऽ] नं [ऽ] भु [।] बो [ऽ] भू [ऽ] ष [।] णं [ऽ] इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ३८८।४ ॥

अथ नगणद्वयात्परतो द्वादशभीरगणैः कृतपादं लीलाकरनामानं दण्डकमवतारयति– **द्वादशभिर्लीलाकर** इति । तथा च नगणद्वयं द्वादशरगणाः

'।।।. ।।।. ऽ।ऽ ऽ।ऽ. ऽ।ऽ. ऽ।ऽ. ऽ।ऽ. ऽ।ऽ. ऽ।ऽ. ऽ।ऽ. ऽ।ऽ. ऽ।ऽ. ऽ।ऽ. ऽ।ऽ.' इतीदृशीद्विचत्वारिंशदक्षरैः कृताः पादा यस्य स लीलाकरनामा दण्डक इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– घनपरिमलेति**। **अयि ! अतिसुभग** ! हे अत्यन्त सुन्दर ! **भवन्नामधेयाक्षरोच्चारमन्त्रैकरक्षाजुषः** भवतो नामधेयाक्षराणाम् उच्चारः कथनम् एव मन्त्रः स एव एका केवलारक्षा विरहे प्राणरक्षणोपायः तां चुषते इति तया भूताया **अस्याः मृगाक्ष्याः** मृगनेत्राया अङ्गनायाः **तव विरहे** भवता सह वियोगावस्थायाम् **यत्** यस्मात् **घनपरिमलसारकर्पूरपानीयतिम्यद्दुकूलं** घनं बहुलं परिमलम् सौरभमेव सारः मुख्यं यत्र तादृशेन कर्पूरपानीयेन घनसारमिश्रितजलेन तिम्यत् क्लिद्यमानम् दुकूलं वस्त्रं कुकूलश्रियं करीषाग्निशोभां **दधत्** धारयत्– **पद्मिनीपल्लवस्रस्तरः कमलिनीदलशयनीयम्– खदिराङ्गारविस्फूर्जितम्** खदिरकाषसंभूताग्निप्रभावं दधत्, **तुहिनकिरणचन्द्रिका** शीतरश्मिज्योत्सा **हन्त** इति दुःखे हालाहलत्वं हाविषत्वं **दधती**, नवं प्रत्यग्रघृष्टं चन्दनं श्रीखण्डद्रवः **तप्तलोहोपमां** अग्निदग्धलौह सादृश्यं दधत्, **वेणुवीणानिनादः** वंशीवल्लोक्योः शब्दः **अपि कर्णज्वरावं** श्रोत्रदाहकत्वं दधत् (इत्थं) **सर्वमेव** पूर्वोक्तं सकलं वस्तु **व्यत्ययं** वैपरीत्यम् **अभजत्** गतम् **तत्** तस्मात् **सान्द्रपीयूषलीलाकरैः** घनसुधाचमत्कारकारकैः **तैः** प्रसिद्धैः **वचोभिः** वाक्यैः **एतां** मृगाक्षीं चिराय बहुकालार्थं **समाश्वासय** आश्वस्तां विधेहि, **अन्यथा** तद्विपरीत्ये **तु अत्र** अस्या कष्टजनने **त्वमेव निःशूकचूडामणिः** निर्दय शिरोमणिः असि। अस्याः तव विरहादेव सर्वं सुखकारि वस्तु दुःखकारणमभूत् तस्मात् त्वदीयैरनुकूलैर्वचोभिरेवेयं सुखिनी स्यादिति भावः। घ [।] न [।] प [।] रि [।] म [।] ल [।] सा [ऽ] र [।] क [ऽ] र्पू [ऽ] र [।] पा [ऽ] नी [ऽ] य [।] ता [ऽ] म्य [ऽ] द्दु [।] कू [ऽ] लं [ऽ] कु [।] कू [ऽ] ल [ऽ] श्रि [।] यं [ऽ] प [ऽ] द्मि [।] नी [ऽ] प [ऽ] ल्ल [।] व [ऽ] स्र [ऽ] स्त [।] रः [ऽ] खा [ऽ] दि [।] रा [ऽ] ङ्गा [ऽ] र [।] वि [ऽ] स्फू [ऽ] र्जि [।] तं [ऽ] इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ३८८।५ ॥

अथ नगणात् परतः त्रयोदशभिः रगणैः कृतपादम्– उद्दामनामानं दण्डकमुपवर्णयितुमाह **त्रयोदशभिरुद्दाम** इति। नगणद्वयं वयोदश रगणाः '।।।.

।।।. SIS. SIS. SIS SIS. SIS. SIS SIS. SIS. .IS. SIS SIS. SIS. SIS.' इतीदृशैः पञ्चचत्वारिंशता वर्णैः कृताः पादा यस्य सः उद्दामनामा दण्डक इत्यर्थः। उदाहरति **यथा- वलयितेति**। **त्वद्विपक्षव्रजः** तवशत्रुसमूहा **प्रथममपि** गजघटालोकनात्पूर्वमपि **वलयितवरकन्धरं** वलयिता भुग्नीकृता वरा श्रेष्ठा कन्धरा ग्रीवा यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा **वल्गदुत्तुङ्गतेजस्विगन्धर्वराजीखुरक्षुण्णविश्वम्भराक्षोदसंदोह- विक्षेपणादुर्दिनाडम्बरम्** वल्गताम् धावमानानाम् उत्तुङ्गानाम् अत्युन्नतानाम् तेजस्विनाम् स्फूर्तिमतां गन्धर्वाणाम् अश्वानां राज्याः मालायाः खुरैः पादैः क्षुण्णाया मर्दिताया विश्वम्भरायाः पृथ्व्याः क्षोदानां चूर्णानां संदोहस्य समूहस्य विक्षेपणया प्रसारणेन दुर्दिनस्य मेघाच्छन्नदिनस्य आडम्बरः विस्तारो यत्र तं निरीक्ष्य अवलोक्य, क्षणं किञ्चित्कालार्थं **सप्रेमकान्तामुखाम्भोरुहालोकने** सप्रेम्णः सानुरागाया कालाया मुखमेवाम्भोरुहं कमलं तस्य अवलोकने दर्शने **कौतुकी** औत्सुक्यवान् **उन्मनाः** युद्धादुद्गतचेताः यावत् **नष्टुकामः** पलायितुमिच्छः अपि भवति जायते, **तावत्- हे नृप सहसा** अतर्कितं यथास्यात्तथा- **जयश्रीविलासाभ्रमातङ्गसंस्पर्धिनः** जयश्रियाः विजयलक्ष्म्याः विलासः क्रीडास्थानम् यः अभ्रमातङ्गः ऐरावतः, तेन सह संस्पर्धितः स्पर्धाशीलाः **अभ्रंकषैः** आकाशचुम्बिभिः **विग्रहैः** शरीरैः भीषणाः भयजनकाः **ऊर्जितैः** बलवद्भिः **गर्जितैः** शब्दैः **जगत्** संसारं **क्षोभयन्तः** घर्षयन्तः **स्रुतमदजलनिर्झरैः** स्रुतस्य द्रुतस्य मदजलस्य दानवारिणः निर्झरैः प्रवाहैः **ध्वस्तधूलीविताना**ः ध्वस्तः नाशितो धूलीवितानः रजोविस्तारो यैः तादृशाः **कृतान्ता इव यमा इव तव** भवतः **उद्दावगन्धद्विपाः** विशृङ्खलमहागजाः आविर्भवन्तः धूलीशान्त्या प्राकट्यं गच्छन्तः हे **विभो ! एतं** तव विपक्षव्रजम् चिरात् बहुकालं यावत् **मूर्छयामासुः** मूर्छितं चक्रुः। पूर्वं केवलं धूलीपटलमेव दृष्ट्वा दूरे यावत् तव सैन्यं तावत्प्रियामुखं गन्तुं पलायितुकामा अपि तव शत्रवः गजमदैर्धूलीपटलेशान्ते महतो गजान् दृष्ट्वैवमूर्छिता इति भावः। व [।] ल [।] यि [।] त [।] व [।] र [।] कं [s] ध [।] रं [s] व [s] ल्ग [।] दु [s] त्तुं [s] ग [।] ते [s] ज [s] स्वि [।] गं [s] ध [s] र्वं [।] रा [s] जी [s] खु [।] र [s] क्षु [s] ण्ण [।] वि [s] श्वं [s] भ [।] रा [s] क्षो [s] द [।]

सं [s] दो [s] ह [।] वि [s] क्षे [s] प [।] णा [s] दु [s] दि [।] ना [s] ड [s] म्ब [।] रं [s] इति लक्षणसमन्वयः ॥अ० २, सू० ३८८.६॥

अथ नगणद्वयात्परतः चतुर्दशभीरगणैः कृतपादं शङ्खनामानं दण्डकमुदाहर्तुमवतारयति- चतुर्दशभिः शङ्खः इति । नगणद्वयं चतुर्दश रगणाः '।।।. ।।।. sis. sis. sis sis. sis. sis. sis sis- sis. sis sis. sis. sis. sis' इतीदृशैरष्टाचत्वारिंशता अक्षरैः कृताः पादा यस्य स शङ्खनामा दण्डक इत्यर्थः । तदुदाहरणमाह- **यथा- अमरपति-करीति । शासनैश्वर्यवज्रायुध !** शासनं निग्रहानुग्रहौ- ऐश्वर्यमकुण्ठिताज्ञत्वं ताभ्यां वज्रायुध इन्द्रसदृश ! **महीपालचूडामणे !** राजशिरोमणे ! **विचकिल-हरहास-नीहार-हारेन्दु-शङ्खावदातैः** विचकिल मतिश्वेत पुष्पविशेषः मदनापरपर्यायः, हरहासः शिवाट्टहासः श्वेतेषु प्रसिद्धः नीहारः हिमम् हारः मौलिकमाल्यम्, ईन्दुः चन्द्रः शङ्खः कम्पुः- एतानीव अवदाताः निर्मलाः तैः, **अमीभिः** प्रख्यातैः **स्फुरद्भिः** सर्वत्र प्रसृमरैः त्वद्यशोराशिभिः तवकीर्तिव्रातैः, **समग्राः** अशेषाः **इभाः** हस्तिनः **अमरपतिकरिविभ्रमं** अमरपतिकरिणः इन्द्रगजस्यैरावतस्य भ्रमं सन्देहे **बिभ्रति** धारयन्ति, **अत्रिनेत्रप्रसूतस्य** अत्रिनेत्रात् तन्नामक ऋषिनयनात् प्रसूतस्य उत्पन्नस्य चन्द्रस्य **कलङ्कः** लाञ्छनं **कलाविभ्रमं** कलायाः षोडशांशलेखायाः विभ्रमं विलासं धारयति, **कृष्णः** केशवः **अन्धकध्वंसकर्तुः** अन्धकासुरनाशकस्य शिवस्य तुलां साम्यं वहति धारयति, **कुवलयवनं** नीलोत्पत्रमृदं **पौण्डरीकीं** श्वेतकमल-सम्बन्धिनीं **श्रियं** शोभाम्- **आप्नोति** प्रकाशयति, **कलिन्दात्मजा** कालिन्दी-यमुना **जह्नुकन्योज्ज्वलं** जह्नुकन्या गङ्गा तस्या इव उज्ज्वलं श्वेतं **वारि** जलं धत्ते धारयति, **अञ्जनाद्रिः** कज्जलपर्वतः **च कैलासपृथ्वीभृतः** कैलासपर्वतस्य **विलासं** लीलां धत्ते तद्वर्णो भवति, **लवणोदधिः** क्षारसमुद्रः **क्षीरपाथोधिलीलायितं** दुग्धोदधि बिलास **कलयति** धारयति, **अशेषाहयः** सर्वे सर्वाः **शेषशोभाम्** शेषनागकान्तिं प्राप्नुवन्ति, **इन्द्रनीलाः** इन्द्रनील मणयः **च मुक्तामणीनां** मौक्तिकानां त्विषं कान्तिं समासादयन्ति । अतिस्वच्छतरैः सर्वतो व्याप्तैस्त्वद्यशोभिः सर्वं श्वेतीकृतमिति सर्वे गजा ऐरावत निभाः जाताः चन्द्रकलङ्कोऽपि तदीय कला विशेषतां गतः कृष्णः शिववच्छ्वेतोऽभूत्, नील कमलं श्वेतोत्पलतां गतम्,

यमुनाया नील जलमपि श्वेतमभूत् सर्वे समुद्राः क्षीरोदधयो जाताः सर्वे सर्पाः शेषनाग इव बभूवुः कज्चगिरिः कैलासवर्णोऽभवत् इन्द्र नील मणिः मुक्तासादृश्यं गत इति भावः । अ [।] म [।] र [।] प [।] ति [।] क [।] र [ऽ] भ्र [।] मं [ऽ] बि [ऽ] भ्र [।] ती [ऽ] भाः [ऽ] स [।] म [ऽ] ग्राः [ऽ] क [।] लं [ऽ] कः [ऽ] क [।] ला [ऽ] वि [ऽ] भ्र [।] मं [ऽ] धा [ऽ] य [ऽ] त्रि [।] ने [ऽ] त्र [ऽ] प्र [।] सू [ऽ] त [ऽ] स्य [।] कृ [ऽ] ष्णो [ऽ] व [।] ह [ऽ] त्य [ऽ] न्ध [।] क [ऽ] ध्वं [ऽ] स [।] क [ऽ] तुं [ऽ] स्तु [।] लाम् [ऽ] इति लक्षणसमन्वयः ॥ अ० २, सू० ३८८।७ ॥

इत्थं सूत्रोक्ता अर्णादयः शङ्खान्ता दण्डका वर्णिताः । सूत्रे च 'शङ्खादय' इति आदिपदम् उपात्तं तेन केषां संग्रह इत्याह– **आदिशब्दात्पञ्चदशभिः समुद्र–** इत्यादिना । अयमर्थः नगणद्वयात्परतः अष्टरगणेभ्य आरभ्य चतुर्दश रगणपर्यन्तं ये दण्डकास्ते– शङ्खात्रनामभिरुक्ताः ततः परमपि– एकैकरगणवृद्धया दण्डक भेदा भवन्ति, तेषां नामानि च यथेष्टं बुधैः कल्पितानि– **अन्यैरपि** कल्पनीयानि । तेषु– यथा– नगणद्वयात्परतः पञ्चदशभीरगणैः कृताः पादा यस्य स समुद्रनामा दण्डकः, नगणद्वयात्परतः षोडशभीरगणैः कृताः पादा यस्य स भुजंगनामा दण्डक इति, अस्माभिः नाम कल्पयित्वा कथितं तथा कल्पनीयम् । तदुदाहरणानि च ऊह्यानि । किमस्य विधेः क्वचिद्विरामोऽस्ति न वा ? अस्ति चेत्कियदवधिरित्याशङ्कायामाह– **यावदेकोनसहस्राक्षरैः पाद** इति । एकोन सहस्राक्षरात्मकः पादो दण्डक कल्पनाया अवधिरिति भावः । पिङ्गलाचार्येण तु चण्डवृष्टिप्रपातादग्रे– एकैकरवृद्धया कल्पिताः सर्वेऽपि दण्डकाः प्रचितसंज्ञका एव । तद्वृत्तिकृता हलायुधेन च– यथेष्टं नामकल्पनाऽप्यनुमता । तथाहि तदीयः श्लोकः– "प्रथमकथितदण्डकश्चण्डवृष्टिप्रपाताभिधानो मुनेः पिङ्गलाचार्यनाम्नो मतः प्रचित इति ततः पर दण्डकानामियं जातिरेकैकरेकाभिवृद्धया यथेष्टं भवेत् । स्वरुचिरचितविशेषैरशेषैः पुनः काव्यमन्येऽपि कुर्वन्तु वागीश्वराः भवति यदि समान संख्याक्षरैःयत्र पादव्यवस्था ततो दण्डकः पूज्यतेऽसौ जनैः ॥ इति ॥ 'शेषः प्रचितः' (पि. छ. शा. ६।३६) इति सूत्रव्याख्यायांमिदमुक्तम्, तस्यायं भावः, नगणद्वयात्परतः सप्तभीरगणैः चण्डवृष्टिप्रपाताभिधो दण्डकः कथितः ततः परमेकै-

करगणवृद्धया विन्यस्तपादानां दण्डकानां 'प्रचित' इति समुदायसंज्ञा पिङ्गलाचार्यस्य मता; तत्तद्विशेषनामानि तु स्वरुचि रचितानि वागीश्वराः कुर्वन्तु न तत्र नियमः इति । स्वमते च रगणस्थाने सप्तभिः यगणादिभी रचितपादानां 'प्रचित' संज्ञाऽग्रिम सूत्रेण शास्यते, 'शेषः प्रचितः' (७।३६) इति पूर्वोक्त पिङ्गलसूत्रव्याख्यानेऽपि केचित् शेषशब्दस्य यगणादि राचितदण्डक परत्वं स्वीकुर्वन्ति– इति तद्दिप्पण्यामुक्तम् । तथा च नगणरद्वयात्परतः सप्तरगणैः कृतपादं दण्डकं विहाय सर्वे दण्डकाः प्रचितसंज्ञा इत्येकं मतम्, नगणद्वयात्परतो सप्तभिः यगणादिभी रचितपादा दण्डकाः प्रचितसंज्ञा इत्यपरं मतमिति निष्कर्षः ॥ अ० २, सू० ३८८।७ ॥

नाभ्यां रवद्यादयः प्रचितः ॥३८९॥

नगणद्वयात् परे यादयः सर्वे वर्णगणा यदा भवन्ति तदा प्रचितः । रवद् इत्यतिदेशात्सप्तभिर्यैः प्रचितः । ततः परमेकैकयादिवृद्धा अर्णार्णवव्यालजीमूतलीलाकरोद्दामशङ्खादयोऽत्रापि भवन्ति । यथा– विलसदुरुतरवारिप्रचण्डे महावाहिनीव्यूहविस्फारणव्यक्तशक्तौ, प्रकटयति रुचिरारवण्डकोदण्डदण्डं दिशत्युच्चकैं राजहंसप्रणादम् । प्रशमयति निखिलं मेदिनीचक्रसंतापविस्फूर्जितं न्यकृतार्कप्रतापे, प्रचितघनवलयुक्ते नभस्यायमाने चुलुक्येश्वरे को न धत्ते प्रमोदम् ॥३८९.१॥

एवमादिषु शेषगणेषूदाहार्यम् । एकैकगणवृद्धया च अर्णार्णवव्यालजीमूतलीलाकरोद्दामशङ्खादयोऽप्युदाहार्याः ।

अथ नगणद्वयात्परत यगणादिभिः प्रत्येकं सप्तभिः रचितपादस्य दण्डकस्य संज्ञामुदाहरणं च वक्तुमुपक्रमते– **'नाभ्यां रवद्यादयः प्रचित'** इति । विवृणोति– **नगणद्वयात्परे यादयः सर्वे गणा** इत्यादिना । नगणद्वयादग्रे यथा यथं यदि सर्वे गणाः (पर्यायशः) प्रयुज्यन्ते तदा स सर्वोऽपि दण्डकः प्रचित संज्ञां लभते इत्यर्थः । यथा– नगणद्वय सप्तयगणैः कृताः पादा यस्य स प्रचितः, नगणद्वयात्परतः सप्तभिर्भगणैः कृताः पादा यस्य सोऽपि प्रचितः, एव मन्येऽपि तगणादयः परिवर्त्तनीयाः । इत्थं स्वाशयं स्पष्टयितुं पुनराह– **रवदित्यतिदेशात्सप्तभिर्यैः प्रचित** इति । पूर्वत्र नगणद्वयात्परतः सप्तभी-

रगणैश्चण्डवृष्टि' नामादण्डक उक्त;, तथा यादिविषयेऽप्यतिदिश्यते इति सप्तभिरेव पादिभिः कृतस्य दण्डकस्य 'प्रचित' संज्ञा ज्ञेया। संख्यान्तरविशिष्टैर्यादिभिः कृतानां तु संज्ञान्तं रगणवदेव विज्ञेयम्। तदेवाह– **ततः परमेकैकयादिवृद्धा अर्णार्णवव्यालजीमूतलीलाकरोद्दामशङ्खादयोऽत्रापि भवन्ति**– इति। यथा यथोत्तरमेकैकरगणवृद्धचा अर्णादयो दण्डकाः पूर्वमुक्तास्तथा यथोत्तरमेकैकयगणादिवृद्धचाऽपि विज्ञेया इति भावा। एवं प्रथमः प्रचितादण्डकः– नगणद्वयं सप्त यगणाः '।।।. ।।।. ।ऽऽ ।ऽऽ ।ऽऽ. ।ऽऽ. ।ऽऽ. ।ऽऽ. ।ऽऽ.' इतीदृशैः सप्तविंशत्या अक्षरैः कृतपादः। तदुदाहरणमाह– **यथा– विलसदुरुतरेति। विलसदुरुतरवारिप्रचण्डे** विलसता उरुणा महता तरवारिणा खड्गेन प्रचण्डे– पक्षे विलसता उरुतरेण अत्यधिकेन वारिणा जलेन प्रचण्डे– भयङ्करे, **महावाहिनीव्यूहविस्फारण व्यक्तशक्तौ** महतो वाहिनी व्यूहस्य सैन्यसंनिवेशविशेषस्य पक्षे नदीप्रवाह विशेषस्य च विस्फारणे वर्धने व्यक्ता स्पष्टा शक्तिर्यस्य तादृशे, **रुचिराखण्डकोदण्डदण्डम्** रुचिरं सुन्दरं च तत् अखण्डं पूर्णं कोदण्डदण्डं चापदण्डम् इन्द्रधनुश्च– **प्रकटयति** दर्शयति, **राजहंस प्रणाशम्** राजानोहंसा इवेति तेषां प्रणाशम् पलायनम्, अन्यत्र राजहंसानां मरालानां प्रणाशं पलायनम् (प्रावृषि राजहंसाः पलाय्य मानसं गच्छन्तीति प्रसिद्धिः) **उच्चकैः** अत्यन्तं **दिशति** आज्ञापयति, **निखिलं** समग्रं **मेदिनीचक्रसंताप विस्फूर्जितम्** मेदिनीचक्रस्य पृथ्वीमण्डलस्य संतापः दुष्टैः कृतं पीडनम्, सूर्यश्मिकृतमौष्ण्यं वा तस्य **विस्फूर्जितम्** प्राबल्यम्– **प्रशमयति** नाशयति **न्यक्कृतार्कप्रतापे** न्यक्कृतः तिरस्कृतः अर्कस्य सूर्यस्य प्रतापो येन तस्मिन्– (राजपक्षे प्रभावस्य तैक्ष्ण्येन सूर्य प्रतापतिरस्कारः, नभस्य पक्षे च छायया सूर्यप्रतापतिरोधानम्) **प्रचितघनबलयुक्ते** प्रचितं समुदितं घनं बहुलीभूतं बलं सैन्यं तेन युक्ते, पक्षे प्रचितेन घनबलेन मेघसैन्येन युक्ते, **चुलुक्येश्वरे** चुलुक्यवंशीयनृपे **नभस्यायमाने** भाद्रपदमासवदाचरति सति **कः** जनः **प्रमोदं** प्रहर्षं **न धत्ते** न धारयति, अपि तु सर्व एव धारयतीति भावः। समानैः विशेषणैः राज्ञो भाद्रपदस्य च साम्यमुक्त्वा यथा भाद्रपदे जना नन्दन्ति तथाऽस्मिन् राजनि– तथा भूते सत्यपीति भावः। वि [।] ल [।] स [।] दु [।] रु [।] त [।] र [।] वा [ऽ] रि [ऽ] प्र [।] चं [ऽ] डे [ऽ]

म [।] हा [ऽ] वा [ऽ] हि [।] नी [ऽ] व्यू [ऽ] ह [।] वि [ऽ] स्फा [ऽ] र [।] ण [ऽ] व्य [ऽ] क्त [।] श [ऽ] क्तौ [ऽ] इतिलक्षणसमन्वय ॥ अ० २, सू० ३८९।१ ॥

नगम्यामष्टादिराः पन्नग-दम्मोलि-हेलावली-मालती-केलि-कङ्केल्लि-लीलाविलासादयः ॥३९०॥

नगणाद्गुरोश्च परे अष्टादिसंख्या रगणा येषु ते यथासंख्यं पन्नगादयो दण्डका भवन्ति । तत्राष्टरगणः पन्नगः । यथा– अविकलध्यानसंतानधूमध्वजज्योतिराडम्बरप्लुष्टनिःशेषकर्मेन्धनो, विदलितोदग्रमूयःकषायश्रिरार्यैष पायादपायात् स वः पार्श्वनाथो जिनः । कमठदैत्ये च गाढोपसर्गक्रियाकर्कशे तत्प्रतीकारबद्धप्रयत्ने भृशं, प्रकटितात्यन्तभक्तौ तदा पन्नगेन्द्रे च यस्याभवन् दृष्टिपाताः कृपार्द्राः समाः ॥३९० १॥ एवमेकैकरगणवृद्ध्यान्येऽपि षडुदाहार्याः ॥३९०.१॥

इत्थं नगणद्वयात्परतो यगणैः सप्तभीरचितस्य प्रचितस्योदाहरणमुक्त्वा प्रकृतविधिमन्यत्राप्युतिदिशति एवमादिषु शेषगणेषूदाहार्यम् । यगणरगणाभ्यां शिष्टाये नगणातिरिक्ताः पञ्चगणाः मगण-भगण-जगण-सगण-तगणाः तेष्वपि नगणद्वयात्परतः सप्तसु विन्यस्तेषु प्रचितनामा दण्डक उदाहार्य इति भावः । रगणवत् यगणादिष्वपि– एकैकवृद्ध्या अर्णादिदण्डकव्यवस्थां पूर्वोक्तामुदाहर्तुमपि अतिदिशति– एकैकगणवृद्ध्या च अर्णार्णवेत्यादि । रगणवद्यगणादीनपि एकोन सहस्राक्षःपादं यावद्वर्धयित्वा तेषामपि यथारुचि अर्ण-अर्णव-इत्यादि नामभिः प्रत्याय्य तेषामप्युदाहरणानि समूह्यानीति भावः ॥ अ० २, सू० ३९०।१ ॥

लोर्यथेष्टं राश्चण्डकालः ॥३९१॥

लघुपञ्चकात्परे यदृच्छया क्रियमाणा रगणाश्चण्डकालः । यथा– विविधमणिमेखलाश्रेणिविश्राणितश्रीणि हित्वा पुराण्याशु चान्तःपुराण्युच्चकैः, करटितुरगादिसेनासहस्राणि च स्वीकृतच्छद्मकर्मन्दिवेषास्त्वदीयद्विषः । प्रतिदिशममी गिरीणां महाकन्दराः शाखिगुल्मानि कूलंकषाकूलरन्ध्राणि च, स्फुरति

तव चण्डकाले कराले कृपाणे सदा संश्रयन्ते महीपालचूडामणे ॥३९१.१॥
एवमेकैकरगणवृद्धयाप्युदाहार्यम् ॥३९१.१॥

प्रकारान्तरेण दण्डकान् विभजते- **नऽभ्यामष्टादिराः पन्नग-दम्भोलि-हेलावली-मालती-केलि-कङ्केल्लि-लीलाविलासादयः** इति । विवृणोति- **नगणादगुरोश्च पर** इति, नगणः एकः गुरुरेक- अष्टौ रगणाः पन्नगः, नगणाद्गुरोश्च परतो नवरगणाः दम्भोलिः, नभ्यां परे दश रगणाः हेलावली- एवं क्रमेण चतुर्दश रगणान्ताः मालत्यादयः लीलाविलासपर्यन्ता विज्ञेयाः । तत्र प्रथमं प्रकारमाह **अष्टरगणः पन्नग** इति । नगणादगुरोश्च परतः अष्टौ रगणाः '।।।. ऽ. ऽ।ऽ. ऽ।ऽ. ऽ।ऽ. ऽ।ऽ. ऽ।ऽ. ऽ।ऽ. ऽ।ऽ.' इतीदृशैरष्टाविंशत्या अक्षरैः कृताः पादा यस्य स पन्नगनामादण्डक इत्यर्थः । उदाहरति- **यथा- अविकलध्यानेति । अविकलध्यानसन्तानधूमध्वजज्योतिराडम्बरप्लुष्ट निःशेषकर्मेन्धनः** अविकलः सपूर्णो ध्यानसन्तानः एकाग्रप्रत्ययप्रवाहः इव धूमध्वजो वह्निः तस्य ज्योतिषः प्रकाशस्य तेजसो वा आडम्बरेण विस्तारेण प्लुष्टं दग्धं निःशेषं सकलं कर्मेन्धनं कर्मरूपं काष्ठं यस्य सः **विदलितोदग्रभूयः कषायः** विदलितः विशीर्णः उदग्रः महान् भूयान् बहुलीभूतः कषायः वासनामलं यस्य सः; **एष सः पार्श्वनाथः जिनः वः** युष्मान् अपायात् विनाशात्- **चिराय** बहुकालं यावत् **पायात्** रक्षेत् । **यस्य** पार्श्वनाथस्य **गाढोपसर्गक्रियाकर्कशे** गाढया बहूलीभूतया उपसर्गक्रियया उपद्रवाचारेण कर्कशे-कठोरे **तत्प्रतीकारबद्धप्रयत्ने** तस्या उपसर्गक्रियायाः प्रतीकाराय संशोधनाय बद्धः विहितः प्रयत्नः पश्चातापादि रूपो येन तथाभूते **च कमठदैत्ये** तन्नाम्नि राक्षसे, **प्रकटितात्यन्तभक्तौ** दर्शितातिशयश्रद्धे **पन्नगेन्द्रे** सर्पराजे च **तदा** तस्मिन् काले **कृपार्द्राः** दयार्द्रशीलाः **दृष्टिपाताः** नेत्रव्यापाराः **भृशं** अत्यर्थं **समाः** तुल्या अभवन् जाताः । अपकारिणि शरणागते निजभक्ते च यस्य समो भावः, ध्यानाग्निदग्धकर्मा विगतकषायश्च स **जिनः** युष्मान् पात्विति भावः । अ [।] वि [।] क [।] ल [ऽ] ध्या [ऽ] न [।] सं [ऽ] ता [ऽ] न [।] धू [ऽ] म [ऽ] ध्व [।] ज [ऽ] ज्यो [ऽ] ति [।] रा [ऽ] ड [ऽ] म्बा [।] र [ऽ] प्लु [।] ष्ट [।] निः [ऽ] शे [ऽ] ष [।] क [ऽ] र्मे [।] न्ध [।] नः [ऽ] इति लक्षणसंगतिः । एवमेकैकशश्चतुर्दशसंख्या-

पर्यन्तं रगणवृद्धचा दम्भोल्यादयोऽप्युदाहार्या इत्यतिदिशति– **एवमेकैकरगणवृद्धयाऽन्येऽपि षड्दाहार्या** इति । नगणद्गुरोश्च परतः, नवभीरगणैः दम्भोलिः दशभिर्हेलावली, एकादशभिः मालती, द्वादशभिः केलिः त्रयोदशभिः कङ्कोल्लिः चतुर्दशभिश्च लीलाविलास इति षडेतेऽपि स्वबुध्योदाहरणीया इतिभावः ॥ अ० २, सू० ३९१।१ ॥

अथ दण्डकस्यैव प्रकारान्तरमाह– **लोर्यथेष्टं राश्चण्डकाल** इति । विवृणोति– **लघुपञ्चकात्परे यदृच्छया क्रियमाणारगणाश्चण्डकालः** इति । समानेनैकादिरिति परि भाषणात्– लुरिति पञ्चलघ्वक्षरवाचकः, तथा च पञ्चलघवः ततः परे यथेच्छं इच्छामनविक्रम्य– अष्टौ आरभ्य यावदेकोन सहस्राक्षरपादं रगणानां विन्यासश्चेत्स सर्वोऽपि दण्डकः चण्डकालनामा विज्ञेय इत्यर्थः । तत्र लघुपञ्चकम्– रगणाष्टकम्– इतिप्रथमः प्रभेदः । लघुपञ्चकं रगणाष्टकम्– '।।।. ।।. SIS. SIS. SIS SIS. SIS. SIS. SIS. SIS.' इतीदृशैरुन त्रिंशता वर्णैः कृताः पादा यस्य स चण्डप्रपाद नामा दण्डकः । तदुदाहरणं– **यथा– विविधमणिमेखलेति** । हे **महीपालचूडामणे** ! राज्ञां शिरोमणे ! **चण्डकाले** भयङ्करे कृष्णवर्णे च भयङ्करयमसहशेवा **करालेनिष्कृपे तव** भवतः **कृपाणे** तरवारौ **स्फुरति** चञ्चले सति **स्वीकृतच्छद्मकर्मन्दिवेषाः** स्वीकृतोऽङ्गीकृतः छद्मना कपटेन कर्मन्दिनां भिक्षूणाँ वेषः स्वरूपं यैः तादृशाः **अमी त्वदीयद्विषः** तव शत्रव. **विविधमणिमेखलाश्रेणिविश्राणितश्रीणि** विविधाभिः अनेकप्रकाराभिः मणिमेखलानां मणिनिर्मित खड्बन्धानां श्रेणिभिः समूहैः विश्राणिता प्रदत्ता श्रीः शोभा येभ्यः तानि पुराणि नगराणि, तथा– विविधाभिः मणिमेखलाश्रेणिभिः मणिनिर्मितरसनादामभिः विश्राणिताश्रीर्यैं तथा भूतानि उच्चकैः उन्नतानि अन्तःपुराणि– अवरोधङ्गना **आशु** शीघ्रं **हित्वा** त्यक्त्वा (भिक्षुभिः- यतिभिरपिपुराणि अन्तःपुराणि च विहायैव प्रव्रज्यते, इति आकूतम्) **करटितुरगसेनासहस्राणि च** करटिनां हस्तिनां तुरगाणामश्वानां च सेना-सहस्राणि बह्वीः सेनाश्च हित्वा **प्रतिदिशं** सर्वासु दिक्षु **गिरीणां** पर्वतानां **महाकन्दराः** महतीगुँहाः **शाखिगुल्मानि** वृक्षकुञ्जानि **कूलङ्कषाकूलरन्धाणि** कूलङ्कषाणां नदीनां कूलरन्ध्राणि तटस्थछिद्राणि च **सदा** सर्वदा **संश्रयन्ते** सेवन्ते । तव रिपवः पुरं पुरन्ध्रीश्च

विहायभिक्षु वेषेण पर्वतगुहादिषु निलीय तिष्ठन्तीति भावः। वि [।] वि [।] ध [।] म [।] णि [।] मे [ऽ] ख [।] ला [ऽ] श्रे [ऽ] णि [।] वि [ऽ] श्रा [ऽ] णि [।] त [ऽ] श्री [ऽ] णि [।] हि [ऽ] त्वा [ऽ] पु [।] रा [ऽ] ण्या [ऽ] शु [।] चा [ऽ] न्तः [ऽ] पु [।] रा [ऽ] ण्यु [ऽ] च्च [।] कैः [ऽ] इति लक्षणसमन्वयः। लघुपञ्चक त्परतो यथेष्ट रगणन्यासस्यैकं प्रभेदमुक्त्वा प्रभेदान्तराणामूहनायातिदिशति– एवमेकैकरगणवृद्धचाऽप्युदाहार्या इति। एकैकं रगणं वर्धयित्वा विन्यस्तपादा अन्येऽप्येवमेवोदाहरणीयाश्चण्डकालनामानो दण्डका इति भावः॥ अ० २, सू० ३९१।१॥

याः सिंहविक्रान्तः ॥३९२॥

लोः परे यथेष्टं यगणा यत्र स सिंहविक्रान्तः। यथा– तरुणतरणितेजः प्रतप्तां वराहा इवारण्यभागेषु मुस्ताक्षतिं पल्वलान्ते, विदधति किल केचित्तथान्ये महामूभृतां कन्दराः कौशिकौघा इवाभिश्रयन्ते। विपिनगहनमध्ये पुनः केऽपि शाखामृगक्रीडितं विभ्रति प्रत्यनीकक्षितीशः, प्रकटयति सदा सिंहविक्रान्तलीलामनूनां त्वयीमां धरित्रीश चौलुक्यचन्द्र ॥३९२.१॥ एवमेकैकयगणवृद्धयाप्युदाहार्यम् ॥३९२.१॥

लोः– (लघुपञ्चकात्) यथेष्टं रगणविन्यासात्मकदण्डकमुक्त्वा यगणविन्यासेन तमाह– **'याः सिंह विक्रान्त'** इति। विवृणोति– **लोः परे यथेष्टं यगणा यत्र स सिंहविक्रान्त** इति। लघुपञ्चकात्परतो यथेष्टं यगणविन्यासे सिंहविक्रान्तनामा दण्डक इत्यर्थः। तत्र लघुपञ्चकात् **अष्टौयगणा** इति प्रथमः प्रभेदः तथा च '।।।।। ।ऽऽ ।ऽऽ. ।ऽऽ. ।ऽऽ. ।ऽऽ. ।ऽऽ. ।ऽऽ. ।ऽऽ.' इतीदृशैरूनत्रिंशता वर्णैः कृताः पादा यत्र स सिंहविक्रान्तो– **यथा– तरुणतरणीति**। हे **चौलुक्यचन्द्र**! चुलुक्यकुलप्रकाशक! **धरित्रीश**! पृथ्वीपते! **त्वयि** भवति **इमां** प्रत्यक्षाम् अनूनाम् पूर्णां **सिंहविक्रान्तलीलां** सिंहस्य केशरिण इव विक्रान्तलीलां पराक्रमप्रदर्शनक्रीडां, **सदा** प्रकटयति आविस्कुर्वाणे सति **प्रत्यनीकक्षितीक्षाः** प्रतिभटराजाः केचित् **तरुणतरणीतेजः प्रतप्ताः** प्रौढसूर्य सभाप्रदग्धाः **वराहाः** शूकरा इव **पल्वलान्ते** क्षुद्रजलाशयतटे **मुस्ताक्षतिं** मेघनामतृणमूलोत्पाटनं **विदधति किल** कुर्वन्ति ननु, **तथा अन्ये**

कौशिकौघाः ऊलूक समूहाः इव **महाभूभृतां** महापर्वतानां **कन्दराः** दरीः **अभिश्रयन्ते** सेवन्ते । **केऽपि** तेष्वेव कतिचन **पुनः** भूयः **विपिनगहनमध्ये** विपिनस्य वनस्य गहनं निबिडं मध्यम् अन्तः प्रदेशः तत्र **शाखामृगाक्रीडितम्** शाखाभृगाणां वानराणाम् आक्रीडितम् विलासं **विभ्रति** धारयन्ति । यदा त्वं सिंहवत् पराक्रमं प्रकटयसि तदा तव रिपवोऽपि वनपशव इवाचरन्तीति केचिद्वराहा इव पल्वलान्ते मुस्ता अन्विष्य तन्मात्र भोजना दिनानि यापयन्ति, केचन उलूका इव गुहासु निलीय तिष्ठन्ति, परे च कान्तारमध्ये वृक्षाद्वृक्षं धावन्तो मर्कटवृत्तिं श्रयन्त इति भावः । त [।] रु [।] ण [।] त [।] र [।] णि [।] ते [ऽ] जः [ऽ] प्र [।] त [ऽ] सा [ऽ] व [।] रा [ऽ] हा [ऽ] इ [।] वा [ऽ] र [ऽ] ण्य [।] भा [ऽ] गे [ऽ] षु [।] मु [ऽ] स्ता [ऽ] क्ष [।] तिं [ऽ] प [ऽ] ल्ल [।] ला [ऽ] न्ते [ऽ] इति लक्षणसंगतिः ॥ अ० २, सू० ३९२।१ ॥

लूगिभ्यां मेघमाला ॥३९३॥

लघुषट्कात् गुरुत्रयाच्च परे यथेष्टं यत्र प्रयुज्यन्ते स मेघमाला नाम दण्डकः । यथा अविरल मदपाथोनिर्झरप्लावितक्षोणिपीठा महाशैल शृङ्गायमाणाः, कपिशरुचिलसद्दन्ताशनिद्योतरौद्रा महागर्जितत्रासिताशेषलोकाः । रिपुनरपतिमातंगाः क्षणादेव देव प्रणाशं ययुः संयुगान्तर्युगान्ता-,निल इव विपुलप्राणे महामेघमाला महीपालधुर्यं त्वयि प्रोज्जहाने ॥३ ३,१॥ एवमेकैकयगणवृद्ध्यान्येऽप्युदाहार्याः ॥३९३.१॥

यगणविन्यासयुक्तमेव दण्डकान्तरमाह– **लूगिभ्यां मेघमालेति** । विवृणोति– **लघुषट्कात् गुरुत्रयाच्च परे यथेष्टं यगणायत्र प्रयुज्यन्ते स मेघमाला नाम दण्डकः** इति । षट्परुयाबोधकेन ऊकारेणसहचरितो लः लघुषट्कबोधकः, तृतीयेन नामिना इकारेण सहचरितो गः गुरुत्रयबोधक इति लघुषट्कात् गुरुत्रयादित्यर्थोलब्धः । यथेष्टमिति कथनेन संख्या या अनियमेऽपि प्रथमोपस्थितायाः सप्तविंशति संख्याया एव पूर्तिर्यथा स्यात्तथैव न्यासः प्रदर्शनीय इति लघुषट्कं गुरुत्रयं यगणषट्क चेति '।।।. ।।।. sss. ।ss. ।ss. ।ss. ।ss. ।ss. ।ss.' इतीदृशैः सप्तविंशत्या अक्षरैः कृतपादं मेघमालानामानं दण्डक-

मुदाहरति– **यथा– अविरलमदेति** हे **महीपालधुर्य** नृपाग्रगण्य ! **युगान्तानिले** प्रलयसमयवायौ इव **विपुलप्राणे** महाबलवति **त्वयि** भवति **संयुगान्तः** संग्राममध्यं **प्रोज्जिहाने** प्रयाते सति **महामेघमालाः** विपुलपयोदपङ्क्तय इव– **अविरलमदपाथो निर्झरप्लावितक्षोणिपीठाः** अविरलः निरन्तरं स्रवन् मदः एव पाथः जलं तस्य निर्झरेण प्रपातेन प्लावितम् सम्यगाच्छादितं क्षोणिपीठं पृथ्वीतलं यैः ते, **महाशैलशृङ्गायमाणाः** महान्ति विपुलानि शैलशृङ्गाणि पर्वतशिखराणि इव आचरन्तः **कपिशरुचिलसद्दन्ताशनिद्योतरौद्राः** कपिशरुचयः श्वेतपीतवर्णाः लसन्तः शोभमाना दन्ता एव अशनयः वज्राणि तेषां द्योतेन प्रकाशेन रौद्राः भयङ्कराः **महागर्जितत्रासिताशेषलोकाः** महागर्जितेन विपुलनादेन त्रासिताः भीषिता अशेषलोकाः सर्वे मनुष्या यैः तादृशाः **रिपुनरपतिमातङ्गाः** शत्रुराजगजाः हे **देव** नृप **क्षणादेव** शीघ्रमेव प्रणाशं पलायनं ययुः प्रापुः । प्रलयकालिके बलवति वायौ वाति यथा मेघमाला प्रणश्यति, तथा **बलवतित्वयि** संग्रामभूमिं प्राप्ते सति रिपुबलस्था महागजा अपि पलायिता इति भावः । अ [।] वि [।] र [।] ल [।] म [।] द [।] पा [ऽ] थो [ऽ] नि [ऽ] र्झ [।] र [ऽ] प्ला [ऽ] वि [।] त [ऽ] क्षो [ऽ] णि [।] पी [ऽ] ठा [ऽ] म [।] हा [ऽ] शै [ऽ] ल [।] शृं [ऽ] गा [ऽ] य [।] मा [ऽ] णाः [ऽ] इति लक्षणसमन्वयः । इत्थं लघुषट्कात् गुरुत्रयाच्च परतो यगणषट्ककृतं दण्डकमुदायहृत्य– यथेष्टमिति सूचितां यगणवृद्धिमाश्रित्य कृतानामुदाहरणायादिशति– **एवमेकैकयगणवृद्धचा न्येऽप्युदाहार्या** इति । एकैकस्य यगणस्ववृद्धचा कृतानां मेघमालानामुपाहरमूह्य मितिभावः ॥ अ० २, सू० ३९३।१ ॥

यथेष्टं रा मत्तमातंगः ॥३९४॥

स्वेच्छया यत्र रगणाः प्रयुज्यन्ते स मत्तमातंगः । पुनर्यथेष्टग्रहणं लुगिम्यामित्येतस्य निवृत्त्यर्थम् । यथा– पुष्पचापस्य चापश्रियं बिभ्रती भङ्गुरभ्रूविलासैः स्मितस्मेरकस्तूरिका-, केलिपत्रावलीभूङ्गविभ्राजिगण्डस्थलेनेन्दुबिम्बानुकारं सदा कुर्वती । चारुवक्रोक्तिगर्भैर्वचोभिर्विदग्धैरमन्दं च पीयूषनिष्यन्दमातन्वती, मत्तमातंगलीलागतिः काञ्चनच्छेदगौरी मुदं कस्य नाविष्करोति प्रिया ॥३९४.१॥ एवमेकैकरगणवृद्धचान्यदप्युदाहार्यम् ॥३९४.१॥

अथैकैकगणनिर्मितान् दण्डकान् वर्णयितुमुपक्रममाणः केवलरगण निर्मित-दण्डकमाह- **यथेष्टं रा मत्तमातङ्गः** इति। विवृणोति- **स्वेच्छ्यायत्र रगणाः प्रयुज्यन्ते समत्तमातङ्गः** इति। केवलं रगणानामेव यत्र नवादिसंख्याक्रमेणविन्यासः स मत्तमातङ्गनामा दण्डक इत्यर्थः। ननु यथेष्टमिति पदं पूर्वतः समनुवृत्तमेवेति तस्येह सूत्रे पुनः कथनं किमर्थमिति चेदत्राह- पुनर्यथेष्टग्रहणं लूगिभ्यामित्यस्य निवृत्त्यर्थमिति। पूर्वसूत्रे यथेष्टमिति पदमनुवृत्तं लूगिभ्यामित्यनेन सम्बद्धम्, अत्र तन्मात्रानुवृत्तिर्न सम्भवति, किन्तु तेन सम्बद्धस्यैवानुवृत्तिः स्यात् साच नेष्टेति सर्वथा पूर्वसूत्रानपेक्षत्वबोधनाय यथेष्टमिति पदमिहावश्यकमिति भावः। अथ प्रथमं नवभी रगणैः मत्तमातङ्गम् 'ऽ।ऽ. ऽ।ऽ. ऽ।ऽ. ऽ।ऽ. ऽ।ऽ ऽ।ऽ. ऽ।ऽ. ऽ।ऽ. ऽ।ऽ.' इतीदृशैः सप्तविंशत्या अक्षरैः कृतमुदाहरति- **यथा- पुष्पचापस्येति। भङ्गुरभ्रूविलासः** कुटिलकटाक्षविक्षेपैः **पुष्पचापस्य** कामस्य **चापश्रियं** धनुःशोभां **बिभ्रती** धारयन्ती, **स्मितस्मेरकस्तूरिकाकेलिपत्रावलीभङ्गिविभ्राजिगण्डस्थलेन** स्मितेन ईषद्धासेन स्मेरेण विकसितेन- कस्तूरिकायाः केलिपत्रावलीभङ्ग्या, क्रीडा कल्पित- पत्रलतारचनया विभ्राजितेन गण्डस्थलेन कपोलफलकेन तदा सर्वदा **इन्दुबिम्बानुकारं** चन्द्रमण्डलानुकृतिं कुर्वती विदधती (तथा) **चारुवक्रोक्तिगर्भः** सुन्दरकुटिलार्थगर्भितैः **विदग्धैः** चातुर्यपूर्णैः **वचोभिः** वाक्यैः **अमन्दम्** अधिकम् **पीयूष निष्यन्दम्** अमृतप्रवाहं च आतन्वती कुर्वाणा **मत्तमातङ्गलीलागतिः** मत्तस्य मदशालिनो मातङ्गस्य गजस्य लीलागतिः सविलासगमनम् इव लीलागतिः यस्याः सा, **काञ्चनच्छेदगौरी** सुवर्णखण्डवत् गौरवर्णा **प्रिया** वल्लभा **कस्य** जनस्य **मुदं** हर्षं **न आविष्करोति** प्रकटयति अपितु सर्वस्यैव प्रकटयति भ्रूभङ्ग्या कामचापानुकारिणी, कस्तूरी रचना शोभितेन सस्मित कपोलेन सकलङ्कचन्द्रमन्डनानुकारिणी, वक्रोक्तिसहित चतुरवचनविन्यासकुशला, गजगामिनी कनकवर्णा च वल्लभा सर्वस्यैव जनस्यानन्ददायिनीति भावः॥ इत्थं नवभीरगणैः कृतं मत्तमातङ्गमुदाहृत्य दशादि रगणकृतानपि मत्तमातङ्गदण्डकानुदाहर्तुमतिदिशति- **एवमेकैकरगणवृद्धचाऽन्यदप्युदाहार्यमिति॥** अ० २, सू० ३९४।१॥

साः कुसुमास्तरणः ॥३९५॥

यथेष्टं सगणा यत्र प्रयुज्यन्ते स कुसुमास्तरणः । यथा– सुभग त्वयि दूरमुपेयुषि सा न कदाचिदुपैति विलासगृहाभिमुखं, विकचाब्जवने न ददाति दृशं शिशिरागुरुचन्दनपङ्कमपाकुरुते । न च हृष्यति चाटुकरीषु सखीष्वपि पक्वपलाण्डुनिभं वहते वदनं, कुसुमास्तरणानि पिनष्टितरां परिमुह्यति शीतलशीतमयूखकरैः ॥ ३९५.१ ॥ एवमेकैकसगणवृद्ध्यान्यदप्युदाहार्यम् ॥ ३९५.१ ॥

अथ केवल सगणरचितं दण्डकमाह– **साः कुसुमास्तरण** इति । विवृणोति– **यथेष्टं सगणा यत्र प्रयुज्यन्ते सकुसुमास्तरण** इति । यथेष्टमित्युक्त्या नियमाभावेऽपि प्रथमोपेस्थितं नवसगणात्मकेव– 'ा।ऽ. ।।ऽ. ।।ऽ. ।।ऽ. ।।ऽ. ।।ऽ. ।।ऽ. ।।ऽ.' इतीदृशैः सप्तविंशत्या अक्षरैः कृतं कुसुमास्तरणनामकं दण्डकमुदाहरति– **यथा– सुभग त्वयीति** । हे **सुभग** सुन्दर, सौभाग्यशालिन्नितिवा **त्वयि** भवति **दूरम्** विप्रकृष्टदेशम् उपेयुषि गतवति सति **सा** तव प्रिया **कदाचित्** कस्मिन्नपि समये **विलास गृहाभिमुखं** क्रीडागारसंमुखत्– **न उपैति** न गच्छति, **विकचाब्जवने** प्रफुल्लकमलकानने **दृशं** दृष्टिं **न ददाति** न क्षिपति, **शिशिरागुरुचन्दनपङ्कम्** शिशिरं शीतम्– अगुरोः चन्दनस्य च पङ्कम्– कर्दमम् **अपाकुरुते** दूरं क्षिपति, **सखीषु** सहचरीषु; **चाटुकरीषु** प्रियवादिनीषु **अपि न हृष्यति** न प्रसीदति, **पक्वपलाण्डु निभं** पक्वः कालकृतपरिपाकः पलाण्डुः कन्दविशेषः स्वनाम्ना ख्यातः तन्निभं तत् सदृशं– **वदनं** मुखं **धत्ते** धारयति, **कुसुमास्तरणापि** पुष्परचितशय्याः **पिनष्टितराम्** (अनिद्रिता गात्र परिवर्तैः) अतिशयेन मर्दयति, **शीतलशीतमयूरवकरैः** शीतलैः शीतभयूखस्य चन्द्रस्य करैः किरणैः **परिमुह्यति** चेतनां त्यजति । प्रियविरहतप्तया न क्वापि सुखमनु भूयत इति भावः । सु [।] भ [।] ग [ऽ], त्व [।] यि [।] दू [ऽ], र [।] मु [।] पे [ऽ], यु [।] षि [।] सा [ऽ], न [।] क [।] दा [ऽ], चि [।] दु [।] पै [ऽ], ति [।] वि [।] ला [ऽ], स [।] गृ [।] हा [ऽ], भि [।] मु [।] खं [ऽ] इति लक्षणसमन्वयः । अत्रापि यथेष्टमित्युक्त्या स्वेच्छया– एकोनसहस्रक्षरेपादं यावत् सगणकल्पनाऽनुमतेत्याह– **एवमेकैकसगणवृद्ध्याऽन्य-**

दप्युदाहार्यमिति । दशादि संख्ययासगणान्विन्यस्यापि कुमुमास्तरणो विज्ञेय इति भावः ।। अ० २, सू० ३९५।१ ।।

याः सिंहविक्रीडः ।।३९६।।

यत्र यथेष्टं यगणाः प्रयुज्यन्ते स सिंहविक्रीडः । यथा– **क्वचित्पङ्कशङ्का-भ्रमत्कोलदंष्ट्रासमुल्लेखनिष्पिष्टवेश्मान्तकाचावनीकं, क्वचिन्नालिकेरीफलास्फा-लनव्यग्रशाखामृगश्रेणिपर्याकुलोद्यानभागम् । क्वचित्तप्तमज्जन्महासैरिभोद्दाम-शृङ्गाग्रघातोच्छलद्दीर्घिकावारिसान्द्रं, क्वचित् सिंहविक्रीडबूत्कारघोरं चुलु-क्येन्द्र जज्ञे पुरं त्वद्रिपूणामिदानीम् ।।३९६.१।। एवमेकैकयगणवृद्ध्यान्यद-प्युदाहार्यम् ।।३९६.१।।**

केवलेन यगणेन कृतं दण्डकं वर्णयति **याः सिंहविक्रीड** इति । विवृणोति– **यत्र यथेष्टं यगणाः प्रयुज्यन्ते स सिंहविक्रीडः** इति । केवलं स्वेच्छया विन्यस्तैः यगणैरेवनिर्मितपादः सिंह विक्रीडनामा दण्डक इत्यर्थः । तत्र नव यगणैः 'ISS. ISS. ISS. ISS. ISS. ISS. ISS. ISS. ISS' इतीदृशैः सप्तविंशत्या-वर्णैः कृताः पादा यस्य स सिंह विक्रीडी दण्डनो यथा– **क्वचित्पङ्कशङ्केति** । हे **चुलुक्येन्द्र** ! चुलुक्यवंश्यनृप ! **इदानीम्** सम्प्रति **त्वद्रिपूणां** तव शत्रूणां **पुरं** नगरं– **क्वचित्** कस्मिंश्चित्स्थाने **पङ्कशङ्का भ्रमत्कोलदंष्ट्रासमुल्लेख-निष्पिष्टवेश्मान्तकाचावनीकम्** पङ्कशङ्कया कर्दमभ्रमेण भ्रमतां चञ्चूर्य-माणानां कोलानां दंष्ट्रया समुल्लेखेन निष्पिष्टा चूर्णिता वेश्मान्तस्य गृहप्रान्तस्य काचावनी काचनिर्मिता भूःयत्र तादृशं, **क्वचित्** अन्यत्र स्थाने **नगिकेली-कलास्फालनव्यग्रशाखामृगश्रेणिपर्याकुलोद्यानभागम्** नारिकेरीफलस्य आस्फालने त्रोटन धर्मान्दोलने व्यग्रया पर्यस्तया शाखामृग श्रेण्या वानरसमूहेन पर्याकुलम् परित आकीर्ण उद्यानभागः उपवनप्रदेशो यत्र तादृशम्, **क्वचित्**– कुत्रचित्स्थाने **तप्तमज्जन्महासैरिभोद्दामशृङ्गाग्रघातोच्छलद्दीर्घिकावा-रिसान्द्रम्** तप्ताः रविकरप्रदग्धाः अत एव मज्जन्तः पयसि प्रविष्टा ये महा-सैरिभाः महान्तो वन महिषाः तेषाम् उद्दामैः विशृङ्खलैः शृङ्गाग्रघातैः विषाण कोटिताडनैः उच्छलता उपरि गच्छता वारिणा जलेन सान्द्रम् क्लिन्नम्, **क्वचित्**– एकत्र प्रदेशे **सिंहविक्रीडबूत्कारघोरं** सिंहस्य विक्रीडेन विविध-

क्रीडाप्रसङ्गेन यः बूत्कारः कटुरव्यक्तश्चशब्दः तेन घोरं भयंकरं जज्ञे जातम् । तव रिपवः पुरं विहाया न्यत्र गता इति तत्रारण्यतां गते आरण्यकानां पशूनामीदृशानि चेष्टितानि अभूवन्निति भावः । क [।] चित् [ऽ] पं [ऽ] क [।] शं [ऽ] का [ऽ] भ्र [।] मत् [ऽ] को [ऽ] ल [।] दं [ऽ] ष्ट्रा [ऽ] स [।] मु [ऽ] ल्ले [ऽ] ख [।] नि [ऽ] ष्पि [ऽ] ष्ट [।] वे [ऽ] क्ष्मा [ऽ] न्त [।] का [।] चा [ऽ] व [।] नी [ऽ] कं [ऽ] इति लक्षणसमन्वयः । अत्रापि पूर्ववदेकैकगणवृद्ध्यादण्डकानुदाहर्त्तुमतिदिशति– **एवमेकैकयगणवृद्ध्यान्यदप्युदाहार्यमिति** ॥ अ० २, यू० ३९६।१ ॥

लगावनङ्गशेखरः ॥३९७॥

यत्र यथेष्टं निरन्तरौ लघुगुरू प्रयुज्येते सोऽनङ्गशेखरः । यथा– विशालभाललोलधूर्णमानकज्जलोज्ज्वलालकद्विरेफमालिकोपशोभिते, विबुद्धहावमुग्धचारुपक्ष्मलालसभ्रमत्सुतारदीर्घनेत्रपत्रसुन्दरे । अमन्दकुन्दकुड्मलाग्रकोमलोल्लसद्द्युतीद्ध द्धदन्तपङ्क्तिकेसरालये, प्रियामुखाम्बुजेऽधरं चिराय मध्विवापिबन्ननारतं भवेदनङ्गशेखरः ॥३९७.१॥ एवं लघुगुरुवृद्ध्यान्यदप्युदाहार्यम् ॥३९७.१॥

अथ प्रकारान्तरेण दण्डकमाह **'लगावनङ्गशेखर'** इति । विवृणोति– ***यत्र– यथेष्टं निरन्तरौ लघुगुरू प्रयुज्येते सोनङ्गशेखर*** *इति । यत्र* पादे यथेष्टं (षड्विंशति संख्यातोऽधिकसंख्यापूरणयोग्यं–) यथेच्छं निरन्तरौ अव्यवहितौ लघुगुरू लघोरन्तरं गुरुः, इत्येवं क्रमेण प्रयुज्येते स अनङ्गशेखरनामादण्डक इत्यर्थः । तत्र प्रथमोपस्थित चतुर्दशलघुगुरु युग्मविन्यस्तपादः 'ऽ. ।ऽ. ।ऽ. ।ऽ. ।ऽ. ।ऽ. ।ऽ. ।ऽ. ।ऽ. ।ऽ. ।ऽ. ।ऽ. ।ऽ.' इत्येवं रूपैः वर्णैः कृतो दण्डक उदाहियते– **यथा– विशाल भालेति । विशालभाललोलधूर्णमानकज्जलोज्ज्वलालकद्विरेफमालिकोपशोभिते** विशाले विस्तृते भाले अलिके लोलाः चञ्चलाः धूर्णमाना भ्रमन्तः कज्जलवत् अञ्जनवत् उज्जलाः आस्वन्तः अलकाः कुन्तला एव द्विरेफमालिका भ्रमरपङ्क्तिः तया उपशोभिते सुन्दरे **विशुद्धहावमुग्धचारुपक्ष्मलालसभ्रमत्सुतारदीर्घनेत्रपत्र सुन्दरे** विशुहावेन निर्दुष्टशृङ्गारचेष्टया मुग्धं मनोहरं चारु सुन्दरं पक्ष्मलम् लोम-

युक्तम् अलसम् आलस्यपूर्णम् भ्रमत् घूर्णमानं सुतारं शोभन कनीनिकावत् दीर्घं विशालं यत् नेत्रपत्रम् नयनदलं तेन सुन्दरे शोभिते **अमन्दकुन्दकुड्मलाग्र कोमलोल्लसद्युतोद्धशुद्धदन्तपङ्क्तिकेसरालये** अमन्दानि उत्तमानि कुन्दकुड्मलाग्राणि माध्यपुष्पकलिकाग्रभागाः तद्वत् कोमलानि मृदुलानि उल्लसन्ति द्युतीद्धानि कान्तिसमृद्धानि शुद्धानि च दन्तपङ्क्तिकेसराणि दशनमालारूप किञ्जल्काः तेषाम् आलये निधाने **प्रियामुखाम्बुजे** वल्लभावदनपद्मे **मधु** पुष्परसः मद्यं वा तदिव **अधरं** अधरोष्ठं **चिराय** बहुकालं यावत् **पिवन्** चुम्बयन् अनारतं सततं **अनङ्गशेखरः** कामपरतन्त्रः कामिशिरोमणिर्वा **भवेत्** स्यात्। वि [।] शा [ऽ] ल [।] भा [ऽ] ल [।] लो [ऽ] ल [।] धू [।] र्ण [।] मा [ऽ] न [।] क [ऽ] ज [।] लो [ऽ] ज्ज्व [।] ला [ऽ] ल [।] क [ऽ] द्वि [।] रे [ऽ] फ [।] मा [ऽ] लि [।] को [ऽ] प [।] शो [ऽ] भि [।] ते [ऽ] इति लक्षणसमन्वयः। अत्रापि यथेच्छं लघुगुरूवृद्धिकृतान्मेदानुदाहर्तुमाह– एवं **लघुगुरुवृद्धचाऽन्यदप्युदाहार्यमिति** ॥ अ० २, सू० ३९७।१ ॥

ग्लावशोकपुष्पमञ्जरी ॥३९८॥

यत्र यथेष्टं निरन्तरौ गुरुलघू प्रयुज्येते सोऽशोकपुष्पमञ्जरीनामा दण्डकः। यथा– अस्तमाश्रितस्तुषारभारपातदग्धसर्वपुष्पजातिसंचयो हिमर्तुरद्य, सर्वतो वसन्तनामधेय एष जृम्भते प्रियः सखा तवेह देव पुष्पचाप। विष्टपत्रयीपराजयेच्छया गृहाण नूतनान् शिलीमुखानखण्डितैकवीर, चारुचूतकोरकानशोकपुष्पमञ्जरीर्नवाः स्मितानि केसराणि पाटलाश्च ॥३९८.१॥ एवं गुरुलघुवृद्धचान्यदप्युदाहार्यम् ॥३९८.१॥

लघुगुरू परम्परारूपं दण्डकमुदाहृत्य गुरुलघुपरम्परात्मकं तदाह **ग्लावशोकपुष्पमञ्जरीति**। विवृणोति– **यत्र यथेष्टं निरन्तरौ गुरुलघू प्रयुज्येते सोऽशोकपुष्पमञ्जरीनामा दण्डक इति**। तथा च गुरोः पश्चाल्लघुः इत्येवं क्रमेण न्यूनतश्चतुर्दश वर्णयुग्मं यावदेकोनसहस्राक्षरपादं यस्य पादे प्रयुज्यते सः 'ऽ। ऽ। ऽ। ऽ। ऽ। ऽ। ऽ। ऽ। ऽ। ऽ। ऽ। ऽ। ऽ। ऽ।' इत्येवं रूपंवर्णैः कृतपादः, अशोकपुष्पमञ्जरीनामा दण्डक इत्यर्थः। उदाहरति– **यथा– अस्तमा-**

श्रित इति । हे **अखण्डितैकवीर** ! अखण्डितः काऽप्रतिबद्धप्रसरः एकः प्रधानं वीरः, तत्सम्बोधनम् **पुष्पचाप** ! कुसुमधन्वन् देव ! अद्य साम्प्रतं **तुषारभारपातदग्ध– सर्वपुष्पजातिसञ्चयः** तुषारभारस्य हिमसमूहस्य-पातेन पतनेन दग्धः नाशितः सर्वपुष्पजातीनां सर्वेषां पुष्पसामान्यानां संचयः समूहो येन सः, हिमर्तुः हेमन्तः **अस्तम्** विनाशम् आश्रितः प्राप्तः **इह** अत्र **तव** भवतः **प्रियः** प्रेमास्पदम् **सखा** मित्रम् **वसन्तनामधेयः** वसन्तसंज्ञकः **ऋतुः सर्वतः** सर्वस्यां दिशि **जृम्भते** वर्धते । **विष्टपत्रयोपराजयेच्छया** त्रैलोक्यविजयाभिलाषेण **नूतनान्** नवीनान् **शिलीमुखान्** बाणान् **चारुचूत-कोरकान्** सुन्दराम्रकलिकाः, नवाः नूतना **अशोकपुष्पमञ्जरीः** अशोकपुष्प-गुच्छानि **स्मितानि** विकसितानि केसराणि तन्नामकपुष्पाणि **पाटलाः** पाट-लपुष्पाणि **च** (पञ्चसंख्यानि) गृहाण धारय । कामः पुष्प चापः, पुष्पबाणश्च, हिमर्तुः पुष्पनाशकः, तथा च हिमर्तोरपगमे, पुष्पसमर्धके वसन्ते च प्रवृत्ते कामस्त्रैलोक्य विजयाय प्रवर्तते, तदर्थं च कविस्तं प्रोत्साहयति, तदीय पञ्च-संख्यकान् बाणांश्च चूतकोरकादीन् नामतो निर्दिशति, तानि गृहीत्वा त्रिलोकीं विजयस्वेति भावः । अ [ऽ] स्त [।] मा [ऽ] श्रि [।] त [ऽ] स्तु [।] षा [ऽ] र [।] भा [ऽ] र [।] पा [ऽ] त [।] द [ऽ] ग्ध [।] स [ऽ] र्व [।] पु [ऽ] ष्प [।] जा [ऽ] ति [।] सं [ऽ] च [।] यो [ऽ] हि [।] म [ऽ] तुं [।] र [ऽ] द्य [।] इति लक्षणसमन्वयः । **एवं गुरुलघुवृद्धचान्यदप्युदाहार्य-मिति** । यथा गुरुलघु क्रमेण चतुर्दश युग्मैरेतदुदाहृतम्– तथा यथेष्टं गुरुलघु-परम्परां वर्धयित्वा यावतेकोनरुद्दलाक्षरपादं दण्डका उदाहरणीया इत्यर्थः ॥ अ० २, सू० ३९८।१ ॥

ता गौ कामबाण! ॥३९९॥

यत्र यथेष्टं तगणा अन्ते गुरुद्वयं च प्रयुज्यते स कामबाणः । यथा– त्व-द्विप्रयोगे नवे बालिकाया मनोभूशरक्लेशशान्त्यै प्रयत्नात्सखीभिः समन्तात्, पयोजिनीपल्लवैः कल्पितं चारु तल्पं समासूत्रिता नूतनैर्हरियष्टिमृणालैः । रम्भादलैः कोमलैर्निर्मितं तालवृन्तं कृतश्चान्दनेन द्रवेणाङ्गरागः किलास्याः, तीव्रव्यथां प्रत्युतैतद्वितन्वत्समग्रं कठोराशयाशिक्षियत् कामबाणत्वमुग्रम् ॥३९९.१॥ एवमेककतगणवृद्धचान्यदप्युदाहार्यम् ॥३९९.१॥

पुनरन्यथा दण्डकं वर्णयति- ता गौ कामबाणः इति । विवृणोति- **यत्र यथेष्टं तगणा अन्ते गुरुद्वयं च प्रयुज्यते स कामबाणः** इति । यथेष्टं-तगणेभ्यः परेऽन्ते गुरुद्वयमिति यत्र पादबन्धः स कामबाणनामा दण्डक इत्यर्थः । तत्र षड्विंशतेरधिकवर्णकृतपादत्वे एव दण्डकः, तादृशी संख्या च नवभिस्त-गणान् गुरुद्वयं विना नसम्भवतीति तादृशविन्यासे ऊनत्रिंशद्वर्णकृतपादस्यैव प्रथम मुपस्थितिरिति- नवतगणाःगुरुद्वयं 'ऽऽ।. ऽऽ।. ऽऽ।. ऽऽ।. ऽऽ।. ऽऽ।. ऽऽ।. ऽऽ।. ऽऽ।. ऽऽ.' इतीदृशैरक्षरैः कृतपादः कामबाणनामा दण्डक उदाहृियते यथा- त्वद्विप्रयोग इति । हे **कठोराशय !** कठोरः निर्दय आशयः हृदय-भावो यस्य सः, तत्सम्बोधनम्, नवे सद्यः समुपस्थिते **त्वद्विप्रयोगे** तवविरहे बालकायाः मुग्धाया **मनोभूशरक्लेशशान्त्यै** मनोभूशरैः कामबाणैः (कृतस्य) क्लेशस्य शान्त्यै उपशमाय सखीभिः सहचरीभिः प्रयत्नात् प्रयासात्- समन्तात् सर्वतः **पाथोजिनीपल्लवैः** कमलिनीदलैः **चारु** सुन्दरं तल्पं शयनं कल्पितं रचितम्, नूतनैः नवीनैः **मृणालैः** बिसैः **हारयष्टिः** माला समासूत्रिता गुम्फिता, **कोमलैः** मृदुलैः रम्भादलैः कदलीपत्रैः **ताल** वृन्तं व्यजनं निर्मितम् विरचितम्: चान्दनेन चन्दन सम्बन्धिना द्रवेण रसेन **अस्या** बालायाः **अङ्ग-रागः** शरीरशोभा **कृतः** विहितः किल निश्चयेन, **एतत्** पूर्वोक्तम् समग्रम् सकलं वस्तु **प्रत्युत** वैपरीत्येन **तीव्रव्यथां** दुःसहपीडां **वितन्वत्** विस्तारयत् **उग्रम्** घोरं **कामबाणत्वम्** मदनशरत्वम् अभिश्रियत्, प्राप्तवत् । ईदृशी-बालां विहाय दूरं गतो यतोऽतएव कठोराशय स्वमसि, तत्तस्या अवस्थामिमां ज्ञात्वा मृदुलाशयो भवेत्याकूतम् । त्वद् [ऽ] वि [ऽ] प्र [।] यो [ऽ] गे [ऽ] न [।] वे [ऽ] वा [ऽ] लि [।] का [ऽ] या [ऽ] म [।] नो [ऽ] भू [ऽ] श [।] र [ऽ] क्ले [ऽ] श [।] शा [ऽ] न्त्यै [ऽ] प्र [।] य [ऽ] त्नात् [ऽ] स [।] खी [ऽ] भिः [ऽ] स [।] म [ऽ] न्तात्: [ऽ] इतिलक्षणसमन्वयः । अत्रापि यथेष्टवृद्धिमुदाहर्त्तुमतिदिशति- **एवमेकैकतगणवृद्ध्याऽन्यदप्युदा-हार्यम्-** इति । यथा नवभिस्तगणैरन्ते गुरुद्वयसहितैः कृतपादो दण्डकोऽयमु-दाहृतस्तथा दशादिसंख्ययावर्धितैस्तगणैरन्ते गुरुद्वयेन, यावदेकोन सहस्राक्षर-पादं यथेच्छमुदाहार्यमिति भावः ॥ अ० २, सू० ३९९।१ ॥

भा गौ भुजङ्गविलासः ॥४००॥

यत्र यथेष्टं भगणाः प्रयुज्यन्तेऽन्ते च गुरुद्वयं स भुजंगविलासः । यथा– पीनघनोन्नतवृत्तविशालतरस्तनमण्डलगाढनिपीडनकण्टकिताङ्गः, कोमलबाहुमृणाललताहृढवेष्टितकण्ठतटः परिचुम्बनविभ्रमपात्रम् । वासगृहे बहलोच्छ्वसितागुरुधूमलतानिचिते शयने मृदुनि क्षणदायां, यो दयितां रमयत्यतिसंभ्रममानजुषं स भुजङ्गविलासधुरामिह धत्ते ॥४०० १॥ एवमेकैकभगणवृद्धयान्यदप्युदाहार्यम् ॥४०० १॥

तगणवद् भगणेनापि गुरुद्वयान्तेन– पादेन दण्डकं वर्णयति **भा गौ भुजङ्गविलास** इति । विवृणोति– **यत्र यथेष्टं भगणाः प्रयुज्यन्तेऽन्ते च गुरुद्वयं स भुजङ्गविलास** इति यथेष्टं स्वेच्छानुरूपं- नवादिमारभ्य- एकोनसहस्राक्षरपादपूर्तिं यावत् भगणा अन्ते द्वयेन युक्ता यदि न्यस्यन्ते तर्हि स भुजङ्गविलासनामा दण्डक इत्यर्थः । **तथा** च नव भगणाः गुरुद्वयम्– इति प्रथमोपस्थितम्– 'ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽऽ' इतीदृशैरक्षरैः कृतपादं दण्डकमुदाहरति– **यथा– पीनघनोन्नतेति । पीनघनोन्नतवृत्तविशालतरस्तनमण्डलगाढनिपीडनकण्टकिताङ्गः** पीनौ स्थूलौ घनौ कठोरौ उन्नतौ उत्तुङ्गौ वृत्तौ मण्डलाकारौ (एवं कृत्वा) विशालतरौ अति विपुलौ यौ स्तनौ कुचौ तयोर्मण्डलस्य समूहस्य गाढमत्यन्तं निपीडनेन मर्दनेन **कण्टकितम्** रोमाञ्चितम् अङ्गं शरीरं यस्य तादृशः, **कोमलबाहुमृणाललताहृढपरिवेष्टित कण्ठतटः** कोमलौ मृदुलौ बाहू एव मृणाललता बिसवल्ली तया हृढं गाढं परिवेष्टितः कण्ठतटः यस्य तादृशः, **परिचुम्बनविभ्रमपात्रम्** परिचुम्बनस्य यो विभ्रमः विलासः तस्य पात्रम् भाजनम् **यः** जनः **क्षणदायां** रात्रौ **वासगृहे** शयनागारे **मृदुनि** कोमले **बहलोच्छ्वसितागुरुधूमलतानिचिते** बहलमत्यधिकं यथा स्यात्तथा **उद्धूसितया** उद्धूयमानया **अगुरुधूमलतया** अगुरोः सुगन्धिकाष्ठस्य धूमलतया धूमपङ्क्त्या निचिते व्याप्ते **शयने** शय्यायाम् **अतिसम्भ्रममानजुषं** अतिशयितं सम्भ्रमं साध्वसं मानञ्च जुषते तच्छीलाम् **दयितां** कान्तां रमयति क्रीडयति **स** जनः **भुजङ्गविलासधुराम्** भुजङ्गानां विटानां यो विलासः विलसनरीतिः तस्य धुराम् अग्रभागं **धत्ते** धारयति । पी [ऽ] न [।] घ [।] नो [ऽ] न्न [।] त [।] वृ [।] त्त [।] वि [।] शा [।]

ल [।]त[।]र[।]स्त[।] न [।] मं [।] ड [।] ल [।] गा [।] ढ [।] नि [।] पी [।] ड [।] न [।] कं [।] ट [।] कि [।] ता [।] ङ्गः [।] इति लक्षणसमन्वयः। पूर्ववत् एकैकगणवृद्धिमतिदिशति– **एवमेकैकभगणवृद्ध्याऽन्यदप्युदाहार्यमिति**। अन्तिम गुरुद्वयात्पूर्वमेकैकं भगणं वर्धयित्वा यावदेकोन सहस्राक्षरपादं भुजङ्गविलास दण्डका उदाहार्या इतिभावः ॥ अ० २, सू० ४००।१ ॥

नाभ्यां पञ्चमात्रैरुत्कलिका ॥४०१॥

द्वाभ्यां नगणाभ्यां परैर्यथेष्टं पञ्चमात्रैर्गणैरुत्कलिका नाम। यथा– स्मितबकुलशिरीषकङ्केल्लिककोलनव्यप्रसूनावलीपरिमलविलोलरोलम्ब- रोलाकुलीकृताखिलचारुलीलावनो, मृदुमलयसमीर- शैलूषशिक्षाक्रमानुगुणविविधाङ्गहारप्रयोगप्रपञ्चप्रवल्गल्लतानर्तकीरम्यरङ्गावनिः। अभिनवसहकारकोरकास्वादमाद्यत्- पिकयुवतिपञ्चमोच्चारमन्त्रास्रसाधितविषममानिनीमानदुर्गः समन्तादयं, कमिव सपदि सततोत्कलिकमिह नो विधत्ते जनं हेलया निर्जिताशेषलोकस्य देवस्य कामस्य निर्व्याजबन्धुर्मधुः ॥४०१.१॥ एवमेकैकपञ्चमात्रवृद्ध्यान्यदप्युदाहार्यम् ॥४०१:१॥ दण्डकप्रकरणम्।

वर्णगणात्मकाद् दण्डकानुक्त्वा वर्णमालोभयगणसंयुक्तान् दण्डकान् **वर्णयति– नाभ्यां पञ्चमात्रैरुत्कलिकेति**। विवृणोति– **द्वाभ्यां नगणाभ्यां परैर्यथेष्टं पञ्चमात्रैर्गणैरुत्कलिकानामेति**। आदौ नगणद्वयं विन्यस्य ततः परं यथेष्टं पञ्चमात्रगणः त्रिवर्णतः पञ्चवर्णात्मकान्तः, न्यस्तः चेत् स उत्कलिकानामकोदण्डक इत्यर्थः। तत्र तगणद्वयं द्वादश पञ्चमात्रगणा इत्येवं रूपं दण्डकमुदाहरति– **यथा– स्मितबकुलेति**। **अयम्** अचिर प्रवृत्तः **हेलया** अनायासेन **निर्जिताशेषलोकस्य** विजितसमस्त भुवनस्य **कामस्य देवस्य** कामदेवस्य **निर्व्याजबन्धुः** अकपटसुहृत्– **मधुः** वसन्तः **इह** अस्मिन् समये **समन्तात्** सर्वतः **कमिवजनं सपदि** शीघ्रं **सन्ततोत्कलिकम्** विस्तृतोत्सुक्यम् **नो विधत्ते** अपितु सर्वं जनं विधत्त एव। मधुमेव विशिनष्टि त्रिभिः पादैः– **स्मितबकुलशिरीषकङ्केल्लिककोलनव्यप्रसूनावलीपरिमल विलोल– रोलम्बरोलाकुलीकृताखिल चारुलीलावनः** स्मितानां विक-

सितानां बकुलाः शिरीषाः, कङ्केल्लयः, कक्कोलाः- स्वस्वनाम्नाख्याताः पुष्पवृक्षाः तेषां नव्यप्रसूनावल्याः नूतनपुष्पमाचाया परिमलेन सौरभेण विलोलाः इतस्ततः परिभ्रमन्तो ये रोलम्बाः भ्रमरा तेषां रोलैः कलकलैः आकुलीकृतं पर्याकुलीभूतम् अखिलं समग्रं चारुसुन्दर लीलावनं क्रीडोद्यानं येन सः, **मृदुमलयसमीरशैलूषशिक्षाक्रमानुगुण विविधाङ्गहारप्रयोगप्रपञ्चप्रवल्गल्लतानर्तकीरम्यरङ्गावनिः,** मृदुः मन्दशीतः मलयसमीरो दक्षिणवायुरेव शैलूषो भरतः- नाट्योपदेष्टा- तस्य शिक्षाक्रमस्य उपदेशरीतेः अनुगुणेन अनुसारिणा विविधाङ्गहारस्य **बहुविधशरीरचेष्टायाः प्रयोगस्य** व्यवहारस्य **प्रपञ्चेन** विस्तारेण **प्रवलगन्ती परिचलन्ती** या लतानर्तकी वल्लीरूपा नृत्यशिल्पिनी तस्याः रम्या सुन्दरा लीलावनिः क्रीडाभूमिः **अभिनवसहकारकोरकास्वाद माद्यत्- पिकयुवतिपञ्चमोच्चारमन्त्रास्त्रसाधितविषममानिनीमानदुर्गः** अभिनवाः नूतनानां सहकारकोरकाणां **आम्रमुकुलानाम्** आस्वादेन रसनेन माद्यन्त्याः जातमदायाः पिकयुवतेः कोकिलतरुण्या पञ्चमोच्चारमन्त्रास्त्रेण पञ्चमस्वर मानरूपमन्त्रयुक्तेन रक्षासाधनेनायुधेन साधितः वशीकृतः विषमः वठिनः मानिन्या मानरूपः दुर्गः येन तादृशः । स्मि [।] त [।] ब [।], कु [।] ल [।] शि [।], री [।] प [।] क [।]१, के [।] ल्लि [।] क [।]२, क्को [।] ल [।] न [।]३, व्य [।] प्र [।] सू [।]४, ना [।] व [।] ली [।]५, प [।] रि [।] म [।] ल [।] वि [।]६, लो [।] ल [।] रो [।]७, लं [।] ब [।] रो [।]८, ला [।] कु [।] ली [।]९, क्र [।] ता [।] खि [।] ल [।]१०, चा [।] र [।] ली [।]११, ला [।] व [।] नः [।]१२, इतिलक्षण समन्वयः । यथेष्टमिति सूचितार्थमाह- **एवमेकैकपञ्चमात्रवृद्धचाऽन्यदप्युदाहार्यमिति** । नगणद्वयात्परतो द्वादशभिः पञ्चमात्रगणैर्यथेदमुदाहृतं तथा एकैक पञ्चमात्रगणवृद्धचा न्ये पि उत्कलिकानामानो दण्डका उदाहार्याः यावदेकोन सहस्राक्षरपादम् इत्यर्थः । यद्यपि मात्रागणवृद्धावक्षरसंख्या न नियता तथापि- **यावदेकोनसहस्राक्षरः पाद** इति पूर्वमुक्ततया मात्रागणवृद्धावपि स नियमः स्वीकार्य एव, तदपवादस्यानुक्तत्वात् ।।इति दण्डक प्रकरणम्।।

इति छन्दोनुशासन व्याख्यां द्वितीयोऽध्यायः ।।

सप्रद्योते छन्दोऽनुशासने प्रथमभागस्य

❀ शुद्धिपत्रम् ❀

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
१	१०	पटालङ्कारेण	पट्टालङ्कारेण
३	१	विप्रुषाः	विप्रुषः
,,	११	स्वरुपा–	स्वरूपा
,,	१६	परमपरा	परम्परा
४	५	धिकृत	धिकृत
८	८	वृतानि	वृत्तानि
,,	१७	०त्रिकेक	०त्रिकैक
९	१	यूक्तमिति	युक्तमिति
,,	११	०मिन्नानां	भिन्नानां
,,	१९	सर्वे	सर्वं
,,	१५	सम्माव्यते	सम्भाव्यते
१०	३	मथैकेनैव	मयैकेनैव
११	१६	सर्वषां	सर्वेषां
१३	१८	एतदेध	एतदेव
,,	२७	समानैकादिः	समानेनैकादिः
१४	५	भिधेयार्थस्य	भिधेयार्थस्य
,,	१२	बोध्थार्थं	बोध्यार्थं
,,	२३	स्वरूपपं	स्वरूपं
,,	२६	इत्यभियुक्तो	इत्यभियुक्तो
१५	८	पदान्ते	पादान्ते

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
१५	१८	ऽमिमतेति	ऽभिमतेति
,,	२१	पादन्ते	पादान्ते
,,	२५	सम्मन्धात्	सम्बन्धात्
१६	१०	विबुधै	विबधै
,,	१६	लघौगुरुत्वे	लघोर्गुरुत्वे
,,	२१	प्रमिन्नासु	प्रभिन्नासु
,,	२५	पूरयितुमीष्टा	पूरयितुमिष्टा
,,	२६	अमीष्टा	अभीष्टा
१७	२	पादाग्ते	पादान्ते
,,	८	विजर्ज्जनीये	विसर्जनीये
,,	६	अतुस्वारे	अनुस्वारे
१८	२	जिहामूलीये	जिह्वामूलीये
,,	६	०स्यानीये	स्थानीये
१६	१	मावेऽपि	भावेऽपि
,,	१	सम्पतये	सम्पत्तये
,,	६	गुरुर्त्व	गुरुत्वं
,,	१३	निह्नत०	निह्नुत
,,	१६	द्वितीययस्य	द्वितीयस्य
,,	२४	स्नातुभव०	स्नातुमव
,,	,,	युत्स्नास्त	मुत्स्नस्त
,,	,,	मंशुकक	मंशुक
,,	२७	उद्धृत	उद्वृत्त
२०	७	च्विअ	चिअ
,,	,,	च्वेअ	चेअ
,,	१०	ग्राभीणा	ग्रामीणा
,,	१८	लघोर्न	लघोर्न

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
२०	१८	मांत्रेण	मात्रेण
२१	६	मेघदूते	मेघदूते
,,	१४	बर्हमारेषु	बर्हभारेषु
,,	१७	०मुपलमे	मुपलभे
,,	२२	०ब्यवहिन	०व्यवहित
,,	१२	विपरिणते	विपरिणमते
,,	१८	०बोंधिका	०बोधिका
,,	२०	ग्प्रंज्ञायां	ग्संज्ञायां
,,	२३	बाध	बाध
२३	११	ग्संज्ञा	ग्संज्ञया
,,	२१	प्रमेदे	प्रभेदे
,,	२४	प्रतिमाति	प्रतिभाति
,,	२६	प्रमानमेव	प्रभातमेव
,,	,,	विच्छेद	विच्छेदं
२४	६	उड्डयन	उड्डयनं
,,	९	नमःश्री	नभःश्री
,,	१०	पतन्ती	पतन्तीं
,,	२२	सासने	शासने
,,	२४	सूत्रस्य मुक्त०	सूत्रमुक्त०
,,	२७	मानवश्यकम्	मनावश्यकम्
,,	८	द्विघा	द्विध
,,	९	चतुष्यदा०	चतुष्पदा०
,,	१२	नियो	नियमो
,,	२६	पूर्वं यानि	पूर्वं यानि
२६	४	स्यष्टयति	स्पष्टयति
,,	१५	ऽभिधास्यन्ते	ऽभिधास्यन्ते

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
२७	१३	साम्ये	साम्ये
२९	२६	स्कन्धे	स्कन्धे
३१	१७	विरामे	विरामो
,,	२५	अनेत	अनेन
३२	९	०भावे तु	भागे तु
,,	१७	वर्धमा–	वर्धमा–
,,	१८	स्पर्धसा	स्पर्धमा०
,,	२१	वर्धमा•	वर्धमा०
३३	१	शशाङ्कार्ध	शशाकार्ध
,,	,,	अर्धचन्द्र	अर्धचन्द्र
३४	४	हर्तुमाह	हर्तुमाह
३७	२८	०मध्यतेरियं	मध्ययतेरियं
३९	५	०भागस्यादिवत्वं	भागस्यादिवत्त्वं
,,	२३	अम्मः	अम्भः
४०	३	सान्दं	सान्द्रं
,,	५	सप्तमिर्वर्णैः	सप्तभिर्वर्णैः
,,	११	मूर्ति-स्वरूपं	मूर्त्तिः स्वरूपं
४१	२०	रुमयो	रुभयो
४२	६	भोगभृतां	भोगभृतां
४३	१	घैश्चैश्च	घैश्चैश्च
,,	१०	वलमौ	वलभौ
४४	२३	दुसहः	दुःसहः
४५	७	परादिवत्वा	परादिवत्त्वा
,,	२७	०भूरयाऽपि	०भूततयाऽपि
४६	२	मीनक्षोमात्	मीनक्षोभात्
,,	८	०मेवोमोयः	०मेवोभयोः

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
४६	१२	दूरासूढ	दूरारूढ
,,	१५	स्रग्धधरा	स्रग्धरा
,,	१६	पसिद्धे:	प्रसिद्धे:
४८	२१	स [अवुधो]	[स अबुधो]
४९	६	पटालङ्कारेण	पट्टालङ्कारेण
५१	५	ऽभ्युपेय:	ऽभ्युपेय:
,,	१३	आरम्यमाण	आरभ्यमाण
५१	१०	किमपि	न किमपि
५३	३	षड्विंश	षड्विंश
५४	१८	पद्यमि	पद्यमि
,,	१९	पद्यमित्यादु:	पद्यमित्याहु:
५५	११	०दनुभूयते	०दनुभूयते
५६	८	वृथै-वेत्यर्थ	वृथैवेत्यर्थ:
,,	२१	०वर्णात्मके	०वर्णात्मको
,,	२४	शोमन	शोभन
,,	२६	घूरिति	द्यूरिति
५७	६	यस्यास्ताहशी	यस्यास्तादृशी
५८	१७	गुरो:ऽच	गुरोश्च
५९	२१	वघूरिव	वधूरिव
६०	१४	०गुरुपदिष्टं	गुरूपदिष्टं
६२	२२	लघु	लघु:
६४	४	अमिभूत	अभिभूत
,,	६	वाऽन्तेऽवक्र	वाऽन्तेऽवक्र:
,,	९	सावित्री प्रमा	सावित्री प्रभा
,,	२४	मेघाऽम्बरेण	मेघाडम्बरेण
६५	११	इत्याह	इत्याहु:

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
६५	२०	षडक्षरछन्दो	षडक्षरच्छन्दो
,,	२४	देवना०	देवानां
६६	८	पदा	पादा
,,	१३	किमर्थ	कमर्थं
,,	२३	विदधाती–	विदधाती–
,,	२५	सत्त्वाल्लघोरपि	सत्त्वाल्लघोरपि
६७	१०	भवत्ये–वेत्यर्थः	भवत्येवेत्यर्थः
६९	२२	मृदुपाणी	मृदुपाणि
७०	१६	चोमयत्र	चोभयत्र
,,	२४	आम्यां	आभ्यां
,,	२५	शफरीका	शफरिका
७१	१४	क्ष्म	क्ष्य
,,	१९	ताम्यां	ताभ्यां
,,	२५	रगणा	रगण
७२	३	शोमया	शोभया
,,	११	ताम्यां	ताभ्यां
,,	२५	अश्रुमिः	अश्रुभिः
७३	२०	प्राकारै	प्रकारै
,,	२७	ह	ट
७४	४	व्याचेष्टे	व्याचष्टे
,,	९	तीक्ष्णास्प्रत्वं	तीक्ष्णास्त्रत्वं
,,	,,	जेज्ञ	जज्ञे
,,	१०	५५	५०
,,	१५	ताम्यां	ताभ्यां
,,	१७	मयुरे	मयूरे
,,	२०	विप्रययुक्तानां	विप्रयुक्तानां

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
७४	२३	प्रस्तारक्रमणे	प्रस्तारक्रमेण
७५	१५	स्याध्रुवं	स्याद् ध्रुवं
,,	२०	उष्णिवीहेति	उष्णिहीवेति
७६	१०	जगणः ।ऽ।, गुरुः	जगणः ।ऽ।, सगणः ।।ऽ, गुरुः
,,	११	नामकं मुष्णि०	नामकमुष्णि०
,,	२२	हलाघेनापि	हक्षायुवेनापि
,,	२३	दाद्रियमाणं	दाहि्यमाणं
,,	२५	मनः	मे मम मनः
७७	५	गुरु	गुरुः
,,	१४	विच्छन्ना	विच्छिन्ना
,,	१५	न्घ[।]जा(ऽ)	न्घ[।]ग[।]जा[ऽ]
,,	२०	उद्धेतेति	उद्धतेति
,,	२३	गदर्पवती	ग्पर्पवती
७८	८	भमर	भ्रमर
,,	२१	किम ?	किम् ?
७९	३	भोगवतीति	भोगवतीति
,,	१३	व्यवदिशती–	व्यपदिशती
,,	१८	बिधु	विधु
,,	१९	गुरु	गुरुः
,,	२१	प्रयो	प्रायो
,,	,,	रात्रिममि	रात्रिमभि
८०	२३	चित्नम्	चित्रम्
८१	१३	चपलेत्येन्ये	चपलेत्यन्ये
,,	२४	उज्जववलनिशा०	उज्ज्वलनिशा
,,	,,	उज्जवलः	उज्ज्वलः
,,	२६	शरतसम्बन्धिनी	शरत्सम्बन्धिनी

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
८२	१३	दुःखापानोदाय	दुःखापनोदाय
८३	१२	र्ज्जनं	र्ज्जुनं
,,	२२	अपश्यात्	अपश्यत्
,,	२३	प्रशंससनीयतां	प्रशंसनीयतां
८४	२४	कोकिलकुजन	कोकिलकूजन
८५	१०	बसन्त	वसन्त
,,	११	०बाणत्वेनोत्प्रक्षेयम्	०बाणत्वेनोत्प्रेक्षेयम्
,,	१३	प्रस्तारक्रमणे	प्रस्तारक्रमेण
८६	६	ल्यावित्यस्यार्थं	ल्गात्रित्यस्यार्थः
,,	१०	वस्तुत्वविचारे	वस्तुतत्त्वविचारे
,,	२१	सभनिनैकादि०	समानेनैकादि
,,	२२	समानतावतिथस्य	समानस्तावतिथस्य
८७	५	चतुष्टस्य	चतुष्टयस्य
,,	६	[एभिः]	[एभिः]
,,	१०	कुवन्तु	कुर्वन्तु
,,	१३	परित्यज्यते	परित्यज्य
८६	७	०वैदुष्पाः	वैदुष्याः
,,	२१	०केतुध्वजः	केतुः
,,	२२	गजकुम्भेषु	गजकुम्भेषु
६०	५	विदघत्	विदधत्
,,	१८	लणित०	ललित०
६१	४	कूचित्	क्वचित्
,,	११	बैकल्पिक	वैकल्पिक
,,	१४	प्रभातु०	प्रमातु०
,,	१५	जगन्त्रयी	जगत्त्रयी
,,	२०	,,	,,

पृष्ठे	पंक्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
९१	२४	०न्त्रयी	०त्रयी
९२	८	ग्लावीत्य०	ग्लावित्य०
,,	१२	वैचिन्त्यं	वैचित्त्यं
९३	२	रजःपुञ्च	रजःपुञ्ज
,,	४	'गु [।] रू [।]	'गु [।] रु [।]
,,	१५	समग्रा	समग्रां
९४	१	मेधानां	मेघानां
,,	३	दानवारिस्रावि॰	दानवारिस्रावि॰
,,	२२	०मालमारिणम्	०मालभारिणम्
,,	२५	प्रकाश्यति	०प्रकाशयति
९५	८	दुःस्वरूप	दुःखरूप
,,	१५	चन्दस्य	चन्द्रस्य
,,	१८	विरहेपा	विरहेण
९६	२	०मप्पनुष्टुभि	०मप्यनुष्टुभि
,,	३	ङैः	ङैः
,,	९	०श्चतुर्मिश्च	चतुर्भिश्च
,,	१२	भ्रूविक्षेयः	भ्रूविक्षेपः
,,	१४	करङ्गः	कुरङ्गः
,,	२४	उज्जवले	उज्ज्वले
,,	२५	०मुज्जवलं	उज्ज्वलं
९७	१	भूपतेर्यतित्वेन	भूपतेर्यतित्वेन
,,	१४	अभिलष्टन्	अभिलषन्
९८	४	सम्माव्यते	सम्भाव्यते
,,	८	कश्चिदमिप्रायो	कश्चिदभिप्रायो
,,	१०	भवदीयैवोत्यप्रेक्षा	भवदीयैवोत्प्रेक्षा
,,	१६	प्रत्तीयते	प्रतीयते

पृष्ठे	पंक्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
९८	१७	स्वामीष्टार्थ	स्वाभीष्टार्थं
,,	२४	शिशमृता	शिशुभृता
१००	८	पापजलने	पापजलेन
,,	२४	तावदेव	तावदेव
१०१	७	तद्वच्यानां	तद्वाणानां
,,	१२	०मित्यपहनुत्यलंङ्कारो	०मित्यपहनुत्यलङ्कारो
१०२	२४	मधुनि, ०मने	मधुनि, ०मते
१०३	१९	विशालनामकं	विशालानामकं
१०४	८	०नयनस्तौर्घं	नयनास्तौर्घः
,,	,,	अ द्रं	आर्द्रं
,,	११	मकराकर	मकराकार
१०५	८	क्रियांन्	कियान्
,,	१०	महार्घा	महार्घा
,,	१२	ण [ऽ]	णः [ऽ]
,,	१३	सम्सा:	मम्साः
,,	१७	त्वदृष्टेति	त्वद्दृष्टेति
,,	१९	रादुग्रस्ता	राहुग्रस्ता
,,	२०	सिंहक्रान्ता	सिंहाक्रान्ता
,,	२१	रादुग्रासे	राहुग्रासे
१०६	८	पूर्वाक्त०	पूर्वोक्त०
,,	१५	द्वादशधिका	द्वादशाधिका
,,	,,	धवर्ण-	घवर्ण-
१०७	२	ईषद्रु–	ईषद्र–
,,	१०	तृतीयध्याये	तृतीयाध्याये
,,	२३	पङ्क्तिका	पङ्क्तिका
१०८	४	०शोभिताम्	शोभिताम्

पृष्ठे	पंक्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
१०८	१३	स्रमग्ज्ञानेति	सम्यग्ज्ञानेति
,,	१६	०श्लाघतीयतां	श्लाघनीयतां
१०६	८	चतुरङ्गाया:	चतुरङ्गायां
,,	९	जल्याम:	जल्पाम:
,,	१८	लघवो	लघवो
११०	६	विहान्	विटान्
,,	६	मेधान्धकार	मेघान्धकार
,,	१५	०मावश्कमेव	०मावश्यकमेव
१११	२१	काश्चिदन्य	कश्चिदन्य
११२	२	भित्व–	त्रित्व–
,,	११	साधनभावश्यकम्	साधनमावश्यकं
११३	१२	जाडयस्यासङ्गादिति	जाड्यस्यासङ्गादिति
,,	२२	समुज्जवल०	समुज्ज्वल
११४	४	भमना	भनमा
,,	६	मणुलं	मण्डलं
,,	१०	नबबन्धूक	नवबन्धूक
११५	६	उपास्थिता०	उपस्थिता०
,,	१०	दृष्टवा	दृष्ट्वा
,,	१८	उपास्थिता	उपस्थिता
,,	२३	कालिकायाम्	कलिकायाम्
११६	५	त्रया,	त्रपा
,,	,,	कु [ऽ]	कुं [ऽ]
,,	१५	मृगचलां	मृगचपलां
,,	१७	प्राप्तिरससम्भविनी	प्राप्तिरसम्भविनी
,,	२१	निर्गच्छम्द्रमर०	निर्गच्छद्भ्रमर
,,	२६	मथा	यथा
,,	२७	निर्गच्छम्द्रमर	निर्गच्छद्भ्रमर

पृष्ठे	पंक्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
११७	२	उद्धिरतीवेत्युत्प्रेक्षा	उद्गिरतीवेत्युत्प्रेक्षा
,,	५	कृष्णवर्णनायाः	कृष्णवर्णतायाः
,,	,,	सा [ऽ] ध [ऽ]	सा [ऽ] द्य [ऽ]
,,	६	हश	ह [।] श
,,	१५	एमिः	एभिः
,,	१७	वृद्धि	वृद्धि
११८	४	चुलुकय !	चुलुक्ष !
,,	१४	विशं	विंशं
,,	१७	०सतूष्णाः	सतृष्णाः
,,	१८	शोमन	शोभन
,,	२०	पत-तन्योऽ	पतन्त्योऽ
,,	२३	केविदाचार्या	केचिदाचार्या
,,	२५	प्रस्तारक्रमणे	प्रस्तारक्रमेण
११९	६	०पत्निदाया०	०पादाया०
,,	११	प्रगल्मो	०प्रगल्भो
,,	१५	मु [।]	भु [ऽ]
,,	२३	परमेष्ठिनां	परमेष्ठितां
१२०	१	सवदेवभयो	सर्वदेवमयो
,,	१०	विणानिनादा०	वीणानिनादा-
,,	११	हृदयं	हृद्यं
,,	१३	०प्रकाशभिरामं	प्रकाशाभिरामं
,,	१५	०मादधति	०मादधाति
,,	२२	गुरुदयं	गुरुद्वयं
१२१	२	व्यञ्चितः	व्यञ्जितः
,,	३	पद्न्यासेन	पदन्यासेन
,,	२४	धारयत्यन्योऽपि	धारयन्त्योऽपि

पृष्ठे	पंक्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
१२१	२५	विपरिता	विपरीता
१२३	१	घूर्णिताङ्ग–	घूर्णिताङ्गी
,,	२	अभूत	अभूत्
,,	१०	राजन	राजन्
,,	१५	आसनश्चेति	असनश्चेति
,,	१७	भ्रमरपङ्क्तिः	भ्रमरपङ्क्तिँ
,,	१८	शरदतुं	शरद्दतुं
,,	२१	दधसि	दधासि
,,	२६	नवमस्तद्वयं	मस्तद्वयं
१२४	१	वीरुधा	वीरुधां
,,	४	घैरिति	घैरिति
,,	७	निर्मिभाणा:	निर्मिमाणा:
,,	१०	स्काराभोदा:	स्फारामोदा:
,,	१८	मङ्गात्	भङ्गात्
,,	२७	चालिता:	चलिता:
१२५	१	०विधात: समुपास्थित:	०विघात: समुपस्थित:
,,	१४	मेघानां; अधिक्य	मेघानां; आधिक्य
१२६	६	०बुद्धया, वक्रापाति	बुद्धया, वक्त्रापाति
,,	७	वक्रे	वक्त्रे
,,	२२	चतुर्मि०	चतुर्भि०
,,	२६	रोगेण; गृच्छात्	रागेण; गुच्छात्
,,	२७	०फलामिव, ०मघं	०फलमिव; ०मघं
१२७	१७	तदाश्चर्मिति	तदाश्चर्यमिति
,,	२०	घूलयो	घूलयो
,,	२४	रतरा	रनरा
,,	२५	तानकीनेति	तावकीनेति

पृष्ठे	पंक्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
१२८	२	घूली:; प्रभूतमेन	घूली:; प्रभूततमेन
,,	,,	मदनाम्मसा	मदनाम्भसा
,,	११	रयोद्धता०	रथोद्धता०
,,	२३	किमित्यदि	किमित्यादि
,,	२४	ङ्का [ऽ]' इति	ङ्कं [ऽ]' इति
,,	२८	गति:।।	गति: ।। अपरवक्त्रमिति भरत:। उत्तरान्तिकेयम् ।। १४३.१ ।।
१२९	१४	चाहहासिनीयम्	चारुहासिनीयम् ।
,,	१९	०कृतान्तन्द्ररौ०	०कृतान्तरौद्र०
,,	२४	क्षमायते	क्षमापते
१३१	१४	दन्तद्युतिद्यौत	दन्तद्युतिधौत
,,	१८	दन्तद्युतिद्यौतेति	दन्तद्युतिधौतेति
,,	२०	नवम्–चिर०	नवमचिर०
,,	२४	द्यौ [ऽ] त	धौ [ऽ] त
१३२	२, ६	सर्पद्विपेन्द्र	सर्पदूद्विपेन्द्र
,,	१०	शेषश्ययां	शेषशय्यां
,,	११	वर्द्धते	वर्द्धते
,,	२१	नि: सिम	नि:सीम
१३३	९	सौभाग्यशलिन्	सौभाग्यशालिन्
,,	,,	०दीर्घोकृत०	०दीर्घीकृत०
,,	१६	दीर्घीभूता:	दीर्घीभूता:
,,	२६	स्मनलगा:	समनलगा:
१३५	२७	पुण्यात्मानां	पुण्यात्मनां
,,	२८	विदधाति	विदधाति
,,	,,	रौदेन्द्र०	रौद्रेन्द्र

पृष्ठे	पंक्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
१३६	८	अष्टाविशं	अष्टाविंशं
,,	१७	सि [s]	सि [।] दु [s] ष्ट [s]
,,	,,	[पादन्तस्य गुरुत्वात्]	[पादान्तस्य संयोगादेश्च गुरुत्वात्]
,,	२७	त्रिष्टुब्जातवेव	त्रिष्टुब्जातावेव
१३७	४	परस्यमेलनेन	परस्परमेलनेन
,,	२५	बालाऽऽऽऽ।।	बालाऽऽऽऽ।,
१३८	२	०पेक्षयां	०पेक्षया
,,	१०	०गौरवभिऽन्येषा०	गौरवाभियाऽन्येषा०
,,	१२	स्वयमेवन्वषणी०	स्वयमेवान्वेषणी०
,,	१८	ग्रन्थान्तरत्	ग्रन्थान्तरात्
,,	२३	गानाम्भात्	गानारम्भात्
१३९	३	सानुनि	सानूनि
,,	४	गण्डस्थरवर्जू	गण्डस्थखर्जूः
,,	,,	विधट्टि	विघट्टि
,,	१७	दुर्वहश्रेणि०	दुर्वहश्रोणि०
,,	१८	बोदु०	वोदु०
,,	१९	अश्यस्य	अश्वस्य
,,	२५	०रूपेन्द्रवज्रा	०रुपेन्द्रवज्रा
,,	२८	नरवरन्ध्र	नखरन्ध्र
१४०	२	स्नुत्या	स्नुत्या
,,	३	घौतं	घौतं
,,	५	सिहहतं	सिंहहतं
,,	६	हिमस्नुत्या	हिमस्नुत्या
,,	१२	बिभेतुमोघीकृत	बिभेतु मोघीकृत
,,	१३	०माहुत०	०माहूत०

पृष्ठे	पंक्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
१४०	१६	स्वशरैरहतं	स्वशरैरहं तं
,,	१६	वश्यं-वश्यंकतं	वश्यकर्तुं
,,	२१	लक्षणसंगति	लक्षणसंगतिः
१४१	२	द्वितियादिषु	द्वितीयादिषु
,,	२२	गृहासु	गुहासु
१४२	१	स्थापितास्यो०	स्थापितस्यो०
,,	१२	पांमु विविद्य	पांसुविविक्त
,,	१४	अननन्तरं	अनन्तरं
१४४	१	उपजातश्चतुर्दश	उपजातयश्चतुर्दश
,,	३	दशभेदा	चतुर्दशभेदा
,,	४	०चिन्हेनेन्द्र०	०चिह्नेनेन्द्र०
,,	७	साऽधुना	साऽधुना
,,	११	प्रयोगेऽपि	प्रयोगोऽपि
,,	१३	मदीयबालव्रण	मदीयबाणव्रण
,,	१६	गर्वाम्	गर्वम्
,,	२०	दैत्यचम् महार्णवं	दैत्यचमूमहार्णवं
,,	,,	०श्चुक्षुमिरे	श्चुक्षुभिरे
,,	२१	ममुर्महस्तस्यरणे	ममुर्भटास्तस्य रणे
,,	२२	दैत्यचनूमहार्णवं	दैत्यचमूमहार्णवं
,,	२४	भहाः	भटाः
,,	,,	नयनैकोणके	नयनैककोणके
,,	२५	स्यैकस्मिन्	स्यैकस्मिन्
,,	,,	तुच्छदृष्ट्या, मटान्	तुच्छदृष्ट्या; भटान्
,,	२६	दृष्ट्वैव	दृष्ट्वैव
१४५	५	निचैस्त्वम्	नीचैस्त्वम्
,,	११	सौनिकाः	सैनिकाः

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
१४५	१५	विजयेषिण	विजयैषिणः
,,	१७	०घानानि	०धानानि
,,	२४	ऽपशुकन	ऽपशकुन
,,	२६	श्रवणान्तशतिना	श्रवणान्तशातिना
,,	२८	कुक्कराः	कुक्कुराः
१४६	५	गोमतालिकाम्	गोमतल्लिकाम्
,,	२४	सुमटेन	सुभटेन
१४७	२	मुदुर्मुहुः	मुहुर्मुहुः
,,	३	गृधैरभि०	गृध्रैरभि०
,,	५	ऽपशुकन	ऽपशकुन
,,	७	मुहुर्मुदुः	मुहुर्मुहुः
,,	६	अमि०; ०भिमुखम्	अभि०, ०भिमुखम्
,,	२१	०भ्रन्ति, बमार	०भ्रान्ति, बभार
,,	२५	रुद्दाम	रुद्दाम
१४८	३	द्विया:; बृंहितै	द्विपाः, बृंहितैः
,,	५	निखकाशम्	निरवकाशम्
,,	११	जगत्रयोऽपि	जगत्त्रयोऽपि
,,	१६	शेषजरत्रयः, जगत्रयं	शेषजगत्त्रयः, जगत्त्रयं
,,	२०	इत्थेवं	इत्येवं
१४९	९	०वनिताकान्तस्यः	०वनितास्यकान्तयः
,,	११	भहानां	भटाना
,,	१७	समन्नतः, सघः	समन्ततः सद्यः
,,	२४	द्वितियादिषु	द्वितीयादिषु
,,	२८	सजातीयातामेव	सजातीयानामेव
१५०	१	०वृत्तत्वापृह०	०वृत्तत्वाग्रह
,,	,,	लाघवार्थः	लाघवार्थं:

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
१५०	६	०दीनां मितः	०दीनामितः
,,	१२	मद्रीसुतौ; ब्रह्मणाश्च	माद्रीसुतौ; ब्राह्मणाश्च
,,	१५	स्वमेतनोक्त्वा	स्वमतेनोक्त्वा
१५१	२३	घर्मप्रचुरः	धर्मप्रचुर
,,	२५	अचान्तर	अवान्तर
,,	२६	व'शस्थम्	वंशस्थम्
,,	२८	छन्छ०	छन्द०
१५२	७	प्रतिषाद्य	प्रतिपाद्य
,,	११	किलात्यास्वपि	किलान्यास्वपि
,,	१८	०दासाङ्ग-	दसाङ्ग-
,,	१९	शङ्कनीथं	शङ्कनीयं
,,	२३	२०२८ भेदा	२०४८ भेदा
,,	६	वानेश्वर	वानरेश्वर
,,	१६	महोपते !	महीपते
,,	२१	पुरूखो	पुरूरवो
,,	,,	पुरुरवाश्व	पुरूरवाश्च
,,	२४	चरित्तम्	चरितम्
१५४	१२	नाहितलज्जा	नाटितलज्जा
,,	१३	कृतिमं	कृत्रिमं
,,	१७	अन्येऽद्रु-	अन्येऽद-
,,	२४	'ऽ।	'ऽ।ऽ.
१५५	२	प्रजाप्रति	प्रजापति
,,	२१	आदधतं	आदधतं
,,	२२	कुम्भममिव	कुम्भमिव
,,	२३	अतोहकता	अतोटकता
,,	२४	मृत्यं	भृत्यं

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
१५५	२५	वि [।] रु [ऽ] घ	वि [।] रु [ऽ] द्ध
१५६	३	लघुत्व०	लघुत्व०
,,	,,	सन्त्यैवेति	सन्त्येवेति
,,	१३	साद्रेति	सार्देति ।
,,	१७	झहित्येव	झटित्येव
१५७	१२	कुम्मीव	कुम्मीव
१५८	७	कथम	कथय
,,	२०	भ्रावुज्जवलेति	भ्रावुज्ज्वलेति
,,	२२	उज्जवला	उज्ज्वला
१५९	२	सोदुमशक्या	सोढुमशक्या
,,	३	कटाक्षपाना	कटाक्षपाता
,,	१६	कुचयुगमरेण	कुचयुगभरेण
,,	२०	तस्यावताराग	तस्यावताराय
१६०	५	जातीच्छन्द	जातिच्छन्द
,,	९	जयोष्ठी	जपोष्ठी
,,	,,	अतिरिक्त	अतिरक्त
,,	११	यस्या सेति	यस्याः सेति
,,	१४	श्रीखि	श्रीरिव
१६१	१३	भुजगा	भुजंगा
१६२	१९	लघूनि	लघूनि
१६४	३	हे सखिन !	हे सखि !
,,	१२	व्यजयते	व्यज्यते
१६५	९	०रीति	रीतिः
,,	१०	धूर्तस्वस्वरूपा	धूर्तः स्वस्वरूपा
१६६	२	तथाविधानम्	तथाविधानाम्
,,	७	चतुर्भिश्चतु०	चतुर्भिश्चतु०

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
१६७	७	घैरिति	घैरिति
,,	२४	अष्टश्चि	अष्टभिश्च
१६८	३	कुसुमौध	कुसुमौघ
,,	५	पुष्पसमुहं	पुष्पसमूहं
१६९	५	भ्रकुटिं	भ्रूकुटिं
,,	१२	ह्यानें	ह्वानें
,,	,,	रचय	घटय
,,	१७	प्रत्युर्मुख	पत्युर्मुख
१७३	१७	त्रित्वाबोध	त्रित्वबोध
१७४	५	सुरनाथैर	सुरनाथै
,,	९	जगति	जगती
१७५	३	कामपियासां	कामपिपासां
,,	१७	दशैरक्षरैः	दृशैरक्षरैः
,,	१९	गृहं	प्रयाहि गृहं
,,	१५	वर्षार्तोः	वर्षर्तोः
१७६	१३	दाक्षिण्यदिभिः	दाक्षिण्यादिभिः
,,	१५	तद्गु	त्वद्गु
१७७	५	नृप (।); क्षां–	नृ (।); क्ष्मां
,,	१७	अतिजगती जातिं ।। अथ अतिजगती ।। वर्णयितु०	अथ अतिजगती ।। अति-जगतीजातिं वर्णयितु०
१७८	१०	सुवक्त्राया:	सुवक्त्राया:
,,	१५	ह(।) द(।) ह्(।) त(।)	ह्(।)त(।)
१७९	३	लाश्च	लाषश्च
,,	४	प्रतिसिद्धः	प्रतिषिद्धः
,,	८	सर्वजनकरञ्जक	सर्वजनरञ्जक
,,	१९	उत्प्रेक्ष्वन्निदश	उत्प्रेक्ष्वत्रिदश

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
१७९	२५	प्रभाक्षरत्रये	प्रथमाक्षरत्रये
१८०	७	।ऽ।.' इतीदृशै०	।ऽ।ऽ.' इतीदृशै०
,,	११	चरङ्गिते	तरङ्गिते
,,	२४	धैरिति	धैरिति
१८१	१	निदाद्य	निदाघ
,,	२०	श्चतुर्भिश्च	चतुर्भिश्च
,,	२२	०लीलाग रं	०लीलागारं
१८२	४	०माल्यानुगता;]	माल्यानुगता]
,,	११	श्चतुर्भियतेः	चतुर्भिर्यतेः
,,	२१	०वाग्विक्रमा	वाग्वक्रिमा
,,	२२	वाचो विक्रमः, वचन-विन्यासो	वाचो वक्रिमा वचनस्य वक्रता
१८३	२५	चैरिती	चैरिति
१८४	५	प्राद्दामैः	प्रोद्दामैः
,,	१८	वंशोद्यततक	वंशोद्योतक
१८६	१	शशीकला	शशिकला
१८७	४	वर्षतुना	वर्षर्तुना
,,	१०	आज्ञाभवधीर्य	आज्ञामवधीर्य
,,	२०	सग्ण-जग्ण	सगण-जगण
,,	२६	०गुणगणस्तविका	०गुणगणस्ताविका
१८८	१	नाहमौहिकं	नाहमैहिकं
,,	२	भवदीगुणानु०	भवदीयगुणानु०
,,	,,	या पयितुमिच्छामिति	यापयितुमिच्छामीति
,,	१४	नीलवरस्त्रस्य	नीलवस्त्रस्य
,,	१७	गौरवपुरमृतरश्मि	गौरवपुरमृतरश्मिः
,,	२०	नीलबस्त्र०	नीलवस्त्र०

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
१८८	२६	विद्ध्यात्	विदध्यात्
१८९	१०	कुटनानां	कुटजानां
,,	११	पुस्परागेण	पुष्परागेण
,,	२५	प्रशमवृत्ते–	प्रशमवृत्तेः
१९०	६	किमत	किमुत
,,	९	इन्ननन्तः	इन्नन्तः
,,	१३	त्मौ०	त्मौ०
,,	१५	य त्वां	यत् त्वां
,,	१७	त्मौ	त्मौ
,,	१८	तमसजगाः	तभसजगाः
१९१	९	त्मौ	त्मौ
,,	१०	ISI, S' इतीदृशौ	ISI, ISI, S' इतीदृशौ
,,	१२	अभ्स्यति वेति	अभ्यस्यतीवेति
,,	१६	रुप्यमेव	रूप्यमेव
,,	२१	०निर्माणेच्छ	निर्माणेच्छू
,,	२४	साधर्म्प	साधर्म्य
,,	,,	कलशिक्षण	कलाशिक्षण
१९२	८	यतिर्यत्र–कोट्टुम्म०	यतिर्यत्र तत् कोद्दुम्भ०
१९२	१४	०भाजस्त्रियो	भाजः स्त्रियो
,,	२४	–मगण–	–यगण–
,,	२५	जगतिजाति	जगतीजाति
१९३	२	त्रुहिताः	त्रुटिताः
,,	६	तद्दन्तानां	तद्दन्तिनां
,,	,,	दन्तांरिछत्वा	०दन्तांश्छित्वा
,,	७	करिदत्ता	करिदन्ताः

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
१९४	२५	०मृद्धयो	मृद्धया
१९५	२	म्गावप०	ल्गावप०
,,	३	लघुगुरु च	लघुगुरू च
१९६	१९	रिपुनियनं	रिपुनियमनं
१९७	६	यष्टया	यष्टचा
,,	१४	भवच्छलष०	भवच्छ्लेष०
,,	१५	तहतिभिरियं	प्रतिहतिभिरियं
,,	२३	अशोक चेति	अशोकश्चेति
१९८	८	मान्यते	मन्यते
,,	९	तव्द्रत	तद्व्रतं
१९९	८	माद्यद्ग्रन्धेति	माद्यद्गन्धेति
,,	१२	हिमालयेश्चेति	हिमालयश्चेति
२००	११	प्रियवदनाम्बुजम्	प्रियावदनाम्बुजम्
,,	१४	मगण–सगण–रगण	मगण–रगण–
२०२	७	सहजप्रित्या	सहजप्रीत्या
,,	९	–राश्मिः	रश्मिः
,,	१७	भजजगगा	तभजजगगाः
,,	२४	सत्कर्णिकारचित्तेति	सत्कर्णिकारचितेति
२०३	१७	व्यतेश्नु	व्यश्नुते
,,	२५	निशङ्कं	निःशङ्कं
,,	२६	किञ्चिदालपत्ती	किञ्चिदालपन्ती
२०४	१	वाच्यर्थं	वाच्यार्थं
,,	२	व्यश्तुते	व्यश्नुते
,,	२२	०रूपातीशयोक्तिः	०रूपातिशयोक्तिः
२०५	७	आनुकुल्येन	आनुकूल्येन
,,	८	उपतरथे	उपतस्थे

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
२०५	११	कुर्वेति	कुर्विति
,,	२२	संचीतु	संचिनु
२०६	३	ददुर्कः	दर्दुरकः
,,	१३	तदपि	तदापि
,,	१४	स्वीकटु-	स्वीयकटु-
,,	१८	वेदय-	वेधय
२०७	१	भ्भस्नाद्रौ	भ्जस्नाद्रौ
,,	८	मनः स्मिन्	ममास्मिन्
,,	१०	स्वलनम्	स्खलनम्
,,	,,	प्रम्नाम्नः	मभ नाम्न
,,	११	नाभस्खलेना-	नामस्खलनेना-
२०८	८	पृष्टदेशे	पृष्ठदेशे
,,	११	गौशरमललि०	गौशरभललि
२०९	१०	अद्वितिया	अद्वितीया
,,	२२	वर्तन	वर्तंत
२१०	२	चैगच्छन्ती	चैर्गच्छन्ती
,,	३	साराह्यार्थं	साहाय्यार्थं
,,	४	उपरिभाग स्यात्	उपरिभागस्थान्
,,	,,	विद्घाति	विदधानि
,,	६	साहाय्याम	साहाय्याय
,,	७	योजयतिति	योजयतीति
,,	२०	जगणश्च	यगणश्च
,,	२३	०पिहितं प्रदेशः	०पिहितांसदेशः
,,	२५	गणन्-जित	गणपूजित
२११	२	ईश्वरस्य	ईश्वरश्च
,,	३	जा [।] ह [ऽ]	ज [।] टा [ऽ]

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
२११	११	चत्वार सश्चेति	चत्वार: सश्चैति
,,	१७	विचयसि	विरचयसि
,,	१९	दुःखंहृतं	दुखं हृतं
,,	२३	पीङ्गल	पिङ्गल
,,	२४	चन्द्रवर्त्ता	चन्द्रावर्ता
,,	२५	वासावो	वसवो
,,	२६	०हृष्टिमिरपि	दृष्टभिरपि
२१२	१६	अटिति	झटिति
,,	२१	सूत्र–	सूत्रं
२१३	४	यशसीती	यशसीति
,,	११	मनि	मति
,,	१८	मालिनिति	मालिनीति
,,	१९	नगणद्वयात्	नगणद्वयाद्
,,	२३	०नयनानम्	नयनानाम्
,,	२५	०ज्योत्सां	ज्योत्स्नां
२१५	३	तभा	तभ्रा
,,	६	०मनुष्टुब्जाति	०मतिशक्करीजाति
,,	९	०जाह्नवीमुनम्	०जाह्नवीयमुनम्
,,	११	शाद्धल	शाद्वल
,,	१४	वि[।]हा[s]च[।]	वि[।]हा[s]य[।]
,,	२३	अरण्ये	अरण्ये
२१६	६	चन्दो	छन्दो
,,	,,	त्राहुरिति	प्राहुरिति
,,	११	०माण्ड	०मण्ड
,,	२०	प्रतिप्रक्षतां	प्रतिपक्षतां
,,	२४	शिवशिरत्मे	शिवशिरसो

पृष्ठे	पंक्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
२१७	६	रम्भया०	रमयय०
,,	१२	प्राक्नैः	प्राक्तनैः
,,	१४	[स्वकीयानाम	[स्वकीयानां
,,	१५	शङ्खसदृशवाऽङ्गना	शङ्खसदृशग्रीवाऽङ्गना
२१८	१	इतिदृशै०	इतीदृशै०
,,	५	मुनरेमस्तस्य	मुनेरगस्त्यस्य
,,	६	परिमुक्ताः	परिभुक्ताः
,,	१८	न्जभ्राः	न्जभज्राः
,,	२०	नामतिशक्करी	नामातिशक्करी
,,	२१-२२	जगत्रय (३)	जगत्त्रय (३)
२१९	१८	उध्वार्धः भान्तिः	ऊर्ध्वार्धः; भान्ति
,,	१९	आम मज्जर्या	आम्रमञ्जर्या
२२०	१	कल भाषणिती	कलभाषिणीति
,,	५	दिग्पवन	दिक्पवनः
,,	६	पुष्परागैः; चिकयुवतेः	पुष्परागैः, पिकयुवतेः
,,	१०	आचार्यां छन्दो०	आचार्या एतत् छन्दो०
,,	१९	रान्नभभ्राः	रान्नभभ्राः
२२१	९	नभभ्राश्	नभभ्राश्–
,,	१०	कवीश्बराम्	कवीश्वरास्
,,	१२	नौ दृगौ रिति	नादृगौरिति
,,	१८	सद्वचन०	सद्वचन०
,,	२३	०मिच्छामिति	मिच्छामीति
,,	२७	भुजेडास्मिन्	भुजेऽस्मिन्
२२२	२१	मगणश्च	यगणश्च
,,	२२	जगतिजाति०	अतिशक्करीजाति०
२२३	१७	साकुत	साकूत

पृष्ठे	पंक्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
२२४	१	त्मौ	त्मौ
,,	२	नगणभगणौ	तगणभगणौ
,,	४–५	जगत्रयजयं	जगत्त्रयजयं
,,	१०	वशंबदं	वशंवदं
,,	१२	प्रीणयतीति	पत्नीं प्रीणयतीति
,,	२२	व्यावृताङ्गी	व्यावृत्ताङ्गी
,,	,,	पराङ्गमुख०	पराङ्मुख०
,,	२३	पर्याक्षिपृ०	पर्याक्षिप्त०
,,	२६	कामक्रीडावातार्थं	कामक्रीडावार्तार्थं
,,	,,	इति विलास०	रतिविलास०
,,	२७	क्रीडां	व्रीडां
२२५	७	एकाऽयमचिन्त्य०	एको यमचिन्त्य
,,	१२	जातेर्भेदावर्णयितु०	जातेर्भेदान्वर्णयितु
,,	१३	नगणभगणरगणाः	नगणजगणरगणाः
,,	१८	पृथक्कृतूं	पृथक्कर्तुं
,,	२०	उपतृण०	उपलतृण०
,,	२५	एतनाम्ना	एतन्नाम्ना
२२६	१६	झटमानिन्	भटमानिन्
,,	१७	कौसुभा सायकाः	कौसुमाः सायकाः
,,	२३	कुर्बाण स्तवस्मिन्	कुर्वाणस्त्वस्मिन्
२२७	१	मगणपञ्चं	मगणपञ्चकं
२२९	१५	०नामकंष्टिजाति	०नामकमष्टिजाति०
,,	१६	प्रणभदाखिल०	प्रणमदखिल०
२३०	९	मैथुनान्दस्य	मैथुनानन्दस्य
,,	१९	न्मौ, ०मङ्गनाद्यै	त्मौ, ०मङ्गना द्यै
२३१	१६	उन्नतामू र्मुति०	उन्नतामूर्त्ति०

पृष्ठे	पंक्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
२३१	२१	मद्रिपुबलं	यद्रिपुबलं
२३३	६	पङ्क्लेः	पङ्क्तेः
,,	८	(कृत)	(कृते)
,,	१२	आनन्द स्पन्दं	आनन्दस्यन्दं
२३४	४	वर्णैयति०	वर्णैर्यति०
,,	१२	०सिद्धिवैरेण	०सिद्धवैरेण
,,	२२	धचैरिति	घचैरिति
,,	२६	पिडिता	पीडिता
२३७	८	०ममराधिया	०ममराधिपा
,,	९	धर्म न	धर्मो न
,,	१७	गांश्चित्रभू	गांश्चित्रम्
,,	२१	चन्द्रज्योत्सना	चन्द्रज्योत्स्ना–
,,	२४	क्षुण्णाः	क्षुण्णः
२३८	१०	कृता पादा	कृताः पादा
,,	२५	विधुतचिवुकैः	विधूतचिबूकैः
,,	२७	वै रिजिनः	वैरिजनः
२३९	१	न्मौ	न्भौ
,,	११	भयात्वलाप्य	भयात्पलाय्य
,,	२५	रजाडन्धकारे	रजोऽन्धकारे
२४०	२	शभु भूतानां	शत्रुभूतामां
,,	३	वरभुवत्यः	वरयुवत्यः
,,	९	भुवतीभिः	युवतीभिः
,,	२०	हनेषु	हृतेषु
,,	२१	शभुराज०	शत्रुराज०
,,	२३	०निनदचकिका	०निनदचकिता
,,	२६	यतस्ततातरलं	यतस्ततस्तरलं

पृष्ठे	पंक्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
२४१	१	परिभाण०	परित्राण०
२४२	१	अक्षिप्तो	आक्षिप्तो
,,	२	पुष्यत्कोमल०	पुष्प्यत्कोमल
,,	४	घडैरिति	घडैरिति
,,	१०	ाथीरीकृत्य	स्थिरीकृत्य
,,	२२	शोडशाक्षर पादाभा	षोडशाक्षरपादाया
,,	२३	त्रयास्त्रिंशद्	त्रयस्त्रिंशद्
,,	२४	तदुलं	तदुक्तं
,,	२५	०सहस्ताणि, सहस्तार्धं	सहस्राणि, सहस्रार्धं
,,	२६	विंशच्चैव	त्रिंशच्चैव
२४३	१८	असभम्	असमम्
२४४	४	ज्सजस्थगा	ज्सजस्यगाः
,,	११	लेटि	लेढि
,,	१३	त्वयोरिपुषु	त्वदीयरिपुषु
,,	२०	पुनस्तयोर्मिधन–	पुनस्तयोर्निधन
,,	२१	द्विजै नामतः	द्विजैर्नामतः
,,	२४	०मध्यलुटिताः	मध्यलुठिताः
२४५	७	गजपृष्ठस्थाशि–	गजपृष्ठस्थशि–
,,	१३	तत्रततत्रोकेषु	तत्रततत्रोक्तेषु
२४६	१	धातेति	धौतेति
,,	८	मङ्लुम्	मङ्क्तुम्
,,	१२	यादवीत्यादुरित्यर्थः	यादवीत्याहुरित्यर्थः
,,	१६	मन्दक्रान्ता	मन्दाक्रान्ता
,,	२१	न्भौ; मन्दाकान्ता	भौ, मन्दाक्रान्ता
,,	२३	नगणद्वयं	तगणद्वयं
,,	२६	प्रथम	प्रथमं

पृष्ठे	पंक्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
२४७	१७	(त्वदीय०	(तदीय०
,,	२२	परिवर्तिभि:	परवर्तिभि:
,,	२३	यतेराहतत्वेन	यतेराहतत्वेन
२४८	४	भाराक्रान्तानामार्कं	भाराक्रान्तानामक–
२४९	४	०पादावि संयोगे पयत:	०पादादिसंयोगे परत:
,,	५	षड्भिश्च	षड्भिश्च
,,	६	हारिणी	हरिणी
,,	१५	हिमरूचे !	हिमरुचे !
,,	१७	शुक्लस्य	शुक्लस्य
,,	२१	भीनाया	भीताया
,,	२२	कारूण्येन	कारुण्येन
,,	२३	कलङ्काशङ्का	कलङ्काशङ्का–
२५०	१०	नगणद्वयं	तगणद्वयं
,,	१८	चूलुकेन; समुदो	चुलुकेन; समुद्रो
२५१	१६	सम्या दितो	सम्पादितो
,,	२६	वसुधाडंरिति	वसुधारा डंरिति
२५२	२	वसुधा–	वसुधारा–
,,	८	स्वर्णात्नादि	स्वर्णरत्नादि–
,,	१५	नर्कटकमिति	नर्कुटकमिति
,,	२४	सेवय	सेवस्व
,,	२७	–तोपदेश	मोपदेश
२५४	७	परो	परौ
,,	१०	जरठेक्षूरस:	जरठेक्षुरस:
,,	१४	श्रुयमाणम्	श्रूयमाणम्
,,	१५	अन्न	अत्र
,,	२६	मुधैवोत्सुयक्यो गात्	मुधैवौत्सुक्ययोगात्

पृष्ठे	पंक्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
२५५	६	गद्वरं	गद्वरं
,,	७	प्रेय: सङ्केतवेश्मभि शरणे	प्रेय:सङ्केतवेश्माभिसरणे
,,	८	०स्थानत्वेनोलस्य	०स्थानत्वेनोक्तस्य
,,	१०	किसु; घत्से	किमु; घत्से
,,	१३	०मितुं	०यितुं
,,	१४	निलीम	निलीय
,,	१५	०र्भुषणयो:	०र्भूषणयो:
,,	१८	लक्षअसमन्वय:	लक्षणसमन्वय:
,,	२३	यणिमालां	मणिमालां
,,	२५	मगणत्रात्; सगागा:	भगणत्रयात्; सगण:
,,	२७	गतिर्यत्र	गतिर्यत्र
२५६	१	०वक्राम्बुज	वक्त्राम्बुज
,,	४	प्रोल्लसिनाधिक	प्रोल्लसिताधिक
,,	६	एतावाकालपर्यन्ते	एतावत्कालपर्यन्तम्
,,	१०	साघृतेति	सा धृतेति
,,	१५	एयाशाक्षरैर्यत्या	एकादशाक्षरैर्यत्या
२५७	८	कुसुमितेलता	कुसुमितलता
,,	२३	पुरस्मात्	पुरस्तात्
,,	२४	कम्बुखण्डवत्	कम्बुखण्डवत्
,,	२७	शितिन् च	शितिश्च
२५८	७	मभ्रा	मम्ना
,,	१८	हृग्ध्वा अस्मात्यरेण	दग्ध्वा अस्मात् परेण
,,	२०	पादृताडनै:	पादताडनै:
,,	२१	प्रयारेण	प्रकारेण
,,	२३	तच	तव
,,	२४	छित्मा	छित्त्वा

पृष्ठे	पंक्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
२५९	२	पछैरिति	घछैरिति
,,	१४	पादाम्बुवरुहि	पादाम्बुरुहि
,,	१६	–त्मनामेअ	–त्मनामेव
,,	१९	रभौ	म्भौ
,,	२१	णर्त्तिक	तर्त्तिक
,,	२२	पअनस्त्वत्०	पवनस्त्वत्०
,,	२५	नगणौ	रगणौ
२६०	१४	रौ	यौ
,,	१५	नरमवययाः	ननममयथाः
,,	१७	कनक म्भोज०	कनकाम्भोज
२६१	३	प्राब्तुं न शक्यदे	प्राप्तुं न शक्यते
,,	१३	मगण-नगण	मगण-तगण
,,	१७	शिरतरे	स्थिरतरे
,,	२४	नव	तव
२६२	२	नगणरत्रयं	नगणत्रयं
,,	४	०लालसभ्रैभ्रमर०	०लासभ्रमर०
,,	६	जैरिति	भ्रैरिति
,,	१०	घनरजाः	घनरजाः
,,	२४	सठसा क्रौडै०; छान्ता	सहसा क्रौडै०; कान्ता
,,	२६	एमादशं	एकादशं
,,	२७	द्वारशभि०	द्वादशभि
,,	,,	मगण-लगण	मगण-सगण
२६३	१	हिसगणाः	सगणाः
,,	३	कान्तचाटु०	कान्ताचाटु
,,	४	(न तु धोरम्)	(न तु धीरम्)
,,	१२	मृगो मृगीं, वा मृगं	मृगो मृगीं, मृगी वा मृगं

पृष्ठे	पंक्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
२६३	१५	निमग्नां	निमग्ना
,,	२०	मत जभराः	मतनजभराः
,,	२२	०नयनतकेलि०	नयनकेलि
,,	२७	पत्	तत्
२६४	१०	तस्माज्डोऽसि	तस्माज्जडोऽसि
,,	१८	पद्मन्यां	पद्मिन्यां
,,	२६	सन्कुरुते	सत्कुरुते
२६५	१६	कुङ्कुभारुणं	कुङ्कुमारुण
२६६	१४	त्रयोदभिर्वंतिरिति	त्रयोदशभिर्यंतिरिति
,,	२१	निकचकुमुद०	विकचकुमुद
२६७	८	वङ्कज	पङ्कज
,,	१५	सर्शेषामृतूनां	सर्वेषामृतूनां
,,	१८	कोमलतर वाबेव	कोमलतरपल्लवावेव
,,	२२	भारा यस्या सा	भारो यस्याः सा
,,	२५	पल्लवाविबव	पल्लवाविव
२६८	१	भुक्त एवेति	युक्त एवेति
,,	८	०रतिचदलैः	रतिचपलैः
,,	१०	स्वज्नम्साः	स्नज्नम्साः
,,	११	त्रिडैरिति	त्रिडैरिति
,,	१४	स्फुटदुज्जलेति	स्फुटदुज्ज्वलेति
,,	१६	सर्वास्मिन्,–पराभये सतिः	सर्वस्मिन्,–पराजये सति
,,	१९	अतिचपलः	अतिचपलैः
,,	,,	०दलदटलै	०दलदपटलैः
,,	२०	लतादिशेष०, सुदितः	लताविशेष०; मुदितः
२६९	२	प्राप्तो न्बधं	प्राप्तो बन्धं

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
२६९	१०	स्तम्बेरभयते	स्तम्बेरमपते
,,	११	पाररन्त्र्यं	पारतन्त्र्यं
,,	१३	सत्कृति	सत्कृतिं
,,	१४	रत्नयति	रचयति
,,	१६	विद्ध्या	विदध्या:
,,	१७	वियुक्तोऽपि तथाप	वियुक्तोऽसि तथापि
,,	२४	पश्यंलुब्धकं	पश्यँल्लुब्धकं
,,	,,	०मपक्राभन्नयङ्कु०	०मपक्रामन्नयङ्कु
२७०	७	०विषयादपसन्	०विषयादपसरन्
,,	२४	भरणौ	यगणौ
२७१	२	तुष्कृताचरणं	दुष्कृताचरणम्
,,	३	सुचरितमालम्	सुचरितमालाम्
,,	९	कश्चिदिदि	कश्चिदिति
,,	२२	गभगणैः	गदगणै
,,	२४	पूर्वक्षणमालस्य	पूर्वक्षणमात्रस्य
,,	२५	बुद्बुदाणितम्	बुद्बुदायितम्
२७२	१०	०रसृंलेखया	रसृग्लेखया
,,	११	विक्रीडितम्	विक्रीडितम्
,,	१६	शार्दूलधिक्रीडितम्	शार्दूलविक्रीडितम्
,,	२२	स्तकभागान्	मस्तकभागान्
२७३	७	न्सौ	ज्सौ
२७४	१	कलयंश्चस्डकोदण्ड	कलयंश्चण्डकोदण्ड
,,	६	यगण–भगण–	यगण–भगण–
,,	२४	चचैरित	चचैरिति
२७५	३	sss. ।।s.	sss. ।।।. ।।s.
,,	२६	।।।. ।s।. ss।.	।।।. ।।s. ss।.

पृष्ठे	पंक्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
२७६	८	दूरत एम	दूरत एव
,,	१२	तप्तापहारिणी	तप्तापहारिणी
२७५	१५	मननसररगा	मतनसरगाः
,,	१८	मिकसित	विकसित
,,	२५	लोचनप्रक्षेपः	लोचनप्रक्षेपैः
२७८	२२	०पशुगणधातै	पशुगणाघातैः
२८०	१	तौ	तो
,,	१३	मेघान्योर्क्त्या	मेघान्योक्त्या
,,	१८	नभरलजजगाः	नभरसजजगाः
,,	२१	एकादशमं	एकादशं
,,	२५	०भृङ्गनाम्	भृङ्गताम्
२८१	२०	प्रावीण्यां	प्रावीण्यं
,,	२२	नूतनांमृदीं	नूतनां मृद्वीं
,,	२४	दक्षिणानिलोक्त्या	दक्षिणानिलोक्त्या
२८२	१	पदतो	परतो
२८३	२०	प्रसूतेन	प्रसृतेन
२८४	१६	नित्यजिदाना०	निर्व्याजदाना०
२८५	१२	तयः	तमः
२८६	१	भगणद्वयं लघुगुरूच	भगणद्वयं मगणः सगणद्वयं लघुगुरू च
,,	१२	०लापच्छलेत	०लापच्छलेन
२८७	२४	भरण-नगणा:	भगण-नगणाः
२८९	५	मौलिकपङ्क्तिः	मौक्तिकपङ्क्तिः
,,	२४	तन्नाभकराजन्	तन्नामकराज
२९०	१	मयि राज्ञां नियत्रणं	मपि राज्ञां नियन्त्रणे
,,	१९	SII. IS'	SII. SIS. IS'

पृष्ठे	पंक्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
२९०	,,	कासलता	कामलता
,,	२१	कौतुकमेव	कौतुकमात्रमेव
,,	२४	लतावलीतरलन:	लतावलीतरलनै:
२९१	२६	लक्ष्सी:	लक्ष्मी:
२९२	२४	१०४८७६	१०४८५७६
२९३	२४	केष्वव्यखर्व०	केष्वप्यखर्व०
,,	२५	अम्भोधरेष्विव शु	अम्भोधरेष्विवाशु
२९४	५	(०द्विधुरितत्यस्य	(०द्विधुरितेत्यस्य
,,	१०	मेघोष्विव	मेघेष्विव
,,	११	–त्पत्र काननम्	–त्पलकानम्
२९५	९	वशंवदन्ति–	वशंवदत्रि–
,,	२०	मूर्छा	मूर्च्छां
,,	२१	नि:र्संबन्धं	नि:सम्बन्धं
,,	२५	SSS.SSI	SSS.SSS SSI.
२९६	६	द्रढीकरोति	दृढीकरोति
,,	,,	मर्थपितम्	अर्थापितम्
२९७	७	०द्युतिजांल०	०द्युतिजाल०
,,	१४	अमुत्तमाम्	अनुत्तमाम्
,,	१६	मयूरवशेखरित	मयूखशेखरित
,,	१८	मयूरवै:	मयूखै:
२९७	१९	पादनरवद्युतिमि:	पादनखद्युतिभि:
,,	२०	नियुक्तं	विपुलं
२९८	२	नामान्तराचित्रलता-	नामान्तराण्याह-चित्रलता-
,,	१२	वनगञ्जरी	वनमञ्जरी
२९९	३	०सरित्तङ्गतरलं	०सरित्तरङ्गतरलं
,,	२२	गतितान्यत्र	गदिताम्यत्र

पृष्ठे	पंक्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
३०१	३	तगणद्वय	तगणद्वयं
,,	१२	०सहास्रन्धारणम्	महास्रग्धराणाम्
,,	१५	वरणार्थप्सरसः	वरणार्थमप्सरसः
,,	१७	अन्याप्रवीति	अन्या ब्रवीति
,,	२७	कामजनैः	कामिजनैः
३०२	१०	नामसवलनम्	नामस्खलनम्
३०३	१	वदनरुचिरमपि	वदनरुचिमपि
,,	११	ततिपु	ततिषु
,,	१४	जिगत्रिषुः	जिगमिषुः
,,	१६	०हानिसम्भवनेति	हानिसम्भावनेति
३०४	८	०सुकृयक्रियासु	सुकृतक्रियासु
,,	१०	महावनप्रुषिः	०महावनप्लुषि
३०५	१०	असममहान्धकार०	असमान्धकार०
,,	११	घोरान्धतमसमूहेन	घोरान्धतमससमूहेन
,,	१५	चञ्चलानीन्द्रियाण्येताश्वाः	चञ्चलानीन्द्रियाण्येवाश्वाः
,,	१६	पूवर्त्तोकूपे	पूर्वोक्ते कूपे
३०६	१०	वारंवार	वारंवारं
,,	२६	कुणानिह	गुणानिह
,,	२७	०कमितु सदृशः	०कमितुः सदृशः
३०७	१२	प्राप्य	प्राप्य
३०९	१३	भौक्तिक	मौक्तिक
,,	१६	समायान्त	समायान्तं
,,	२२	नत्रथं	नत्रयं
३१०	२	पर नगणत्रय लघुगुरु च	परं नगणत्रयं लघुगुरू च
,,	९	लक्ष्मी	लक्ष्मीः
,,	१२	पहहे	पटहे

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
३१०	१५	स्वभुर्स्तम्भे	स्वभुजस्तम्भे
,,	२६	ISI.IIS.ISI.IIS ISS	ISI.IIS.ISS
३११	६	आहतनम्	आहननम्
,,	८	स्ववक्तृसंयोगः	स्ववक्तृसंयोगः
,,	१८	०मशीतिस्त्र्याधिका	०मशीतिस्त्र्यधिका
,,	२४	०गतेरनुहेरति च	०गतेरनुहरति च
३१२	५	रतिरमणतनुम्	०रतिरमणधनुः
,,	११	तस्य	तस्या
,,	२६	परिमतेति	परिमलेति
३१३	३	परिमलविलुन्मधुकर	परिमलविलुठन्मधुकर
,,	४	विलुण्ठन्तो	विलुठन्तो
,,	१९	भृङ्गब्ज०	भृङ्गाब्ज०
,,	२०	रगणषहकं	रगणषट्कं
३१४	४	घतपतलों	घनपटलीं
,,	१६	०सिन्धु युत	सिन्धुयुतं
३१५	२	समुछ्वासितः	समुछ्वासितः
,,	३	,, जातोछ्वासः	,, जातोछ्वासः
,,	१८	भगणत्रयं सगणश्च	भगणत्रयं तगणः नगणत्रयं सगणश्च
३१६	१६	III ISS. SII.	III. ISS. SII. SSI.
,,	१८	जातिच्न्दः	जातिच्छन्दः
,,	,,	०तुङ्गोत्सङ्ग	तुङ्गोत्सङ्ग
३१७	१	तद्रक्तानाम्	तद्भक्तानाम्
,,	१४	०नामकमनुष्टुब्जाति०	०नामकं सुकृतिजाति०
,,	१८	०नृपवश०	नृपवंश
३१८	१६	०सगण-भगाः	०सगण-भगणाः

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
३१९	१९	०निस्वधिसुकृतैः	०निरवधिसुकृते:
,,	२२	०भरित दृष्टया	भरितदृष्टया
,,	२५	समय	समयं
३२०	६	तयमभा	तयभभा
३२१	२	गुरुत्वान्	गुरुत्वात्
,,	२७	३३५५४४६२	३२५५४४३२
३२२	८	व्यग्रक्रोड	व्यग्रक्रोडं
,,	१२	नौ तो	मौ तो
,,	१२	जहैरिति	जटैरिति
,,	१३	नगणः नगणत्रयं	तगणः नगणत्रयं
,,	१४	रगणसगौ	रगणसगणौ
३२३	२	श्यापदा	श्वापदा
,,	१२	यत्सवं	यत्सवँ
,,	२०	०रास्याद्यै	०रास्याद्यैः
,,	२५	नृपदर	नृपवर
३२४	१	यिगतहयं	विगतहयं
,,	२	तस्या	तस्य
,,	३	०नामुन्मूलतं	०नामुन्मूलनं
,,	१५	।।।. ।।।. ।।।. ।।।.	०।।।. ।।।. ।।।.
३२५	२	०पादयोलुण्ठन्तौ	०पादयोर्लुठन्तौ
,,	१५	नगणत्रय	नगणत्रयं
,,	२२	मत्तबर्हिणसमूहु	मत्तबर्हिणसमूहे
,,	२३	स्फुटिस कदम्ब०	स्फुटितकदम्ब०
३२६	१५	नजमा–जलय–	नजमा–जत्रय–
,,	२४	परिपूर्वाशीतरुचि०	परिपूर्णशीतरुचि
३२७	८	३७१०	६२१०

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
३२७	९	चतुष्पष्टिस्तु	चतुष्षष्टिस्तु
,,	२३	मतिनाभि	मतिनायि
३२८	२	सप्तविंशत्यक्षरै कृता	सप्तविंशत्यक्षरैः कृता
,,	५	केफाख्यवाचा	केकाख्यवाचा
,,	१४	भीषण	भीषणा
३२९	५	जगत्रयनायिका	जगत्त्रयनायिका
,,	६	सिद्धैर्ध्येया	सिद्धैर्ध्येया
,,	७	दर्पणपाणि नूनं	दर्पणपाणिर्नूनं
,,	१२	०त्रिंशद्भिरक्षरैः	०त्रिंशताक्षरैः
,,	१६	(तद्दर्शनलालसां)	(तद्दर्शनलालसानां)
,,	२२	(०जातः सम्भ्रमा०)	(०जातसम्भ्रमा०)
३३०	११	योग्याः	योग्याः
,,	१३	०मदिनी	०मर्दिनी
,,	२४	थथा	यथा
३३१	२	भयौच केवलौ द्वौ वारौ	द्वौ वारौ
,,	७	यस्याः	यस्यास्तां
३३२	२०	यतिनि	यतौ
,,	२७	नयणचतुष्टयं	नगणचतुष्टयं
३३४	२	मालाः ४२	मालाः ४५
,,	३	पञ्चभिर्दशभिश्च	पञ्चभिर्दशभिः पञ्चदशभिश्च
,,	२४	'अथ दण्डकाः'	'अथ दण्डका' इत्यारभ्य 'तत् सर्वं दण्डकं विदुः' इत्यन्तो ग्रन्थः ३३८ तम-पृष्ठे १३ 'शपङ्क्तैरग्रे योजनीयम्
३३५	१३	क्षयसंयुता	क्षयसंयुतः

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
३३५	१५	०नयन युवम्	०नयनयुगम्
,,	१८	तुल्यं लमानं नः	तुल्यं समानं न
,,	२०	पुष्यरसेन	पुष्परसेन
,,	२४	भृगनेत्रन्	मृगनेत्रम्
३३६	२७	०लोकनाम्नी	०लोकनाम्नो
३३७	१६	चत्वारिंशता	पञ्चचत्वारिंशता
३३८	१८	०दिग्मारुते	दिङ्मारुते
,,	२५	वक्ष्यमाणे वृते	वक्ष्यमाणे वृत्ते
३३९	१	क्यातं	ख्यातं
,,	१७	सचण्डवृष्टि०	चण्डवृष्टि०
,,	१८	प्रपादेन	प्रपातेन
,,	२६	प्रधमश्चण्ड०	प्रथमश्चण्ड०
,,	२८	पादान्तरं	पाठान्तरं
३४०	११	०श्रीयमाणाद्रैतल्ले	०श्रीयामाणार्द्रतल्ले
,,	१२	०ल्लोकल्लोलवाचाला,	०ल्लोलकल्लोलवाचाल
,,	१९	एकादशभिजीभूतः	एकादशभिर्जीमूतः
,,	२२	०कान्तारमला०	०कान्तारमाला०
,,	२५	द्वादशभिलीलाकरः	द्वादशभिर्लीलाकरः
३४१	१	भवन्नामवेया०	मवन्नामधेया०
,,	६	यावद्भुवत्	यावद्भुव–
३४२	२	आदि पदे ग्राह्या	आदिपदेन ग्राह्या
,,	१४	प्रपत्रे	प्रपन्ने
,,	१५	व्याप्नुवदि नमो यामपि	व्याप्नुवदिदं तमो मामपि
,,	१७	समुदयः	समुदयं
,,	२१	बहिरगतः	बहिर्गतः
३४३	३	माहतः	मारुतः

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
३४३	४	कस्पिताना	कम्पिताना
,,	६	यूथेव	यूथेन
,,	११	तप्तान जाता संतापानां	तप्तानां जातसंतापानां
,,	१२	श्रियमाणानि	श्रीयमाणानि
,,	१४	०माथन्महार्णव	माद्यन्महार्णव
,,	१६	ग्रीष्मका	ग्रीष्मकाले
,,	२६	न्यालनामानं	व्यालनामानं
,,	२७	दशभिन्यर्याल इति	दशभिर्व्याल इति
३४४	२	०क्रीडासेवितः	०क्रीडासेविनः
,,	३	च्छलत्सरिणी०	०च्छलत्सारिणी०
,,	४	०निःसारणमन्त्रैः	०निःसारणयन्त्रैः
,,	५	उच्छलताम	उच्छलताम्
,,	१०	पुरोधानम्	पुरोद्यानम्
,,	२०	त्वदीयशलवः	त्वदीयशत्रवः
,,	,,	पुरोवने, विजहुः	पुरोपवने, विजहु
,,	२७	कृतपादां	कृतपादं
,,	२८	एकादशभिजीर्मूत	एकादशभिर्जीमूत
३४५	१२	तं वर्गितस्यं०	संवर्गितस्यं०
,,	१३	गीतिप्रयञ्चेन	गीतिप्रपञ्चेन
३४६	६	तया भूताया	तथाभूताया
,,	११	खदिरकाष०	खदिरकाष्ठ
,,	१३	हाविषत्वं	महाविषत्वं
,,	१४	वंशीवल्लोक्योः	वंशीवल्लक्योः
,,	१५	कर्णज्वरावं	कर्णज्वरत्वं
,,	२८	वयोदश	त्रयोदश
३४७	३	शत्रुसमूहा	'शत्रुसमूहाः

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
३४७	११	सानुरागाया	सानुरागायाः
,,	१२	कालाया	कान्तायाः
,,	१३	पलायितुमिच्छः	पलायितुमिच्छुः
,,	१६	संस्पर्धितः	संस्पर्धिनः
,,	१७	शरीरेः; गर्जितः	शरीरैः, गर्जिनः
,,	१९	दामवारिणः	दानवारिणः
,,	२१	उद्दावगन्धद्विपा	उद्दामगन्धद्विपाः
,,	२४	०प्रियामुखं गन्तुं	०प्रियामुखं द्रष्टुं
३४८	११	मौलिकमाल्यम्; ईन्दुः	मौक्तिकमाल्यम्, इन्दुः
,,	१४	इन्द्रगजस्थैरावतस्य	इन्द्रगजस्यैरावतस्य
,,	१५	सन्देहे	सन्देहं
,,	१९	–त्पत्रमृदं	त्पलवृन्दं
,,	२४	विलास; सर्वाः	विलासं; सर्पा
३४९	१	नील जलमपि	नील जलमपि
,,	२	कज्चगिरिः	कज्जलगिरिः
,,	१२	शङ्खात्रनाभि०	शङ्खान्तनाभि०
,,	२५	०रेकैकरेकाभिवृद्धया	०रेकैकरेफाभिवृद्धया
३५०	६	तट्टिप्पण्यामुक्तम्	तट्टिपण्यामुक्तम्
,,	१६	न्यकृतार्क०	न्यक्कृतार्क०
,,	२०	०परत यगणादिभिः	०परतो यगणादिभिः
३५१	२	पादिभिः	यादिभिः
,,	३	संज्ञान्तं	संज्ञान्तरं
,,	६	प्रचितादण्डकः	प्रचितो दण्डकः
,,	१९	सूर्याश्मिकृत०	सूर्यरश्मिकृत०
,,	२०	न्यकृतार्क०	न्यक्कृतर्क०

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
३५२	४	नग्म्यामष्टादि०	(इत पूर्व १३'श पङ्क्तित: 'इत्थं नगणद्वयादित्यादि: २०' श पङ्क्तिपर्यन्त: 'समूह्यानीति भाव: । अ. २, सू. ३९० ॥ १॥" इत्यन्तो भाग: पठनीय:)
,,	१४	०मन्यत्राप्युति०	०मन्यत्राप्यति०
३५३	३	नऽम्यामष्टादिरा:	नग्म्यामष्टादिरा:
,,	५	गुरुरेक-अष्टौ	गुरुरेक:–अष्टौ
,,	६	नम्यां परे	नग्म्यां परे
,,	१२	०कर्मेन्धन:; सपूर्णो	०कर्मेन्धन: संपूर्णो
,,	२०	पश्चातापादि	पश्चात्तापादि०
३५४	२	नगणद्गुरोश्च	नगणाद् गुरोश्च
,,	४	कङ्कोल्लि:; स्वबुध्योदा०	कङ्कल्लि:, स्वबुद्धयो०
,,	८	भाषणान् लुरिति	भाषणात् लोरिति
,'	१२	इतीदृशैरुन–	इतीदृशंरून–
,,	१३	चण्डप्रपाद	चण्डप्रपात
,,	१५	०यमसदृशेवा	०यमसदृशे वा
,,	१७	षेष:	वेष:
,,	१९	०खड़बन्धानां	०खङ्गबन्धानां
,,	२०	प्रदत्ता	प्रदत्ता
,,	२१	अवरोधङ्गना	अवरोधाङ्गना
,,	२२	शीघ्रं	शीघ्रं
३५५	५	लघुपश्चकत्परतो यथेष्ट	लघुपश्चकात्परतो यथेष्टं
,,	१३	०क्षितीश:	क्षितीशा:
,,	२३	सिहविकान्सलीलां	सिहविक्रान्तलीलां

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
३५५	२४	आविस्कुर्वाणे	आविष्कुर्वाणे
,,	२५	०क्षितीक्षा.;	क्षितीशा:
,,	,,	०तरणीतेज:	तरणितेज:
,,	२६	सूर्य सभाप्रदग्धा:	सूर्यप्रभाप्रदग्धा:
३५६	१६	–पतिमातङ्गा:	–पतिमातङ्गा:
,,	१७	प्रोज्जहाने	प्रोज्जिहाने
,,	२५	यगणषट्क चेति	यगणषट्कं चेति
३५७	३	०पयोदपङ्क्य	पयोदपङ्क्तय
,,	१७	०मुदायहृत्य	०मुदाहृत्य
,,	१९	यगणस्ववृद्धचा	यगणस्य वृद्धचा
,,	२०	मुपाहरमूह्य मितिभाव:	मुदाहरणमूह्यमिति भाव:
३५८	१५	तदा सर्वदा	सदा सर्वदा
,,	१६	चारुवक्रोलि–	चारुवक्रोति
,,	१७	विदर्धै:	विदग्धै:
,,	२३	०मन्डनानुकारिणी	०मण्डलानुकारिणी
३९५	१५	संमुखत्	संमुखम्
,,	१६	अगुरो ।	अगुरो:
,,	२२	–मयूर व करै:	–मयूखकरै:
,,	२८	०कल्पनाऽनमतेत्याह	०कल्पनाऽनुमतेत्याह
३६०	६	०सैरिभोद्दाम–	सैरिभोद्दाम–
,,	१४	०विक्रीडी दण्डनो	०विक्रीडो दण्डको
,,	,,	कचित्यङ्कशङ्केति	कचित्पङ्कशङ्केति
,,	१६	पङ्कशङ्गा	पङ्कशङ्का
,,	१९	नगिकेली–कला०	नारिकेली–फला०
,,	२०	श्रेव्या	श्रेण्या
,,	२१	पर्याकुलम्	पर्याकुल:

पृष्ठे	पंक्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
३६१	११	विबुद्धहाव	विशुद्धहाव
,,	१८	अश्य–	अव्य–
,,	२५	आस्वन्तः	भास्वन्तः
,,	२७	विशुहावेन	विशुद्धहावेन
३६२	२१	लघुगुरू परम्परा	लघुगुरुपरम्परा०
३६३	२२	कामबाण !	कामबाणः
,,	२८	एवमेकक०	एवमेकैक०
३६४	५	गणान् गुरुद्वयं	गणैः गुरुद्वयेन
,,	१०	बालकाया	बालिकाया
,,	१२	तल्यं	तल्पं
३६५	२	थथा	यथा
,,	१०	स भृजङ्ग	स भुजङ्ग
,,	११	अन्ते द्वयेन	अन्ते गुरुद्वयेन
,,	१८	दृढ परिवे–	दृढवे–
,,	२०	परिवेष्टितः	वेष्टितः
,	२३	उद्धूसितया	उच्छ्वसितया
३६६	१३	सततोत्कलिक०	संततोत्कलिक०
,,	१६	वर्णगणात्मकाद्	वर्णगणात्मकान्
३६७	२	०पुष्पमायाया	०पुष्पमालायाः
,,	४	चारुसुन्दर	चारु सुन्दरं
,,	५	विविधाङ्गहार०	विविधाङ्गहार०
,,	१०	क्रीडाभूमितः	क्रीडाभूमिः
,,	१२	अभिनवाः	अभिनवानां
,,	१४	मन्त्रस्त्रेण	मन्त्रास्त्रेण
,,	१५	वठिनः	कठिनः
,,	२७	०व्याख्या	व्याख्यायां

प्रकाशक:—
श्रीज्ञानोपासकसमित्याः
प्रमुखः
शा० चीमनलाल
हरिचन्द्र बगड़िया,
बोटाद, सौराष्ट्र (गुजरात)

मुद्रक:—
मखतूरमलजी कुम्मट
कुम्मट प्रिण्टर्स
घोड़ों का चौक,
जोधपुर (राज.)

सहायक—
आ ग्रंथना प्रकाशनमां शासनप्रभावक परमपूज्य आचार्यव
श्रीमद्विजयदत्तसूरीश्वरजी म० श्रीना उपदेशथी
मरुधरस्थ सनवाडानिवासी शा० धरमचंद रूपाजीए
२०००) रूपियानी सहायता आपी छे ते बदल तेमनो
आभार मानवामां आवे छे.

वीर सं० २४९५] नेमि सं० २० [विक्रम सं० २०२५
नकल—१००० 卐 प्रथमावृत्तिः 卐 मूल्यम् : १० रूपिया

प्राप्तिस्थानम्—

आ० श्रीविजयलावण्य-
सूरीश्वरज्ञानमन्दिर
ठे० जैनमन्दिर पासे,
बोटाद, सौराष्ट्र
(गुजरात)

सरस्वती पुस्तक मंडार
रतनपोल, हाथीखाना,
अहमदाबाद
(गुजरात)